

संस्कृत काव्यशास्त्र के कीर्तिमान

डॉ॰ वेंकट शर्मा

संस्कृत काव्यशास्त्र
के
कीर्तिमान

डॉ० वेंकट शर्मा

पल्लव प्रकाशन दिल्ली

Sanskrit Kavya Shastra ke Kirtimaan

By

Dr. Venkat Sharma

मूल्य : 250 रुपया / प्रकाशन वर्ष : 1988

संस्करण : प्रथम

प्रकाशक : पल्लव प्रकाशन, मालीवाड़ा, दिल्ली-110006

मुद्रक : हरिकृष्ण प्रिंटर्स, शाहदरा, दिल्ली-110032

संस्कृत काव्यशास्त्र के कीर्तिमान डॉ० वेंकट शर्मा

विषय-क्रम

प्राक्कथन

संस्कृत काव्य शास्त्र के कीर्तिमान आचार्यों के काव्य-सिद्धान्त 'नाट्यशास्त्र' की रस-गंगोत्री से उद्भावित होकर 'रसगंगाधर' के वीचि-विलासों पर्यन्त तरंगायित हुए हैं जिनके अन्तराल में काव्यशास्त्र की विभिन्न सरणियों के कीर्तिमय प्रतिमानों (रस-विमर्श, ध्वनि सिद्धांत, अलंकार योजना, रीतिरचना, वक्रोक्ति-वैचित्र्य, गुणगरिमा और औचित्य विधान) के अनेक पक्ष उजागर होते चले हैं। उनके कलेवर में काव्यात्म चेतना के अंतर्बोध का सद्विवेक अंतर्निहित है जिससे काव्यपुरुष का विराट् वैभव मूर्तिमान बन सका है। काव्यशास्त्र के ये भारतीय मानदंड विश्व-वांमय के परीक्षण के लिए किसी भी प्रामाणिक निष्कर्ष से कम नहीं हैं क्योंकि उनके आधार पर किसी भी भाषा के काव्य साहित्य का शास्त्रीय मूल्यांकन किया जा सकता है। सहस्त्रों वर्षों से प्रवाहित होने वाली इस ज्ञानधारा से अभिस्नात होकर शास्त्र-जिज्ञासुओं का अधिमानस परम तृप्ति की सुखदायिनी अनुभूतियों से आत्म साक्षात्कार करता हुआ काव्यमीमांसा का तात्विक प्रबोध और रहस्योद्घाटन करने में समर्थ हुआ है। काव्यशास्त्र की यह परम्परा आधुनिक युग-चेतना की परिवर्तनशील परिस्थितियों में भी अक्षुण्य और चिरनवीन बनी हुई है जिसमें प्रतिपादित सिद्धांतों का तत्त्व विमर्श हमारी नूतन विचार-पद्धतियों को भी अभिनवदीप्ति प्रदान करने वाला कहा जा सकता है। आवश्यकता इस बात की है कि हम रस, ध्वनि, अलंकार, रीति, गुण वक्रोक्ति और औचित्य विधान की सूक्ष्म अंतर्दृष्टि के प्रति आस्थावान और श्रद्धामय बनकर चलें और उन दुराग्रहों से दूर रहें जो परम्परागत विचारधाराओं में सर्वत्र सड़ी-गली रूढ़ियों की निर्जीव छाया का ही अन्वेषण करते हैं। आज वैज्ञानिक युग में जिस भौतिक चिंतन का प्रचार और प्रसार हो रहा है उसकी समसामयिक उपयोगिता अवश्य है, किन्तु उससे आध्यात्मिक चेतना की अंतः सलिला का प्रवाह अवरुद्ध नहीं किया जा सकता। जीवन के शाश्वत मूल्य 'सत्यं शिवं और सुन्दरं' के त्रिवेणी-संगम से कदापि निष्कासित नहीं किये जा सकते; इस धारणा को प्रश्रय देते हुए संस्कृत काव्यशास्त्र के प्रति उदारमना होकर चलने से ही उसके प्रति न्यायभावना का सफल निर्वाह किया जा सकता है। ऐसा करने पर ही हम उसके अनंत पारावार में रमणीय रत्नों का अन्वेषण और चयन कर सकते हैं।

प्रस्तुत ग्रंथ संस्कृत काव्यशास्त्र के उन कीर्तिमान आचार्यों के प्रशस्त और प्रामाणिक ग्रंथों में प्रतिपादित काव्य सिद्धांतों के पुनर्लेखन की दिशा में एक विनम्र प्रयास है

जिन्होंने अपनी मेधाशक्ति द्वारा काव्य सिन्धु का मंथन करते हुए काव्यदर्शन की अमृत-ज्योति विकीर्ण की थी। यों तो संस्कृत भाषा की विकसित परम्परा में काव्य शास्त्रीय ग्रंथों कीअसंख्य रत्नराशि भरी पड़ी है जिसकी समग्रता की थाह लेना असम्भव है अत: मैंने इस कृति में केवल उन्हीं आचार्यों के अमर ग्रंथों के आधार पर काव्यचिन्तन के प्रमुख पक्ष विवेचित करने का उपक्रम किया है जिन्होंने काव्यशास्त्र के दुर्गम पथ पर नवीन मोड़ के आलोक-स्तम्भ प्रतिष्ठित किये थे। इसके अध्ययन और अनुशीलन द्वारा कीर्तिमान आचार्यों की वे धारणाएँ स्पष्ट हो सकेंगी जिनका पाथेय लेकर उन्होंने अपनी काव्य-यात्रा परिसमाप्त की थी। उनकी विवेचना में काव्य के लक्षण, प्रयोजन, हेतु, भेद-प्रभेद, रचना-शिल्प और शब्द शक्ति आदि विषयों का आलोडन-विलोडन विशेष रूप से हुआ है जिनके माध्यम से उन्होंने अथक काव्य सिद्धांतों की उपलब्धि की थी। यह एक सुखद आश्चर्य का विषय है कि 'नाट्यशास्त्र' में जिस-रस निष्पत्ति-सिद्धांत का प्रवर्तन हुआ था, वह परवर्ती काव्य शास्त्र की विवेचना का केन्द्रबिन्दु बनकर आगे बढ़ा जिसके वर्चस्व के सम्मुख अन्य सभी सिद्धांत हतप्रभ हो गये। उसने न केवल काव्य शास्त्र के क्षेत्र में 'रसो वै स:' की अवधारणा ही प्रतिष्ठित की अपितु वह काव्य रचना का आत्म तत्त्व और उसकी आस्वादन-प्रक्रिया का मौलिक उद्गम सिद्ध हुआ। काव्य शास्त्र के उद्भावक आचार्यों ने अपनी मान्यताओं के अनुरूप, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति और ध्वनि सिद्धांतों का प्रवर्तन करते हुए रस तत्त्व की भी बहुविधि अभ्यर्थना की है क्योंकि उसके अभाव में काव्य का शब्दार्थमय शरीर प्राणचेतना से शून्य और निर्जीव हो जाता है। मेरे विवेचन क्रम में 'नाट्य शास्त्र' का 'रसाध्याय' इस ग्रंथ की प्रस्तावना का आधार अथवा प्रवर्तन-सूत्र बन कर उपस्थित हुआ है जिसकी उपजीव्यता परवर्ती आचार्यों ने भी ग्रहण की है। स्वनामधन्य आचार्यों की कृतियों का चयन करने में मैंने केवल अपनी अभिरुचि का ही परिचय नहीं दिया है अपितु उसके मूल में उस विवेक शक्ति का भी संचार विद्यमान है जिसके कारण वे संस्कृत काव्य शास्त्र के उद्भावक स्तम्भों के रूप में प्रतिष्ठित किये गये हैं।

ग्रंथ-लेखन का एक प्रयोजन यह भी रहा है कि इसमें विवेचित आचार्यों की काव्य-विषयक धारणाओं का अभिव्यंजन उनकी प्रधान कृतियों के माध्यम से किया जा सके। प्राय: सभी आचार्यों ने अनुबंधचतुष्टय का परिपालन करते हुए काव्य शास्त्र के उन्हीं प्रमुख पक्षों का अंतर्भाष्य और विवेचन किया है जो परम्परा-सिद्ध और सर्वमान्य रहे हैं। उनके सिद्धांत भारतीय जीवन-दर्शन से अनुप्राणित और नैतिक मूल्यों से उपबृंहित होने के साथ-साथ उस सौन्दर्य चेतना से भी अभिमंडित हैं जो काव्य-रचना और काव्या-स्वादन के प्रति अपना अनियतिकृत स्वच्छंद दृष्टिकोण लेकर चलती है। शृंगार और शांत रस के उभयविध पुलिनों में प्रवाहित होने वाली काव्य-गंगा में अवगाहन करते हुए उन्होंने जीवन के राग और विराग का जिस भव्यता और उदात्तता पूर्वक निरूपण किया है, वह पुरुषार्थ चतुष्टय की धारणा से अनुप्रेरित कहा जा सकता है। मूलत: काव्य सृष्टि कवि-प्रतिभा का ही प्रकाशन है जिसका निर्माण प्रीति और कीर्ति से प्रयो-

जित होता है। उसकी शब्दार्थमयी साधना में आत्मरस का सत्त्वोद्रेक निहित है जिसमें जीवन की शाश्वत संवेदनाएँ चरितार्थ होती हैं। 'अहं' और 'इदं' का सुन्दर सामंजस्य ही उसके विभावन-व्यापार का मूल उत्स है जिसकी संरचना द्वारा कवि स्वसंविद्विश्रांति की अनुभूति करता है। अलंकार, रीति और वक्रोक्ति सिद्धांत उसके शरीर स्थानीय अवश्य है किन्तु उन्हें उसके जीवानुभूत रस तत्त्व से असंप्रक्त और विच्छिन्न नहीं किया जा सकता। अलंकारवादी दृष्टिकोण से आगे बढ़कर रसध्वनिवादी दर्शन की दिशा में किया गया काव्यशास्त्रीय सुप्रयाण एक प्रकार से शरीर से शरीर अथवा स्थूल से सूक्ष्म की ओर उन्मुख होने की ऊर्ध्वमुखी भावना का ही उपक्रम है।

इस ग्रंथ का प्रत्येक अध्याय सामन्यत: कालक्रमागत वैचारिक विकास से उपबृंहित है। इसका प्रथम अध्याय भरतमुनि के 'नाट्य शास्त्र' के 'रसाध्याय' आदि प्रकरणों का सारगर्भित विवेचन प्रस्तुत करता है क्योंकि कालांतर में उन्हीं की प्रक्रिया पर काव्यशास्त्र के प्रतिपाद्य विषयों का विश्लेषण किया गया था। द्वितीय और तृतीय अध्याय की विचार-सामग्री क्रमश: भामह और दण्डी के 'काव्यालंकार' और 'काव्यादर्श' पर आधारित है जिन्हें मुख्यत: अलंकारवादी ग्रंथप्रणेता माना जाता है। उनका काव्य शास्त्रीय प्रतिमान देहवादी और वैशिष्ट्यमूलक है। दोनों की काव्य विषयक धारणाओं में पर्याप्त साम्य विद्यमान है। दोनों आचार्य प्राय: समकालीन माने जाते हैं। 'नाट्य शास्त्र' की रचना के सुदीर्घ अन्तराल के पश्चात् इन दोनों आचार्यों का आविर्भाव हुआ था जिन्होंने 'काव्य शास्त्र' का स्वतंत्र प्रवर्तन करने की उल्लेखनीय भूमिका का निर्वाह किया था। काव्य के लक्षण और प्रयोजन काव्य के भेद-प्रभेद तथा काव्य में अलंकारों, गुणों तथा दोषों की स्थिति का उद्घाटन करते हुए उन्होंने उनका जो सामान्य परिचय दिया था। वह परवर्ती आचर्यों द्वारा विशदीकृत किया गया। काव्य शास्त्र की प्रवर्तन कालीन परिस्थितियों के कारण उनके विचारों में विसंतियाँ भी हैं, किन्तु उनसे उनका आचार्यत्व खण्डित नहीं होता। दण्डीकृत काव्यभेदक तत्त्वों का विश्लेषण तथा काव्य मार्गीय सिद्धांतों का निरूपण उनके मौलिक दृष्टिकोण का परिचायक है। उनके काव्यालंकारों के लक्षण, प्रकार और उदाहरण उनकी अभिनव सूझबूझ का निदर्शन प्रस्तुत करते हैं।

ग्रंथ के चतुर्थ और पंचम अध्याय में क्रमश: वामन और रुद्रट के काव्यालंकार सूत्र और 'काव्यालंकार' ग्रंथ काव्यशास्त्रीय विवेचना के आधार ग्रंथ माने गये हैं। वामन ने अलंकारवादी दृष्टिकोण से हटकर जिस रीतितत्त्व को काव्य का आत्मभूत सिद्धांत स्वीकार किया था। वह वैदर्भी, गौडीया और पांचाली संज्ञक की रचनाओं के माध्यम से गुणालंकारों की विवेचना का आधार बना। उन्होंने काव्यांगों का वैविध्य तथा काव्यांग-भूत इतर साधनों का निरूपण करते हुए काव्य भेदों का विश्लेषण किया। उनका गुणालंकार विवेचन अत्यंत विस्तृत और व्यापक है जिसके पूर्व उन्होंने काव्यदोषों के पद-पदार्थ और वाक्य-वाक्यार्थ संज्ञक भेद-प्रभेद निरूपित किये हैं। उनका 'काव्यसमय' और 'शब्द शुद्धि' विषयक विश्लेषण काव्यशास्त्र की परम्परा में एक मौलिक उपलब्धि है।

वामन के पश्चात् अनेक अलंकारवादी आचार्यों के व्यक्तित्व और कृतित्व की विपुल सामग्री काव्यशास्त्रीय ग्रंथ परम्पराओं में आती है किन्तु मैंने कई कारणों से आचार्य रुद्रट के 'काव्यालंकार' को ही अधिक उल्लेखनीय माना है। उनका 'वृत्तिविवेचन' काव्यशास्त्रीय धारणाओं में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। यमक, श्लेष, चित्रालंकार तथा काव्यबंधों की विवेचना करने में उन्होंने अपनी मौलिक दृष्टि का परिचय दिया है। वे प्रेयान रस के उद्‌भावक आचार्य माने जाते हैं। उनकी रसचर्चा और नायक नायिका-भेद विवेचना विशिष्ट कोटि की कही जा सकती है। उनके 'काव्यालंकार' में अलंकार विवेचना का अत्यंत परिमार्जित विशद और परिष्कृत रूप उपलब्ध होता है।

ग्रंथ का षष्ठ अध्याय आचार्य आनंदवर्धन के 'ध्वन्यालोक' का सारगर्भित विश्लेषण प्रस्तुत करता है। उन्होंने ध्वनिमत की प्रतिष्ठा करने के पूर्व अपने पूर्ववर्ती ध्वनि-विरोधी अभिमतों का खण्डन करते हुए 'ध्वनि' पद का वैशद्यपूर्वक विश्लेपण किया था। उन्हें ध्वनिमत के प्रतिष्ठापक आचार्य होने का गौरव प्राप्त है। वाच्य और प्रतीयमान अर्थों का तत्त्वदर्शन प्रस्तुत करते हुए उन्होंने ध्वनि को काव्य का आत्मतत्त्व निरूपित किया है। जिसके भेद-प्रभेदों का आनन्त्य असंदिग्ध है। असंलक्ष्यक्रम तथा संलक्ष्यक्रम के रूप में रसध्वनि, भावध्वनि, रसाभास, भावाभास, तथा इतर ध्वनि-रूपों की विवेचना करते हुए वे अलंकारों की रसांगता, अंगी रस का औचित्य, रसादि का अलंकार्यालंकार-रूप, गुणालंकारों की काव्यगत स्थिति, रसों का अंगागिभाव और परिपोष, शांतरस की विलक्षणता, रसविरोध का प्रशमन, काव्य वृत्तियाँ और रसबोध, अर्थशक्ति और अलंकार ध्वनि, अलंकारव्यंजना के रूप, अलंकार ध्वनि के भेदोपभेद, व्यंग्यमुख से ध्वनि के प्रकार, संघटना और गुणों का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध, संघटना का औचित्य और काव्य-भेद, प्रबंध-कारकों की रसाभिव्यंजकता, काव्यबंध के विशिष्ट नियम, प्रबंध-रचना में संधियों का समायोजन, अंगीरस का अनुसंधान, ध्वनि-द्योतन के विविध उपकरण, रस विरोध के हेतु तत्त्व, प्रतिभा-गुण और काव्यसृष्टि तथा काव्यार्थसंवाद की अर्थ प्रतिपत्ति आदि विविध विषयों पर जिस प्रकार का पाण्डित्यपूर्ण प्रतिपादन और व्याख्यान कर सके हैं, वह उनकी अभूतपूर्व अद्‌भुत प्रतिभा का उद्‌बोधक है। वस्तुतः आचार्य आनंदवर्धन काव्य शास्त्र के महाकाश में एक ऐसे भास्वर नक्षत्र के रूप में विद्यमान हैं जिन्होंने ध्वनि-सिद्धांत के परिप्रेक्ष्य में काव्यशास्त्र के गम्भीरतम रहस्यों का अत्यंत प्रांजल और तर्कसंगत विवेचन किया है। उनकी काव्यशास्त्रीय धारणाओं से मम्मट आदि आचार्य भी कम प्रभावित नहीं रहे हैं।

ग्रंथ का सप्तम अध्याय आचार्य मम्मट के 'काव्य-प्रकाश' की उद्‌भावना का तेज पुंज है जिसके प्रारम्भ में उसके प्रणेता ने कवि सृष्टि का लोकोत्तर वैचित्र्य निरूपित करने के पश्चात् काव्य प्रयोजनों के विभिन्न प्रकारों का विश्लेषण किया है। वे काव्य में त्रिविध हेतुओं के सिद्धान्त के प्रति आस्थावान बन कर चले हैं। उनके द्वारा निरूपित काव्यलक्षण और काव्यभेद और रस ध्वनिवादी सिद्धांतों के अधिक अनुरूप और अनुगामी हैं। उन्होंने शब्दार्थ का स्वरूप निर्णय करते हुए संकेत ग्रह के विविध साधनों का

विवेचन किया है। संकेत ग्रह के सभी पक्ष उनकी विवेचना के प्रमुख अंग रहे हैं जिनके अंतराल में उन्होंने मुख्यार्थ के महत्त्व का उल्लेख विशेष रूप से किया है। त्रिविध शब्द शक्तियों के भेदोपभेदों का विश्लेषण करते हुए वे अपनी आचार्यप्रज्ञा का अद्भुत प्रदर्शन कर सके हैं। व्यंजनावृत्ति का निरपेक्ष और मौलिक स्वातन्त्र्य निरूपित करने की दिशा में उनका योगदान विचित्र वैशिष्ट्य का अभिव्यंजक है। शाब्दी और आर्थी व्यंजना के प्रकार, ध्वनिभेद और काव्यरूप, रसादि ध्वनि का असंलक्ष्यक्रमत्व, रसनिष्पत्तिसूत्र की विविध व्याख्याएँ, रसतत्त्व का अलौकिकत्व, रसों की संख्या और उनके भेद-प्रभेद, संलक्ष्यक्रमव्यंग्य के प्रकार, गुणीभूत व्यंग्य के प्रमुख रूप और व्यंजनावृत्ति का वर्चस्व आदि ऐसे अनेक विषय हैं जिनकी गुरुगम्भीर विवेचना के कारण मम्मट का स्थान मूर्द्धन्य कोटि के आचार्यों में परिगणित किया जाता है। उन्होंने काव्य दोषों के लक्षण और उदाहरण देते हुए शब्द दोष, वाक्य दोष, पदांश दोष और अर्थ दोषों की भी विवेचना की है। दोषों का नित्यानित्यस्वरूप तथा रस-दोषों की विवेचना करने के पश्चात् उन्होंने उनके अनेक अपवाद भी निरूपित किये हैं। उनका गुणालंकार-निरूपण अत्यन्त प्रांजल और उत्कृष्ट है। उन्होंने गुणों की संख्या निर्धारित करते हुए त्रिगुणवाद का सिद्धांत प्रतिपादित किया है। वे अलंकारों की काव्यगत स्थिति के प्रति सुदृढ़ धारणा बनाकर चले हैं। अलंकारों के भेद प्रभेद, लक्षण तथा उदाहरण प्रस्तुत करने में 'काव्य प्रकाश' का स्थान अप्रतिम और अद्वितीय माना जाता है।

विश्वनाथ प्रणीत 'साहित्यदर्पण' अपने नाम के अनुरूप साहित्य बोध का स्वच्छ प्रतिबिम्ब प्रदर्शित करता है जिसकी विवेच्य वस्तु में वे सभी विषय संकलित हैं जिनका सामान्य विश्लेषण प्रायः सभी काव्यशास्त्रीय ग्रंथों में किया गया है। मैंने अपनी कृति के अष्टम् अध्याय के रूप में साहित्य दर्पण की संक्षिप्त उद्धरणी प्रस्तुत की है जिसका शुभारम्भ काव्य के प्रयोजन तथा काव्य के लक्षण-निर्धारण की प्रक्रिया से हुआ है। विश्वनाथ ने काव्य को रसात्मक वाक्य मानकर प्रथमतः वाक्यपद की विवेचना की है जिसके अंतर्गत वर्णों और पादों का समावेश होता है। उन्होंने वाक्य के भेद और उनकी अर्थ-वृत्तियों का निरूपण करने के पश्चात् अभिधा, लक्षणा और व्यंजना वृत्तियों के भेदोपभेदों की लक्षणोदाहरण पूर्वक व्याख्या की है जिनका काव्यार्थबोध की प्रक्रिया में विशेष महत्त्व है। उनके मतानुसार काव्य रसात्मक वाक्य का ही स्वरूप है जिसका सम्यक् विमर्श करने पर उसका यथार्थ ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। उन्होंने रस-विमर्श के पूर्व रसमीमांसा से सम्बन्धित विविध उपकरणों का सामान्य परिचय देना आवश्यक समझा है क्योंकि उनकी जानकारी के पश्चात् ही रसों के प्रकार तथा उनकी आस्वादन-प्रक्रिया का अंतर्बोध किया जाना सुसम्भव है। वे रस को आस्वाद रूप मानते हैं तथा उसकी प्रक्रिया में साधारणीकरण की आवश्यकता और उपयोगिता प्रतिपादित करते हुए सभी रसों को आनंद स्वरूप सिद्ध करते हैं। करुण रस का रहस्य और रसों का तत्त्वबोध एवं स्वरूप ज्ञान कराने की दिशा में विश्वनाथ की विवेचना अत्यन्त प्रांजल, विशद और सुबोध मानी गई है। इस ग्रंथ की एक उल्लेखनीय विशेषता यह भी है कि

इसके प्रणेता ने रस के विभावपक्ष के अंतर्गत नायिका भेद का सांगोपांग सविस्तार निरूपण किया है। उन्होंने सभी रसों का सामान्य परिचय देते हुए शांत रस की स्वतंत्र स्थिति, वत्सलरस की अवधारणा तथा देवादिविषयक रति का वैचित्र्य विशेष रूप से आंका है। भावाभास और रसाभास, रसनिष्पत्ति और व्यंजनावृत्ति, ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य के विविध प्रकार, दृश्य काव्य और श्रव्य काव्य का भेद प्रभेद निरूपण, काव्य दोषों के अंतर्गत पद, वाक्य अर्थ और रस दोषों की व्याख्या और गुण वृत्ति का विश्लेषण आदि अनेक विषय इस विवेचना के प्रमुख अंग बने हैं। उनका अलंकार निरूपण अत्यन्त सुबोध, स्पष्ट और प्रांजल पद्धति का परिचायक कहा जा सकता है।

ग्रंथ का नवम् अध्याय कुंतक रचित 'वक्रोक्ति जीवित' संज्ञक काव्यशास्त्रीय कृति की अवधारणाओं का स्पष्टीकरण करता है। इसके प्रारम्भ में काव्य की प्रयोजनीयता निरूपित की गई है। तदुपरांत अलंकृति, अलंकार्य और काव्यत्व का अंतर्सम्बन्ध और अंतर स्पष्ट करते हुए कुंतक ने काव्य का स्वरूप-लक्षण निर्धारित किया है। उनके मतानुसार 'वक्रोक्ति' काव्य का जीवातुभूत तत्त्व है जो वैदग्ध्यभंगी भणिति के रूप में बहुरूपिणी भंगिमाओं में प्रदर्शित होता है। शब्द और अर्थ के काव्य बोधक प्रयोगों का विमर्श करने के पश्चात् कुंतक ने वक्रोक्ति तत्त्व की शास्त्रीय विवेचना की है जिसकी प्रासंगिकता में स्वभावोक्ति का भी निरूपण हो सका है। वक्रता और काव्यबंध, काव्य के त्रिविध (सुकुमार, विचित्र और मध्यम) मार्ग और उनके गुण, वक्रोक्ति के प्रमुख भेद-प्रभेद, वर्ण विन्यास, पद पूर्वार्द्ध, पद उत्तरार्द्ध, वस्तु, वाक्य, प्रकरण और प्रबंध के प्रसंगों में अनेक प्रकार की वक्रताओं को लक्षण पुरस्सर उदाहृत करते हुए उन्होंने उनके अनेक रूपरूपाँतर तथा अवांतर भेद स्पष्ट किये हैं। उनका वक्रोक्ति-तत्त्व वक्रोक्ति अलंकार से अधिक व्यापक और प्रौढ़िपूर्ण हैं। उन्होंने उसके अंतर्गत काव्य के आत्म-स्थानीय स्वरूप का समाहार करने का अपूर्व उपक्रम किया है।

क्षेमेन्द्र की 'औचित्य विचार चर्चा' दशम अध्याय की उपजीव्य विचार-सामग्री कही जा सकती है। उसका प्रमुख प्रतिपाद्य विषय औचित्य तत्त्व की काव्यव्याप्ति है। क्षेमेन्द्र के मतानुसार 'औचित्य विधान' ही रससिद्ध काव्य का जीवित है। काव्य में औचित्य निर्वाह के अनेक स्थान और स्थल होते हैं जिन्हें क्षेमेन्द्र ने पद, वाक्य, प्रबंधार्थ, गुण, अलंकार, रस, क्रिया, कारक, लिंग, वचन, विशेषण, उपसर्ग, निपात, काल, देश, कुल, व्रत, तत्त्व, सत्त्व, अभिप्राय, स्वभाव, सारसंग्रह, प्रतिभा, अवस्था, विचार, नाम, और आशीर्वाद संज्ञक सत्ताईस प्रकारों में निरूपित किया है। इन प्रकारों की विवेचना के अंतर्गत उनके औचित्य और अनौचित्य का स्वरूप भी प्रदर्शित हुआ है। प्राय: सभी आचार्यों ने औचित्य-विधान का महत्त्व स्वीकार करते हुए उसका काव्यगत सन्निवेश आवश्यक माना है। ध्वनिवादी आचार्य आनंदवर्धन तो इसके प्रबल समर्थक है। क्षेमेन्द्र ने उसे वाक्य के स्वतंत्र तत्त्व अथवा विशिष्ट सिद्धांत के रूप में प्रतिष्ठित करने का अभिनव उपक्रम किया है।

संस्कृत काव्यशास्त्र की विकासमयी परम्परा में ऐसे और भी अनेक गण्यमान और लब्ध प्रतिष्ठ आचार्य आते हैं जिन्हें काव्यशास्त्र के कीर्तिमान आलोक स्तम्भ कहना सर्व थैव युक्तिसंगत है, किन्तु ग्रंथ-विस्तार के भय की आशंका से उन्हें विवेचित करना मेरे लिए संभव नहीं है। उन सब के प्रति आदर और आस्था होते हुए भी मैंने उनका विश्लेषण नहीं किया है। ईश्वरीय अनुकम्पावश यदि इतर आचार्यों के काव्य सिद्धांतों से सम्बद्ध ग्रंथ का प्रणयन सम्भव हो सका तो उनका विवेचन करने में मुझे हार्दिक प्रसन्नता होगी। उन आचार्यों में पंडितराज जगन्नाथ शास्त्र परम्परा के उद्भट विद्वान् और सुधी पंडित है जिन्हें काव्यशास्त्र की शृंखला में अंतिम कड़ी का महिमामय गौरव प्राप्त है। यही कारण है कि मैंने एकादश अध्याय के रूप में उनके 'रसगंधार' को अपनी विवेचना का आधार बनाकर उनकी काव्यशास्त्रीय धारणाओं की व्याख्या की है। उनकी विवेचना के बिना इस ग्रंथ का सुखद समापन सम्भव नहीं था, यही मानकर मैंने उनके काव्यसिद्धांतों का निरूपण करना आवश्यक समझता है। उनके 'रस गंगाधर' में प्रथमतः काव्य के प्रयोजन और लक्षण निर्धारित किये गए। तदुपरांत काव्य-कारण की विवेचना और काव्य भेदों का विश्लेषण हुआ है। मूलतः 'रसगंगाधर' रसमीमांसा का मानक ग्रंथ है अतः उसकी विचार-सामग्री रस तत्त्व के शास्त्रीय विश्लेषण से जुड़ी हुई है। पण्डितराज ने रस की भूमिका में प्रवेश करने के पूर्व उन भाव-संवेदनाओं का निरूपण किया है जो रस का अंतर्बोध कराने में सक्षम हैं। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के रस विषयक मतमतांतरों का क्रमबद्ध उल्लेख करने के पश्चात् रसों की सुख दुःख रूपता के विषय में अपने विचार व्यक्त किये हैं। करुण रस की आस्वाद्यता तथा शांत रस की काव्यनाट्य-गत स्थिति के विषय में उनकी धारणाएं अत्यन्त स्पष्ट और पठनीय हैं। वे रस और स्थायी भावों का मौलिक अंतर निर्दिष्ट करते हुए रसध्वनि और रसालंकार की शास्त्रीय पृष्ठभूमि पर उतर आये हैं जिसमें रस, ध्वनि और अलंकारों का अंतर्भेद स्पष्ट किया गया है। उनका रसदोष, रस और गुण, काव्य के वर्जनीय और काव्यदोष, भावध्वनि विषयक दृष्टिकोण, रसाभास, भावाभास, भाव शांति, भावोदय भावसंधि और भाव-सबलता विषयक विवेचन अत्यंत पंडित्यपूर्ण तर्कों द्वारा विशदीकृत क्रिया गया है। अंत में उन्होंने रसादि के संलक्ष्यक्रम और असंलक्ष्य क्रम के विषय में अपनी मौलिक उद्भावनाएं करते हुए दोनों की आवश्यकता और उपयोगिता प्रतिपादित की है। इस प्रकार रस गंगाघर के विविध आननों में रस विमर्श का तत्त्व निष्यंदित हुआ है जिसके आधार पर आचार्य जगन्नाथ 'पंडितराज' के गौरवमय पद से अभिषिक्त किए गए हैं।

निष्कर्ष यह है कि 'संस्कृत काव्यशास्त्र का कीर्तिमान' उसके उद्भावक आचार्यों की कीर्ति का अक्षुण्ण प्रतिमान होने के साथ-साथ उनके काव्य सिद्धांतों का संक्षिप्त सर्वेक्षण प्रस्तुत करता है जिसमें काव्यशास्त्र के सभी अनिवार्य पक्ष उद्घाटित किए गए हैं। उसकी विवेच्य सामग्री और अभिव्यंजन शैली शास्त्रीय परम्परा से अनुप्राणित कही जा सकती है। यदि इसका अध्ययन और अनुशीलन काव्यशास्त्र के अनुरागी अध्येताओं

के चित्त में किंचिन्मात्र भी आकर्षण उत्पन्न कर सका तो मैं उसे अपने श्रम की सार्थकता समझ कर आत्मतोष की अनुभूति कर सकूंगा।

'आपरितोषाद्विदुषां न मन्थे साधु प्रयोगविज्ञानम्।'

फोर्ट रोड, बागर चौक
जोधपुर (राजस्थान)

—वेंकट शर्मा

भरतमुनि : 'नाट्यशास्त्र'

रसोपकरण और रस-निष्पत्ति

भरतमुनि ने 'नाट्यशास्त्र' के षष्ट अध्याय को 'रसाध्याय' कहकर उसमें रस, विषयक सामग्री संयोजित की है। उन्होंने नाट्य के अंतर्गत श्रृंगार, हास्य, करुण, रौद्र-वीर, भयानक, वीभत्स और अद्भुत संज्ञक आठ रस स्वीकार किये हैं। जिनका प्रतिपादन उनके पूर्ववर्ती महात्मा द्रुहिण द्वारा किया था।[1] रससम्बद्ध भाव तीन प्रकार के होते हैं जिन्हें स्थायी भाव, संचारी भाव और सात्त्विक भाव कहा जाता है। रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा और विस्मय नामक आठ स्थायी भाव हैं जिनसे क्रमश श्रृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स और अद्भुत रसों की निष्पत्ति होती है।[2] संचारी अथवा व्यभिचारी भाव तैंतीस प्रकार के हैं जिनके नाम निम्नलिखित हैं—

निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, मद, श्रम, आलस्य, दैन्य, चिन्ता, मोह, स्मृति, धृति, क्रीड़ा, चपलता, हर्ष, आवेग, जड़ता गर्व, विषाद, औत्सुक्य, निद्रा, अपस्मार, सुप्त, विबोध, अमर्ष, अवहित्थ, उग्रता, मति, व्याधि, उन्माद, त्रास, वितर्क और मरण।[3]भरत-मुनि के मतानुसार स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, स्वर भंग, वेपथु वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय नामक आठ सात्त्विक भाव है।[4] उन्होंने आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्त्विकनाम के चार नाट्य संश्रय अभिनय माने हैं। नाट्य प्रतिष्ठित भारती, सात्वती, कौशिकी तथा आरभटी संज्ञक चार वृत्तियां तथा आवंती, दाक्षिणत्या, ओड्रमागधी तथा पंचालमध्यमा नामक चार प्रवृत्तियाँ भी उनके द्वारा उल्लिखित की गई हैं। लोकधर्मिता के साथ उन्होंने दैविक तथा मानुषी सिद्धियों का भी वर्णन किया है। ये सभी विषय नाट्यशास्त्र के संदर्भ में विवेचित हुए हैं।[5]

भरतमुनि नाट्यगत रसतत्त्व के प्रबल समर्थक हैं। उन्होंने 'नहि रसादृते कश्चिदर्थ:प्रवर्वते' द्वारा रस का माहात्म्य निरूपित किया है। 'विभावानुभावव्यभि-चारिसंयोगाद्रसनिष्पत्ति:' उनका सुप्रसिद्ध रस सूत्र है जिसे उपजीव्य बनाकर कालांतर में अनेक काव्य शास्त्री विद्वानों और दार्शनिकों ने रस निष्पत्ति का विशद अंतर्भाष्य किया था। भरतमुनि ने लौकिक उदाहरण के माध्यम से नाट्यगत रस का स्वरूप बोध कराते हुए लिखा है कि जिस प्रकार अनेक प्रकार के व्यंजन, औषधि तथा द्रव्यों के संयोग से रस निष्पत्ति होती है अर्थात् गुड आदि द्रव्यों, व्यंजनों और औषधियों द्वारा षाडवादि रस

निर्वातित होते है, उसी प्रकार अनेक प्रकार के भावों से उपगत स्थायी भाव भी रस-रूपता प्राप्त करते हैं।'

विवेचन के इसी प्रसंग में उन्होंने 'रस इति कः पदार्थः' विषयक प्रश्न उठाते हुए उसका उत्तर 'आस्वाद्यत्वात्' के रूप में दिया है। 'कथमास्वाद्यते रसः' अर्थात् 'रस किस प्रकार आस्वाद्य होता है ?' का उत्तर देते हुए उन्होंने लिखा है कि जिस प्रकार अनेक व्यंजनों से परिष्कृत अन्न का उपभोग करने वाले सुमनस पुरुष उसके रस का आस्वादन करते हुए हर्ष आदि प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार सुमनस प्रेक्षक अनेक प्रकार के भावों और अभिनयों से व्यंजित वाचिक, आंगिक और सात्त्विक भावों से उपेत स्थायिभावों का आस्वादन करते हुए हर्ष आदि की उपलब्धि करते हैं। यह आस्वादन नाट्यरस का विषय है जिसके सम्बन्ध में भरत मुनि ने निम्नलिखित आनुवंश्य श्लोक उद्धृत किया है :—

यथा बहुद्रव्ययुतैर्व्यंजनैर्बहुभिर्युतम् ।
आस्वादयंति भुंजाना भक्तं भक्तविदो जना. ।
भावाभिनयसंबद्धान्स्थायिभावांस्तथा बुधाः ।
आस्वादयंति मनसा तस्मान्नाट्यरसाः स्मृतः ॥[6]

रसों और भावों का अंतर्सम्बन्ध—प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या रसों से भावों की अभिनिवृ्ति होती है अथवा भावों से रसों की ? इसका उत्तर देते हुए भरतमुनि ने लिखा है कि कतिपय विचारकों के मत से भावों और रसों के परस्पर सम्बन्ध के कारण उनकी अभिनिष्पत्ति होती है जो उन्हें (भरतमुनि को) स्वीकार नहीं है। उनका अभिमत है कि भावों से तो रस की अभिनिवृ्त्ति मानी जा सकती है किन्तु रसों से भावों की अभिनिवृत्ति होने के प्रमाण दृष्टिगोचर नहीं होते।[7] उन्होंने इसी प्रसंग में पाँच श्लोक उद्धृत करते हुए लिखा है कि भाव ही नाट्योक्तियों द्वारा अनेक प्रकार के अभिनयों से सम्बद्ध रसों का भावन करते हैं। वे नाट्य अभिनयों के साथ रसों को उसी प्रकार उद्-भावित करते हैं जिस प्रकार बहुविध द्रव्यों द्वारा व्यंजनों का भावन किया जाता है। वस्तुतः न तो रस भावहीन होता है और न भाव ही रसवर्जित कहा जा सकता है। उन दोनों की पारस्परिक सिद्धि अभिनय के रूप में होती है। जिस प्रकार व्यंजन और औषधि के संयोग से अन्न में स्वादिष्टता आती है, उसी प्रकार भाव और रस भी एक दूसरे का भावन करते हैं। अपने कथन को उदाहृत करते हुए उन्होंने लिखा है कि जिस प्रकार बीज से वृक्ष तथा वृक्ष से पुष्प और फल उत्पन्न होते है, उसी प्रकार सभी रस मूल रूप में अवस्थित रहते हैं जिनसे भावराशि व्यवस्थित की जाती है।

रसों के वर्ण और देवता—भरतमुनि ने रसों की उत्पत्ति तथा उनके वर्ण एवं देवताओं का भी निरूपण किया है। उन्होंने श्रृंगार, रौद्र, वीर तथा वीभत्स संज्ञक चार रसों को उनकी उत्पत्ति के 'हेतु' माना है। श्रृंगार से हास्य, रौद्र से करुण, वीर से अद्-भुत तथा वीभत्स से भयानक रस की उत्पत्ति होती है।[8] श्रृंगार की अनुकृति से हास्य प्रकीर्तित होता है तो रौद्र रस का कर्म ही करुण रस के रूप में ज्ञेय समझा जाता है। वीर रस का कर्म अद्भुत रस में तथा वीभत्स का दर्शन भयानक रस के रूप में ज्ञेय होता है।[9]

उन्होंने शृंगार का वर्ण श्याम, हास्य का श्वेत, करुण का कपोत, रौद्र का रक्त, वीर का गौर, भयानक का कृष्ण, वीभत्स का नील तथा अद्भुत का पीत माना है।[10] रसों के देवताओं के विषय में उनका कथन है कि शृंगार के देवता विष्णु, हास्य के प्रमथ, रौद्र के रूद्र, करुण के यम, वीभत्स के महाकाल, भयानक के काल, वीर के महेन्द्र तथा अद्भुत के देवता ब्रह्मा है।[11] नाट्यशास्त्र में सभी रसों के भावविभाव तथ अनुभाव और व्यभिचारी भावों के सामान्य लक्षण तथा उदाहरण निर्दिष्ट किये गये हैं जिनका सारांश और निष्कर्ष प्रस्तुत करना वांछनीय है क्योंकि परवर्ती काव्य शास्त्र में उन्हें ही प्रमुख आधार तथा उपजीव्य बनाकर संस्कृत के आचार्यों ने अपना रस विवेचन प्रस्तुत किया था।

रसों का सामान्य परिचय

शृंगार रस—भरतमुनि ने शृंगार रस को 'रति स्थायिभावप्रभव उज्ज्वल-वेषात्मक' रस ाना है। संसार में जो कुछ शुचि, मेध्य, उज्ज्वल और दर्शनीय है, वह सब शृंगार से उपमित किया जाता है। इस दृष्टि से सभी उज्ज्वलवेषरूप वस्तुविषय शृंगार युक्त कहे जाते हैं। भरतमुनि ने शृंगार को 'स्त्री, पुरुष, हेतुक उत्तम, युव, प्रकृति' माना है। उसके दो रूप हैं—संभोग और विप्रलम्भ। संभोग शृंगार इष्ट जनों के अनुरूप ऋतु, माल्य, अनुलेपन तथा अलंकार, आदि उपकरणों तथा उनके लिए उपभोगोचित वन उपवन आदि स्थानों में भ्रमण, दर्शन एवम् लीला क्रीडन आदि विभागों द्वारा उत्पन्न होता है। नाट्य अथवा अभिनय में वह नयन चातुरीरूप भ्रूक्षेप एवं कटाक्ष आदि क्रियाओं तथा ललितमधुरांगहारवाक्य आदि अनुभावों द्वारा प्रयुक्त किया जाता है। त्रास आलस्य, उग्रता और जुगुप्सा के अतिरिक्त, अन्य सभी व्यभिचारी भाव इसके अंतर्गत समाविष्ट रहते हैं। विप्रलम्भ शृंगार का अभिनय निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, श्रम, चिन्ता, औत्सुक्य, निद्रा, स्वप्न, विव्वोक, व्याधि, उन्माद, अपस्मार, जाड्य और मरण आदि अनुभावों द्वारा किया जाता है। रति नामक स्थायी भाव से उत्पन्न शृंगार रस के साथ करुणाश्रित का सम्बन्ध विरोधी अथवा अन्यथा रूप में नहीं माना जाता क्योंकि वे उनके विप्रलम्भ पक्ष के साथ सहज भाव से जुड़े रहते हैं। विप्रलम्भ शृंगार और करुण रस का अंतर स्पष्ट करते हुए भरतमुनि ने लिखा है कि विप्रलम्भ में औत्सुक्य और चिन्ता आदि चित्तवृत्तियों से उत्पन्न 'सापेक्षभाव' रहता है जब कि करुण रस में शापक्लेश-विनिपातित इष्टजनों के विप्रयोग, विभविनाश, वध तथा बंध आदि से उत्पन्न 'निरपेक्ष-भाव' की स्थिति होती है। शृंगार रस 'सर्वभाव संयुक्त रस' माना गया है जिसके विषय में निम्नलिखित श्लोक ध्यातव्य हैं :—

सुख प्रायेष्टसंपन्नऋतुमाल्यादिसेवकः ।
पुरुषः प्रमदायुक्तः शृंगार इति संज्ञितः ॥[12]
ऋतुमाल्यालंकारैः प्रियजनगांधर्वकाव्यसेवाभिः ।
उपवनगमनविहारैः शृंगाररसः समुद्भवति ॥[13]

नयनवदनप्रसादैः स्मितमधुरवचोधृतिप्रमोदैश्च ।
मधुरैश्चांगविकौरस्तस्याभिनयः प्रयोक्भव्यः ।।[14]

हास्य रस—हास्य हासस्थायिभावात्मक रस है। वह दूसरों के विकृत वेशों और अलंकारों तथा धाष्ट्‌य, लौल्य, कुहक, असत, प्रलाप, व्यंग्य एवम् दोष दर्शन आदि विभावों द्वारा उत्पन्न होता है। उसका अभिनय करते समय ओष्ठ, नाक और कपोल आदि का स्पंदन, दृष्टि का व्याकोश, तथा आकुंचन आदि अनुभावों का प्रयोग किया जाता है। अवहित्था, आलस्य,तन्द्रा, निद्रा, स्वप्न, प्रबोध और असूया आदि उसके व्यभिचारी भाव हैं। उसके 'आत्मस्थ' और 'परस्थ' नामक दो भेद माने गये हैं। स्वयं हँसने पर 'आत्मस्थ' और दूसरों को हँसाने पर 'परस्थ' हास्य होता है। भरतमुनि ने आनुवंश्य श्लोकों[15] द्वारा इसका निरूपण करते हुए लिखा है कि विपरीत अलंकारों, विकृत आचरणों, अभिधानों, वेशों एवं अंगविकारों द्वारा हास्य रस की सामग्री जुटाई जाती है। यह नीच प्रकृति वाले पुरुषों और स्त्रियों की चेष्टाओं में विशेष रूप से दृष्टिगोचर होता है। स्मित, हसित विहसित, उपहसित, अपहसित और अतिहसित नामक इसके कुछ प्रकार हैं जिनके दो-दो रूप क्रमशः उत्तम, मध्यम तथा अधम प्रकृति वाले पात्रों में मिलते हैं। भरतमुनि ने स्मित और हसित ज्येष्ठ पात्रों में, विहसित और उपहसित मध्यम श्रेणी के व्यक्तियों में तथा अपहसित और अतिहसित अधम लोगों में माने हैं। नाट्यशास्त्र के षष्ट अध्याय की श्लोक संख्या 55 से लेकर 62 तक इन छह प्रकार के हासों के लक्षणों, चेष्टाओं तथा पात्रों की आत्मस्थ तथा परस्थ स्थितियों का निरूपण किया गया है।

करुण रस—शोक नामक स्थायी भाव से प्रादुर्भूत होने वाले रस को करुण रस कहते हैं। वह शापक्लेशविनिपतित प्रियजन के विप्रयोग, विभवनाश, वध, बंध, विद्रव, उपघात तथा व्यसनसंयोग आदि विभावों से उत्पन्न होता है। अनुपात, परिदेवन, मुखशोषण, वैवर्ण्य, निःश्वास और स्मृतिलोप आदि अनुभावों द्वारा इसे अभिनीत किया जाता है। निर्वेद, ग्लानि, चिन्ता, औत्सुक्य, आवेग, भ्रम, मोह, श्रम, भय, विषाद, दैन्य, व्याधि, जड़ता, उन्माद, अपस्मार, त्रास, आलस्य, मरण, स्तम्भ, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु और स्वर भेद आदि इसके व्यभिचारी भाव है। भरतमुनि का कथन है कि प्रियजनों के वध तथा अप्रियवचनों के श्रवण आदि कारणजन्य भावविशेषों द्वारा करुण रस उत्पन्न है।

रौद्र रस—भरतमुनि ने क्रोधस्थायिभावात्मक रौद्र रस को राक्षस, दानव, उद्धत मनुष्य प्रकृतिक तथा संग्राम हेतुक माना है। यह रस क्रोध धर्षण, अधिक्षेप, अपमान, असत्य वचन, उपघात, वाक्पारुष्य, अभिद्रोह और मात्सर्य आदि विभावों से उत्पन्न होता है। इसके कर्मकलाप के अंतर्गत ताडन, पाटन, पीडन, प्रहरण, आहरण, शस्त्रसंपात, प्रहार तथा रुधिरकर्षण आदि की गणना की जाती है। इसका अभिनय करते समय रक्त नयन, स्वेद, भ्रकुटीकरणावष्टंभ, दंतौष्ठपीडन, गण्डस्फुरण तथा हस्ताग्रनिष्पेष आदि अनुभावों का प्रयोग किया जाता है। इसके व्यभिचारी भावों के अंतर्गत उत्साह, आवेग, अमर्ष, चपलता, उग्रता, गर्व, विकृत दृष्टि, स्वेद, वेपथु, रोमांच और

गद्‌गद् आदि परिगणित किये गये हैं। भरतमुनि ने आनुवंश्य आर्या छंदों में युद्धगत प्रहार घातन, छेदन और विदारण आदि क्रियाकलापों तथा संग्रामसंभ्रमों द्वारा रौद्र रस की उत्पत्ति वर्णित की है।[16] उनका कथन है कि इसके अभिनय में शिर, कबंध एवं भुजा आदि के कर्तन तथा प्रहारों की अनुकृति द्वारा अर्थ विशेषों की अभिव्यक्ति की जानी चाहिए।[17] इस रस का सामान्य स्वरूप निम्नलिखित कारिका में अभिव्यक्त हुआ है—

इति रौद्ररसो दृष्टो रौद्रवागंगचेष्टितः।
शस्त्रप्रहारभूयिष्ठ उग्रकर्म क्रियात्मकः ॥[18]

वीर रस—यह रस उत्तम प्रकृतिक तथा उत्साहात्मक होता है। इसकी उत्पत्ति असंमोह, अध्यवसाय, नय, विनय, बल, पराक्रम शक्ति, प्रताप तथा प्रभाव आदि विभावों द्वारा मानी गई है। इसके अभिनय में स्थैर्य, शौर्य, त्याग और वैशारद्य आदि अनुभावों का प्रयोग वांछनीय है। धृति, मति, गर्व, आवेग, उग्रता, अमर्ष, स्मृति, रोमाँच तथा प्रतिबोध आदि इसके व्यभिचारी भाव कहलाते हैं।

भयानक रस—भय नामक स्थायिभावात्मक रस 'भयानक' रस कहलाता है। वह विकृत ध्वनि वाले प्राणियों तथा भयंकर आकृति वाले हिंसक पशुओं के दर्शन से उत्पन्न होता है। अपशकुनकारी गीदड़ों तथा उल्लुओं की बोली, भयजनक शून्यागार, डरावने जंगल, स्वजनों का वध तथा उनकी यंत्रणाओं के श्रवण आदि विभावों से इसकी उत्पत्ति मानी जाती है। हाथ, पैर तथा नेत्रों के भयमिश्रित कम्पन, चंचल पुलक, मुखवैवर्ण्य तथा स्वरभेद आदि अनुभावों द्वारा इसका अभिनय किया जाता है। स्तम्भ, स्वेद, गद्‌गद्, रोमाँच, वेपथु, स्वरभंग, वैवर्ण्य, शंका, मोह, दैन्य, आवेग, चपलता, जड़ता, त्रास, अपस्मार और मरण आदि इसके व्यभिचारी भाव हैं। इसके विशेष लक्षणों का निरूपण नाट्यशास्त्र के षष्ठ अध्याय की चार कारिकाओं में किया गया है।[19]

वीभत्स रस—जुगुप्सास्थायिभावात्मक रस का नाम वीभत्स है। वह अदृद्य, अप्रशस्त तथा अप्रिय वस्तुओं के दर्शन और श्रवण आदि विभावों से उत्पन्न होता है जिनके कारण सदृश्य जनों के अंतःकरण में उद्वेग आदि अप्रीतिकर भावों का उद्‌बोधन होता है। भरतमुनि ने इसके अनुभावों के अंतर्गत सभी अंगों से सम्बन्धित मुखविकूणन, उल्लेखन, निष्ठीवन तथा उद्वेजन आदि क्रियाओं की गणना की है। अपस्मार, उद्वेग, आवेग, मोह, व्याधि और मरण आदि इसके व्यभिचारी भाव हैं। निम्नलिखित कारिकाओं में इस रस का रूप चित्रण किया गया है—

अनभिमतदर्शनेन च गंधरसस्पर्शशब्ददोषैश्च।
उद्वेजनैश्च बहुभिर्वीभत्सरसः समुद्‌भवति ॥
मुखनेत्रविकूषनया नासाप्रच्छादनावनमितास्यैः।
अव्यक्तपादपतनैर्वीभत्सः सम्यगभिनेयः ॥[20]

अद्‌भुत रस—'विस्मय' नामक स्थायीभाव से उत्पन्न होने वाला रस 'अद्‌भुत' रस कहलाता है। वह दिव्यपुरुषों के दर्शन, अभीष्ट मनोरथ की प्राप्ति, विचित्र उपवनों और देवस्थानों में गमन, वैमानिक माया तथा ऐन्द्रजालिक संभावनाएँ आदि विभावों से

उत्पन्न होता है। उसका अभिनय नेत्रस्फालन, निर्निमेष प्रेक्षण, रोमाँच, अश्रु, स्वेद, हर्ष, साधुवचन, हाहाकार तथा भुजामुख एवं अंगुलियों के विस्मयसूचक संचालन आदि अनुभावों से किया जाता है। स्तम्भ, अश्रु, स्वेद, रोमाँच, आवेग, संभ्रम, प्रहर्ष, चापल्य, उन्माद, धृति, जड़ता और प्रलय आदि इसके व्यभिचारी माने गये हैं। नाट्यशास्त्र के षष्ठ अध्याय की 76वीं और 77वीं कारिकाओं में इस रस के विशेष लक्षणों का निरूपण किया गया है।

शांत रस की स्थिति—भरतमुनि ने नाट्यप्रयुक्त अष्ट रसों का सामान्य बोध कराने के पश्चात् शम अथवा शाँत रस का भी उल्लेख किया है जिसे शमस्थायिभावात्मक मोक्षप्रवर्तक रस कहा जाता है। वह रस तत्त्वज्ञान, वैराग्य और आशयशुद्धि आदि विभावों द्वारा उत्पन्न होता है। यम, नियम, अध्यात्म, ध्यान, धारणा, उपासना तथा सर्वभूतदया आदि अनुभावों से उसका अभिनय किया जाता है। निर्वेद, स्मृति, धृति, शुचिता, स्तम्भ और रोमाँच आदि इसके व्यभिचारी भाव हैं। इसका स्वरूप बोध निम्नलिखित आर्याओं तथा श्लोकों द्वारा सुविधापूर्वक किया जा सकता है—

मोक्षाध्यात्मसमुस्थस्तत्त्वज्ञानार्थहेतुसंयुक्तः ।
नैः श्रेयसोपदिष्टः शाँतरसो नाम संभवति ॥
बुद्धीन्द्रयकर्मेन्द्रियसंरोधाध्यात्म संस्थितोपेतः।
सर्वप्राणिसुखहितः शाँतरसो नाम विज्ञेयः॥
न यत्र दुःखं न सुखं न द्वेषो नापि मत्सरः।
समः सर्वेषु भूतेषु स शाँतः प्रथितो रसः॥
भावाविकारा रत्याद्याः शाँतस्तु प्रकृतिर्मतः।
विकारः प्रकृतेर्जातः पुनस्तत्रेव लीयते।
स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शाँताद्भावः प्रवर्तते।
पुनर्निमित्ता पाये च शाँत एवोपलीयते॥

शाँत रस की प्रामाणिकता के विषय में भरतमुनि का उपर्युक्त अभिमत विवादास्पद बना हुआ है। नाट्यशास्त्र के कतिपय संस्करणों में शाँतरसप्रतिपादक गद्य भाग तथा श्लोकों का समावेश किया गया है जबकि उसकी कुछ ऐसी प्रतियाँ भी उपलब्ध हुई हैं जिनमें इनका उल्लेख नहीं हुआ है। भरतमुनि ने 'अष्टौ नाट्ये रसाः स्मृता.' के कारिकाँश द्वारा नाट्य में केवल आठ रस माने हैं जिनमें शाँत रस का समावेश नहीं है। उपर्युक्त पाँच कारिकाओं के आधार पर शाँत रस की स्थिति सिद्ध होती है। अभिनव गुप्त ने नाट्यशास्त्र की विवृति 'अभिनव भारती' में शाँत रस को मुनि सम्मत कहकर उसकी विवेचना की है जिससे उसका अस्तित्व प्रमाणित होता है।

भाव क्या है?—भावों की व्युत्पत्ति 'भवंतीति भावाः' तथा 'भावयंतीति भावाः' इन दोनों रूपों में की जा सकती है। भरतमुनि ने 'वागंगसत्त्वोपेतान् काव्यार्थान्भावयंतीति भावाः' द्वारा उनकी व्युत्पत्ति की है जिसका अर्थ यह है कि वाचिक, आँगिक तथा सात्त्विक भावों अथवा अनुभावों द्वारा जो काव्यार्थों का भावन

करते हैं, उन्हें भाव कहते हैं। 'भू इति करणे' धातु से 'भाव' पद की सिद्धि की जाती है जिसका अर्थ 'भावित' अथवा 'वासित' होना है। लोक व्यवहार में भी इस प्रकार के प्रयोग दृष्टिगोचर होते हैं कि 'इस गंध अथवा रस से सब कुछ भावित हो गया।' भरतमुनि ने इस विषय में कुछ श्लोक उद्धृत किये हैं जिनके अनुसार 'जो अर्थ विभावों द्वारा आहृत होकर वाचिक, आँगिक तथा सात्त्विक अनुभावों के रूप में अभिनयों द्वारा गम्य होता है, वह 'भाव' नाम से अभिहित किया जाता है।[21] नाट्य प्रयुक्त अभिनय की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसके माध्यम से कवि के अंतर्गत भावों का भावन होता है जिसके कारण उन्हें 'भाव' कहा जाता है। ये भाव नाट्योक्तियों द्वारा उन रसों का भावन करते हैं जो अनेक प्रकार के अभिनयों से सम्बद्ध होते हैं।

विभाव और अनुभाव—भरतमुनि ने 'विभाव' का अर्थ 'विज्ञानार्थ' किया है जिसके पर्यायवाची शब्द 'कारण' 'निमित्तं तथा 'हेतु' हैं। 'विभाव्यन्तेऽनेन वागंगसत्त्वाभिनया इति विभाव:' के अनुसार विभाव उसे कहते हैं जिसके द्वारा वाचिक, आँगिक तथा सात्त्विक अभिनय विभाषित होते हैं। अनुभावों द्वारा वाणी अंग तथा सत्त्वकृत अभिनय अनुभावित होता है। इस विषय में निम्नलिखित श्लोक उल्लेखनीय हैं जिनमें विभाव और अनुभाव के लक्षण निरूपित किये गये हैं—

बहवोऽर्था विभाव्यंते वागंगाभिनयाश्रया:।
अनेन यस्मात्तेनायं विभाव इति संज्ञित:॥[22]
वागंगाभिनयेनेह यतस्वर्थोऽनुभाव्यते।
शाखाँगोपाँगसंयुक्तस्त्वनुभावस्तत: स्मृत:॥[23]

विभाव और अनुभाव लोकप्रसिद्ध हैं। उनकी लोकस्वाभानुगत स्थिति देखते हुए अधिक विवेचन की आवश्यकता नहीं है। आठ स्थायी भाव, तैंतीस व्यभिचारी भाव तथा आठ सात्त्विक भाव मिलकर कुल भाव 49 प्रकार के हो जाते हैं जिन्हें काव्यरस की अभिव्यक्ति के हेतु कहा जाता है। इन सबके सामान्यगुणयोग द्वारा रस की निष्पत्ति होती है। इस विषय में निम्नलिखित श्लोक उल्लेखनीय है जिसका अर्थ यह है कि जो अर्थ दृश्य संवादी होता है उसका भाव रसोत्पत्ति का कारण बन कर हमारे हृदय में उसी प्रकार व्याप्त हो जाता है जिस प्रकार सूखी लकड़ी में आग सहज भाव से व्याप्त हो जाती है—

योऽर्थो दृश्यसंवादी तस्य भावो रसोद्भव:।
शरीरं व्याप्यते तेन शुष्कं काष्ठमिवाग्निना॥[24]

स्थायी भाव की रसरूपता—यहाँ एक यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जब काव्यार्थ संश्रित विभावों, अनुभावों और व्यभिचारी भावों के संयोग (सामान्यगुणयोग) से रसनिष्पत्ति होती है तो केवल स्थायी भावों की ही रसरूपता क्यों स्वीकार की गई है? इसका उत्तर देते हुए भरतमुनि ने लिखा है कि जिस प्रकार सभी पुरुष हाथ, पैर और पेट आदि अंगप्रत्यंगों में समान लक्षण वाले होते हुए भी अपने-अपने कुल,

शील, विद्या, कर्म, शिल्प तथा वैचक्षण्य के स्तर के कारण भिन्न-भिन्न श्रेणियों में विभक्त किये जाते हैं, उसी प्रकार रस निष्पत्ति में भी उसके उपकरणों की उनके स्तर के अनुसार सत्ता तथा महत्ता होती है। रसोपकरणों में स्थायी भावों का वर्चस्व सर्वोपरि है क्योंकि उनकी स्थिति राजा के समान है जिसके सम्मुख विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव अल्पबुद्धि युक्त अनुचर तुल्य प्रतीत होते हैं। बह्वाश्रयत्व के कारण स्थायीभाव यदि स्वाभिभूत है तो अन्य भाव अपने गौणरूप में उसके आश्रित रहने के कारण परिजनभूत कहे जा सकते हैं। इसका स्पष्टीकरण करते हुए भरतमुनि ने लिखा है कि जिस प्रकार कोई राजा बहुजन परिवार युक्त होता हुआ भी अपने सम्पूर्ण परिकर में अपने नाम की प्रधानता रखता है जिसके सम्मुख दूसरा कोई भी महान् पुरुष नहीं ठहर पाता, उसी प्रकार स्थायी भाव भी विभाव अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों से परिवृत होता हुआ अपने नृपतुल्य वैशिष्ट्य तथा गौरव के कारण 'रस' नाम की उपलब्धि कराने में समर्थ होता है। इस विषय में निम्नलिखित श्लोक उल्लेखनीय है जिसमें स्थायी भाव को अन्य सभी भावों से उसी रूप में महान् कहा गया है जिस रूप में मनुष्यों में नृपति तथा शिष्यों में गुरु महान् होता है—

यथा नराणां नृपतिः शिष्या णां च यथा गुरुः।
एवं हि सर्व भावानां भावः स्थायी महानिह ।।[25]

भावों का सामान्य परिचय—भरतमुनि ने रसों का सामान्य परिचय नाट्यशास्त्र के षष्ठ अध्याय में देने के पश्चात् सप्तम अध्याय के अंतर्गत भावों का स्वरूप स्पष्ट किया है। रति भाव प्रमोदात्मक है जो ऋतु, माल्य, अनुलेपन और आभरण आदि के अनुकूल विभावों द्वारा उत्पन्न होकर अभिनीत होता है। वह स्मितवदन, मधुर वचन, भ्रूक्षेप तथा कटाक्ष आदि अनुभावों से व्यंजित किया जाता है। 'हास' में दूसरों की चेष्टाओं का अनुकरण, कुहक, असम्बद्ध प्रलय, पुरोभागिता तथा मूर्खता आदि क्रियाएँ विभाव रूपिणी होती हैं। वह छह प्रकार के हास द्वारा अभिनेय होता है। इष्टजनों के वियोग, विभवनाश, वध और बंधन आदि दुःख शोक नामक स्थायीभाव के विभाव माने गये हैं। उसका अभिनय करते समय अश्रुपात, वैवर्ण्य, स्वरभेद, भूमिपतन, रुदन, क्रन्दन, दीर्घनिःश्वास, जडता, उन्माद, मोह और मरण आदि अनुभावों के प्रयोग किये जाते हैं। रुदन के तीन प्रकार हैं जिन्हें आनंद, आर्ति तथा ईर्ष्याजन्य कहा जाता है। क्रोध की उत्पत्ति आधर्षण, आकृष्ट, कलह और विवाद आदि विभावों से मानी जाती है। उसके अनुभावों में नासापुट की विकृति, ओष्ठदंशन तथा गण्डस्फुरण आदि की गणना होती है। भरतमुनि रिपुज, गुरुज, प्रणयिप्रभव, भृत्यज तथा कृतक संज्ञक पाँच प्रकार के क्रोध माने हैं जिनका निरूपण पृथक्-पृथक् कारिकाओं में किया गया है।[26]

उत्साह नामक स्थायी भाव उत्तम प्रकृतिक है। वह अविषाद, शक्ति, धैर्य और शौर्य आदिविभावों से उत्पन्न होता है। उसके अभिनय में स्थैर्य, धैर्य और वैशारद्य आदि अनुभाव प्रयुक्त होते हैं। भय को 'स्त्रीनीचप्रकृतिकं' कहा गया है। वह गुरु तथा राजा के प्रति किये गये अपराधों हिंसक पशुओं के संत्रासों, शून्य भवनों, वनों और पर्वतों में

निवास करने वाले भयंकर प्राणियों, गजों, सिंहों तथा सर्पों आदि के दृष्टिगोचर होने पर उत्पन्न होता है। रात्रि के तुमुल अंधकार में उलूकध्वनि तथा अशुभकारी बोलियों के श्रवण आदि विभावों से भी इसका अभिज्ञान किया जाता है। प्रकंपित, करचरण, हृदय-कंपन, स्तम्भ, मुखशोष, जिह्वापरिलेहन, स्वेद, वेपुथ, त्रास, परित्राण-अन्वेषण, धावन तथा उत्क्रुष्ट आदि अनुभावों से इसका अभिनय होता है। जुगुप्सा नीच प्रकृति का भाव है जो अहृद्य वस्तुओं के दर्शन, ससम्बद्ध श्रवण और परिकीर्तन आदि विभावों से उत्पन्न होता है। सर्वांगसंकोचन, निष्ठीवन और मुखविकूणन आदि अनुभावों से उसका अभिनय किया जाता है। 'विस्मय' में माया इन्द्रजाल तथा मनुष्य कर्मों के वैचित्र्य आदि समाविष्ट रहते हैं। नयनविस्तार, निर्निमेष प्रेक्षण, रोमहर्षण, शिरःकम्पन तथा साधुवाद आदि अनुभावों से इसका अभिनय किया जाता है। संक्षेप में स्थायी भावों का यही सामान्य परिचय है जो विभाव अनुभाव और संचारीभावों के संयोग से रस संज्ञा प्राप्त करते हैं।

भावों का परस्पर सम्बन्ध—भरत मुनि ने तैंतीस प्रकार के व्यभिचारी भावों का संक्षिप्त परिचय देने में भावनिरूपक उपर्युक्त पद्धति का प्रयोग किया है। उन्होंने 'वि—अभि इत्येतावुपसर्गौ, चरगतौ धातुः' द्वारा व्यभिचारी पद की सिद्धि करते हुए बतलाया है कि जो भाव विविध रसों में उनकी अभिमुखता से संचरित होते रहते हैं, उन्हें व्यभिचारी भाव कहते हैं। वे नाट्य प्रयोग में वाचिक, आंगिक तथा सात्त्विक भावों को रस रूप में ले जाते हैं। उनका वह आनयन लोकसिद्धान्त के अनुरूप है। जब यह कहा जाता है कि सूर्य किसी नक्षत्र विशेष अथवा दिन को ले जाता है तो इसका यह अभिप्राय नहीं है कि वह अपने कंधों अथवा बाहुओं पर उन्हें ले जाता है। वस्तुतः इस प्रकार का कथन लोकप्रसिद्धि मात्र है। यही स्थिति व्यभिचारी भावों की है। जिसे ध्यान में रखते हुए भरतमुनि ने 'वागंगसत्त्वोपेतान् प्रयोगे रसं नयन्तीति व्यभिचारिणः' वाक्य का प्रयोग किया है।

भरत मुनि ने सभी प्रकार के व्यभिचारी भावों का पृथक्-पृथक् निर्देश करते हुए तत्सम्बद्ध विभावों और अनुभावों का उल्लेख किया है जिनसे उनकी उत्पत्ति तथा अभिनेयता का बोध होता है। इसी क्रम में सात्त्विक भावों का भी विवेचन किया गया है। 'सत्त्वं नाम मनः प्रभवम्। तच्च समाहितमनस्त्वादुत्पद्यते' का यही अभिप्राय है कि समाहित मन से सात्विक भावों की उत्पत्ति होती है। नाट्य में लोकस्वभाव का अनुकरण होने के कारण समाहित मन का सत्त्व अभीप्सित है। भरत मुनि का कथन है कि नाट्य धर्म में प्रवृत्त भाव जितने अधिक सत्त्व विशुद्ध होते हैं, उतना ही उनका प्रकृत स्वरूप प्रकट हो सकता है। दुःख मूलतः रोदनात्मक भाव है जो केवल दुःखमूल सात्त्विकता से ही अभिनीत किया जा सकता है। प्रहर्षात्मक सुख के लिए हर्षमूलक सत्त्व वांछनीय है। भरत मुनि ने स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, स्वरभेद, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय संज्ञक सात्त्विक भावों के लक्षण निरूपित करते हुए अंत में यही निष्कर्ष निकाला है

कि रस निष्पत्ति में इन सबका समुचित समायोजन करना सभी दृष्टियों से अपेक्षणीय है।

भरतमुनि ने सभी रसों से सम्बन्धित व्यभिचारी तथा सात्त्विक भावों का नामोल्लेख करते हुए बतलाया है कि वे भाव अनेक प्रकार के अभिनयों के संश्रित होकर नाट्योक्तियों द्वारा सभी रसों में व्यक्त होते हैं। उन्होंने स्थायी और व्यभिचारी भावों का स्वरूप तथा अंतर निम्नलिखित श्लोकों द्वारा स्पष्ट करने का सफल उपक्रम किया है :—

बहूनां समवेतानां रूपं यस्य भवेद्वहु।
स मंतव्यो रसः स्थायी शेषाः संचारिणो मताः।
दीपयंतः प्रवर्तन्ते ये पुनः स्थायिनं रसम्।
ये तु संचारिणो ज्ञेयास्ते हि स्थात्विमागताः।
विभावानुभावयुक्तो ह्यंगवस्तुसमाश्रयः।
संचारिभिस्तु संयुक्तः स्थाय्येव तु रसो भवेत्।।[27]

अलंकार लक्षण

भरत मुनि ने 'अलंकार लक्षण' नामक षोडश अध्याय में छत्तीस प्रकार के लक्षणों का पृथक्-पृथक् निरूपण किया है। उनका कथन है कि जब वे लक्षण काव्यबंधों में सम्यक् रूप से प्रयुक्त किये जाते हैं तो उनसे काव्य शोभा की वृद्धि होती है। भरत मुनि के मतानुसार उनके नाम निम्नलिखित हैं।

भूषण, अक्षरसंघात, शोभा, उदाहरण, हेतु, संशय, दृष्टांत, प्राप्त-अभिप्राय, निदर्शन, निरुक्त, सिद्धि, विशेषण, गुणातिपात, अतिशय, तुल्यतर्क, पदोच्चय, दृष्ट, उपदिष्ट, विचार, विपर्यय, भ्रंश, अनुनय, माला, दाक्षिण्य, गर्हण, अर्थापत्ति, प्रसिद्धि, पृच्छा, सारूप्य, मनोरथ, लेश, क्षोभ, गुणकीर्तन, अनुक्त सिद्धि और प्रियोक्ति। इन लक्षणों की प्रयोजनीयता के सम्बन्ध में भरतमुनि का निम्नलिखित अभिमत उल्लेखनीय है—

एतानि वा काव्यविभूषणानि,
षट्त्रिंशदुद्देश्य निदर्शनानि।
काव्येषु सोदाहरणानि तज्ज्ञैः,
सम्यक् प्रयोज्यानि बलानुरूपम्।।[28]

काव्यालंकारों के भेद—नाट्य शास्त्र में उपमा, दीपक, रूपक तथा यमक नामक चार प्रकार के काव्यालंकारों का विवेचन हुआ है। जिन काव्यबंधों में गुणाकृति के समाश्रय से दो पदार्थों का सादृश्य उपमित किया जाता है, उसे उपमा कहते हैं।[29] उपमा का प्रयोग काव्यों तथा नाटकों में परम्परागत रहा है। उसके अनेक प्रकार नाट्यशास्त्र में उदाहृत किये गये हैं।[30] उनमें प्रशंसा, निंदा, कल्पिता, सदृशी तथा किंचित्सदृशी संज्ञक पंचविध उपमाभेदों का निरूपण विशेष रूप से हुआ है।[31] उपमा के उपर्युक्त भेद संक्षेपतः

वर्णित हैं। उसके अन्य भेदों का विशेष ज्ञान काव्यग्रंथों के अध्ययन द्वारा किया जा सकता है।

भरत मुनि ने रूपक अलंकार का लक्षण सादृश्यमूला उपमा के संदर्भ में निरूपित किया है। उनका कथन है कि अनेक प्रकार के द्रव्यानुषंगों द्वारा गुणाश्रित तथा रूप-निर्वर्णनायुक्त सादृश्य 'रूपक' अलंकार होता है।[32] उन्होंने रूपक को स्वविकल्पविरचित तुल्यावयव लक्षण तथा किंचित्सादृश्य सम्पन्न भी कहा है।[33] दीपक अलंकार में अनेक प्रकार के शब्दों और अर्थों का संयोग तथा अधिकरण एक वाक्य द्वारा किया जाता है।[34] यमक अलंकार एक प्रकार का शब्दाभ्यास है जो काव्य रचना के छंदों और पदों में विकल्पित होता है।[35] उसके प्रमुख दस भेद हैं जिनके नाम पादांत, कांची, समुद्ग, विक्रांत, चक्रवाल, संदष्ट, पादादि, आम्रेडित, चतुर्व्यवसित तथा माला यमक हैं।[36] भरत मुनि ने उपर्युक्त दशविध यमकों के पृथक्-पृथक् लक्षण तथा उदाहरण निरूपित किये हैं। यमक अलंकार के प्रयोग तथा विवेचन के प्रति परवर्ती अलंकारवादी आचार्यों की भी विशेष अभिरुचि रही थी। जिसका सम्यक् बोध दण्डी तथा रुद्रट आदि अलंकार शास्त्रियों के लक्षण ग्रंथों द्वारा किया जा सकता है।

दशविध काव्यदोष—नाट्यशास्त्र में काव्यदोषों का भी विवेचन हुआ है। भरत मुनि ने उनके दस भेद कल्पित किये हैं। पर्याय शब्दों के अभिधान में गूढ़ार्थ, अवर्ण्य में 'अर्थान्तर', असम्बद्धता में 'अर्थहीन', असभ्य एवं ग्राम्य कथन में 'भिन्नार्थ', एक अर्थ के अभिधान में 'एकार्थ', पादसमास में 'अभिप्लुतार्थ, प्रमाणपरिवर्जन में 'न्याया दपेत,' छंदोभंग में 'विषम', अशब्द की अनुप्रतिष्ठा में 'विसंधि' तथा अशब्द की योजना में 'शब्दहीन' अथवा 'शब्दच्युत' दोष होते हैं।[37] ये सभी काव्यदोष नाटकाश्रित भी होते हैं। इन दोषों के विपर्यय 'गुण' कहलाते हैं जो माधुर्य तथा औदार्य आदि लक्षणों से विवेचित किये जाते हैं।[38]

काव्यार्थ गुणों के प्रकार—भरत मुनि ने श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, पदसौकुमार्य, अर्थव्यक्ति, उदारता और कांति संज्ञक दस काव्यार्थगुण माने हैं।[39] इन सभी गुणों के पृथक्-पृथक् लक्षण निर्धारित करते हुए उन्होंने बतलाया है कि अलंकारों की भाँति इनका प्रयोग भी रस संश्रय दृष्टि से ही किया जाना चाहिए। ऐसा करने पर ही काव्य बंधों में उत्कर्ष तथा शोभा का संचार होता है। इस विषय में उनका निम्नलिखित अभिमत उल्लेखनीय है—

शब्दानुदारमधुरान्प्रमदाभिनेयान्
नाट्याश्रयान् कृतिषु प्रयतेत कर्तुम्।
तैर्भूपिता बहु विभांति हि काव्यबंधा:
पद्माकरा विकसिता इव राजहंसै:।।[40]

संदर्भ

1. भरतमुनि : नाट्यशास्त्र 6/16-7
2. वही 6/17-8
3. वही, 6/19-22
4. वही, 6/23
5. वही, 6/24-7
6. वही, 6/33-34
7. वही, 6/35-9
8. वही, 6/40
9. वही, 6/41-2
10. वही, 6/43
11. वही, 6/44
12. वही, 6/47
13. वही, 6/48
14. वही, 6/49
15. वही, 6/50-3
16. वही, 6/65
17. वही, 6/66
18. वही, 6/67
19. वही, 6/70-73
20. वही, 6/74-5
21. वही, 7/1-3
22. वही, 7/4
23. वही, 7/5
24. वही, 7/7
25. वही, 7/8
26. वही, 7/15-20
27. वही, 7/120-122
28. वही, 16/42
29. वही, 16/44
30. वही, 16/46-9
31. वही, 16/51-55
32. वही, 16/57

33. वही, 16/58
34. वही, 16/60
35. वही, 16/62
36. वही, 16/63-66
37. वही, 16/90-95
38. वही, 16/96
39. वही, 16/97
40. वही, 16/122

भामह : 'काव्यालंकार'

काव्यालंकार का प्रतिपाद्य

भरतमुनिकृत 'नाट्ययशास्त्र' की रचना में संस्कृत काव्यशास्त्र के प्रवर्तन का सत्प्रयास परिलक्षित होता है जो कालांतर में आचार्य भामहरचित 'काव्यालंकार' द्वारा विधिवत् रूप में विकसित हुआ। इन दोनों आचार्यों की रचना के मध्य सुदीर्घकालीन अंतराल विद्यमान है। वस्तुतः भामह ने ही काव्यशास्त्र की स्वतंत्र परम्परा का श्रीगणेश किया था जो दण्डी, वामन और रुद्रट आदि अलंकार शास्त्रियों के लक्षण-ग्रंथों से आगे बढ़ता हुआ रस और ध्वनि सिद्धांतों की सूक्ष्मदर्शिता में गुरुगम्भीर बना। काव्य के स्वरूप-निर्धारण में अलंकारवाद का जिस रूप में प्रारम्भकालीन प्रामुख्य रहा, वह शनैः शनैः रीति, वक्रोक्ति और गुण-सिद्धांतों के वैशिष्ट्य की ओर उन्मुख होता हुआ रस और ध्वनि सिद्धांतों की भूमिका में अपना आत्मतत्त्व उपलब्ध कर सका। आचार्य भामह मुख्यतः अलंकारवादी आचार्य माने जाते हैं। उनके काव्यालंकार के प्रथम परिच्छेद में काव्य प्रशंसा, काव्यसाधन, काव्यलक्षण, काव्यभेद, काव्यदोष और काव्यगुण आदि विषयों का जिस रूप में विवेचन किया गया है; वह परवर्ती आचार्यों को अनेक दृष्टियों से सुमान्य रहा है। उनका यह निरूपण काव्य के शरीर निर्णय से सम्बद्ध है जिसकी मान्यताओं में संस्कृत काव्यशास्त्र के प्रमुख विचार-सूत्र निहित हैं। उनके 'काव्यालंकार' का द्वितीय परिच्छेद अलंकार निर्णय का ही विशदीकरण है जिसमें उन्होंने क्रमशः अनुप्रास, यमक, रूपक, दीपक, उपमा, उपमादोष, आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति, अतिशयोक्ति, हेतुसूक्ष्मलेशादि का अलंकारत्व निरसन करने के पश्चात् यथासंख्य, उत्प्रेक्षा और स्वभावोक्ति अलंकारों के विषय में अपनी धारणाएँ व्यक्त की हैं। उनकी अलंकारवादी अंतर्दृष्टि का सदुपयोग प्रायः सभी परिवर्ती आचार्यों ने अधिकांशतः किया है जिससे उनका प्रखर आचार्यत्व प्रतिष्ठित होता है। काव्यशास्त्र के प्रारम्भिक काल में उनका यह उपक्रम अन्य आचार्यों के लिए मार्गदर्शन का वरदान सिद्ध हुआ है। वस्तुतः काव्य में अलंकारों की स्थिति तथा सत्ता प्रारम्भ ही से स्वीकार्य रही है, भले ही उनकी अवधारणा के प्रति समय-समय पर परिवर्तन होता गया हो। भामह की अलंकार दृष्टि विशेष दिशा की ओर उन्मुख अवश्य है किन्तु उसे सर्वथा संकुचित और पूर्वाग्रही नहीं कहा जा सकता। उन्होंने अलंकार निर्णय के साथ-साथ काव्य-

दोषों और काव्यगुणों का विवेचन करते हुए रस-सिद्धांत के प्रति भी अपने मन में आस्था रखी है, भले ही वे उसे अलंकारों का अंगभूत सिद्धांत मानकर ही क्यों न चले हों।

अलंकृति निर्णय और अलंकार

'काव्यालंकार' का तृतीय परिच्छेद भी अलंकृति निर्णय से सम्बन्धित है। उसके प्रारम्भ में प्रेय, रसवत्, ओजस्वी, पर्यायोक्त, समाहित और उदात्त संज्ञक अलंकारों का निरूपण किया गया है जो परवर्ती आचार्यों द्वारा पृथक् दृष्टिकोणों के कारण अनेक प्रकार के ऊहापोहों में उलझा दिया गया है। 'रसवत्' नाम से अलंकार का विवेचन करना रस की महत्ता का सूचक अवश्य है किन्तु उसे जिस संकीर्ण घेरे में बाँध दिया गया है, वह किसी भी रूप में सुमान्य नहीं कहा जा सकता। इस विषय में आचार्य भामह को अधिक दोष भी नहीं दिया जा सचता। क्योंकि काव्यशास्त्र के प्रवर्तन-काल की परिस्थितियों को देखते हुए न तो उनसे रसविषयक व्यापक दृष्टि की अपेक्षा की जा सकती थी और न वे उसे अलंकारों के घटाटोप से निकालकर रस की विद्युत्कांति की प्रखर शक्ति ही प्रदान कर सकते थे। उन्होंने 'रसवत्' अलंकार की प्रतिष्ठा करते हुए परवर्ती आचार्यों को इस विषय में गम्भीर और व्यापक विवेचन करने का विचारोत्तेजक संकेत अवश्य दिया है जिसका प्रतिफलन हम दण्डी, कुंतक, आनंदवर्धन, मम्मट और जगन्नाथ आदि काव्यशास्त्रियों के लक्षण ग्रंथों में तर्कपूर्ण पांडित्य के रूप में प्राप्त करते हैं। 'रसवत्' अलंकार कालांतर में रसालंकार बनकर किस प्रकार ध्वनिगर्भित बन सका, इसका विश्लेषण विभिन्न आचार्यों की रस और अलंकार विषयक धारणाओं में विशेष रूप के किया गया है। भामह ने इस दिशा में चिंतन की प्रेरणा देकर निश्चय ही अपने आचार्यत्व का ही निर्वाह किया है।

'काव्यालंकार' के तृतीय परिच्छेद में इसी क्रम में श्लिष्ट, अपह्नुति, विशेषोक्ति विरोध, तुल्ययोगिता, अप्रस्तुत प्रशंसा, व्याजस्तुति, निदर्शना, उपमारूपक, उपमेयोपमा, सहोक्ति, परिवृत्ति, संदेह और अनन्वय अलंकारों का विवेचन हुआ है। उसमें उत्प्रेक्षा के अवयव, संसृष्टि, भाविकत्व तथा आशी:अलंकारों के लक्षण और उदाहरण भी निर्धारित किये गये हैं। 'अलंकृति-निर्णय' के ये सभी अलंकार परवर्ती आचार्यों के ग्रंथों में विवेचित हुए हैं जिससे स्पष्ट है कि संस्कृत काव्यशास्त्र का अलंकार चक्र भामह की विचारधुरी पर ही परिभ्रमण करता हुआ उसी के आसपास घूमता रहा है। अलंकारों का यह कल्पतरु कालांतर में अनेक प्रकार की शाखा-प्रशाखाओं के रूप में प्रवर्द्धित होकर व्यापक, विशाल और जटिल बनता गया किन्तु उसके विकास और प्रसार की आधारभूमि तो भामह के 'काव्यालंकार' के आलबाल में संकेन्द्रित रही है।

दोष निर्णय—'काव्यालंकार' का चतुर्थ परिच्छेद दोषनिर्णय से सम्बन्धित है। उसमें आचार्य भामह ने क्रमशः अपार्थ, व्यर्थ, एकार्थ, ससंशय, अपक्रम, शब्दहीन, यतिभ्रष्ट, भिन्तवृत, विसंधि देश विरोधी, काल विरोधी, कलाविरोधी, लोकविरोधी, न्यायविरोधी और आगमविरोधी दोषों की विवेचना अपनी अंतर्दृष्टि से की है।

भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' में काव्यदोषों का जिस रूप में उल्लेख हुआ है, वह आचार्य भामह को पर्याप्त मात्रा में सुमान्य रहा है। जिसका अनुगमन परवर्ती आचार्यों ने भी किया है। दोष विवेचन की दिशा में दण्डी वामन, आनंदवर्धन, मम्मट, विश्वनाथ और जगन्नाथ आदि आचार्यों का योगदान अत्यंत महत्वपूर्ण है जिन्होंने उन्हें काव्य पुरुष के लिए काणत्व आदि के परिचायक तथा इसके अपकर्षक कहकर अपनी विवेचना प्रस्तुत की थी। काव्य के शरीर तत्त्व और आत्मतत्त्व के लिए वे निश्चय ही विघातक होते हैं जिनकी स्थिति नित्य और अनित्य इन दोनों रूपों में हो सकती है। उनका सम्बन्ध काव्य के पद, पदार्थ, वाक्य, वाक्यार्थ अलंकार और रस आदि सभी उपकरणों से किसी न किसी रूप में जुड़ा रहता है जिनका सम्यक् ज्ञान प्राप्त किये बिना काव्य का पूर्ण प्रबोध नहीं किया जा सकता। विस्तार भय की आशंका तथा पिष्टपेषण के प्रमाद से बचने के लिए भामह के प्रसंग में उनका उल्लेखमात्र किया गया है क्योंकि अन्य आचार्यों के काव्यसिद्धांतों के अंतराल में भामह की दोष-विषयक धारणाएँ यथा प्रसंग निरूपित होती चली हैं।

न्याय निर्णय—भामह ने 'काव्यालंकार' के पंचम परिच्छेद को 'न्यायनिर्णय' का नाम देकर प्रथमतः शास्त्र का काव्योपकारित्व निरूपित किया है। तत्पश्चात् वे प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण की भूमिका में उतरकर न्यायनिर्णय की दिशा में प्रवृत्त हुए हैं। उन्होंने प्रतिज्ञा और हेतु का स्वरूप-लक्षण तथा उनके दोषों की भी विवेचना की है जिसका काव्यसिद्धांतों से प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। तदुपरांत न्यायशास्त्र के अनुसार दृष्टांत-योजना का विमर्श करते हुए उन्होंने काव्य का निरवद्यत्व उल्लिखित किया है। वस्तुतः यह परिच्छेद न्याय-मीमांसा से जितना अधिकसम्बन्धित है उतना काव्य मीमांसा से नहीं है अतः इसकी काव्यशास्त्र विषयक उपयोगिता नाममात्र से मानी जा सकती है।

शब्द शुद्धि की विवेचमा

'काव्यालंकार' का षष्ठ परिच्छेद 'शब्दशुद्धि' की विवेचना से प्रयोजित है। इसके प्रारम्भ में भामह ने शब्दशास्त्र की काव्यरचना विषयक उपयोगिता का प्रतिपादन करते हुए बतलाया है कि हमें शब्द के शुद्ध स्वरूप का निर्णय अष्टाध्यायी अथवा पाणिनीय व्याकरण के नियम सूत्रों के अनुसार करना चाहिए। उन्होंने शब्दों के भेद तथा उनके अवांतर पक्ष स्पष्ट करने में अपनी शास्त्रदृष्टि का प्रयोग किया है। इस परिच्छेद का वह अंश अधिक विचारणीय किंवा पठनीय है जिसमें शब्दों की साधुता और असाधुता निर्णीत की गई है। भामह का शब्दशुद्धि विषयक विवेचन परवर्ती आचार्यों के काव्य शास्त्रीय ग्रंथों में के लिए भी प्रेरणास्पद रहा है। वामन ने 'काव्यालंकारसूत्र' के एक स्वतंत्र अध्याय के रूप में इस विषय की विवेचना को आगे बढ़ाने का उपक्रम किया है। सच तो यह है कि शब्द ही काव्य का शरीर स्थानीय है जो अक्षरबद्ध का पर्याय होने के कारण काव्य का विशिष्ट लक्षण सिद्ध होता है। पण्डितराज जगन्नाथ ने तो उस शब्द को ही काव्य माना है जो रमणीय अर्थ का प्रतिपादक हो। प्रायः सभी आचार्य किसी न

किसी रूप में काव्य के मूल तत्त्व के रूप में शब्द का माहात्म्य-गान करते चले हैं। शब्द-ब्रह्म की महिमा और गरिमा अपार है। वह वाग्देवता का सर्वस्व है। एक ही शब्द का सम्यक् ज्ञान तथा सुप्रयोग स्वर्ग और लोक में 'कामधुक्' की सी अर्थसिद्धि कराने वाला माना गया है। भामह ने काव्यगत शब्द का मौलिक महत्त्व समझ कर ही शब्दशुद्धि की विवेचना की है। इस प्रकार 'काव्यालंकार' के सभी परिच्छेद काव्यशास्त्र के प्रमुख अंगों के संवर्द्धन, विकास एवम् प्रसार की सूत्र सामग्री लेकर प्रस्तुत हुए हैं जिनकी पृष्ठभूमि पर संस्कृत काव्यशास्त्र का विशाल प्रासाद निर्मित हुआ है। उसके कीर्तिमान आचार्यों की श्रेणी में प्रथम वैतालिक के रूप में आचार्य भामह अजर और अमर हैं जिनके 'काव्यालंकार' के प्रवेश-द्वार से ही काव्यशास्त्र के विशाल और भव्य प्रदेश की आभा का अवलोकन किया जा सकता है।

आचार्यत्व-विषयक सम्मान

भामह का आचार्यत्व इस दृष्टि से भी सुमान्य, प्रामाणिक और उल्लेखनीय है कि उनके परवर्ती अनेक आचार्यों ने उनके 'काव्यालंकार' के अनेक श्लोक किसी न किसी रूप में अपने लक्षण-ग्रंथों में उद्धृत करते हुए उनके प्रति सम्मान प्रकट किया है। वे उनकी प्रामाणिकता और प्रौढ़ता स्वीकार करते चले हैं। अप्पयदीक्षित ने अपनी कृति 'चित्र मीमांसा' में उनके द्वारा निरूपित अनन्वय तथा प्रेयस् अलंकारों के लक्षण ज्यों के त्यों उद्धृत करते हुए उनका अनुगमन किया है तो अभिनव गुप्त के 'ध्वन्यालोकलोचन' की विवेचना के अंतर्गत काव्यालंकार के अनेक श्लोकों और उदाहरणों की उद्धृति हुई है। उद्भट का 'काव्यालंकारसंग्रह' यदि उनसे उपकृत है तो केशवमिश्र का 'अलंकार शेखर' भी उनके प्रभाव से विहीन नहीं है। भट्टिकाव्य के दशम सर्ग की टीका में आचार्य जयमंगल ने तो 'काव्यालंकार' के द्वितीय तथा तृतीय परिच्छेद वर्णित अलंकारों के लक्षण उद्धृत करने में पद-पद पर भामह की तद्विषयक मान्यताओं का उल्लेख किया है। उनके अनुप्रास, यमक, रूपक, उपमा, अर्थान्तरन्यास, आक्षेप, निदर्शना, विभावना, समासोक्ति, अतिशयोक्ति, यथासंख्य, उत्प्रेक्षा और स्वभावोक्ति आदि अलंकारों के लक्षण एक प्रकार से 'काव्यालंकार' के ही प्रतिरूप हैं। इस विषय में दण्डी का 'काव्यादर्श' नमिसाधुरचित 'काव्यालंकार' (रुद्रटप्रणीत) की टीका, प्रतिहारेन्द्र राज उद्भटकृत 'काव्यालंकार लघुवृत्ति' प्रेमचन्द्रतर्कवागीश रचित 'काव्यादर्श' की टीका, भोजराज प्रणीत 'सरस्वतीकण्ठाभरण', मम्मटरचित 'काव्यप्रकाश', रुय्यक का 'अलंकार सर्वस्व', वामन की 'काव्यालंकार सूत्रवृत्ति', विश्वेश्वर पण्डित का 'अलंकार कौस्तुभ' और हेम चन्द्र का 'काव्यानुशासन' तथा उसकी टीका आदि अनेक ग्रंथों में स्थान-स्थान पर भामह के 'काव्यालंकार' वर्णित लक्षणों और श्लोकों का ससम्मान उल्लेख हुआ है। इससे स्पष्ट है कि प्रायः सभी परवर्ती आचार्य भामह शास्त्रप्रज्ञा के सम्मुख नतमस्तक थे। 'संस्कृत काव्यशास्त्र को भामह की देन' शोधकार्य का एक स्वतंत्र विषय हो सकता है, इसका संकेत करने के साथ-साथ मेरे निवेदन का मंतव्य यह भी है कि संस्कृत काव्य-

शास्त्र की परम्परा में आचार्य भामह एक ऐसे आलोक स्तम्भ के रूप में प्रतिष्ठित हैं जिन्हें काव्य विवेचना का आधार बनाकर ही इस विषय की पूर्णता की ओर बढ़ा जा सकता है। भामह किसी भी दृष्टि के काव्यशास्त्र के क्षेत्र में उपेक्षणीय नहीं हैं। उनकी विवेचना के अभाव में संस्कृत का काव्यशास्त्र न तो अपना मूल उद्गम ही प्राप्त कर सकता है और न उसका सही शुभारम्भ ही समझा जा सकता है।

काव्य के प्रयोजन और हेतु

भारतीय परम्परा में लक्षण और लक्ष्य ग्रंथों के प्रयोजन और फल समानधर्मी माने गये हैं जिन्हें ध्यान में रखते हुए आचार्य भामह ने भी सत्काव्यों के निर्माण की भाँति काव्यालंकार के भी प्रमुख प्रयोजन कीर्ति और प्रीति माने हैं। उन्होंने साधुकाव्य की निषेवणा अथवा निबंधना को कवि तथा सहृदय के लिए सभी दृष्टियों से प्रयोजनीय माना है क्योंकि उसी के कारण पुरुषार्थचतुष्टय (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) की प्राप्ति तथा कलाओं में विचक्षणता प्राप्त होती है।[1] उनकी मान्यता है कि जिस प्रकार अर्थ-दरिद्र व्यक्ति दानोत्सुक होने पर भी परोपकार नहीं कर पाता तथा क्लीवजन अस्त्र कौशल पाकर भी शत्रु तथा विनाश में आत्मरक्षण में समर्थ नहीं हो सकता, उसी प्रकार शास्त्र ज्ञान विहीन कवि भी अज्ञ ही होता है जो न तो अपना ही हित साधन कर पाता है और न दूसरों के कल्याण में भी उपयोगी सिद्ध हो सकता है।[2] वस्तुतः शास्त्र ज्ञान का वाग्वैदग्ध्य केवल सत्काव्य की सर्जना द्वारा ही चरितार्थ होता है जिसे भामह ने विनय-युक्ता लक्ष्मी और शशियुक्ता निशा की भाँति वरेण्य माना है।[3] इस प्रकार भामह के अभिमत से शास्त्र और काव्य एक ही प्रकार के प्रयोजन से प्रेरित होते हैं। अतः कवियों का कर्तव्य है कि वे अपनी वाग्विदग्धता का प्रयोग चतुर्वर्गफल की प्राप्ति तथा कलाओं की विचक्षणता के निमित्त करें जिससे उन्हें अक्षय कीर्ति तथा आह्लादकारिणी प्रीति प्राप्त हो सके।

काव्य-सर्जना केवल प्रतिभासाध्य है। वह उपदेश मात्र से अर्जित नहीं की जा सकती। शास्त्रज्ञान का क्षेत्र उससे अवर श्रेणी का है क्योंकि आचार्यों के उपदेश से मंद-बुद्धि व्यक्ति भी उसकी उपलब्धि कर सकते हैं जबकि काव्य-रचना के क्षेत्र में यह नियम चरितार्थ नहीं होता। उसके लिए केवल स्मृति, बुद्धि, मति और सामान्य प्रज्ञा ही पर्याप्त नहीं है। वस्तुतः नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा अथवा प्रतिभा द्वारा ही उसकी सृष्टि सुसम्भव है।[4] प्रतिभाशाली कवि जिस काव्यमय शरीर के रूप में जरा-मरणविहीन होकर जीवित रहते हैं वह अत्यंत कमनीय और निरामय होता है। वे मृत्युलोक में रहते हुए भी दिव्य सुखों की उपलब्धि करते हैं। उन्हें काव्यशरीर के द्वारा अनश्वरी कीर्ति का अमर पद प्राप्त होता है जो पृथ्वी से लेकर स्वर्ग पर्यन्त अपना शाश्वत सौरभ विकीर्ण करने में सक्षम है।[5] इस सम्बन्ध में महाभारत के वन पर्व का निम्नलिखित श्लोक उल्ले-खनीय है जिसमें शब्द कीर्ति का गुणगान इस प्रकार किया गया है—

दिवं स्पृशति भूमिं च शब्दः पुण्यस्य कर्मणः।
यावत् स शब्दो भवति तावत् स्वर्गे महीयते॥

भामह का परामर्श है कि अमर कीर्ति के लिए काव्य-रचना और काव्य के लक्षण ग्रन्थों का निर्माण अवश्य करना चाहिए। इस प्रकार की शब्द साधना में शब्द ज्ञान, छन्द बोध, अभिधान, शाब्दशक्ति प्रबोध, पौराणिक कथाएँ, इतिहासवृत्त, लोक व्यवहार, युक्तिबोध, दर्शनशास्त्र और कलानैपुण्य आदि विषयों की जानकारी भी आवश्यक है।[6] इन्हें एक प्रकार से काव्यहेतुओं का ही अवांतर पक्ष कहा जा सकता है। काव्यविदों की उपासना तथा पूर्वरचित प्रामाणिक ग्रन्थों का अध्ययन और अनुशीलन भी इस कार्य में सहायक सिद्ध होता है।[7] जो कवि और विद्वान शब्दों के अभीष्ट अर्थों का सम्यक् ज्ञान करते हुए काव्य-क्रिया के प्रति आस्थावान होकर चलते हैं, उन्हें निश्चय ही निर्दोष काव्य रचना और काव्योद्भावना की शक्ति प्राप्त होती है। निर्दोष काव्य ही सभी दृष्टियों से वरेण्य है क्योंकि उसका एक भी पद अशुद्ध नहीं होता। भामह ने दोष-पूर्ण काव्य-बंध को कुपुत्र तुल्य कुल कलंककारी माना है जिससे वह तथा उसके रचयिता दोनों ही निन्दा के पात्र समझे जाते हैं।[8] उनका कथन है कि अकवित्व अधर्म, व्याधि तथा दण्ड का सम्प्रदान हो सकता है किन्तु कुकवित्व तो साक्षात् मरणतुल्य है जिसकी निंदा सभी मनीषियों ने की है।[9] कुकविजनों को अपशब्द, वृत्तभंगा तथा अर्थक्षय आदि के निर्णय का विवेक नहीं होता जिसके कारण उनकी रचनाएँ कुत्सित मानी जाती हैं। निम्नलिखित श्लोक में यही मंतव्य इस प्रकार प्रकट किया गया है—

गणयति नापशब्दं न वृत्तभंगंक्षयं न वाऽर्थस्य।
रसिकत्वेनाकुलिता वेश्यापतयः कुकवयश्च॥

अलंकारों की महत्ता और काव्य-लक्षण—भामह मुख्यतः अलंकारवादी आचार्य थे। उन्हें काव्य में रूपक आदि अलंकारों का काव्यगत महत्व स्वीकार था। उनका तो स्पष्ट मत था कि रमणी की कमनीय मुखकान्ति भी अलंकरण द्वारा ही सुशोभित होती है अतः कविता-कामिनी के लिए भी अलंकारों का अभिनिवेश सभी दृष्टियों से वांछनीय है।[10] कवित्वनिर्वाह की अलंकृति लाने में सुबंत और तिङन्त पदों के प्रयोग का तत्त्व-ज्ञान तथा वाणी की व्युत्पत्ति भी उपयोगी है क्योंकि उन्हीं के कारण शब्दशास्त्र के संस्कारों की अभिव्यंजनशक्ति का अन्तर्बोध होता है।[11] वस्तुतः शब्द और अर्थ की व्युत्पत्ति ही काव्यरचना का सौशब्द्य है जिससे अनुप्रास और यमक आदि शब्दालंकार तथा उपमा और रूपक आदि अर्थालंकार सुशोभित होते हैं।[12] इन बातों का विचार करने के पश्चात् ही भामह ने काव्य का लक्षण 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' निर्धारित किया है जिसमें वाचक शब्द और वाच्य अर्थ का उभय विद्या सन्निवेश रहता है। वस्तुतः काव्योचित शब्दों में अर्थ की सम्पृक्ति उसी प्रकार रहती है जिस प्रकार प्रत्येक तिल में तैल का द्रवीभाव सन्निहित है। इस प्रकार भामह के मतानुसार न तो निरपेक्ष भाव से रचित शब्द मात्र ही काव्य कहा जा सकता है और न केवल वाच्य अर्थ मात्र ही काव्य की संज्ञा धारण करता है। काव्य के लिए कविकौशलकल्पित कमनीय शब्द उतना ही वांछनीय है जितना

रचनावैचित्र्यचमत्कारी उसका वाच्यार्थ। इन दोनों के सद्भाव और सम्मिश्रण में ही काव्य का स्वरूप-लक्षण निहित है।

काव्य के भेद-प्रभेद—भामह ने गद्य और पद्य के नाम से काव्य की दो विधाएँ स्वीकार की हैं। शब्द के तीन प्रकार (संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश) हैं जिनके आधार पर काव्य के भी संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश नामक त्रिविध रूप माने गए हैं। काव्य में प्रतिपाद्य वस्तु चार प्रकार की होती है जिसे भामह ने 'देवादिचरितशंसी वृत्त', 'उत्पाद्य-वस्तु', 'संगीत आदि कला रूप' तथा भट्टिकाव्यवत् 'शब्दानुशासनादि शास्त्र रूपों' का नाम दिया है।[13] बंध की दृष्टि से काव्य के चार विभाग हो सकते हैं जिन्हें भामह ने 'सर्गबंध', 'अभिनेयार्थ', 'आख्यायिका' और 'कथा' कहा है।[14] इनके अतिरिक्त काव्य का पंचम प्रकार भी है जिसकी अभिधा अनिबद्ध अथवा अनिबंध है। वस्तुतः **सर्गबंध** का ही दूसरा नाम महाकाव्य है जो महाकवियों द्वारा विरचित तथा महच्चरितों से समन्वित होता है। उसके दोषवर्जित शब्दों और अर्थों में अग्राम्यत्व का समावेश तथा अलंकारों का सदाश्रयण रहता है। वाल्मीकि और कालिदास आदि महाकवियों के सर्गबन्ध काव्य महाकाव्य हैं। महाकाव्य में मंत्रणा, दूतप्रेषण, युद्ध प्रयाण, नायक के अभ्युदय तथा उसकी विजय आदि का चित्रण आवश्यक है।[15] वह दस रूपादि लक्षण ग्रन्थों में उल्लिखित पंचसंधियों युक्त तथा शास्त्रग्रन्थों से भिन्न कोटि का होता है। उसमें यथा प्रसंग ऋतुचर्या, संध्या, रात्रि, चंद्रोदय, विवाहोत्सव, सम्भोग, पुष्पावचय, जलक्रीड़ा, रतिचर्चा और पुत्र जन्म आदि वर्णनों की प्रचुरता रहती है। वह चतुर्वर्गफल प्राप्ति का प्रतिपादक तथा हितोपदेशकारी आह्लादमयता के साथ-साथ लोकस्वभाव का भी अभिव्यंजक एवं सकल रस समन्वित होता है। उसमें कथा के अधिकारी नायक का वधवर्णन नहीं किया जाता तथा उसके वंश, शौर्य और श्रुतज्ञान द्वारा उसकी संस्तुति रहती है। कवि को अधिकार है कि वह प्रतिनायक के पराक्रम का भी अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन भले ही करे, किन्तु उसका पर्यवसान नायक के उत्कर्ष की दिशा में ही होना चाहिए।[16]

काव्य का दूसरा भेद **अभिनेयार्थ** काव्य है जिसे नाटक अथवा रूपक भी कहा जाता है। इस काव्य का विशद विवेचन भरतमुनि के नाट्यशास्त्र तथा धनंजय के दश-रूपक आदि ग्रन्थों में विशेष रूप से किया गया है। भामह ने 'उक्तोऽन्यैस्तस्य विस्तरः' लिखकर उसकी छुट्टी कर दी है। **'आख्यायिका'** गद्यमयी संस्कृतरचना का नाम है जिसमें शब्द का श्रव्यत्व अर्थात् माधुर्य सन्निहित होता है। भामह ने उसे 'उदात्तार्था' कहा है जिसमें उत्तम पुरुषों के चरित वर्णित होते हैं। उसके अध्याय अथवा प्रकरणों को 'उच्छ्वास' कहते हैं।[17] आख्यायिका में स्वयं नायक अपने कार्य कलापों अथवा चेष्टाओं का वर्णन करता है।[18] उसमें वक्त्र तथा अपरवक्त्र जैसे छन्दों का प्रयोग होता है। कन्याहरण, संग्राम और विप्रलम्भ आदि विषय उसके प्रमुख वर्ण्य विभाग हैं।[19] **कथा** काव्य का चतुर्थ प्रकार है जिसमें न तो वक्त्र तथा अपरवक्त्र छंदों का प्रयोग होता है और न उसकी विषय-वस्तु उछ्वासों में ही विभक्त रहती है। उसे प्राकृत भाषा में लिखने की ही परम्परा प्रचलित रही है। उसका नायक स्वयं अपनी कथा का वर्णन नहीं

करता। अपितु वह अन्य पात्रों द्वारा वर्णित की जाती है।[20] काव्य का पंचम प्रकार 'अनिबद्ध' है जो संस्कृतमय श्लोकों तथा प्राकृतमयी गाथा से युक्त होता है।[21] उसमें कुलक आदि छन्द समूह संग्रथित रहते हैं। इन सभी प्रकार के काव्यों में अलंकारों का प्रयोग वांछनीय है अन्यथा उनका काव्यत्व नष्ट हो जाता है।

विवेचन के इसी क्रम में भामह ने वक्रोक्ति तथा स्वाभावोक्ति के रूप में काव्य-विभाजन की प्रणाली स्वीकार करते हुए लिखा है कि काव्य में उन दोनों की सापेक्षिक सत्ता रहती है। यदि इन दोनों का समुचित परिपालन न किया जाय तो कोई भी रचना काव्य न होकर 'वार्तामात्र' रह जाती है। काव्य के उपर्युक्त सभी भेद-प्रभेद शास्त्र सम्मत और विद्वज्जानुमोदित हैं। इनके अतिरिक्त कुछ विद्वान् गौडीय नाम से काव्य का अभिधान करते हुए वैदर्भ काव्य को उससे श्रेष्ठ सिद्ध करते हैं। उनके विवेचन में गतानुगतिक न्याय की ही सम्भावना अधिक है क्योंकि उसके द्वारा किसी भी प्रकार के प्रामाणिक विश्लेषण का शास्त्रीय पक्ष उभरता हुआ दृष्टिगोचर नहीं होता। काव्यशास्त्र के क्षेत्र में वैदर्भ और गौडीय नामों से काव्य-विवेचन की एक प्राचीन परम्परा अवश्य रही थी। जिसका विशेष उल्लेख भामह ने अपने 'काव्यालंकार' के अनेक श्लोकों में किया है।[22] उनके माध्यम से काव्य की सामान्य विशेषताओं का निष्यंद प्राप्त किया जा सकता है। वैदर्भ और गौडीय अभिमतों के परिप्रेक्ष्य में भामह ने जो कुछ लिखा है उसका विशदीकरण दण्डी के काव्यमार्गों तथा वामन की काव्यरीतियों में परिलक्षित होता है। भामह का तो यह स्पष्ट मत है कि काव्य शोभा के लिए वाणी की अलंकृति अथवा वक्रोक्ति (वक्राभिधेयशब्दोक्ति) परम अभीष्ट है क्योंकि उसी के कारण काव्य में चारु चमत्कार आता है।

काव्य दोषों की हेयता—'काव्यालंकार' में अलंकारों की अभिशंसा तथा दोषों की निन्दा की गई है। उसके अनुसार काव्य में नेयार्थ, क्लिष्ट, अन्यार्थ, अवाचक, अयुक्तिमत् गूढ़ शब्दाभिधान पदों का प्रयोग नहीं किया जाना चाहिए क्योंकि उनसे काव्यशोभा का अपकर्ष होता है।[23] भामह ने इन्हें काव्य-दोष कहकर संक्षेपतः इनके लक्षण और उदाहरण निरूपित किए हैं। काव्य-दोषों के कारण काव्य की वक्रोक्ति (अलंकृति) हेय अथवा निंदनीय हो जाती है। उन्होंने वाणी के चार प्रमुख दोष माने हैं जिनके नाम श्रुतिदुष्ट, अर्थकष्ट, कल्पनादुष्ट तथा श्रुतिकष्ट हैं।[24] व्रीडा और जुगुप्साजन्य अश्लीलता श्रुतिदुष्ट दोष का ही रूप है क्योंकि विट, विष्ठा, क्लिन्न, छिन्न, वांत, धर्षित, उद्गार, विसर्ग, सम्बाध, पेलव और काटव आदि शब्दों के श्रवणमात्र से ही उन शब्दों की अश्लीलता प्रकट हो जाती है।[25] अर्थदुष्ट दोष असभ्य वस्तु विषयक अर्थदोष है जो अपने अर्थ द्वारा अश्लीलता व्यंजित करता है। भामह ने इस दोष का जो उदाहरण प्रस्तुत किया है, वह खल की प्रवृत्ति के साथ-साथ मैथुनरत पुरुष के लिंग (शिश्न) की क्रियाओं की अश्लीलता भी व्यंजित करता है।[26] कल्पनादुष्ट का उदाहरण 'शौर्याभरण' पद है जिसका 'याभ' अंश 'यम' 'मैथुने' की कल्पना द्वारा उसकी अश्लीलता व्यंजित करता है। श्रुतिकष्ट के उदाहरण 'अजिह्वदत्' आदि अनेक पद हो सकते हैं जो सुनने में अत्यन्त कटु

लगते हैं। वाणी के इन चतुर्विध दोषों के अतिरिक्त 'ग्राम्य' नामक एक अन्य दोष भी है जो गण्ड और गल्ल आदि ग्राम्य प्रयोगों में प्रदर्शित होता है।

दोषों का गुण परिवर्तन

भामह ने उस स्थिति का भी उल्लेख किया है जहाँ काव्य के दोष अपनी दुष्टता त्यागकर गुण रूप में परिवर्तित हो जाते हैं। उनकी स्थिति माला के अंतराल में आबद्ध नील पलाश अथवा रमणी के नेत्र में अलंकृत होने वाले अंजन जैसी मानी गई है।[27] उनकी गुणरूपता का कारण सन्निवेश की विशेषता है। भामह का परामर्श है कि कवियों को गुण दोषों का सम्यक् विचार करने के पश्चात् ही अपनी काव्य रचना में उसी प्रकार प्रवृत्त होना चाहिए जिस प्रकार कोई माली पुष्पों की माला बनाते समय उसके अंतराल में सुरभित कुसुमों का समुचित संग्रथन उसके सूत्र में करता चलता है—

एतद् ग्राह्यं सुरभिकुसुमं ग्राम्यमेतद्निधेयं,
धत्ते शोभां विरचितमिदं स्थानमस्यैतदस्य।
मालाकारो रचयति यथा साधुविज्ञाय मालां
योज्यं काव्येष्ववहितधिया तद्वदेवाभिधानं॥[28]

'काव्यालंकार' के द्वितीय परिच्छेद में

गुणों के प्रमुख भेद

भामह ने काव्य-गुणों का उल्लेख मात्र किया है। उनके मतानुसार माधुर्य और प्रसाद नामक दो प्रमुख काव्यगुण है। जिनसे काव्यबंध सुशोभित होता है। अलंकारान्तर युक्त होने पर भी कोई भी काव्य बंध उनके बिना शोभनीय नहीं होता, अतःकाव्य में उनकी स्थिति निश्चित और नियत मानी गई है। इन गुणों में दीर्घ समास पदावली परित्याज्य है क्योंकि उसके कारण इनके मार्ग में व्यवधान उपस्थित होता है। भामह का परामर्श है कि माधुर्य और प्रसाद के अभ्याकांक्षी मेधावी काव्यकलाधरों को दीर्घ समास युक्त पदों का प्रयोग नहीं करना चाहिए। ओज गुण के सन्निवेश के लिए इस प्रकार का प्रतिबंध आवश्यक नहीं है क्योंकि उसमें 'मंदारकुसुमरेणु पिंजरितालका' जैसे पंचपद निर्मित समास भी सुग्राह्य हो सकते हैं। मधुर काव्य के लिए तो श्रव्य पद और समास-विहीन अर्थ योजना सभी दृष्टियों से अपेक्षित है। वस्तुत प्रसाद गुण स्वच्छ अर्थ का प्रतीक है जिसे सामान्य स्त्रीजन और बाल वृंद भी प्रतीतिगम्य कर सकते हैं। भामह ने द्विविध उदाहरणों द्वारा उसका स्पष्टीकरण किया है।

अलंकारों के संख्या भेद—भामह ने अनुप्रास, यमक, रूपक, दीपक और उपमा अलंकारों को वाणी के अलंकार कह कर उनका विवेचन किया है। इन अलंकार के भेद-प्रभेद-विश्लेषण में उन्होंने विशेष अभिरुचि प्रदर्शित करते हुए उनके लक्षण तथा-उदाहरणों द्वारा उनकी काव्य चमत्कृति का निर्देश किया है। वस्तुतः अनुप्रास और यमक

ही प्रमुख शब्दालंकार हैं। अर्थालंकारों में रूपक का प्राधान्य है जो समस्त वस्तु विषयक तथा एकदेशविवति रूप में दो प्रकार का होता हैं। आदि, मध्य तथा अंत की दृष्टि से उसके तीन भेद हैं। उपमा के अनेक रूप होते है जिनके प्रकारों का अंत नहीं है। अन्य अर्थालकारों में आक्षेप अर्थान्तर न्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति, अतिशयोक्ति, निदर्शन आदि समाविष्ट हैं। यथा संख्य तथा उत्प्रेक्षा नामक अलंकारों की दो विशिष्ट कोटियाँ भी विचारणीय है। स्वभावोक्ति अलंकार को उन्होंने अधिक प्रश्रय नहीं दिया है फिर भी उसका उल्लेख अवश्य किया है क्योंकि वह कुछ आचार्यों द्वारा प्रतिष्ठित किया गया है। अलंकारों का यह भेद निरूपण उन्होंने संक्षिप्त रूप में करते हुए उनके लक्षण और उदाहरणों की जो संगति सिद्ध की है वह परवर्ती आचार्यों द्वारा प्रचुर अंश में सुमान्य रही है।

'काव्यालंकार' के तृतीय परिच्छेद में तेईस अलंकारों का निरूपण हुआ है। उनमें प्रेय, रसवत्, ऊर्जस्वि, समाहित और उदात्त नामक अलंकार उल्लेखनीय हैं। कालांतर में इन अलंकारों की सत्ता का वैशिष्ट्य निरूपण अनेक आचार्यों के ऊहापोहों का रुचिकर विषय रहा है। भामह ने उनके जिन उदारणों का उल्लेख किया है, वे प्राय: सभी आचार्यों के अभिमत के आधार बिन्दु बने हैं। श्लेष के विषय में उनकी अपनी मौलिक मान्यता है। अपह्नुति, विशेषोक्ति, विरोध, तुल्ययोगिता, अप्रस्तुत प्रशंसा, व्याजस्तुति, और सहोक्ति अलंकारों के केवल लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत करते हुए उन्होंने उन्हें सर्वथा स्पष्ट और विवादैषणाविहीन सिद्ध किया हैं। अन्य अलंकारों में उपमारूपक, उपमेयोपमा, परिवृत्ति संदेह, अनन्वय प्रमुख हैं। उनका उत्प्रेक्षा-अवयव तथा संसृष्टि विश्लेषण विशिष्ट कोटि का है। यद्यपि भाविक और आशी-अलंकारों की उल्लेखनीय स्थिति नहीं है फिर भी उन्होंने तृतीय परिच्छेद के अंत में उनकी प्रतिष्ठा अवश्य की है। अलंकार-प्रकरण का उपसंहार करते हुए उन्होंने अंत में यही लिखा है कि सभी अलंकारों की अलंकृति विदग्धमण्डना नारी की भाँति वागर्थ विद्जनों के लिए नैसर्गिक आकर्षण का विषय है जिसके उनका चिन्तानुरंजन अथवा मन: प्रसादन होता है।[29]

दोष निवारण की आवश्यकता

जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है, भामह ने 'काव्यालंकार' के चतुर्थ परिच्छेद में काव्य-दोषों का स्वतंत्र निरूपण किया है। उन दोषों का नामोल्लेख किया जा चुका है। उनके लक्षण प्राय: वे ही हैं जो परवर्ती आचार्यों को भी सुमान्य रहे हैं अत: उनका विश्लेषण परवर्ती अध्यायों में होने के कारण उनका यहाँ संकेत मात्र करना ही पर्याप्त है। काव्य के उन दोषों के कारण उसके अर्थ बोध और आस्वादन में व्यवधान होता है अत: काव्य रचना करते समय उनके निराकरण के प्रति सावधान रहकर चलने से ही काव्यशोभा का निर्वाह हो सकता है।

न्यायनिरूपण की संगति

भामह ने 'काव्यालंकार' के पंचम परिच्छेद में सर्वप्रथम काव्यलक्षण की प्रवृत्ति में हेतु रूप समझे जाने वाले न्यायनिरूपण की संगति सिद्ध की है। उनका कथन है कि काव्य मूलत: प्रीति प्रधान है फिर भी उसकी सर्जना में 'व्युत्पत्ति' की भी आवश्कता रहती है जिसके लिए शास्त्र ज्ञान और शास्त्रार्थ बोध अनिवार्य है। काव्यरचयिताओं को अपनी कृतियों में यथा प्रसंग आवश्यकता पड़ने पर शास्त्रार्थों का भी प्रतिपादन करना होता है क्योंकि काव्यकारक के क्षेत्र का महान् दायित्व उसे उनका प्रयोग करने के लिए प्रेरित करता रहता है। 'उन्होंने स्वादु काव्य रसोन्मिश्र शास्त्र' की उपयोगिता 'प्रथमालीदमधव: पिबंति कटु भेषजम्' के श्लोकांश द्वारा की है। उसका यह अभिप्राय है कि कटुता के प्रति अरुचि तथा आशंका रखते हुए भी लोग मधुर रस के साथ-साथ कटु औषधि का पान करना भी हितकर समझते हैं।[30] भामह की इस मान्यता में काव्य के कान्तासम्मित उपदेश का संकेत विद्यमान है। उन्होंने काव्य के विशाल परिवेश में सभी प्रकार के शास्त्रों का ज्ञान अपेक्षित माना है जिसका उल्लेख निम्नलिखित श्लोक में हुआ है—

न स शब्दो न तद्वाच्यं न स न्यायो न सा कला।
जायते यन्न का यांगमहो भारो महान् कवि: ।[31]

व्याकरण ज्ञान की उपयोगिता

भामह ने 'काव्यालंकार' के षष्ठ परिच्छेद के प्रारम्भ में व्याकरणशास्त्र की प्रशंसा[32] करते हुए उसके अध्ययन की आवश्यकता प्रतिपादित की है।[33] उनका कथन है कि शब्द के स्वरूप का विमर्श तथा अर्थ का परामर्श काव्य के रचयिताओं और अध्येताओं के लिए परम अनिवार्य है। उनके बिना वे न तो उत्कृष्ट काव्य की रचना ही कर सकते हैं और न उसका अर्थ बोध और रस ग्रहण ही संभव है। उन्होंने 'अष्टाध्यायी' के क्रम के शब्दों के प्रयोज्य और अप्रयोज्य रूपों की विवेचना करते हुए बतलाया है कि महामुनि पाणिनि ने जिन सूत्रों और नियमों के आधार पर उनके शुद्ध रूपों की प्रतिष्ठा की है, उनका परिज्ञान करने के पश्चात् ही विशुद्ध काव्य की रचना की जा सकती है। इस प्रकार की मान्यता से स्पष्ट है कि आचार्य भामह शास्त्र निष्ठा और शास्त्रज्ञान के प्रति कितने अधिक समर्पित थे। 'काव्यालंकार' का षष्ठ परिच्छेद इसी प्रयोजन से प्रेरित कहा जा सकता है। उसके अनुशीलन द्वारा शब्द शुद्धि का प्रांजल प्रबोध अत्यंत सुगम और सुसाध्य हो जाता है।

भामह का वैशिष्ट्य और महत्व

भामह के 'काव्यालंकार' की एक उल्लेखनीय विशेषता यह है कि उन्होंने अलंकारवाद का प्रवर्तन करने के साथ-साथ वक्रोक्तिवाद का गौरव भी प्रतिष्ठित किया

है जिसका पल्लवन और प्रौढत्व आचार्य कुंतक द्वारा प्रतिपादित किया गया। उन्होंने 'न काँतमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखं'[34] द्वारा अलंकारों की काव्यगत अनिवार्यता निरूपित की किन्तु साथ ही साथ वे 'वक्राभिधेय शब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृति:[35] का उल्लेख करना भी नहीं भूले। उन्होंने वक्रोक्ति को सभी अलंकारों का मूल उद्‌गम माना है जिससे काव्य के अर्थ विभावित होते हैं। उनका परामर्श है कि सभी कवियों को उसकी साधना की दिशा में प्रयत्न करना चाहिए।[36] वस्तुत: वाणी की वक्रार्थ-शब्दोक्ति अलंकार के लिए ही परिकल्पित होती है।[37] आचार्य अभिनव गुप्त ने भी शब्द अथवा अभिधेय की वक्रता को अत्यंत महत्व देते हुए उसमें अलंकारों का अंतर्भाव सिद्ध किया है।

निष्कर्ष यह है कि आचार्य भामह सस्कृत काव्य शास्त्र के प्रथम उद्‌भावक आचार्य हैं जिनका 'काव्यालंकार' इस विषय का प्रथम मानक ग्रंथ माना जाता है। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती सत्कवियों के मतों का अवलोकन करते हुए अपनी बुद्धि से 'काव्यलक्ष्य' को अवगम्य कर सुजनों के अवगम के लिए अपना काव्यालंकार ग्रंथित किया था जिसकी प्रशंसा अभिनव गुप्त, मम्मट, विश्वनाथ, वामन, दण्डी और रुय्यक आदि आचार्यों ने की है। विद्यानाथ ने तो 'पूर्वेभ्यो भामहादिभ्य: सादरं विहिताँजलि:' पंक्ति द्वारा उनके प्रति विशेष नमन प्रकट किया है। उद्‌भट ने 'काव्यालंकार' की टीका लिखकर भामह का गौरव बढ़ाया है। संस्कृत काव्यशास्त्र के प्राय: सभी आचार्य भामह के ऋणी हैं। इन सब बातों का विचार करने के पश्चात् ही मैंने उन्हें काव्यशास्त्र के प्रणेता प्रथम आचार्य के रूप में संकीर्तित किया है जिनका 'काव्यालंकार' संस्कृत काव्यशास्त्र का प्रवेशद्वार है।

संदर्भ

1. भामह: काव्यालंकार, 1/2
2. वही, 1/3
3. वही, 1/4
4. वही, 1/5
5. वही, 1/6-7
6. वही, 1/8-9
7. वही, 1/10
8. वही, 1/11
9. वही, 1/12
10. वही, 1/13

11. भामह: काव्यालंकार, 1/14
12. वही, 1/15
13. वही, 1/17
14. वही, 1/18
15. वही, 1/19-20
16. वही, 1/20-21
17. वही, 1/25
18. वही, 1/26
19. वही, 1/27
20. वही, 1/28-29
21. वही, 1/30
22. वही, 1/31-35
23. वही, 1/37
24. वही, 1/47
25. वही, 1/48-49
26. हन्तुमेव प्रवृतस्य स्तब्धस्य विवरैषिण:।
    पतनं जायतेऽवश्यं कृच्छ्रेण पुनरुन्नति:। (वही, 1/51)
27. सन्निवेशविशेषात्तु दुरुक्तमपिशोभते।
    नीलं पलाशमाबद्धमन्तराले स्रजामि।
    किंचिदाश्रय सौन्दर्याद्धत्ते शोभामसाध्वपि।
    कांता विलोचनस्यस्तुं मलीमसमिवांजनं।
28. भामह : काव्यालंकार, 1/59
29. वही, 3/58
30. वही, 5/3
31. वही, 5/4
32. वही, 5/1-3
33. वही, 5/4-6
34. वही, 1/13
35. वही, 1/36
36. वही, 2/85
37. वही, 5/66

दण्डी : 'काव्यादर्श'

'काव्यादर्श' का प्रतिपाद्य

आचार्य दण्डी विरचित 'काव्यादर्श' अथवा 'काव्यलक्षण' संस्कृत काव्यशास्त्र की महती परम्परा में विशिष्ट कोटि का लक्षण ग्रंथ है। इसकी रचना पद्धति अनुबोध चतुष्टय से अनुप्राणित तथा आस्तिक भावनाओं से उपवृहित है। अपने ग्रंथ की निर्विघ्न समाप्ति के लिए उन्होंने वाग्देवता सरस्वती की वंदना करते हुए उससे यही कामना की है कि वह अपने विशुद्ध ज्ञानधवलित उज्जवल स्वरूप में उनके मनमानस में निवास करे जिसके उनका अंतःकरण सदैव प्रकाशमान रहे।[1] ग्रंथ की प्रस्तावना से स्पष्ट है कि दण्डी विद्वज्जनसुलभ शालीनता और विनम्रता के परम निधान थे जिन्होंने अपने पूर्ववर्ती भरत, काश्यप और बररुचि आदि आचार्यों के लक्षण ग्रंथों तथा वाल्मीकि, वेदव्यास, भास और कालिदास आदि महाकवियों के लक्ष्य ग्रंथों का सम्यक् रूप से अध्ययन और अनुशीलन करने के पश्चात् अपने काव्यलक्षण की रचना की थी।[2] उनके काव्यादर्श का प्रतिपाद्य 'विषय' काव्यलक्षण, 'प्रयोजन' काव्यलक्षणज्ञान, 'सम्बन्ध' प्रतिपादक भाव तथा 'अधिकारी' काव्यलक्षणजिज्ञासु पाठक वर्ग है जिससे उसका अनुबंध चतुष्टय अनुमोदित होता है।

वाणी के विविध रूप

दण्डी ने विषयारम्भ के पूर्व काव्य की आधारभूत वाणी की प्रशंसा की है जिसके द्वारा विश्व का सम्पूर्ण लोक व्यवहार संचालित होता है। ऐसा करते हुए उन्होंने वाणी के द्विविध रूपों का उल्लेख किया है जिन्हें क्रमशः शिष्टानुशिष्ट व्याकरण-सम्मत संस्कृत रूप तथा उससे भिन्न प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाओं का अनुशासित रूप कहा गया है।[3] दण्डी की यह धारणा जहाँ एक ओर उनकी संस्कृतनिष्ठ आस्था की सहज विज्ञप्ति वहाँ दूसरी ओर उससे इस बात की जानकारी भी होती है कि उनके समय में प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं ने भी लोकयात्रा के क्षेत्र में अपना प्रभुत्व प्रतिष्ठित कर लिया था। स्वयं दण्डी ने काव्य वाङ्मय का विभाजन करते हुए उसे संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और मिश्र संज्ञक चार भाषाओं में श्रेणिबद्ध किया है।[4] दण्डी ने कहने के लिए तो संस्कृत भाषा को ही व्याकरण सम्मत माना है किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि

कालान्तर में प्राकृत और अपभ्रंश आदि लोकभाषाएँ भी शिष्टानुशासित तथा व्याकरण-सम्मत बना दी गई थीं जिनका प्रचुर साहित्य उनकी शास्त्रनिष्ठा और काव्यकला का सजीव और सशक्त प्रमाण कहा जा सकता है। ऐसी स्थिति में दण्डी की भाषा विषयक उपर्युक्त धारणा एक विशेष दृष्टिकोण से ही सुग्राह्य समझी जानी चाहिए।

शब्द ब्रह्म की महिमा

प्राय: सभी काव्यशास्त्रियों ने वाणी अथवा शब्दब्रह्म की महिमा संकीर्तित की है क्योंकि उसी के द्वारा सम्पूर्ण जगत् का लोक व्यवहार चलता है। दण्डी ने शब्द-वाङ्मय को दिव्य ज्योति से उपमित किया है जिसके कारण तीनों लोक ज्ञान के लोकोत्तर प्रकाश से दीप्तिमान बनते हैं। दण्डी का कथन है कि यदि संसार में शब्द ज्योति प्रदीप्त न हो तो अखिल विश्व अज्ञानाधंकार में विलीन हो सकता है।[5] जिस प्रकार सूर्य और चन्द्र आदि ग्रहों का प्रकाश सृष्टि संचालन की प्रक्रिया का अनिवार्य अंग है, उसी प्रकार शब्द ज्योति हमारे सम्पूर्ण लोक व्यवहारों की नियामिका शक्ति है। आचार्य भर्तृहरि ने भी वाक्यपदीय में शब्दब्रह्म की महिमा का गुणगान विशदरूप में किया है।[6] वाक्यपदीय के टीकाकार पुण्यराज ने जिन त्रिविध प्रकाशों का उल्लेख किया है उनमें शब्दाख्य प्रकाश विशिष्ट कोटि का है जिसमें सभी प्रकाश उपनिबद्ध रहते हैं।[7] शब्दब्रह्म की महत्ता और गुरुता को ध्यान में रखकर ही आचार्यों ने शब्दमूतिर्धर विष्णु के रूप में समस्त काव्यालापों और कलाओं की कल्पना की है। आचार्य दण्डी शब्दब्रह्म की अक्षर ज्योति के अनुभविता थे अत: उन्होंने उसी के माध्यम से कालजयी कवियों की अमर कीर्ति का संस्तव किया। दण्डी के मतानुसार अपनी कृतियों के रूप में उन कवियों ने अपने चरितनायकों का यश भी अमर कर दिया है। जो उनके काव्यादर्श में प्रतिबिम्बित होकर आज भी उनकी जीवन ज्योति विकीर्ण कर रहा है।

काव्य के प्रयोजन

कीर्ति और प्रीति

काव्य का प्रमुख प्रयोजन यश: प्राप्ति है जो प्रत्यक्षत: कविनिष्ठ होने के कारण काव्यकृतियों से जुड़ी रहती है। दण्डी ने यद्यपि मम्मट और विश्वनाथ आदि आचार्यों की भाँति काव्यप्रयोजनों का विशिष्ट विभाजन तो नहीं किया है किन्तु उनके काव्यादर्श में काव्य प्रयोजनों के रूप में 'कीर्ति' और 'प्रीति' का स्पष्ट उल्लेख हुआ है। राज्याश्रित कवियों ने अपने प्रातिभ चमत्कार द्वारा अपनी अक्षय कीर्ति कौमुदी के साथ-साथ अपने आश्रयदाताओं की चरितावली को भी अमर कर दिया है जिसके प्रमाण उनके द्वारा विरचित असंख्य काव्य ग्रंथ हैं। यशभिलाषी कवियों को परामर्श देते हुए दण्डी ने उनसे इस बात का विशेष अनुरोध किया है कि वे निरंतर अतंद्रित भाव से अभ्यासरूप श्रमपूर्वक वाग्देवता की उपासना तथा आराधना में लगे रहें जिससे उनकी कवित्वशक्ति का अनुज्झितक्रम से प्रस्फुरण होता चले और उनकी प्रतिभा कालजयी शाश्वत कृतियों

का निर्माण करने में समर्थ हों।[8] उनकी यह मान्यता इस बात का स्पष्ट संकेत है कि आचार्य दण्डी प्रतिभा के साथ-साथ व्युत्पत्ति और अभ्यास में भी विश्वास रखते थे जिनके द्वारा कवि विदग्ध गोष्ठियों में अमर कीर्ति के अधिकारी बन सकते हैं।[9] उन्होंने आचार्य भामह, वामन और भोज, की भाँति कीर्ति के साथ-साथ प्रीति को भी काव्य का महत्वपूर्ण प्रयोजन सिद्ध किया है। उन्हें कीर्ति और प्रीति की काव्य प्रयोजनीयता भामह और वामन के काव्यशास्त्रीय ग्रंथों की परम्परा से मिली है जिनमें इन्हीं शब्दों के माध्यम से काव्य के प्रयोजन निरूपित किये गये हैं।[10] दण्डी ने कल्पान्तरस्थायी काव्य की कल्पना करते हुए उसके जिस 'लोकरंजक' रूप का उल्लेख किया है वह कीर्ति और प्रीति संज्ञक काव्य प्रयोजनों का ही अभिव्यंजक है।[11] वस्तुतः कीर्ति और प्रीति पदों से बढ़कर काव्य के अन्य प्रयोजन हो ही नहीं सकते। कालाँतर में काव्य-प्रयोजनों का जिस रूप में विशदीकरण किया गया, वे कीर्ति और प्रीति से सर्वत्र समन्वित रहे हैं। दण्डी ने 'रमण' (प्रीति अथवा आनंद) और 'सौभाग्ययश' की पदावली द्वारा दोनों की सहज सम्पृक्ति में काव्यप्रयोजनों का तत्त्व-निष्यंद निरूपित किया है जो निम्नलिखित छंद में अभिव्यक्त हुआ है—

व्युत्पन्नबुद्धिरमुना विधिदर्शितेन,
मार्गेण दोषगुणयोर्वशवर्तिनीभिः।
वाग्भिः कृताभिसरणो मदिरेक्षणाभि—
धन्यो युवेव रमते लगते च कीर्तिम् ॥[12]

काव्य के हेतुतत्त्व

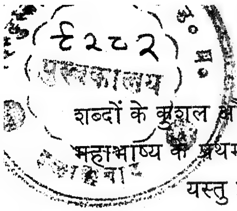
प्रतिभा, श्रुत और अभियोग

दण्डी ने काव्य हेतुओं का विश्लेषण काव्यसम्पत्ति की कारण रूपता के नाम से किया है। उनके मतानुसार नैसर्गिकी प्रतिभा, व्यापक एवं परिशुद्ध अध्ययन तथा प्रगाढ़ अभ्यास का समुदित रूप काव्य सम्पदा के हेतुभूत हैं।[13] स्वभावसिद्ध सहजा प्रतिभा का नाम ही कवित्वशक्ति है जो पूर्वजन्मों के संस्कारों से उत्पाद्य तथा नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा के नाम से भी अभिहित की जाती है। बहुविध काव्यशास्त्रों के अध्ययन तथा अनुशीलन एवं संशय विहीन श्रुतज्ञान के कारण भी काव्यवैभव का विस्तार होता है। व्युत्पत्तिलभ्य ज्ञान की पुनः पुनः आवृत्ति तथा उसका अमंद अभ्यास भी काव्यसम्पत्ति के हेतु है जिनसे कवि उपकृत होते हैं। दण्डी द्वारा प्रतिपादित बहुश्रुतत्व पद व्युत्पत्ति का पर्याय है जिसे भामह, रुद्रट और वामन आदि आचार्यों ने अनेक विद्याओं के सन्दर्भ में विवेचित किया है। व्याकरण, छंद, कोश, कला, स्मृति, इतिहास, तर्क और दण्डनीति आदि विविध विषयों का समावेश व्युत्पत्ति के अंतर्गत किया जाता है। दण्डी ने अमंद अभियोग को श्रम तथा अभ्यास भी कहा है। कालान्तर में प्रतिभा, श्रुत और अभियोग शब्द भिन्न-भिन्न नामों से विवेचित किये गये जिनका

विश्लेषण विविध आचार्यों द्वारा प्रतिपादित काव्य हेतुओं के प्रसंग में यथास्थान निरूपित हुआ है। दण्डी की मान्यता है कि यदि किसी कवि में पूर्वजन्म के संस्कार विशेष से उत्पन्न पूर्ववासना गुणानुबंधी अद्‌भुत प्रतिभा न भी हो तो भी वह काव्यों और शास्त्रों के अध्ययन तथा अभ्यासरूप प्रयत्न द्वारा वाग्देवता सरस्वती के वरदान एवं अनुग्रह के फलस्वरूप कवित्वशक्ति प्राप्त कर सकता है।[14] वाग्देवता के ऐसे वरद पुत्र सभी देश कालों में वंदनीय और यशस्वी होते हैं।

सुप्रयुक्त वाणी काव्य की चरम सिद्धि है

आचार्य दण्डी वाणी की अमोघ शक्ति तथा अभीष्ट फलदात्री सिद्धि से परिचित थे। वे शब्दब्रह्म की उस अलौकिक चमत्कृति के ज्ञाता थे जिसका यशोगान श्रुति ग्रंथों के अंतर्गत 'एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः शास्त्रान्वितः सुष्ठुप्रयुक्तः स्वर्गेलोके च कामधुग्भवति' जैसे तत्त्वगर्भित वाक्यों द्वारा किया गया है। उन्होंने वाणी को इष्टफलप्रदा कामधेनु के तुल्य मान कर उसके उस रूप की प्रशंसा की है जो सब प्रकार से सुप्रयुक्त किये जाने पर मनवांछित फल प्रदान करती है।[15] गुणालंकार समन्वित निर्दोष वाणी के सुष्ठु प्रयोग में ही काव्यकला की सार्थकता और सफलता निहित है। दुष्प्रयुक्त वाणी कवियों अथवा वस्तुओं के लिए कलंकरूपिणी है जिससे प्रयोक्ताओं का वृषभत्व (मूर्खत्व) ही संसूचित होता है।[16] अन्य काव्यशास्त्रियों की भाँति दण्डी ने भी काव्य प्रबंधों में गुणों और अलंकारों का गौरव संस्तुत किया है। वे दोषयुक्त काव्यरचना को सुन्दर शरीर पर स्थित श्वेत कुष्ठ के चिह्न से लाँछित मानते थे।[17] अपने काव्यादर्श में उन्होंने इस विचारपक्ष पर विशेष बल दिया है कि काव्य प्रबंधों के पदपदाँशों अथवा वाक्य रचनाओं में प्रयुक्त काव्यदोष सभी दृष्टियों से हेय और अक्षम्य होते हैं क्योंकि उनके कारण शब्दार्थमय काव्य का कामनीय कलेवर कुत्सित और कुष्ठरोगग्रस्त सा कर दिया जाता है। उनके मतानुसार काव्यशास्त्र की उपयोगिता इस बात में है कि वह काव्य प्रणेताओं की बुद्धि में काव्य के गुणदोषों का विवेक उन्मेषित करे जिससे वे अपनी रचनाओं में गुणालंकारों का सम्यक् संयोजन कर सकें। वस्तुतः ज्ञाननेत्र की ज्योति द्वारा ही सत्कवि गुणदोषों का विभाजन और प्रबोध कर सकते हैं जिससे उनकी रचनाओं में काव्य सौष्ठव का संचार संभव है। दण्डी का स्पष्ट मत है कि जिस प्रकार नेत्रहीन व्यक्ति रंग रूपों का भेदरहस्य नहीं समझ पाता, उसी प्रकार काव्यशास्त्र से अनभिज्ञ व्यक्ति काव्य के गुणदोषों का विवेक नहीं कर पाता।[18] उन्होंने इसी प्रयोजन से प्रेरित होकर उन काव्यमार्गों का निरूपण किया है जो वैदर्भ और गौडीय आदि विभिन्न नाम प्रकारों से काव्यशास्त्रियों द्वारा विवेचित किये गये हैं। दण्डी का यह प्रयास काव्य रचना की निर्दोष पद्धतियों और प्रक्रियाओं की दिशा में किया गया एक स्वस्थ उपक्रम है जिसके द्वारा उन्होंने इस सिद्धाँत की प्रतिष्ठा करनी चाही है कि काव्य वाणी का शुद्ध, परिष्कृत, परिमार्जित और व्याकरणसम्मत सुष्ठु प्रयोग ही काव्य की सफलता का मूल हेतु है और ऐसे प्रयोग ही वाणी का वैशिष्ट्य सिद्ध करते हैं। महामुनि पतंजलि ने भी



शब्दों के कुशल और सफल प्रयोगों की प्रशंसा तथा अपशब्दों की निंदा करते हुए महाभाष्य के प्रथम आह्निक में यही बात प्रकारान्तर से इस प्रकार कही है—

यस्तु प्रयुंक्ते कुशलो विशेषे शब्दान् यथावद् व्यवहारकाले ।
सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र वाग्योगविद्, दुष्यति चापशब्दैः ।

काव्य मार्ग और काव्यलक्षण

दण्डी की अंतर्दृष्टि मुख्यत: काव्यमार्गों के अन्वेषण की दिशा में विशेष उन्मुख रही। अत: उन्होंने वैदर्भ और गौडीय पद्धतियों को वाणी के विचित्र मार्ग कह कर उन्हीं की 'क्रियाविधि' में काव्यशास्त्र का अनुबंध किया।[19] वे काव्य में रचनाविधान तथा क्रियाकल्प को विशेष महत्व देते थे और उन्हीं के सम्यक् निबंधन में काव्य रचनाओं की सफलता स्वीकार करते थे। उनकी दृष्टि में 'क्रियाविधि' अथवा 'क्रियाकल्प' शब्द काव्यशास्त्र के पर्याय कहे जा सकते हैं क्योंकि वे 'काव्यकरण विधि' के सिद्धान्तों तथा विचार बिंदुओं का विश्लेषण करते हैं। उन्होंने प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रतिपादित काव्य प्रबंधों के अलंकरणों तथा गुणदोषों का महत्व समझते हुए जिस काव्य शरीर का लक्षण निरूपित किया है, वह उनके शब्दों में 'शरीरं तावदिष्टार्थ व्यवच्छिन्ना' पदावली के रूप में ही काव्य की उपयुक्त परिभाषा हो सकती है।[20] उनके मतानुसार वही पदावली काव्य पद की अधिकारिणी है जो अपने अभीष्ट अर्थ से समन्वित और सम्पृक्त हो। काव्य में शब्दार्थमयता की अनिवार्य स्थिति के समर्थक होते हुए भी आचार्य दण्डी उसके शब्द प्राधान्य में अधिक विश्वास रखते थे क्योंकि अभिलषित अर्थ से समन्वित पद समूह ही काव्य का शरीर माना जाता है। उन्होंने काव्य के शरीरतत्त्व के साथ उसके अलंकरण साधनों की चर्चा करते हुए जिन काव्यमार्गों का उल्लेख किया है, वे घूम फिरकर काव्य प्रयुक्त गुणों और अलंकारों से ही सम्बद्ध सिद्ध होते हैं। दण्डी का काव्य लक्षण जहाँ एक ओर मम्मट के काव्यलक्षण का उत्प्रेरक रहा है, वहाँ दूसरी ओर वह पण्डितराज जगन्नाथ के लिए काव्यलक्षण निर्धारण का भी परोक्ष आधार बन सका है।

काव्य के भेद

गद्य, पद्य और मिश्र काव्य

दण्डी ने गद्य, पद्य और मिश्र नाम से काव्य के तीन भेद हैं। गद्य यदि छन्दोरहित अमिताक्षर विधान है तो पद्य छन्दोबद्ध मिताक्षर रचना का नाम है। गद्य और पद्य का सम्मिश्रित रूप मिश्रकाव्य है जिसे 'चम्पू' भी कहा जाता है। नाटक आदि दृश्य काव्यों की गणना मिश्रकाव्य के अंतर्गत की जाती है। पद्य को चतुष्पदी भी कहते हैं। क्योंकि साधारणत: उसमें चार चरण होते हैं। उसके मुख्य दो भेद हैं—1. वृत्त और 2. जाति। अक्षरों अथवा वर्णों की संख्या से नियमित होने वाले मंदाक्रांता, शिखरिणी

और शार्दूल विक्रीडित आदि छंद 'वृत्त' कहलाते हैं। आर्या और गीति आदि छंद जाति अथवा मात्रिक छंद कहलाते हैं क्योंकि वे मात्राओं की संख्या से नियमित होते हैं। वृत्त और जाति नामक पद्य भेदों का सम्पूर्ण प्रपंच विस्तार छन्दोविचिति अथवा छन्दशास्त्र में हुआ है जिसे पिंगल शास्त्र भी कहा जाता है। आचार्य दण्डी ने काव्यप्रबंधस्वरूप सागर संतरण के लिए छन्द विद्या को पोततुल्य माना है।[21]

मुक्तक, कुलक कोष और संघात काव्य

दण्डी ने मुक्तक, कुलक, कोष तथा संघात आदि काव्यभेदों को सर्गबन्ध महाकाव्य के अंगमात्र कहा हैं।[22] मुक्तक काव्य अन्य पद्यों से मुक्त, निरपेक्ष और स्वतंत्र पद्य रचना का नाम है। मुक्तक का एक ही पद्य वाक्य अथवा वर्ण्यवस्तु की दृष्टि से पूर्ण और निरपेक्ष होता है। अग्निपुराण में 'मुक्तकं श्लोक एवैकश्चमत्कारक्षमः सताम्' को मुक्तक का लक्षण निर्धारित किया गया है।[23] 'अमरुकशतक' के पृथक्-पृथक् श्लोक मुक्तक काव्य के अनुपम उदाहरण माने गये हैं। वाक्यान्वय की दृष्टि से परस्पर सम्बद्ध श्लोक समूह का नाम 'कुलक' है। दण्डी के परवर्ती आचार्यों ने पाँच श्लोकों के समूह का नाम 'कुलक' कहा है। दो, तीन तथा चार श्लोक समूहों को क्रमशः 'युग्मक', 'संदानितक' तथा 'कलापक' कहा जाता है। मुक्तक पद्यों के समूह का नाम 'कोष' है। विश्वनाथ ने उस श्लोकसमूह को कोष कहा है जो अन्योन्यान पेक्षक, व्रज्याक्रम से विरचित तथा अत्यंत मनोरम होता है।[24] आर्यासप्तशती और सुभाषितावली आदि काव्य ग्रंथ 'कोष' के रूप हैं। परिमित कथावस्तु से युक्त एवं एक ही छंद में ग्रथित प्रबंधात्मक रचना का नाम 'संघात' है। संघात खण्डकाव्य से मिलता जुलता रूप है। कालिदास का 'ऋतुसंहार' संघात काव्य का श्रेष्ठ निदर्शन कहा जा सकता है।

महाकाव्य (सर्गबन्ध) के लक्षण

आचार्य भामह ने 'सर्गबंधो महाकाव्यम्) की जो लक्षण परम्परा प्रवर्तित की थी, वह दण्डी के लिए भी सुमान्य रही है। दण्डी ने सर्गबद्ध काव्य प्रबंध को 'महाकाव्य' पद से अभिहित करते हुए उसका शुभारम्भ आशीर्वचन, नमस्क्रिया तथा वस्तुनिर्देशात्मक माना है। उनके मतानुसार महाकाव्य की रचना किसी ऐतिहासिक अथवा काल्पनिक (उत्कृष्ट) कथा अथवा पात्र को आधार बनाकर की जाती है। वह चतुर्वर्गफल प्राप्ति का साधन तथा चतुर और उदात्त नायक के चरित्र से उपवृंहित होता है। उसके वर्ण्य विषयों में नगर, समुद्र, पर्वत, ऋतु, चन्द्रोदय, सूर्योदय, उद्यानक्रीड़ा, जलविहार, मदिरापान, संभोग शृंगार, विप्रलम्भ शृंगार, विवाह, पुत्रजन्म, राजनीतिक मंत्रणा, दूतसंप्रेषण, विजययात्रा, युद्धचित्रण तथा नायक की विजय आदि विषय संवलित रहते हैं। उसकी कथावस्तु अत्यंत अलंकृत, असंक्षिप्त, अपेक्षित विस्तारयुक्त और रसभावों से परिपूर्ण होती है। उसके सर्ग अनतिविस्तीर्ण, श्रुतिसुखद छंदनिबद्ध, परस्पर सम्बद्ध, विविध घटनाओं से समुपेत तथा अंत में भिन्नवृत्त होते हैं। उपर्युक्त लक्षणोपेत महाकाव्य

सहृदयजन संवेद्य, लोकरंजक, श्रेष्ठ अलंकारसमन्वित तथा कल्पान्तर स्थायी यश का जनक कहा जाता है।[25]

दण्डी ने महाकाव्य के जो सामान्य लक्षण निर्धारित किये हैं, वे कालांतर में विश्वनाथ आदि आचार्यों द्वारा विशदीकृत किये गये। दण्डी ने महाकाव्यों की सर्गसंख्या आदि के विषय में किसी निश्चित नियम का उल्लेख नहीं किया जबकि साहित्य दर्पणकार ने उन्हें आठ अथवा उनसे अधिक संख्यावाले सर्गों तक परिव्याप्त कर दिया। दण्डी ने महाकाव्यों की सर्गसंख्या तथा उनके छन्द प्रयोग तथा वस्तु विन्यास पर केवल इतना ही संकेत किया है कि वे क्रमश: अनतिविस्तृत, श्रुतिसुखद और परस्पर सुसम्बद्ध होने चाहिए। कहने के लिए तो उन्होंने महाकाव्य के लक्षण में विविध विषयों के समावेश का उल्लेख किया है किन्तु इस विषय में उनका यह अभिमत विशेष महत्त्वपूर्ण है कि यदि वर्ण्य विषय के रूप में विवेचित सभी तत्त्व भले ही महाकाव्य में वर्णित न भी हों, किन्तु अपने औदात्य उत्कर्ष तथा सहृदयजन हृदयसंवादित्व के कारण वह सभी दृष्टियों से श्रेष्ठ और महान् ही समझा जाना चाहिए।[26] उन्होंने इस बात पर विशेष बल दिया है कि नायक के गुणों का प्रस्तुतीकरण करते हुए उनके द्वारा शत्रुओं का विनाश तथा नायक का उत्कर्ष जिस किसी भी रूप में चारुत्व हेतु सिद्ध हो, उसका अभिचित्रण करने में किसी भी प्रकार की कमी न रहने पर ही महाकाव्य की सफलता मानी जाती है।[27]

आख्यायिका और कथा

काव्य का द्वितीय रूप प्रकार 'गद्य' है जो छंदलक्षित गणों तथा मात्राओं के नियमों से अनुबंधित नहीं होता। उसके मुख्य दो भेद हैं। जिन्हें 'आख्यायिका' और 'कथा' कहा जाता है। आख्यायिका स्वयम् नायक द्वारा कही जाती है जब कि कथा किसी अन्य पात्र द्वारा वर्णित होती है।[28] दण्डी के मतानुसार यदि आख्यायिका अथवा कथा में उनका नायक अपने गुणों का प्रासंगिक संकीर्तन करता चले तो उसके यथार्थ चित्रण में किसी प्रकार का दोष नहीं माना जाता।[29] ऐसा प्रतीत होता है कि दण्डी के रचनाकाल में आख्यायिका और कथा के प्रति कतिपय रूढ़िग्रस्त धारणाएँ बनी हुई थीं जिनका पारम्परिक निर्वाह करना वे अनिवार्य नहीं समझते थे। उन्होंने अपनी ओर से न तो उनके लक्षण ही निर्धारित किये तथा न उनके भेद तत्त्वों का ही विश्लेषण किया। उनकी मान्यता थी कि आख्यायिका में नायक से भिन्न पात्र अथवा व्यक्ति भी आख्यान का चित्रण कर सकता है अत: ऐसा कोई नियम नहीं बनाया जा सकता जिसके अनुसार स्वयं नायक द्वारा उसकी अपनी कथा वर्णन किये जाने पर ही उसे आख्यायिका समझा जाय। संस्कृत की गद्य काव्यपरम्परा में हमें हर्षचरित जैसी आख्यायिकाएँ भी मिलती है जिनमें महाराज हर्ष स्वयं अपनी कथा का वर्णन नहीं करते अपितु महाकवि बाण उनका आख्यान प्रस्तुत करते हैं। दूसरी ओर गुणाढ्य की बड्डकहा (बृहत्कथा) में नरवाहन दत्त स्वयं अपनी कथा कहते हैं जो परम्परागत कथा से भिन्न लक्षणों वाला एक विशिष्ट

कथारूप है। इस प्रकार दण्डी के मतानुसार आख्यायिका और कथा में भेदक तत्त्व निरू पित करना व्यर्थ का दुष्प्रयास है।

दण्डी ने आख्यायिका और कथा को एक ही गद्यजाति के दो अभिन्न रूप मा हैं जिनके अंतर्गत सभी आख्यानभेद समाहित हो जाते हैं।[30] उन्होंने वक्त्र और अप वक्त्र छंदों के प्रयोग तथा उच्छ्‌वासों में आख्यान विभाजन को आख्यायिका का भेद तत्त्व मात्र स्वीकार नहीं किया है क्योंकि 'कथा' के अवयव संस्थान में भी उपर्युक्त प्रयो किये जाते रहे हैं।[31] उनका कथन है कि 'लम्भ' अथवा 'उच्छ्‌वास' के नाम से 'कथ और 'आख्यायिका' के कथानक-परिच्छेदों का कथन करना रूढ़िमात्र है क्योंकि इ प्रकार के कठोर नियंत्रण में कोई भी गद्यकाव्य बाँधा नहीं जा सकता। अपनी मान्यत के अनुसार दण्डी ने आख्यायिका और कथा के कृत्रिम भेदक चिह्नों का जमकर विरो किया जो अन्य आचार्यों को सुमान्य नहीं लगा। अग्निपुराण में तो आख्यायिका औ कथा के अतिरिक्त खण्डकथा, परिकथा तथा कथानिका नामक गद्यभेदों की भी चर्चा हु है जिसके अनुसार गद्यकाव्य के प्रमुख पाँच भेद हो जाते हैं।[32] इस विषय में काव्यानु शासन आचार्य हेमचंद्र तो और भी अधिक आगे बढ़ गये हैं। वे कथानिका को छोड़क अग्निपुराण के भेद चतुष्टय को स्वीकार करने न साथ-साथ आख्यान, निदर्शन, प्रवह्लिक मतल्लिका, मणिकुल्या, वृहत्कथा, सकलकथा और उपकथा नामक अन्य गद्यभेद भ प्रस्थापित करते चले हैं जिनके सम्मुख दण्डी का अभिभूत धूमिल हो जाता है।[33]

काव्य के भेंदक तत्त्व

आचार्य दण्डी गद्यकाव्य के भेदकतत्त्वों के प्रति संकुचित दृष्टिकोण नह रखते। उन्होंने कन्याहरण, संग्राम, विप्रलम्भ शृंगार, नायक का अभ्युदय तथा सूर्योद एवं चन्द्रोदय आदि वर्ण्य विषयों को आख्यायिका जैसे गद्यकाव्यों तक ही सीमित नह माना है क्योंकि इनका अभिचित्रण महाकाव्यों में भी होता है।[34] वस्तुतः इन विषय को किसी काव्य विशेष तक ही अनुबंधित नहीं किया जा सकता। वे आचार्य भामह के उस मत का विरोध करते हैं जिसमें उन्होंने आख्यायिका मात्र को 'कन्याहरणसंग्रा विप्रलम्भोदयान्विता' कहकर उसकी व्याख्या की थी। वस्तुतः विषय चित्रण की कृत्रि कारा में न तो पद्य प्रबंध ही नियंत्रित किये जा सकते हैं और न गद्य के विविध रूप ह बाँधे जा सकते हैं। दण्डी के मतानुसार काव्य के वर्ण्य विषयों पर प्रतिबंध लगाना किसं भी रूप में उचित नहीं है। वे सभी वर्ण्य विषयों को काव्यमात्र के लिए साधारणीकृ मानते हैं। उनका कथन है कि कवि द्वारा किसी विशेष अभिप्राय से निबद्ध चिह्न आख्य यिका के अतिरिक्त अन्य काव्यभेदों में भी दोष के कारण नहीं बनते क्योंकि प्रतिभाशाल कवि अपने अभीष्ट प्रयोजन की सिद्धि के लिए किसी भी विषयवस्तु को अपना साधर रूप बनाने की क्षमता रखते हैं।[35] दण्डी ने काव्य विशिष्ट चिह्न योजना का विरोध किय है क्योंकि उनके कारण कवि प्रतिभा पर अनेक बार व्यर्थ का अंकुश लग जाता है। कहं के लिए उन्होंने नाटक आदि दृश्यकाव्यों को मिश्रकाव्य माना है किन्तु उनका विवेचन

करने के प्रति उनकी विशेष अभिरुचि नहीं रही है। वे गद्य पद्य मिश्रित काव्य रचना को चम्पू काव्य कहकर अपने कर्त्तव्य की इतिश्री मान लेते हैं।

भाषाकृत काव्य भेद

दण्डी ने भाषाभेद की दृष्टि से काव्य के चार प्रकार माने हैं जिनके नाम संस्कृत प्राकृत, अपभ्रंश और मिश्र अर्थात् विविध भाषामय काव्य हैं।[36] पाणिनि, कात्यायन और पतंजलि आदि महर्षियों तथा वैयाकरणों द्वारा अनुशासित देवभाषा का नाम संस्कृत है। तत्सम, तद्भव, और देशी शब्दों के भेद से प्राकृत भाषाएँ अनेक प्रकार की मानी गई हैं। महाराष्ट्र में प्रयुक्त महाराष्ट्री प्राकृत सर्वश्रेष्ठ प्राकृत कहलाती है। इस भाषा में वाकाटकनरेश प्रवरसेन द्वितीय (410-40 ई०) रचित 'रावणवहो' अथवा 'दसमुहवहो' नामक काव्य ग्रंथ का विशेष महत्त्व है जिसे 'सेतुबन्ध' काव्य के नाम से भी अभिहित किया जाता है। दण्डी 'अवंतिसुंदरी कथा' के अंतर्गत इस काव्य का उल्लेख किया है। महाराष्ट्री प्राकृत में हाल सातवाहनरचितं 'गाहासतसई' तथा वाक्पति राजप्रणीत 'गउडवहो' काव्य विशेष प्रसिद्ध हैं।

प्राकृत के रूप

प्राकृत के व्याकरण-ग्रंथों में शौरसेनी, मागधी, अर्धमागधी, पैशाची, गौडी लाटी तथा इन्हीं के समान अन्य भाषारूप प्राकृत भाषाओं का उल्लेख मिलता है। शौर-सेनी प्राकृत मथुरा के पार्श्ववर्ती शूरसेन प्रदेश में बोली जाती थी तो मागधी प्राकृत का प्रचार वर्तमान बिहार के मध्य पश्चिमी भाग अर्थात् मगध जनपद में विशेष रूप से किया जाता था। जैन धर्मग्रंथों की प्राकृत भाषा अर्धमागधी कहलाती थी। दण्डी ने पैशाची प्राकृत को 'भूतभाषा' का नाम दिया है जिसका प्रयोग अवंति, दशपुर, पारियात्र तथा उनके पार्श्ववर्ती प्रदेशों के किरात, शबर तथा भिल्लजाति के लोग किया करते थे। चूलिका पैशाची प्राकृत पैशाची का ही एक अवांतर भेद है। दण्डी ने बंगाल के मध्योत्तर भागवर्ती गौड प्रदेश की भाषा को गौडीप्राकृत तथा गुजरात के दक्षिणवर्ती लाट प्रदेश की भाषा को लाटी प्राकृत नाम दिया है।

अपभ्रंश की स्थिति

दण्डी के रचनाकाल में अपभ्रंश भाषाओं का प्रचार और प्रसार प्रचुर मात्रा में हो चुका था। संस्कृत तथा प्राकृत के काव्यग्रंथों और नाटकों में आभीर, यवन, शक, तुरुष्क आदि म्लेच्छ जातियों के पात्र अपभ्रंश भाषा का प्रयोग स्वाभाविक रूप से करते थे। दण्डी ने 'आभीरादिगिरः काव्येष्वपभ्रंश इति स्मृतः[37] द्वारा यही बात प्रकारांतर से कही है जिसका अभिप्राय यह है कि काव्य ग्रंथों में प्रयुक्त आभीर आदि म्लेच्छजातियों की बोली का नाम अपभ्रंश था जो शास्त्रग्रंथों में प्रसंगवश प्रयुक्त की जाती थी तथा प्राकृत भाषाओं से भिन्नता रखती थी। पतंजलि के महाभाष्य में भी अपभ्रंश भाषाओं का

उल्लेख हुआ है जिसमें इस बात का स्पष्ट संकेत है कि एक ही शब्द के अनेक अपभ्रंश रूप होते हैं। उदाहरणार्थ एक ही 'गौः' शब्द 'गावी', 'गोणी', 'गोता' और 'गोपोलतिका' आदि अनेक अपभ्रंश रूपों में प्रयुक्त होता रहा है। दण्डी के मतानुसार अपभ्रंश किसी भाषा विशेष का नाम न होकर एक ऐसा संज्ञापद है जो विभिन्न संदर्भों में भिन्न-भिन्न अर्थों का वाचक है। वह भाषा प्रदेश विशेष से जुड़ी हुई न होकर जाति विशेष से जुड़ी हुई कही जा सकती है। कालांतर में अपभ्रंश भाषा और उसके साहित्य का प्रचार और प्रसार इतना अधिक हो गया कि उसने अपना सार्वभौमिक वर्चस्व स्थापित कर लिया। यदि उसके वाङ्मय का अध्ययन और अनुशीलन किया जाय तो वह किसी जाति विशेष की भाषा ही नहीं मानी जा सकती। हिन्दी के आदिकाल के पूर्व इस भाषा में जो धार्मिक साहित्य तथा काव्य-वाङ्मय निर्मित हुआ है, वह अपनी गुणगरिमा में अभूतपूर्व है। संस्कृत में महाकाव्य को 'सर्गबंध', प्राकृत में 'स्कंधक' कहा गया है तो अपभ्रंश में उसकी परम्परा 'ओसर' अथवा 'ओसार' के नाम से विकसित हुई है। दण्डी ने 'काव्यादर्श' में इस बात का स्पष्ट उल्लेख किया है कि संस्कृत तथा संस्कृतेतर भाषाओं में जो कथा साहित्य निबद्ध होता रहा है, उसमें प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषा की रचनाओं का भी प्रभूत महत्त्व है। यह एक उल्लेखनीय बात है कि संस्कृत निबद्ध वासवदत्ता तथा कादम्बरी आदि गद्य कथाओं की परम्परा क्रमशः विकसित होती हुई गुणाढ्य द्वारा पैशाची अथवा भूतभाषा में 'बड्डकहा' (बृहत्कथा) तक पहुँची जिसकी श्रृंखला में अनेक कथाग्रंथों की कड़ियां समय-समय पर जुड़ती रहीं। दण्डी के कार्यकाल में श्रव्य और दृश्य काव्य के इतने अधिक रूप प्रचलित हो चुके थे जिनका सम्पूर्ण विवरण प्रस्तुत करना कठिन है। लास्य, छलित और शल्या आदि विधाएँ दृश्य काव्य के विविध रूप हैं जिनमें भामह ने नाटक, द्विपदी, शम्या, रासक और स्कंधक आदि रूपों का समावेश करते हुए उनकी संख्यावृद्धि की है। आचार्य भोज ने इनमें ताण्डव, हल्लीसक तथा रास आदि और भी अनेक भेद प्रभेद जोड़े हैं जिनका उल्लेख काव्यादर्श में हुआ है।

काव्य के द्विविधि मार्ग

वैदर्भ और गौड़ीय मार्ग

दण्डी के काव्यशास्त्रीय चिंतन का एक विशिष्ट पक्ष उनका काव्य मार्ग विवेचन है। उनके मतानुसार वाणी के परस्पर सूक्ष्मभेदपरक अनेक मार्ग हैं जिनमें अस्फुट अंतर होने के कारण उनका भेद निरूपण सम्भव नहीं है अतः उन्होंने वैदर्भ और गौडीय संज्ञक द्विविध काव्य मार्गों का ही वर्णन किया है।[38]

दण्डी ने यद्यपि काव्य मार्ग की स्वतन्त्र परिभाषा नहीं की है तथापि उनके काव्य लक्षण द्वारा उसका स्वरूप-बोध किया जा सकता है। उन्होंने इष्ट अर्थ से संवलित पदावली को काव्य कहा है। जो काव्यगुणों के मार्ग का अनुगमन करती हुई अपने गंतव्य स्थल पर पहुँचती है। वस्तुतः वही काव्य का प्राकृत मार्ग है जो किसी भी राजमार्ग से

कम प्रशस्त अथवा कम हृदयहारी नहीं है। उस पर जब कवि प्रतिभा के चरण संचरित होते हैं तो वे अपनी पदपंक्ति अथवा शब्द—योजना द्वारा उसे और भी अधिक चमत्कार प्राण बना देते हैं। काव्य मार्ग वस्तुतः काव्यगुणों के संचरण का मार्ग है। वह काव्य प्रणेताओं और सहृदयजनों के चिन्तानुरंजन का सुखद सम्बल संजोये रखता है। आचार्य वामन ने विशिष्ट पद रचना रीतिः तथा 'विशेषणों गुणात्मा' सूत्रों द्वारा जिस रूप में रीति को काव्य का आत्मतत्त्व सिद्ध किया है, वह एक प्रकार से दण्डी के काव्य मार्ग की इष्टार्थ व्यवच्छिन्ना पदावली का ही प्रतिरूप है। दण्डी ने यों तो काव्य-मार्ग के असंख्य भेदों का उल्लेख 'तद् भेदास्तु न शक्यन्ते वक्तुं प्रतिकवि स्थिताः' द्वारा किया है,[39] किन्तु वे विदर्भ और गौड़ प्रदेश के माध्यम से उनका प्रधान कथन करना पर्याप्त समझते हैं। विदर्भ महाराष्ट्र प्रदेश का एक विशेष भाग है जिससे सम्बन्धित दक्षिण प्रदेश साधारणतः वैदर्भ पद का अर्थ लक्षित करता है। गौड़ प्रदेश बंगभूमि का वाचक होकर भी साधारणतः पौरस्त्य प्रदेश का अर्थ ध्वनित करता है। ये दोनों प्रदेश दक्षिणवर्ती और पूर्ववर्ती भूभागों की सीमा निर्धारित किए हुए अपना भौगोलिक महत्त्व मात्र ही प्रकट नहीं करते अपितु इन प्रदेशों के माध्यम से उन काव्यपंथों अथवा सिद्धान्तों का भी संकेत करते हैं जिन पर चलते हुए काव्यस्रष्टाओं ने रचना-पद्धतियों का स्वस्थ उन्मेष किया था। उनकी व्याकरण विधि मुख्यतः गुणालंकारसंवलित रही। अतः उनके काव्य मार्ग की विवेचना में गुण सिद्धांत स्वतः ही समाहित हो गया। उस स्थिति में काव्य के वैदर्भ और गौडीय मार्ग केवल भौगोलिक प्रदेशों के वाचक न रहकर उन गुणों से समन्वित कर दिए गए जो प्रांत विशेषों के वैशिष्ट्य का परित्याग करते हुए सर्वजन सामान्य और लोक-व्यापक बन जाते हैं। वस्तुतः वैदर्भ और गौडीय पद अपने लाक्षणिक प्रयोगों में ही अर्थ प्रतीति जनक समझे जाने चाहिए। उन्हें प्रांत विशेष की गुण सम्पदा मान बैठना किसी भी रूप में युक्तिसंगत नहीं है।

काव्य मार्ग के अवान्तर रूप

दण्डी का काव्यमार्ग रीति सिद्धान्त अथवा गुण सम्प्रदाय का समीपवर्ती है। उनके मार्ग विभाजन का यह अभिप्राय नहीं है कि पूर्व प्रदेश के काव्यों में वैदर्भ पथ की अथवा दक्षिण प्रदेश की काव्य रचनाओं में गौडीय मार्ग की स्थिति संभव नहीं है। काव्यादर्श के टीकाकार रत्नश्रीज्ञान ने इस सम्बन्ध में उचित ही लिखा है कि जिस प्रकार चंदन मलयेतर प्रदेश में उपलब्ध होने पर भी 'मलयज' ही कहलाता है, उसी प्रकार वैदर्भ और गौडीय काव्यमार्ग भी विदर्भेतर और गौडेतर प्रदेशों में लक्षित होते हुए भी वैदर्भ और गौडीय मार्ग ही कहे जाते हैं। काव्यमार्गों अथवा काव्यरीति के प्रादेशिक नामकरण की परम्परा भारतीय काव्यशास्त्र के क्षेत्र में अपनी इतनी अधिक गहरी जड़ें जमाती चली हैं जिनके कारण प्रायः सभी आचार्यों ने उनके प्रादेशिक नाम स्वीकार किए हैं। वामन ने 'मार्ग' के स्थान पर रीति शब्द का प्रयोग अवश्य ही किया किन्तु उन्होंने उसके भेद निरूपण में वैदर्भी, गौडी और पांचाली पदों को प्रयुक्त करना अधिक उचित समझा।[40]

रुद्रट ने इन तीनों रीतियों में 'लाटीया' रीति जोड़कर उसके चार भेद कर दिए।[41] भोज ने आवंतिका और मागधी रीतियों की परिकल्पना करते हुए उन्हें छह की संख्या तक पहुँचा दिया।[42] विश्वनाथ ने केवल चार रीतियाँ मानीं।[43] कुन्तक ने कवि स्वभाव के अनुसार सुकुमार, विचित्र और मध्यम संज्ञक त्रिविधि काव्यमार्ग निर्धारित किए जो एक प्रकार से वैदर्भी, गौडी और पांचाली रीतियों के ही नामांतर है। कतिपय काव्य-शास्त्रियों ने उपनागरिका, परुषा और कोमला संज्ञक वृत्तियों का वर्णन करते हुए उनमें प्रादेशिक नामधारिणी रीतियों का ही समावेश किया है। कहा जा सकता है कि काव्य-मार्गों और काव्यरीतियों के नामकरण भले ही भौगोलिक प्रदेशों की विशेषताओं के आधार पर किए गए हो किन्तु भामह और वामन इस बात का अनुभव करते थे कि देश विशेष ही काव्यरीति के धर्म नियामक तत्त्व नहीं होते तथा उनके वैदर्भी और पांचाली आदि नाम वहां के अधिवासी कवियों द्वारा ही सामान्यत: परिकल्पित किए गए हैं। भामह ने दण्डी के काव्यमार्ग के विभाजन का विरोध किया है तो वामन ने उनकी प्रादेशिक सत्ता को तात्त्विक दृष्टि से अस्वीकार्य कहा है। उनके अभिमत निम्नलिखित कारिकाओं तथा वृत्तिभाग में व्यक्त हुए हैं।

(1)

वैदर्भमन्यदस्तीति मन्यन्ते सुधियोऽपरे।
तदेव च किल ज्याय: सदर्थमपि नापरम् ।।
गौडीयभिदमेतत्तु वैदर्भमिति किं पृथक्।
गतानुगतिकन्यायान्नानाख्येयममेधसाम ।।[44]

(2)

किं पुनर्देशवशात् द्रव्यवद्गुणोत्पत्ति: काव्यानां येनायं देशविशेष—
व्यपदेश: ? नैवं, यदाह-विदर्भादिषु दृष्टप्वात् तत्समाख्या।[45]

काव्य मार्ग और गुण निरूपण

गुणों की स्थिति और संख्या

दण्डी के मतानुसार श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारत्व, ओज, कांति और समाधि नामक दस गुण वैदर्भ मार्ग के प्राणस्वरूप हैं इन गुणों का विपर्यय (वैपरीत्य अथवा अन्यथाभाव) गौडीय मार्ग में प्राय: देखा जाता है।[46] दण्डी ने ये काव्यगुण भरतमुनि की परम्परा से ग्रहण किए हैं।[47] यद्यपि आचार्यद्वय ने गुणों की परिभाषा नहीं की है तथापि उनका गुणनिरूपण उनकी गुण विषयक धारणा संकेतित कर देता है। भरतमुनि के मतानुसार गुण-दोषों के अभावात्मक रूप हैं जबकि दण्डी उन्हें काव्य के भावात्मक धर्म मानते हैं। उन्होंने गुणों को अलंकार के व्यापक क्षेत्र में समाविष्ट कर लिया है। यदि अलंकार काव्य के शोभा कारक धर्म हैं तो गुण काव्य सौन्दर्य के आधायक धर्म माने जा सकते हैं। वामन के गुणों को काव्य शोभाया: कर्तारो

धर्माः गुणाः कहकर भी उनकी स्थिति अलंकारों से भिन्न मानी है।[48] उनके मतानुसार अलंकार काव्य के अतिशयहेतु हैं। रसध्वनिवादी आचार्यों ने गुणों का सम्बन्ध काव्यात्मभूत रस तत्त्व के साथ जोड़ा और उन्हें शौर्यादिवत् माना। वे अलंकारों की स्थिति कटककुण्डल अथवा हारादितुल्य मानते रहे और उन्हें काव्य के शब्दार्थ रूप शरीर से ही जोड़ते चले।

दण्डी ने गुणों का सम्बन्ध काव्यमार्ग के साथ स्थापित करते हुए उनकी गरिमा विवेचित की है। उन्होंने वैदर्भ मार्ग को सभी गुणों का उपयुक्त संस्थान माना है। अवंतिसुन्दरी कथा की प्रस्तावना में वैदर्भवर्त्म (मार्ग) की प्रशंसा करते हुए दण्डी उसे कालिदास द्वारा शोधित मधुद्रवित वाणी का मार्ग मानते हैं।[49] उन्होंने गौडीय मार्ग में वैदर्भ मार्ग के गुण विपर्यय का जो उल्लेख किया है, उसका मूल आशय यह है कि उसमें गुणों का परिवर्तित रूप प्रचुर मात्रा में मिलता है उसे विपरीत अथवा अभावात्मक रूप में विवेचित करना समुचित नहीं है। गुण-विपर्यय का यह अभिप्राय कदापि नहीं हैं कि गौडीय मार्ग दोषपूर्ण अथवा अग्राह्य है। वस्तुतः प्रसाद, कांति और सुकुमारता आदि गुण जब वैदर्भ मार्ग को छोड़कर गौडीय मार्ग में आ जाते हैं तो वे व्युत्पत्ति, अत्युक्ति तथा दीप्ति रूप में परिवर्तित स्थिति धारण कर लेते हैं। उन्हें क्लिष्ट अथवा श्रुतिकटुत्व आदि दोषों के रूप में वैपरीत्यमूलक मान बैठना युक्तिसंगत नहीं है।

काव्यमार्गीय गुण विश्लेषण

श्लेष गुण के लक्षण

दण्डी ने सभी काव्यगुणों की संगति वैदर्भ और गौड़ीय मार्ग के संदर्भों में निरूपित की है। उन्होंने अल्पप्राण वर्णों की उस प्राचुर्यमयी रचना को श्लेष गुण कहा है जिसमें शैथिल्य दोष का अभाव हो।[50] इसका यह अभिप्राय नहीं है कि अल्पप्राण वर्णों के बाहुल्य मात्र से ही श्लेषगुण हो जाता है। वस्तुतः शैथिल्यविहीन रचना ही श्लेषगुण का मूल तत्त्व है। दंडी ने 'मालतीमाला लोलालिकलिला' पंक्ति प्रयुक्त अल्पप्राण वर्णों के आधिक्य में भी शैथिल्यदोष माना है और उसके स्थान पर 'मालतीदामलंघितं भ्रमरैः' को श्लेष गुण का उदाहरण सिद्ध किया है।[51] आचार्य भोज इसे भिन्न रूप में ग्रहण करते हैं। जीवानन्द विद्यासागर ने 'अल्पप्राणेषु वर्णेषु विन्यासोऽप्यन्तरा। महाप्राणस्य च श्लेषो यथाऽयं भ्रमरध्वनिः' द्वारा श्लेष गुण की व्याख्या की है। वस्तुतः श्लेष गुण वैदर्भ तथा गौडीय मार्गों में भिन्न-भिन्न स्थिति रखता है। दण्डी के शब्दों में जब अल्पप्राणअक्षराश्लिष्टपद रचना सानुप्रासिक बंध गौरव से सघनगुम्फयुक्त और प्रगाढ़ बन जाती है तो वह अपने वैदर्भ विपर्यय के कारण गौडीय मार्ग के श्लेष गुण का उदाहरण हो जाती है। भोज ने गौडीय मार्गवर्ती श्लेष गुण की व्याख्या निम्नलिखित रूप में की है—

श्लिष्टमस्पृष्ट शैथिल्यं तद्विपर्ययः।
गौडीयैरिष्यते तत्तु बंध प्राशस्त्यगौरवात्।।[52]

प्रसादगुण की व्यापकता

भरतमुनि से लेकर सभी आचार्यों ने सुगम तथा सुबोध अर्थ प्रतीति में प्रसाद गुण स्वीकार किया है। भरतमुनि[53] और भामह[54] अर्थबोध की सुकरता को प्रसाद गुण मानते हैं। वामन के अनुसार शब्द गुणमयी प्रासादिक रचना में ओजगुण-समन्वित बंध शैथिल्य होता है जो अर्थ गुण के रूप में अनपेक्षित शब्दों के परिहार से उत्पन्न अर्थ वैमल्य का सूचक है।[55] मम्मट ने उसे शुष्क ईंधन तथा स्वच्छ जल आदि के तुल्य व्यापक तथा सर्वत्र विहित स्थितिवत् माना है।[56] दण्डी के शब्दों में प्रसिद्ध अर्थवाली वाक्य रचना प्रसाद गुणमयी होमी है जो अपनी सुन्दरता और सुबोधता के कारण सुग्राह्य समझी जाती है।[57] वैदर्भ मार्ग सम्मत प्रसाद गुण का सुप्रसिद्ध उदाहरण अभिज्ञान शाकुन्तलम् के प्रथम अंक का बीसवाँ छंदांश 'मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मी तनोति' कहा जा सकता है। दण्डी ने इन्दोरिन्दीवर धुति लक्ष्म लक्ष्मी तनोति' को प्रतीति-सुभग काव्य वचन कहकर उसे वैदर्भ मार्गीय प्रसाद गुण के रूप में प्रस्तुत किया है।[58] गौडीय मार्ग के अनुयायी आचार्य अप्रसिद्धार्थक शब्दों के प्रयोग को भी व्युत्पत्ति की दृष्टि से सुसंगत मानकर उन्हें प्रसाद गुण का उदाहरण सिद्ध करते हैं। दण्डी ने अनत्यर्जुनाब्जन्मसदृशांको वलक्षगु: उदाहरण में गौडमार्गीय प्रसादगुण माना है जिसका अर्थ यह है कि अनत्यर्जुन अर्थात् अनतिश्वेत (नीले) अब्जन्म (जलजात) अर्थात् कमल के समान चिह्नयुक्त वलक्षगु अर्थात शुभ्र किरणों वाला चन्द्रमा शोभित हो रहा है। इस उदाहरण में नीले के लिए 'अनत्यर्जुन' कमल के लिए 'अब्जन्म' तथा चन्द्रमा के लिए 'वलक्षगु' शब्दों के प्रयोग अप्रसिद्धत्व अथवा निहतार्थत्व दोष से युक्त प्रतीत होते हुए भी गौडीय मार्ग की दृष्टि से समन्वित है क्योंकि इन प्रयोगों द्वारा कवि की व्युत्पन्नता ही प्रकट होती है। भोज ने भी प्रसाद के इस विपर्यय को अप्रसन्न रूप में ग्रहण करते हुए उसे 'अनत्यर्जुन' आदि शब्दों के प्रयोग द्वारा गौडीय मार्ग का उदाहरण माना है।

समतागुण के बंध प्रकार

रचनाबंध के सभी अंशों में समान बंध के प्रयोग को 'समता' गुण कहते हैं। ये रचनाबंध तीन प्रकार के होते हैं जिनके नाम मृदु (कोमल), स्फुट (कठोर या विकट) तथा माध्यम (मृदुस्फुट युक्त) हैं। इनमें क्रमश: कोमल, कठोर और मिश्रित वर्णों के प्रयोग किये जाते हैं जिन्हें दण्डी ने समतागुण कहा है।[59] बंधों के उपर्युक्त तीनों प्रकार किसी बंध विशेष की उत्कृष्टता अथवा अपकृष्टता सूचित नहीं करते। इन्हें किसी मार्ग विशेष से सम्बद्ध करने के प्रति भी दण्डी का कठोर आग्रह नहीं है। वस्तुत: सभी रचनाबंध प्रसंगोचितरूप से सुनियोजित किये जाने पर सौन्दर्यशाली तथा शोभावर्द्धक होते हैं। मृदुबंध न तो सर्वत्र शिथिल होता है और न स्फुटबंध सर्वत्र कठोर कहा जा सकता है। स्वयं दण्डी ने अपनी रचनाओं के अंतर्गत इस बात का पूर्ण ध्यान रखा है कि उनमें किसी प्रकार का अनुचित बंधवैषम्य न आ सके। वामन के मतानुसार समता गुण को शब्दगुण के रूप में काव्यबंध की अभिन्नता तथा अर्थगुण के रूप में वर्ण्यवस्तु

के उचित क्रम की रक्षा का सम्यक् निर्वाह कहा जा सकता है। दण्डी के अनुसार इन रचनाबंधों के उदाहरण निम्नलिखित है—

मृदुबन्ध—कोकिलालाप वाचालो मामेति मलयानिल: ।[60]

स्फुटबंध—उच्छलच्छीकराच्छाच्छ निर्भरराम्भ: कणोक्षित: ।[61]

मध्यमबंध—चंदनप्रणयोद्‌गंधिर्मन्दो मलयमारुत: ।[62]

बंधसाम्य अथवा बंधवैषम्य के विषय में दण्डी तथा भोज आदि आचार्यों के दृष्टिकोण में अंतर है। दण्डी ने उपर्युक्त उदाहरणों में श्लोक अथवा काव्यैकदेश में एक ही बंध के प्रयोग में समता गुण माना है जबकि भोज इन उदाहरणों को बंधवैषम्य के रूप में प्रस्तुत करते हैं। बंधवैषम्य की स्थिति तब उत्पन्न होती है जब किसी एक ही श्लोक में कहीं मृदु तथा कहीं स्फुटबंध का प्रयोग किया जाता है। दण्डी का अभिमत है कि गौडीय मार्ग में बंधवैषम्य का आदर्श ग्रहण नहीं किया जाता क्योंकि उसमें केवल अर्थ, वर्ण्यवस्तु तथा अलंकार के उत्कर्ष की ओर ही विशेष ध्यान दिया जाता है। गौडीय मार्ग पद्धति ऐसी पौरस्त्य काव्यपद्धति है जिसमें अनुप्रास और यमक आदि शब्दालंकारों के आडम्बरों के प्रति विशेष आकर्षण रहता है। दण्डी ने इसी दृष्टि से अक्षराडम्बर को गौडीय मार्ग का प्रमुख लक्षण माना है।

माधुर्यगुण और अग्राम्यत्व

दण्डी ने रसयुक्त वाक्य को माधुर्य गुण से समन्वित माना है जिसके शब्दार्थों में रस की स्थिति विद्यमान रहती है। माधुर्य गुण से सम्बद्ध 'रस' शब्द शृंगार आदि रसों का बोधक नहीं है। स्वयं दण्डी ने माधुर्य गुणावहरस को शृंगारादि रसों से पृथक् मानकर उसे वाक्य गत अग्राम्यता का हेतुभूत तत्त्व कहा है।[63] रत्न श्रीज्ञान ने उसकी व्याख्या करते हुए रस का अर्थ 'श्रुतिसुभगता' किया है।[64] आचार्य भामह श्रुतिसुभग स्वर समासों के विरल प्रयोग को माधुर्य गुण मानते हैं।[65] जबकि वामन के मतानुसार लघु सामासिक पदावली की स्पष्टता और सुबोधता 'शब्दमाधुर्य' तथा उसका उक्ति वैचित्र्य 'अर्थमाधुर्य' का बोधक होता है।[66] आचार्य मम्मट ने 'आह्लादकत्वं माधुर्य शृंगारे द्रुतिकारणं' को माधुर्य कहा है।[67] तो विश्वनाथ के शब्दों में 'चित्तद्रवीभावमयो ह्लादो माधुर्यमुच्यते' माधुर्य गुण की परिभाषा हो सकती है।[68]

आचार्य दण्डी माधुर्य गुणगरिमा के प्रबल प्रशंसक हैं। उनका कथन है कि इस गुण के चमत्कार से सहृदय जन उसी प्रकार आह्लादित होते हैं जिस प्रकार पुष्पों के रस से मधुकर आनंदित हो उठते हैं।[69] उन्होंने सानुप्रासिक पदासत्ति को माधुर्य-गुणसम्बद्ध रस अथवा श्रुति सुभतता का पोषक तत्त्व माना है। जिस किसी भी श्रुति अथवा उच्चारण से पूर्व श्रुति के समान श्रुति की अनुभूति होती है, ऐसे श्रुत्यनुप्रास माधुर्यगुण के अंतर्गत समाविष्ट रहते हैं। हेमचंद्र ने वाग्रस अथवा माधुर्य गुण के अंतर्गत वर्णानुप्रास और श्रुत्यनुप्रास की गणना करते हुए उन्हें वैदर्भ तथा गौडीय मार्ग के संदर्भ में विवेचित किया है। दण्डी ने समानश्रुतिरूप

पदासत्ति तथा पदगत अनुप्रासादि अलंकारों के उदाहरण देकर उनकी गुणवत्ता सिद्ध की है। उनका कथन है कि गौड़ीय मार्ग के समर्थकों को वर्णानुप्रास जितना अधिक प्रिय होता है, उतना शब्दमाधुर्य नहीं जबकि वैदर्भमार्गियों की स्थिति उनसे सर्वथा विपरीत रहती है। काव्यजगत् में ऐसे कवि भी हुए हैं जिन्हे निकटवर्ती सदृश श्रुति अधिक प्रिय रही है। उन्हें बंध पारुष्य, शैथिल्य तथा दोषपूर्ण आनुप्रासिक प्रयोग कभी भी सुग्राह्य प्रतीत नहीं होते क्योंकि उनमें वैदर्भ मार्गीय माधुर्यगुण का अनुबंध नहीं रहता। दण्डी ने वर्णसमूह अथवा पदसम्बद्ध आवृत्ति को यमक अलंकार का लक्ष्य मान कर लिखा है कि यह अलंकार सभी स्थितियों में मधुर नहीं होता।[70] वस्तुतः अग्राम्यता ही प्रधान रूप से रससिंचन का भारवहन करती है अतः दण्डी ने उन्हीं अलंकारों को माधुर्यगुण के अंतर्गत स्वीकार्य कहा है जो काव्य की विषयवस्तु अथवा अर्थसम्पदा में माधुर्य रस का अभिसिंचन कर सके।[71] उन्होंने 'कन्ये कामयमानं मां न त्वं कामयसे कथं' आदि उदाहरणों में ग्राम्यत्व दोष ढूँढ़ कर उनके अर्थ को विरसता उत्पन्न करने वाला माना है।[72] वस्तुतः अग्राम्य अर्थ ही रस अथवा माधुर्य का कारण होता है। अश्लील अथवा असभ्य शब्दों के कथन अथवा प्रयोग में ग्राम्यत्व होता है जैसे रतिक्रीडा के वर्णन प्रसंग में प्रयुक्त यकार से प्रारम्भ होने वाले 'याम' और 'यमन' पद अश्लीलता के वाचक होते हैं।[73] दण्डी ने उन वाक्यों को भी ग्राम्य कहा है जिनके पदों को परस्पर जोड़ने से वाक्य के अर्थ विशेष के माध्यम से अशिष्ट (अश्लील) अर्थ की प्रतीति होती है। इसका उदाहरण 'या भवतः प्रिया' (जो आपकी प्रिया है) वाक्यांश है जिससे याभवतः प्रिया 'अर्थात् सतत मैथुनरत व्यक्ति की प्रिया' की अर्थप्रतीति होती है।[74] ऐसा प्रतीत होता है कि दण्डी के कार्यकाल में सुरत, और निधुवन आदि शब्दों की भाँति 'याम' अथवा 'यमन' आदि शब्द असभ्य अथवा अश्लील अर्थ के व्यंजक थे जिन्हें ध्यान में रखते हुए दण्डी ने 'याभवतः प्रिया' जैसे प्रयोगों में ग्राम्यता अथवा अश्लीलता मान कर उन्हें माधुर्य गुण विरोधी कहा है।

दण्डी ने ग्राम्यता तथा अश्लील को माधुर्य गुण विरोधी तत्त्व माना है। आचार्य भामह[75] तथा भोज[76] भी ग्राम्यत्व दोष को कल्पनादुष्ट कहकर उन वाक्यांशों को अशिष्ट अर्थ के प्रत्यायक कहते हैं जिनसे अश्लील अर्थ की प्रतीति होती है। दण्डी ने 'खरं' प्रहृत्य विश्रांतः पुरुषों वीर्यवानिति उदाहरण में अशिष्ट अर्थबोधक प्रयोग को वैदर्भ तथा गौडीय मार्गों के समर्थकों द्वारा अमान्य कहा है क्योंकि उससे शिष्ट अर्थ के साथ-साथ प्रतीयमान अशिष्ट अर्थ की भी सहज प्रतीति होती है।[77] शिष्ट अर्थ राम से सम्बद्ध है तो प्रतीयमान अशिष्ट अर्थ उद्रिक्त वीर्य पुरुष की व्यंजना करता है। दोनों अर्थ निम्नलिखित हैं—

शिष्ट अर्थ—खर नामक राक्षस को मार कर वीर पुरुष राम ने विश्राम किया।

प्रतीय अशिष्ट अर्थ—रति क्रिया में अत्यधिक लिंग प्रहार करते-करते उद्रिक्त वीर्य पुरुष विरत हो गया।

भामह ने निम्नलिखित उदाहरण को अर्थदुष्ट अश्लीलता के रूप में ग्रहण किया

है जिसकी विवेचना काव्य के अश्लीलत्व दोष की व्याख्या के अंतर्गत विभिन्न प्रसंगों में की गई है—

हंतुमेव प्रवृतस्य स्तब्धस्य विवरैंषिण: ।
पतनं जायतेऽवश्यं कृच्छ्रेण पुनरुन्नति: ।।[78]

दण्डी ने भगिनी और भगवती जैसे पदों के प्रयोग में लोक सम्मत अनुमति को महत्व देते हुए उन्हें अशिष्ट और अश्लील नहीं माना है यद्यपि इन पदों में प्रयुक्त 'भग' शब्द योनि (स्त्री के गुप्तांग) का वाचक है।[79] यही स्थिति 'शिवलिंग' पद प्रयुक्त 'लिंग' शब्द की है। इस विषय में आचार्य भोज ने भी दण्डी द्वारा प्रतिपादित 'सर्वत्र अनुमत' पद के स्थान पर 'संवीत' पद का प्रयोग करते हुए उसमें अशिष्ट अर्थ नहीं माना है क्योंकि अप्रसिद्ध अशिष्ट अर्थ प्रसिद्ध अर्थ के सम्मुख परास्त अथवा तिरोहित हो जाता है। वस्तुत: ऐसे प्रयोगों में अग्राम्यता मानकर ही उन्हें माधुर्य गुण के उदाहरण स्वीकार करने में विसंगति नहीं समझनी चाहिए। इस विषय में आचार्य भोज की निम्नलिखित धारणा ध्यातव्य है जिसमें उन्होंने बतलाया है कि संवीत, गुप्त और लक्षित प्रयोगों में ग्राम्यत्व दोष नहीं होता—

तस्य संवीतगुप्तलक्षितादौ न दोष: । संवीतस्य हि लोकेन न दो षान्वेषणं क्षमम् । शिवलिंगस्य संस्थाने कस्यासभ्यत्वभावना ।[80]

'सुकुमारता' का वैशिष्ट्य

सुकुमार वर्णों के प्रयोगबाहुल्य में सुकुमारता नामक गुण होता है। उसके मध्यान्तर कहीं-कहीं कठोर वर्णों का प्रयोग भी वाँछनीय है क्योंकि कोमलवर्णमात्र के कारण अनेक बार बंधशैथिल्य नामक दोष हो जाता है।[81] श्लेषगुण में यदि स्पृष्ट शैथिल्य दोष है तो सुकुमारता गुण में केवल अल्पप्राण वर्णों से ग्रथित काव्यबंध उसके शैथिल्य दोष का कारण होता है। वस्तुत: श्लेष और सुकुमारता में शैथिल्यप्रतिरोधी तत्त्व अपेक्षणीय हैं। दण्डी का सुकुमारता गुण समता गुण के मध्य बन्ध के अधिक अनुरूप है क्योंकि इन दोनों में मृदु और कठोर वर्णों का सम्मिलन स्वीकार किया गया है। वामन के मतानुसार शब्द गुण के रूप में सुकुमारता में कठोर वर्णों का अभाव तथा अर्थ-गुण के रूप में अपरूप अर्थ का प्रयोग अनिवार्य है। इसे विषय में भोज का दृष्टिकोण दण्डी के अनुरूप है। मम्मट आदि आचार्यों ने इसे अमंगल वाचक अश्लीलत्व दोष का अभाव मात्र कहकर इसे गुण के रूप में अमान्य सिद्ध किया है।

दण्डी ने सुकुमारता गुण की अत्यधिक अभिशंसा की है। उनकी मान्यता है कि यदि किसी काव्य में प्रतिपाद्य वस्तु अथवा उसका अर्थ अनुर्जित अथवा अदीप्त एवम् उसके अलंकार अचमत्कारी भी होते हैं तो भी सुकुमारता गुण के कारण वह सहृदय जनों के चित्त में अपना स्थान बना ही लेता है।[82] वस्तुत: इस गुण की गुणवत्ता इस बात में है कि वह अर्थ और अलंकारों पर निर्भर नहीं रहता और उनके अभाव तथा असौन्दर्य में भी अपना वैचित्र्यपूर्ण प्रभाव प्रतिष्ठित कर लेता है। गौडमार्ग के अनुयायी

आचार्य तो परुष बंध अथवा कष्टोच्चार्य काव्यबंध में भी सुकुमारतागुण मानते हैं क्योंकि उसकी दीप्ति अथवा ऊर्जा अधिक महिमाशालिनी होती है। वैदर्भ मार्ग में सुकुमारता गुण का परुषबंध मान्य नहीं है। आचार्य भोज ने 'कष्ट' पद को सुकुमार का विपर्यय कह कर उसकी कठोरता में भी गुण का सन्निवेश माना है—

कठोरमपि बध्नंति दीप्तिमित्यपरे पुनः।[83]
तेषा मतेन तस्यापि दूषणं नैव विद्यते॥

'अर्थ व्यक्ति' गुण और अनेयता

अर्थ की अनेयता का नाम 'अर्थ व्यक्ति' गुण है।[84] यह गुण प्रसादगुण के अधिक निकट है क्योंकि इन दोनों गुणों में अर्थप्रतीति की स्पष्टता और सुभगता रहती है। प्रसादगुण में प्रसिद्धार्थक शब्दों का प्रयोग प्रतीति सुभगता का कारण होता है तो अर्थ व्यक्ति में अर्थ की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति में प्रतीति सुबोधता रहती है। भोज ने 'यत्र सम्पूर्ण वाक्यत्वमर्थ व्यक्तिं वदंतिताम्' द्वारा अर्थ की सकल अभिव्यक्ति को सम्पूर्ण वाक्यत्व कहकर उसमें अर्थ व्यक्ति गुण माना है। वस्तुतः नेयता दोष युक्त रचनाएँ अर्थ व्यक्ति गुण में अमान्य है जिसके विषय में वैदर्भ तथा गौडीय मार्ग के सभी आचार्य सहमत हैं। आचार्य भामह का कथन है कि शब्द और न्याय का अतिक्रमण करने से अर्थप्रतीति सुगम नहीं होती अतः शब्द न्याय से अनुपारूढ़ अर्थ नेयार्थ होता है जिसके लिए अर्थ व्यक्ति गुण में कोई स्थान नहीं है।[85]

उदारता गुण का औदात्य

दण्डी ने उस काव्य रचना को उदारता गुण से समन्वित रचना माना है जिसका कथन करने से किसी गौरवपूर्ण गुण की प्रतीति होती है।[86] यह गुण सभी काव्यपद्धतियों में सुग्राह्य माना गया है। वस्तुतः इस गुण का सम्बन्ध अभिव्यंजन प्रक्रिया से न होकर वर्ण्यवस्तु की महनीयता से है। किसी उदात्त मानवीय गुण का गौरवपूर्ण कथन इस गुण की सीमा में आता है। त्याग, दान, दया, अहिंसा, शौर्य और औदार्थ आदि मानवीय गुणों के वर्णन से सम्बन्धित विषय इस गुण के अंतर्गत समाविष्ट किये जाते हैं। कुछ आचार्यों के मतानुसार विशेष्य का उत्कर्ष सूचित करने वाले विशेषणयुक्त पद या वाक्य उदारता गुण के उदाहरण कहे जा सकते हैं। 'लीलाम्बुजं', 'क्रीडासरं' 'हेमांगद' 'मणिमेखलां' और 'मणिसोपान' आदि पद अथवा ऐसे पदों से बने हुए वाक्य उदारता गुण के निदर्शन है।[87] 'लीलाम्बुज' में 'लीला' शब्द से कमल के रंग, आकार और सुगंध की उत्कृष्टता सूचित होती है तो 'क्रीडासर' कहने से सरोवर की कमल, भ्रमर, घाट तथा उसमें किये जाने वाले नौकाविहार आदि की श्रीसम्पन्नता सिद्ध होती है। दण्डी ने इसी दृष्टिकोण से 'श्लाघ्यै विशेषणैर्युक्तमुदारं कैश्चिदिष्यते' वाक्यांश द्वारा उदारता गुण का लक्षण निरूपित किया है जिसमें प्रयुक्त 'श्लाघ्य' पद का अर्थ वैशिष्ट्-

प्रतीति भी किया जाता है। भोज ने 'उदारता' के अतिरिक्त 'उदात्तता' नामक एक अन्य गुण भी माना है जिसे अग्निपुराण में 'उत्तानपदता' कहा गया है।

ओजगुण को सामासिकता

समासों का प्रचुर प्रयोग ओज गुण है जिसे गद्य रचना का प्राणभूत तत्त्व माना जाता है।[88] गौड अथवा पौरस्त्य मार्ग के अनुयायी विद्वान् पद्यरचना में भी इसका गौरव स्वीकार करते हैं। वैदर्भ मार्ग के अनुसार पद्य रचना में समासों का बाहुल्य उचित नहीं माना जाता। वस्तुतः ओज गुण के साथ समास दीर्घता का सम्बन्ध आचार्य भामह के समय से ही स्वीकृत रहा है। दण्डी ने भी गौडमार्गसम्मत समासभूयस्त्व के उदाहरण में समास बाहुल्य तथा समासदैर्घ्य का प्रयोग किया है। वामन के मतानुसार ओज (शब्दगुण) में गाढ़बंधत्व होता है तो उसके अर्थगुण में अर्थ की प्रौढ़ि वांछनीय है जो पदार्थ में वाक्य प्रयोग वाक्यार्थ में पद प्रयोग, वाक्यार्थ के व्यास, समास तथा साभिप्रायत्व में सन्निविष्ट रहती है। वामन का गाढ़बंधत्त्व दण्डी के श्लेष गुण का साम्यवर्ती है। अग्निपुराण तथा सरस्वतीकंठाभरण में प्रतिपादित ओजविषयक धारणा दण्डी के अनुरूप हैं। मम्मट और विश्वनाथ चित्त के विस्तार रूप दीप्तत्व में ओजगुण मानते हैं जिसकी पद रचना समासबहुल और औद्धत्यपूर्ण होती है। विश्वनाथ के मतानुसार परम्परागत श्लेष, समाधि, उदारता और प्रसाद गुण ओज में अंतर्भूत रहते हैं।

आचार्य भोज ने ओजगुण के छः रूप माने हैं जो दीर्घ समासों की प्रचुरता, लम्बे समासों की विरलता, दीर्घ समासों की साधारण स्थिति, लघुसमासों की बहुलता, विरलता तथा साधारण स्थिति में समाहित रहती है।[89] इनकी तुलना वामन के उत्कलिका प्राय गद्य तथा चूर्ण गद्य के साथ की जा सकती है। वैदर्भ मार्ग के अनुसार काव्य में अनाकुल, स्पष्ट और मनोहर पदावली ओजगुण में सुग्राह्य समझी गई है।

कांति गुण की प्रीतिकरता

दण्डी ने उस उक्ति को कांतिगुणसमन्वित कहा है जो लोकप्रसिद्ध वस्तु के अनतिक्रमण अथवा अनुपालन के फलस्वरूप सभी काव्यरसिक के लिए प्रीतिकर होती है।[90] ऐसी उक्ति वस्तुगुणवर्णन के प्रशंसात्मक प्रसंगों तथा वार्तालापों में दृष्टिगोचर रहती है। वामन के मतानुसार कांति नामक शब्दगुण में पदरचना की उज्ज्वलता और अर्थ गुण के रूप में रस की दीप्ति वांछनीय है। दण्डी का कांति गुण अतिशयोक्ति अलंकार के अधिक निकट है क्योंकि उस अलंकार में भी लोकसीमा का अतिक्रमण होता है। अप्पयदीक्षित ने कांति गुण का विपर्यय अत्युक्ति अलंकार में स्वीकार किया है। इस विषय में दण्डी का कथन है कि अतिशय कथन समन्वित पद्य लोकसीमा का अनुसरण करते हुए सभी सहृदयजनों के लिए प्रीतिकर होने के कारण कांतिगुण की परिधि में समाविष्ट रहते हैं। उनके मतानुसार वैदर्भ तथा गौडीय मार्ग के कांतिगुण में अतिशय कल्पना का अध्यारोपण अभीष्ट है। उनका उल्लेखनीय अंतर केवल इतना ही है कि वैदर्भ मार्ग में

अतिशय कल्पना लोकसीमानुसारिणी होती है जबकि गौड मार्ग में वह लोकव्यवहार का अतिक्रमण कर जाती है। दण्डी ने कांतिगुण को वैदर्भ मार्ग का सारतत्त्व माना है तो भोज के मतानुसार उसका गौडीय पक्ष निम्नलिखित कारिका में व्यक्त हुआ है—

लौकिकार्थमतिक्रम्य प्रस्थानं यत्प्रवर्तते।
तदत्युक्तिररिति प्रोक्तं गौडानां मनसो मुदे ।।[91]

समाधि गुण और अलंकार रचना

जिस काव्य में लोकव्यवहार की सीमा की अनुपालना के साथ-साथ किसी वस्तु का धर्म अथवा गुण उससे भिन्न वस्तु में सम्यक् रीति से आरोपित किया जाता है, वहाँ समाधि नामक काव्यगुण होता है।[92] यह गुण रूपक अलंकार के निकट है जिसे कुछ आचार्य रूपक योजना का भेद मानते हैं। इसे समासोक्ति अलंकार का भी उपजीव्य कहा जाता है। वामन के मतानुसार समाधि नामक शब्द गुण शब्दयोजना का क्रमिक आरोह अवरोह है तो अर्थगुण के रूप में वह अर्थ की दृष्टि अथवा सारगर्भिता है। इसे वक्रोक्ति अलंकार की प्रेरणा के रूप में भी व्याख्यात किया गया है। अग्निपुराण में समाधि गुण का विवेचन लक्षणावृत्ति के संदर्भ में हुआ है। दण्डी का कथन है कि जब निष्ठ्यूत, उद्गीर्ण पौर वांत आदि शब्द लक्षणावृत्ति के आश्रय से लाक्षणिक अर्थ में प्रयुक्त किये जाते हैं तो अत्यंत हृदयहारी हो जाते हैं।[93] अभिधा अथवा मुख्यार्थवृत्ति में प्रयुक्त ये शब्द ग्राम्यत्व दोष के वाचक हो सकते हैं। दण्डी ने अनेक धर्मों के एक साथ किसी अन्यवस्तु में आरोप को भी समाधि कहा है जिसके अनुसार समाधि गुण अनेक धर्मों का अध्यासरूप है।[94] यह गुण काव्य का सारभूत तत्त्व है जिसे वैदर्भ तथा गौडीय काव्य मार्ग के सभी कविसम्प्रदाय सुग्राह्य और अनुसरणीय कहकर इसकी अभिशंसा करते हैं।

काव्य मार्गों का आनन्त्य

दण्डी ने मुख्य रूप से वैदर्भ और गौडीय काव्यमार्ग से सम्बद्ध काव्य-गुणों का पृथक् पृथक् निरूपण करते हुए उनका अंतर स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। इन मार्गों के अतिरिक्त वाणी के और भी अवांतर भेद हैं जिनका सूक्ष्म अंतर स्पष्ट करना शक्य नहीं है।[95] अवांतर भेदों की अनंतता कवियों तथा उनकी काव्यरुचियों की असीमता पर आधारित हैं। दण्डी का काव्यमार्गीय विश्लेषण आधुनिक शैली संरचना के निकट प्रतिष्ठित किया जा सकता है। इस विषय में दण्डी का वह कथन उल्लेखनीय है जिसमें उन्होंने काव्यमार्गों की अनंतता तथा सूक्ष्मता का विस्तार करते हुए लिखा है कि जिस प्रकार ईख, दूध तथा गुड़ आदि के माधुर्य में पारस्परिक अंतर रहते हुए भी उनका पृथक् पृथक् निर्देश करना सरस्वती द्वारा भी संभव नहीं है, उसी प्रकार काव्य मार्गों की अनंतता भी अनिवर्चनीय कल्प होती है।[96]

काव्यालंकार निरूपण

गुणालंकारों की काव्यगत स्थिति

दण्डी ने अलंकारों को 'काव्यशोभाकारक धम' माना है जो विभिन्न आचार्यों द्वारा भिन्न-भिन्न रूपों में उद्भावित किये गये हैं।[97] भरतमुनि से लेकर आज तक उनके विकास की परम्परा सतत क्रियामाण रही है जिसका पूर्णतया निरूपण नहीं किया जा सकता। दण्डी का अलंकार विवेचन गुणमार्गों से जुड़ा हुआ है। वे गुणों तथा अलंकारों के मध्य विभज्यवादी अंतर स्पष्ट नहीं कर सके हैं। उनकी अलंकार परिभाषा (काव्य-शोभाकरान् धर्मानलंकरान् प्रचक्षते) वामन प्रतिपादित गुणलक्षण (काव्यशोभाया: कर्तारो धर्मा: गुणा:) से मिलती-जुलती है। वामन ने अलंकारों को 'तदतिशय हेतवस्त्व-लंकारा:' कहकर उनका गुणों से जो अंतर निरूपित किया था, वह मम्मट तथा विश्वनाथ आदि आचार्यों द्वारा विशदीकृत किया गया। विश्वनाथ ने काव्यात्यभूत रस के उत्कर्षहेतु नित्य धर्मों को 'गुण' तथा काव्यशरीरभूत शब्द और अर्थ के शोभातिशायी अस्थिर धर्मों को 'अलंकार' कहकर उनकी विवेचना की जबकि दण्डी ने उन दोनों के बीच कोई मौलिक अंतर नहीं माना। उन्होंने 'काश्चिन्मार्ग विभागार्थमुक्ताप्रागप्यलंक्रिया:' द्वारा इस बात का स्पष्ट उल्लेख किया है कि काव्यादर्श के प्रथम परिच्छेद में जिन काव्यमार्गों का विवेचन किया गया है वे एक प्रकार से विशिष्ट कोटि के अलंकार ही हैं जिनसे भिन्न साधारण अलंकारों का निरूपण द्वितीय परिच्छेद में किया गया है।[98] दण्डी के मतानु-सार मार्ग विभाग के विशदीकरण के लिए निरूपित अलंकार वस्तुत: गुण ही हैं जिन्हें ार्ग विशेष के उपकारक तत्त्व मानते हुए उन्हें अलंकारों का विशिष्ट रूप कहा जा सकता है। 'काव्यादर्श' के टीकाकार रत्नश्रीज्ञान तथा तरुणवाचस्पति ने 'काश्चिद् अलंक्रिया:' पदों की व्याख्या करते हुए उन्हें मूलत: श्लेष और प्रसादगुण रूप ही माना है। वस्तुत: दण्डी का अलंकारविषयक दृष्टिकोण व्यापक है जिसके कारण वे संधि, संध्यंग, वृत्ति, वृत्त्यंग और लक्षण आदि नाट्यशास्त्रीय तत्त्वों को भी अलंकार की विस्तृत सीमा में अंतर्भूत कर लेते हैं।[99] आचार्य भोज तथा अभिनवगुप्त ने दण्डी की गुणालंकार विषयक मान्यता का विवेचन करते हुए यही सिद्ध किया है कि दण्डी गुणों और अलंकारों के बीच विभाजक रेखा नहीं खींच सके। आचार्य रुप्यक भी इस विषय में दण्डी के अनुयायी हैं। वस्तुत: उनके परवर्ती आचार्यों ने ही काव्यगतगुणों और अलंकारों का अंतर स्पष्ट करते हुए उनकी भिन्न-भिन्न स्थितियों का विवेचन किया है।[100]

अअंकार भेद निरूपण

स्वभावोक्ति के प्रकार

दण्डी के पूर्ववर्ती आचार्यों ने मुख्यत: जिन पैंतीस अलंकारों का निरूपण किया था, उनका अपने दृष्टिकोण से विवेचन करते हुए दण्डी ने उनका स्वरूप स्पष्ट करने का

प्रयास किया है। उन अलंकारों में सर्वप्रथम उल्लेख 'स्वभावोक्ति' अलंकार का हुआ है जो जाति, क्रिया, गुण और द्रव्य रूप पदार्थों के विभिन्न अवस्थापरक स्वरूप का साक्षात प्रकटीकरण करते हैं। दण्डी ने जाति, क्रिया, गुण और द्रव्यगत स्वाभावोक्ति के उदाहरण प्रस्तुत करते हुए उनकी संगति सिद्ध की है। उनका कथन है कि स्वभावोक्ति अलंकार सभी अलंकारों में अग्रगण्य और प्रधान है जिसे काव्यग्रंथों में अभीष्ट महत्त्व प्रदान किया गया है। इसे जाति नाम से भी अभिहित किया जाता है।[101]

उपमा के भेद और दोष

दण्डी ने दो पदार्थों के बीच किसी भी प्रकार की सादृश्य प्रतीति में उपमा अलंकार माना है जिसके बत्तीस भेदों की विवेचना काव्यादर्श के द्वितीय परिच्छेद में की है।[102] वे बत्तीस भेद धर्म, वस्तु, विपर्यास, अन्योन्य, नियम, अनियम, समुच्चय, अतिशय, उत्प्रेक्षित, अद्भुत, मोह, संशय, निर्णय, श्लेष, समान, निन्दा, प्रशंसा, आचिख्यासा विरोध, प्रतिषेध, चटु, तत्त्वाख्यान, असाधारण, अभूत, असंभावित, बहु, विक्रिया, माला वाक्यार्थ, प्रतिवस्तु, तुल्ययोग और हेतु आदि प्रकारों में उदाहृत किये गये हैं जिनमें दण्डी ने उनके सूक्ष्मतम अंतर का विश्लेषण किया है। कालांतर में अनेक आचार्यों ने दण्डी के बहुविध उपमाभेदों को निरस्त करते हुए उनके स्थान पर कुछ नवीन नामकरण किये जो कहीं स्वतंत्र अलंकारों के रूप में विकसित हुए एवं कहीं अन्य अलंकारों के भेद प्रभेद के रूप में प्रल्लवित किये गये। उपमा प्रपंच के विस्तार के पश्चात् दण्डी ने उपमा-दोषों की विवेचना की है जिनके कारण सहृदयजनों के मानस में वैरस्यसयी उद्विग्नता उत्पन्न होती है। लिंगभेद, वचनभेद, उपमानहीनता तथा उपमानाधिक्य के कारण जहाँ विरसता का संचार होता है वहाँ उपमादोष माने जाते हैं अन्यथा अपनी अवसरसापेक्ष तथा व्यवस्थित विषयवस्तु में वे गुणरूप भी रह सकते हैं।[103] भामह ने हीनता, असम्भवता, लिंग वचन भेद, विपर्यय, उपमाधिक्य तथा उनके असादृश्य में उपमादोष माने हैं[104] जबकि वामन ने उनके अंतर्गत विपर्यय का निषेध किया है।[105] रुद्रट के मतानुसार वैषम्य असम्भव, अप्रसिद्धि तथा सामान्य शब्दभेद नामक चार उपमादोष हैं जिनके सामान्य शब्दभेद के अंतर्गत लिंगवचन भेद दोष अंतर्भूत हो जाते हैं।[106] इस विषय में भोज दण्डी की विचार धारा के पोषक है। सभी अलंकारशास्त्रियों ने इन दोषों का विश्लेषण करते हुए उनकी काव्यगत विरसता निरूपित की है। दण्डी ने इन दोषों की नित्यता तथा अनित्यता की दृष्टि से ऐसे अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये हैं जिनसे स्पष्ट है कि वे इस विषय की विवेचना के गूढ़ रहस्यों का अनुसंधान करने में अत्यंत निष्णात और कुशल थे। अपनी विवेचना के पश्चात् उन्होंने काव्यमनीषियों को यही परामर्श दिया है कि वे अपनी रचनाओं में इन दोषों के परिहार का प्रयास करें जिससे उनके काव्य में उत्कृष्ट गुणों का समावेश हो सके।[107]

उपमा के वाचक शब्द

दण्डी के उपमा विश्लेषण का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष उसके सादृश्यमूलक वाचक शब्दों का निरूपण भी है। उन्होंने इव, वत्, यथा, समान, निभ और तुल्य आदि सादृश्य-वाची शब्दों का उल्लेख करते हुए उनके चौसठ रूप माने हैं जो पद, प्रत्यय, समास तथा वाक्यांश में प्रयुक्त होते हैं। उनमें कुछ शब्द तो साक्षात् रूप से अभिधावाची होते हैं तथा कुछ लक्षणा अथवा व्यंजना से सादृश्यप्रतीति कराते हैं। काव्यादर्श के द्वितीय परिच्छेद की कारिकाओं[108] तथा केशव मिश्र रचित 'अलंकारशेखर'[109] नामक ग्रंथ में इस विषय का अत्यंत विशद विवेचन किया गया है।

रूपक अलंकार के भेद-प्रभेद

दण्डी ने 'उपमैव तिरोभूतभेदा रूपकमुच्यते' द्वारा रूपक अलंकार का लक्षण निरूपित किया है जिसके उदाहरण 'बाहुलता, पाणिपद्म और चरणपल्लव आदि हैं।[110] उन्होंने समस्त, असमस्त, समस्तव्यस्त, सकल अवयव, अवयवी, एकांग, युक्त, अयुक्त, विषम, सविशेषण, विरुद्ध, हेतु, श्लिष्ट, उपमा, व्यतिरेक, आक्षेप, समाधान, रूपक-रूपक तथा तत्त्वापह्नव नामक अनेक रूपकभेदों का विस्तृत विवेचन करते हुए अपना यही निर्णय दिया है कि उपमा की भाँति रूपक के भेदों और विकल्पों का अंत नहीं है जिनका दिग्दर्शन मात्र करना ही उनके लिए संभव हो सका है।[111]

दीपक जातीय अलंकार

दण्डी के मतानुसार जहाँ वाक्य में एकत्र स्थित जाति, क्रिया, गुण अथवा द्रव्य के वाचक किसी एक पद से समस्त वाक्य अथवा वाक्यसमूह अन्वित रहता है, वहाँ दीपक अलंकार होता है।[112] दण्डी की यह परिभाषा परवर्ती आचार्यों द्वारा परिवर्तित और परिष्कृत की गई जिसके अनुसार अप्रस्तुत और प्रस्तुत के एकधर्मी सम्बन्ध को दीपक का लक्षण माना गया।[113] दण्डी ने आदि, मध्य, अन्त, माला, विरुद्धार्थ, एकार्थ और श्लिष्टार्थ आदि प्रकार भेदों में दीपक अलंकार की सोदाहरण विवेचना करते हुए अंत में यही लिखा है कि इसी क्रम में उसके अवशिष्ट एवं अव्याख्यात भेदों का भी बोध विद्वान् आचार्यों को कर लेना चाहिए।[114]

दण्डी ने अर्थावृत्ति, पदावृत्ति और उभयावृत्ति के नाम से ऐसे तीन अलंकारों का भी विवेचन किया है जो दीपकजातीय अलंकारों के रूप में ही अभीष्ट है।[115] भोज, मम्मट और विश्वनाथ आदि आचार्यों ने दीपक के अन्यतम भेद के रूप में आवृत्ति अलं-कार की विवेचना की है।[116] जयदेव और अप्पय दीक्षित इसे आवृत्तिदीपक के नाम से स्वतंत्र अलंकार मानते हैं।[117] दण्डी ने अर्थ गत पदगत और उभयगत आवृत्तियों के उदाहरण देते हुए उनका अंतर स्पष्ट किया है।

आक्षेप अलंकार

दण्डी के मतानुसार प्रतिषेध कथन में आक्षेप अलंकार होता है। वृत्त, वर्तमान

और भविष्यत् कालों से सम्बन्धित अर्थ की अपेक्षा से यह तीन प्रकार का होता है। आपेक्षयोग्य अर्थवस्तु के भेदों की अनंतता के कारण इसके अनेक भेद संभाव्यमान हैं। भामह और अग्निपुराणकार ने विशेष कथन की इच्छा से अभीष्ट वस्तु के प्रतिषेधाभास के साथ-साथ अनिष्ट अर्थ के विध्याभास में भी आक्षेप अलंकार हो सकता है। दण्डी ने धर्म, धर्मी के कारण, कार्य, अनुज्ञा, प्रभुत्व, अनादर, आशीर्वचन, परुष, साचिव्य, यत्न, परवश, उपाय, रोष, मूर्च्छा, अनुक्रोश, श्लिष्ट, अनुशय, संशय, अर्थान्तर और हेतु संज्ञक विविध प्रकारों में आक्षेप अलंकार की विवेचना करते हुए उसके अन्य भेदों को भी संकेतित किया है।

अर्थान्तरन्यास के प्रकार

किसी विवक्षित अर्थ को प्रस्तुत रूप में उपस्थापित करते हुए उसके समर्थन में समर्थ अन्य अप्रस्तुत अर्थ का न्यास (स्थापन) करने पर अर्थान्तरन्यास अलंकार होता है।[118] दण्डी ने इस अलंकार के विश्वव्यापी, विशेषस्थ, श्लेषबिद्ध, विरोधवान्, अयुक्तकारी, युक्तात्मा, युक्तायुक्त और विपर्यय आदि अनेक भेद माने हैं जिनका आधार काव्य रचनाओं का स्वरूप रहा है।[119] उनके परवर्ती आचार्यों ने सामान्य का विशेष से और विशेष का सामान्य से समर्थन करने पर अर्थान्तरन्यास की स्थिति स्वीकार की है। वस्तुतः दण्डी द्वारा प्रतिपादित समर्थ्य वस्तु 'विशेष' ही है जिसका 'सामान्य' द्वारा समर्थन किया जाता है। मम्मट भी सामान्य विशेषभाव की स्थिति में अर्थान्तरन्यास मानते हैं।[120] विश्वनाथ का अभिमत भी उनसे मिलता-जुलता है।[121] इस अलंकार के साथ काव्यलिंग, प्रतिवस्तूपमा तथा दृष्टांत अलंकार का साम्य निरूपित किया जाता है। जिनका अवांतर भेदबोध करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि दो अर्थों के कार्यकारणभाव में काव्यलिंग, साम्यप्रतीति के लिए अर्थान्तर का उपस्थापन करने में प्रतिवस्तूपमा तथा दो अर्थों में बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव होने पर दृष्टांत अलंकार होते हैं। आचार्य भोज अर्थान्तरन्यास के लक्षण और उदाहरण के विषय में दण्डी से सहमत हैं। दण्डी ने अर्थान्तरन्यास अलंकार के उपर्युक्त आठों भेदों के उदाहरण प्रस्तुत करते हुए उनकी युक्तिसंगत विवेचना की है।[122]

व्यतिरेक अलंकार

दो पदार्थों (उपमेय और उपमान) के बीच सादृश्य स्थापना के अनंतर जब उनके भेदकथन का उद्देश्य उपमेय का उत्कर्ष प्रदर्शित करना होता है तो वहाँ 'व्यतिरेक' अलंकार माना जाता है। अनेक आचार्यों ने उपमेय के उत्कर्ष के साथ उसके अपकर्ष-कथन में भी व्यतिरेक अलंकार माना है। काव्यप्रकाशकार मम्मट के अनुसार व्यतिरेक का लक्षण उपमानाद्यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः' है तो विश्वनाथ ने उसकी परिभाषा 'आधिक्यमुपमेयस्योपमानान्न्यूनताऽथवा व्यतिरेकः' की है। इस विषय में भोज का दृष्टिकोण दण्डी के अनुरूप है। दण्डी ने निम्नलिखित आधारों पर इस अलंकार के भेदों का

वर्गीकरण किया है—1. सादृश्य की शब्दोपात्तता अथवा प्रतीयमानता 2. एकत्रवर्ती अथवा उभयवर्ती भेदक धर्म का कथन 3. भेदमात्र कथन अथवा उत्कर्ष प्रदर्शन 4. दो पदार्थों की सजातीयता अथवा विजातीयता तथा 5. श्लेष, हेतु और आक्षेप द्वारा अन्य अलंकारों का संकरण। इस वर्गीकरण को एक उभय, सश्लेष, साक्षेप, सहेतु, प्रतीयमान-सादृश्य, सदृश और सजाति संज्ञक रूपभेदों में भी विवेचित किया जा सकता है।

विभावना का रूप

जहाँ किसी कार्य के लोकप्रसिद्ध कारण का अभाव दिखाकर उस कार्य के प्रति किसी अन्य कारण की विभावना अथवा उसकी स्वभाव सिद्धि की विशेष कल्पना की जाती है, वहाँ विभावना अलंकार होता है।[123] सामान्यत: कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति के वर्णन में विभावना अलंकार माना जाता है (विभावना विना हेतुं कार्योत्पत्तिर्यदुच्यते)।[124] दण्डी ने इस अलंकार को कारणान्तरविभावना तथा स्वाभाविकत्वविभावना संज्ञक दो रूपों में उदाहृत किया है। उनका कथन है कि यों तो कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति का कथन विरोधप्रतीति का द्योतक है किन्तु किसी प्रसंगविशेष में कवि विवक्षा से स्वभावरूप अलौकिक कारण अथवा उससे मिलते जुलते किसी अन्य कारण की विशेष कल्पना (विभावना) कर लेने पर वास्तविक विरोध की स्थिति नहीं रहती। दण्डी ने निम्नलिखित उदाहरण में शाब्दस्वाभाविकत्व विभावना का सुचारु रूप व्यंजित करने के पश्चात् उसकी परवर्तीकारिका में उसकी संक्षिप्त विवेचना भी कर दी है जिससे उनका विभावना विषयक दृष्टिकोण स्पष्ट होता है।

उदाहरण : वक्त्रं निसर्गसुरभि वपुर्व्याजसुन्दरम्।[125]
अकारणरिपुश्चन्द्रो, निर्निमित्तासुहृद्स्मर:॥

विवेचना : निसर्गादिपदैरत्र हेतु: साक्षान्निवर्तित:।[126]
उक्तं च सुरभित्वादि फलं तत्सा विभावना॥

समासोक्ति अलंकार

किसी इष्ट वस्तु को अपने मानसिक अभिप्राय में रखकर जब उस वस्तु के समान किसी अन्यवस्तु का संक्षिप्त कथन किया जाता है, वहाँ 'समासोक्ति' अलंकार होता है।[127] इस परिभाषा के अनुसार अप्रस्तुत (उपमान) के कथन द्वारा जब प्रस्तुत (उपमेय) की प्रतीति होती है तो वहाँ समासोक्ति अलंकार समझा जाना चाहिए। वामन, भोज, मम्मट आदि आचार्य दण्डी की उपर्युक्त परिभाषा से सहमत हैं जबकि रुय्यक, अप्पय दीक्षित तथा विश्वनाथ आदि आचार्य अप्रस्तुत की प्रतीतियुक्त प्रस्तुत उक्ति में समासोक्ति अलंकार स्वीकार करते हैं। दण्डी की समासोक्ति परवती आचार्यों की 'अप्रस्तुत प्रशंसा' के अधिक निकट है यद्यपि उन्होंने उसे उनसे कुछ भिन्न रूप में निरूपित किया है। दण्डी के टीकाकार रत्न श्रीज्ञान ने दण्डी की समासोक्ति को 'ध्वनि का ही एक रूप माना है। समासोक्ति के अनेक रूप हैं जिन्हें तुल्यकार्या, तुल्याकार विशेषणा, भिन्न

भिन्न विशेषणा तथा अपूर्वा के नाम से दण्डी ने विवेचित किया है। उनका सामान्य स्पष्टीकरण निम्नलिखित उदाहरण द्वारा किया जा सकता है जिसमें दण्डी ने अपूर्व समासोक्ति का समावेश करते हुए बतलाया है कि इस उदाहरण में जिस अपूर्व समुद्र को सुखाये जाने की कल्पना की गई है वह दुष्टों के सम्पर्क से रहित और स्वभाव से मधुर आशय वाले संकट ग्रस्त व्यक्ति को अभिप्राय में रखते हुए उसे समुद्रसदृश रूप में कथित करने के प्रयोजन से अभिप्रेत है। उदाहरण निम्नलिखित है—

निवृत्तव्याल संसर्गो निसर्गमधुराशयः ।[128]
अयमम्भोनिधिः कष्टं कालेन परिशोष्यते ।

अतिशयोक्ति का गुण गौरव

दण्डी ने 'विवक्षा या विशेषस्य लोकसीमातिवर्तिनी के रूप में अतिशयोक्ति अलंकार का लक्षण निरूपित किया है जिसके अनुसार प्रस्तुत विषयवस्तु के अतिशय अथवा उत्कर्ष के अलौकिक अतिरंजनापूर्ण वर्णन में अतिशयोक्ति अलंकार होता है।[129] वस्तुतः लोकातिक्रांतगोचर उक्ति का नाम ही अतिशयोक्ति है जिसे वामन ने 'संभाव्यधर्मतदुत्कर्षकल्पनातिशयोक्तिः कहा है।[130] दण्डी के परवर्ती आचार्यों ने उनके द्वारा प्रयुक्त 'विशेषविवक्षा' पद को और भी अधिक निश्चित सीमाओं में बाँधने का प्रयास किया है। मम्मट ने उपमान द्वारा उपमेय के निगरण के फलस्वरूप दोनों के अध्यवसान अथवा अभेद कथन में अतिशयोक्ति मानी है।[131] तो विश्वनाथ ने उसे पाँच प्रकारों में विभक्त करते हुए मम्मट के अभिमत का ही समर्थन किया है।[132] संशय, निर्णय और आश्रय की दृष्टि से अतिशयोक्ति के अनेक रूप है जिसकी प्रशंसा करते हुए दण्डी ने उसे वाणी के अधिपति वृहस्पति तथा काव्य के जनक वाल्मीकि आदि महर्षियों द्वारा अभिवंद्य एवं शोभाधायक तत्त्व सिद्ध किया है—

अलंकारान्तराषामप्याहुरेकं परायणम् ।
वागीशमहितामुक्तिमिमामतिशयाह्वयाम् ।।[133]

अन्य अलकारों के उपकारक तत्त्व के रूप में अतिशयोक्ति अलंकार अनेक आचार्यों द्वारा अभिशंसित रहा है। इससे स्वभावोक्ति जैसे अलंकार ही चमत्कारप्राण नहीं बनाए जाते अपितु उपमा और रूपक आदि अलंकार भी उत्कर्ष विधायक किए जाते हैं। भामह ने इसे वक्रोक्ति के निकट रखकर सभी अलंकारों का आधारभूत तत्त्व माना है।[134] रुद्रट के मतानुसार इसका 'अतिशय तत्त्व उत्प्रेक्षा, विभावना, विरोध और विशेष अलंकारों का प्राणस्वरूप है। आनन्दवर्धन, भोज, और मम्मट आदि आचार्यों ने अतिशयोक्ति का गुणकथन निम्नलिखित रूप में किया है—

यतः प्रथमं तावदतिशयोक्तिगर्भता सर्वालंकारेषु शक्य क्रिया। कृतैव च सा महाकविभिः कामपि काव्यच्छविं पुष्यति। कथं ह्याति शययोगिता स्वविषयौचित्येन क्रियमाणा सती काव्ये नोत्कर्षमावहेत् ।[135]

तत्रातिशयोक्तिर्यमलंकारमधितिष्ठति कविप्रतिभावशान्तस्य चारुत्वातिशय

योगः, अन्यस्य त्वालंकारमात्रतैवेति सर्वालंकाररूपे त्ययमेवार्थोऽव गंतव्यः ।[136]

सर्वत्रैवंविधविषयेऽतिशयोक्तिरेव प्राणत्वेनावतिष्ठते तां विना प्रायेणालंकारत्वा-योगात् ।[137]

उत्प्रेक्षा अलंकार

जिस काव्योक्ति में जड़ अथवा चेतन रूप में स्थित गुण अथवा क्रिया रूप वृत्ति को अन्य रूप में संभावित अथवा परिकल्पित किया जाता है, वहाँ उत्प्रेक्षालंकार होता है ।[138] विश्वनाथ ने 'संभावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत्[139] द्वारा प्रस्तुति की अप्रस्तुत रूप में की जाने वाली सम्भावना को उत्प्रेक्षा माना है। 'संभावना' का अर्थ उत्कटैक-कोटिक संदेह भी है जिसके कारण प्रस्तुत के अनुपादान तथा उसका उपादान होने पर उसके अधःकरण की दो निगरण-स्थितियाँ उत्पन्न होती हैं। प्रथम स्थिति में अतिशयोक्ति और 'द्वितीय स्थिति में 'उत्प्रेक्षा' क्रमशः सिद्ध और साध्यरूप में रहती है।[140] अति-शयोक्ति में 'विषय' की निर्गीणता होती है तो उत्प्रेक्षा में उसकी निगीर्यमाणता मानी जाती है। रुय्यक ने उस निगीर्यमाणता को अध्यवसाय में क्रियांश व्यापार की प्रधानता कहा है।[141] दण्डी ने चेतनगत तथा अचेतनगत रूप में उत्प्रेक्षा के रूप प्रकारों का विवेचन करते हुए निम्नलिखित श्लोक[142] को उत्प्रेक्षा का सही उदाहरण सिद्ध किया है जिसे लेकर कुंतक, विश्वनाथ, भोज, रुय्यक, अप्यदीक्षित और शोभाकर मित्र आदि आचार्यों ने अनेक प्रकार के मतमतांतर प्रस्तुत किए हैं। दण्डी का कथन है कि उपर्युक्त श्लोक में 'अंध-कार मानो अंगों को लीप रहा है और आकाश मानो अंजन बरसा रहा है' की उत्प्रेक्षित संभावनाओं के कारण यहाँ मुख्यतः उत्प्रेक्षा के लक्षण सही अर्थों में संघटित हैं। इसका विस्तृत विश्लेषण काव्यादर्श के द्वितीय परिच्छेद की कारिका संख्या 227 से 234 के अंतर्गत किया गया है। दण्डी ने 'मन्ये', 'शंके', 'ध्रुवं', 'प्रायः' और 'नूनम्' आदि शब्दों को उत्प्रेक्षा के व्यंजक शब्द माना है जिनमें रुय्यक तथा केशवमिश्र ने 'इव' शब्द में जोड़ कर उनके द्वारा भी उत्प्रेक्षा की व्यंजना स्वीकार की है।"[143]

हेतु अलंकार के रूप

दण्डी ने हेतु, लेश और सूक्ष्म अलंकारों को वाणी के उत्तम भूषण कहा है।[144] भामह ने इन तीनों में वक्रोक्ति का अभाव देखकर इनका अलंकारत्व खण्डित किया था।[145] हेतु के मुख्य दो प्रकार (कारकहेतु और ज्ञापकहेतु) हैं जो अपने भेद-प्रभेदों के कारण अनेक रूपों में विवेचित किए गए हैं। क्रियानिष्पादक हेतु को 'कारक' तथा कारणान्तर से निष्पन्न कार्य बोधक हेतु को 'ज्ञापक' कहते हैं अग्नि, धूम्र (धुएँ) का कारक हेतु है तो धुआँ अग्नि का ज्ञापक हेतु कहलाता है। उत्तरवर्ती आचार्यों ने दण्डी द्वारा प्रतिपादित कारक हेतु से 'काव्यलिंग' तथा ज्ञापक हेतु से 'अनुमान' अलंकार की उत्पत्ति मानी है। कारक हेतु के दो रूप (प्रवर्तक तथा निरवर्तक) होते हैं जिन्हें भोज ने प्रवर्तक क्रियाविष्ट तथा निरवर्तक क्रियाविष्ट कारक हेतु नाम दिए हैं।[146] कुंतक ने हेतु

सूक्ष्म तथा लेश अलंकारों का खण्डन करते हुए दण्डी के निम्नलिखित उदाहरण को अलंकार न मानकर अलंकार्यमात्र कहा है जिसे दण्डी ने कारक हेतु के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया था।

अथमान्दोलिता प्रौढ़ चंदन द्रुम पल्लव:।
उत्पादयति सर्वस्य प्रीतिं मलयमारुत: ।।[147]

दण्डी का कथन है कि निर्वर्त्य और विकार्य कर्म में हेतु का व्यापार निर्वर्त्य अथवा विकार्य कर्म पर आश्रित होता है जबकि प्राप्य कर्म में वह प्राय: क्रिया पर आश्रित रहता है।[148] दण्डी ने निर्वर्त्य कर्म के कारकहेतुओं का विवेचन करने के साथ-साथ विकार्य और प्राप्य कर्मों के ज्ञापक हेतुओं का भी निरूपण किया है जिनके आधार पर हेतु अलंकार के रूपान्तर स्पष्ट हो सके हैं। यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि भामह ने जिस उदाहरण में काव्यत्व का सर्वथा निषेध करते हुए उसे वार्तामात्र कहा था।[149] उसे दण्डी ने आर्थ ज्ञापक हेतु अलंकार का उदाहरण माना है जो प्रसंग विशेष में चमत्कारजनक होने के कारण अलंकार रूप में स्वीकार्य है।[150] विवेचन के इसी प्रसंग में दण्डी ने उन मनोहर ज्ञापक हेतुओं के उदाहरण भी दिए हैं जिनमें काव्य प्रबंधों का चमत्कार संवर्द्धित होता है। दण्डी का अभाव हेतु विश्लेषण भी अत्यन्त युक्तिसंगत है जिसमें अभाव के चारों रूप (प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव तथा अत्यन्ताभाव) उदादृत हुए हैं। इन अभाव रूप कारक हेतुओं के उदाहरणों का प्रस्तुतीकरण अत्यन्त चारु रूप में व्यक्त किया गया है। दण्डी ने दूरकार्य, तत्सहज, कार्यानंतरन, अयुक्तकार्य और युक्तकार्य संज्ञक ऐसे अनेक चित्र हेतु परिकल्पित किए हैं जो काव्य प्रयोग की पद्धतियों अथवा काव्य प्रबंधों में गौण वृत्ति (समारोपित शब्द व्यापार अथवा लाक्षणिक हेतु व्यापार) के समाश्रयण से अत्यन्त सुन्दर और चित्ताकर्षक रूप में संलक्षित किए जाते हैं।[151] ये चित्र हेतु काव्य में उक्तिवैचित्र्य उत्पन्न करने के कारण विविध प्रकार के अलंकारों के उद्भावक हैं जिनका विश्लेषण अनेक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में यथा प्रसंग किया गया है। दण्डी ने काव्यादर्श के द्वितीय परिच्छेद की 255वीं कारिका से लेकर 259 वीं कारिका पर्यन्त उनका सोदाहरण विवेचन किया है।

सूक्ष्म अलंकार

दण्डी ने 'इंगिताकारलक्ष्योऽर्थ सौक्ष्म्यात्सूक्ष्म इति स्मृत:'[152] कारिकांश द्वारा सूक्ष्म अलंकार का लक्षण निरूपित किया है जिसके अनुसार संकेत विशेष और आकृति विकार से लक्षित होने वाले अभिप्राय के वर्णन को उसकी सूक्ष्मता के कारण सूक्ष्म अलंकार कहा जाता है। इसका उदाहरण निम्नलिखित छंद है जिसमें नायिका ने अपने काम पीड़ित प्रियतम को आश्वस्त करने की इच्छा से कमल को मुकुलित करते हुए रात्रिकाल में अपने प्रियसंगम की सूचना दी है—

कदा नौ संगमो भावीत्याकीर्णे वक्तुमक्षमम्।
अवेत्य कांतमबला लीलापद्मंन्यमीलयत्।[153]

'लेश' अलंकार और व्याजोक्ति

'लेश' अलंकार का लक्षण 'लेशो लेशेन निर्भिन्न वस्तुरूपनिगूहनम् है[154] जिसमें किसी गोप्य बात के प्रकट हो जाने पर उसे किसी बहाने (लेश द्वारा) छुपाया जाता है। दण्डी के परवर्ती आचार्यों ने इस अलंकार को 'व्याजोक्ति' के रूप में ग्रहण किया है जिसकी परिभाषा 'व्याजोक्तिर्गोपनं व्याजादुद्भिन्नस्यापि वस्तुत:' की गई है।[155] दण्डी ने लेश को 'लव' भी कहा है जिसका अर्थ 'किंचिन्मात्र भी किया जाता है।[156] इसका उदाहरण निम्नलिखित छंद है जिसमें रोमांच रूप में अभिव्यक्त अनुरागरूप यथार्थ विषय वस्तु को लेशोपन्यास द्वारा यह कहकर चतुरतापूर्वक छुपाया गया है कि शीतल पवन ही राजपुत्री के रोमांच अथवा रोमोद्गम का कारण है। छन्द इस प्रकार है—

राजकन्यानुरक्तं मां रोमोद्भेदेन रक्षका:।
अवगच्छेसुरा ज्ञातमहो शीतानिलं वनम् ।।[157]

कुछ आचार्यों ने लेश अलंकार के अन्तर्गत व्याजस्तुति तथा व्याजनिंदा की भी गणना की है। किन्तु दण्डी के मतानुसार वाच्यभूत निन्दागम्य स्तुति ही इस अलंकार का विषय हो सकती है। सामान्यत: स्तुति के ब्याज से निंदा लेश अलंकार का प्रथम प्रकार है तो निंदा के लेश से स्तुति कथन लेश का द्वितीय प्रकार माना जाता है। अप्पय दीक्षित ने लेश और व्याजस्तुति अलंकारों का अंतर अधिक तर्कसंगति से स्पष्ट किया है।

यथासंख्य, प्रेय, रसवत् और ऊर्जस्वित्

पूर्वकथित अथवा वर्णित पदार्थों का आवश्यकता पड़ने पर उसी क्रम में पुन: कथन करना यथासंभव अलंकार का लक्षण है।[158] इसे संख्यान और क्रम भी कहा जाता है। प्रेय, रसवत् और ऊर्जस्वित अलंकारों में वर्णन प्रकर्षता वांछनीय है। किसी प्रिय वस्तु का अत्यन्त प्रीतिकर वर्णन 'प्रेय' शृंगार आदि रसों से रमणीय वर्णन 'रसवत्'तथा गर्वोक्तिपूर्ण कथन 'उर्जस्वित्' अलंकार कहलाते हैं।[159] वर्ण्य वस्तु की प्रीतिकरता के अनुसार प्रेय अलंकार का स्थायी भाव 'प्रीति' है जो देवता अथवा गुरुजनों के प्रति प्रकट की जाती है। इसे शृंगार पर्यवसायी रति भाव से पृथक् समझा जाना चाहिए। दण्डी के परवर्ती आचार्यों ने इसे स्थायी भाव संचारी भावों का गौण रूप माना है। रसवत् अलंकार में भरतमुनि प्रतिपादित आठों रस अपने 'रूप बाहुल्य योग' द्वारा रस परिपाक की स्थिति पर पहुँचा दिए जाते हैं।[160] दण्डी ने नाट्यरसों को अलंकारवादी दृष्टिकोण से विवेचित किया है जो परवर्ती आचार्यों के लिए सुमान्य नहीं रहा। उन्होंने प्रेय को गौण रूप में आने वाले भाव रसवत् को 'रस' रूप में स्वीकार किया। अलंकारवादियों को ऊर्जस्वित् अलंकार रसवादियों के लिए गुणीभूत रसाभाव अथवा भावाभास बनकर ही रह गया। कुंतक को ेय, रसवत् तथा ऊर्जस्वित् को अलंकार की अपेक्षा 'अलंकार्य' मानना अधिक युक्तिसंगत लगा है।[161] उन्होंने 'रसवत्' पद की व्याख्या ही परिवर्तित कर दी है। भोज की दृष्टि में प्रेय आदि अलंकार अपनी युक्तोत्कर्ष स्थिति में अलंकार कहलाते हैं किन्तु जब उनमें 'युक्तोत्कर्ष' नहीं होता तो वे क्रमश: प्रेय, भाविक और और्जित्य नामक गुण

बन जाते हैं ।[162] यों तो दण्डी ने वाक्य की अग्राम्यता के हेतुभूत रस का निरूपण माधुर्य गुण के प्रसंग में भी किया है किन्तु वे रसवत् अलंकार के संदर्भ में शृंगार आदि आठ रसों पर निर्भर वाक्य की रसवत्ता अर्थात् रसवत् अलंकार से सम्पन्नता का वर्णन करना भी सभी दृष्टियों से समुचित समझते हैं ।[163] दण्डी ने ऊर्जस्वित् अलंकार का रूपलक्षण उसके उदाहरणों के माध्यम से स्पष्ट करने का प्रयास किया है । कुंतक ऊर्जस्वित् को अलंकार न कहकर अलंकार्य मानते हैं । भोज ने दण्डी के ऊर्जस्वित् अलंकार के उदाहरण को उद्धत रस के रूप में उद्धृत किया है जबकि उद्भट के अनुसार काम और क्रोध आदि कारणों से उद्भूत अनौचित्यपूर्ण भावों और रसों का वर्णन ही ऊर्जस्वित् का विषय कहा जा सकता है । उद्भट की मान्यता के आधार पर ही ऊर्जस्वित् को गुणीभूत रसाभास तथा भावाभास के रूप में व्याख्यायित किया गया है ।

पर्यायोक्त अलंकार

अभीष्ट अर्थ का स्पष्ट शब्दों द्वारा कथन न कर उसी अर्थ की सिद्धि के लिए जहाँ अन्यविधि (प्रकारान्तर) से उसका द्योतन किया जाता है, वहाँ पर्यायोक्त अलंकार होता है ।[164] विश्वनाथ ने इस अलंकार का लक्षण 'पर्यायोक्तं तु गम्यस्य वचो भंग्यन्तराश्रयम्' किया है ।[165] तो जयदेव के अनुसार इसके लक्षण तथा उदाहरण पर्यायोक्तं तद प्याहुर्यद्व्याजेनेष्ट साधनं । यामि चूतलतां द्रष्टुं युवाम्यामास्यतामिह ।[166] कहे जा सकते हैं । दण्डी ने इसका उदाहरण निम्नलिखित छंद माना है जिसमें नायक और नायिका के रतोत्सव का सम्पादन रूप अभीष्ट अर्थ नायिका की सखी द्वारा प्रकारान्तर से द्योतित किया गया है । छंद इस प्रकार है—

संगमय्य सखीं यूनां संकेते तद्रतोत्सवम् ।
निर्वर्तयितुमिच्छन्त्या कथाप्यपसृतं ततः ।।[167]

समाहित अलंकार

किसी कार्यारम्भी व्यक्ति के समक्ष जब उसकी कार्यसिद्धि में समर्थ अन्य साधन उपस्थित हो जाते हैं तो उनके कथन में 'समाहित' अलंकार होता है ।[168] दण्डी के परवर्ती काल में इस अलंकार का साहचर्य प्रेय, रसवत् तथा ऊर्जस्वित् अलंकारों के साथ कर दिया गया । विश्वनाथ ने इसे भावप्रशम का गुणीभूत रूप माना है जिसका आधार उद्भट का एतद्विषयक अभिमत है । यह एक उल्लेखनीय बात है कि विश्वनाथ ने समाहित अलंकार की विवेचना 'समाधिः सुकरे कार्ये दैवात् वस्त्वंतरागमात्' के शब्दों में करते हुए उसे 'समाधि' नाम प्रदान किया जिसका समर्थन मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ और अप्पय दीक्षित आदि आचार्यों द्वारा किया गया । इन आचार्यों ने दण्डी के समाहित अलंकार के निम्नलिखित उदाहरण को समाधि अलंकार के रूप में उद्धृत किया है—

मानमस्या निराकर्तुम् पादयोर्मे पतिष्यतः ।
उपकाराय दिष्ट्यैतदुदीर्णं घनगर्जितम् ।।[169]

उदात्त, अलंकार

किसी आशय, अभिप्राय अथवा ऐश्वर्य (विभूति) के अलौकिक गौरव वर्णन में उदात्त अलंकार होता है।[170] जिसे विश्वनाथ ने 'उदात्तं वस्तुनः संपन्महतां चोपलक्षणम्' कहा है।[171] कुँतक ने इसे अलंकार न मान कर अलंकार्य कहना अधिक युक्ति संगत समझा है। यह अलंकार दण्डी द्वारा प्रतिपादित उदारत्व गुण के अधिक निकट है। इस अलंकार का उदाहरण निम्नलिखित छंद है जिसमें असाधारण पराक्रमी राम के विनयोत्कर्ष तथा निर्लोभ भाव के रूप में उनकी लोकोत्तर आशय गरिमा वर्णित की गई है —

गुरोः शासनमत्येतुं नशशाक स राघवः।
यो रावण शिरश्छेदकार्यभारेऽप्यविकलवः ॥[172]

अपह्नुति अलंकार

किसी प्रकृत वस्तुरूप को छुपा कर उसके स्थान पर किसी अन्य वस्तु को प्रदर्शित करने पर अपह्नुति अलंकार होता है।[173] जिसे विश्वनाथ ने प्रकृतम् प्रतिषिध्यान्यस्थापनं स्यादपह्नुतिः' कहा है।[174] भोज ने औपम्यवती और अनौपम्या नाम से अपह्नुति के दो भेद माने हैं।[175] दण्डी ने अपह्नुति में औपम्यतत्त्व स्वीकार नहीं किया है जिसका प्रमाण उनके द्वारा उल्लिखित 'न पंचेषु स्मरस्तस्य सहस्रं पत्रिणामिति' है। इस उदाहरण में 'कामदेव पाँच बाणों वाला नहीं है, उसके तो सहस्रों बाण हैं उक्ति औपम्यतत्त्व विहीन है। दण्डी ने धर्म, विषय, स्वरूप और उपमा भेदों में अपह्नुति अलंकार के अनेक रूप प्रकार उदाहृत किये हैं जिनका प्रपंच काव्य प्रयोगों के रूप में संग्रथित किया जाता है।

श्लेष अलंकार

समान शब्दरूपयुक्त किन्तु भिन्न अर्थ वाली उक्ति को श्लिष्ट अथवा श्लेष कहते हैं जो अभिन्न पद तथा भिन्न पद प्राय रूप में दो प्रकार का होता है।[176] साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने श्लेष की परिभाषा 'श्लिष्टैः पदैरने कार्याभिधाने श्लेष इष्यते' की है और उसे सभंग, अभंग तथा उभयात्मक रूपों में विवेचित किया है।[177] दण्डी के परवर्ती आचार्यों ने श्लिष्ट पदों तथा अनेकार्थ पदों से अनेक अर्थों के कथन को क्रमशः शब्दश्लेष तथा अर्थश्लेष कहकर दण्डी के अभिन्न पदत्व तथा भिन्नपद प्राय को अभंग तथा सभंग शब्द श्लेष के रूप में स्वीकार किया है। विश्वनाथ आदि आचार्यों ने उभयात्मक श्लेष की स्वतंत्र विवेचना की है। विभिन्न पदों को तोड़े बिना अनेक अर्थो की प्रतीति में अभिन्नपद अभंग श्लेष तथा पदभंग द्वारा अन्य अप्रकृत तथा अप्राकरणिक अर्थ का अभिधान होने पर भिन्न पद सभंग श्लेष होता है। श्लेष के ये विभिन्न रूप उपमा, रूपक, आक्षेप तथा व्यतिरेक आदि अलंकारों में भी दृष्टिगोचर होते हैं। इनके अतिरिक्त श्लिष्टार्थदीपक, श्लेषाविद्ध अर्थान्तरन्यास, श्लेषमूला व्याजस्तुति आदि

अलंकार वक्रोक्तिमूलक बन कर 'श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम्' का सिद्धांत चरितार्थ करते हैं। दण्डी ने अभिन्नक्रिय, अविरुद्धक्रिय, विरुद्धधर्मा, नियमवान् नियमाक्षेपरूपोक्ति, अविरोधी तथा विरोधी नाम से सात प्रकार के अन्य श्लेष भी माने हैं।[178] जिनका स्वरूप विविध उदाहरणों द्वारा स्पष्ट किया गया है।

विशेषोक्ति अलंकार

कार्योत्पत्तिरूप विशेष का प्रतिपादन करने के लिए गुण, जाति द्रव्य तथा क्रिया के वैकल्पदर्शन (अभाव) अथवा असमग्र वर्णन को 'विशेषोक्ति' अलंकार कहते हैं।[179] दण्डी ने इसके लक्षण में 'वैकल्पदर्शन' पद का प्रयोग 'अभाव' तथा 'असमग्र भाव' के अर्थ में किया है, ऐसा रत्नश्रीज्ञान का अभिमत है। कुछ व्याख्याकारों ने उसका अर्थ कार्यसिद्धि में अनुपयोगिता अथवा निष्फलता भी माना है। दण्डी की विशेषोक्ति को परवर्ती आचार्यों ने भिन्नरूप में विवेचित किया है जिसके अनुसार उसकी परिभाषा "सति हेतौ फलाभावो विशेषोक्तिः' कर दी गई।[180] जयदेव ने उसे विभावना अलंकार के निकट रखा तो विश्वनाथ ने उसे विषम अलकार की श्रेणी में प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया। अप्पय दीक्षित, भोज तथा विश्वेश्वर ने उसे अधिकांशतः दण्डी की मान्यता के अनुरूप ही स्वीकार किया है। इसका उदाहरण निम्नलिखित श्लोक है जिसमें कामदेव के आरम्भ में कठोरता तथा तीक्ष्णता गुणों का वैकल्प (अभाव) करते हुए उसके द्वारा त्रिभुवन विजयकार्य विषयक अतिशय का चित्रण किया गया है। यह श्लोक गुण वैकल्यवती विशेषोक्ति का उदाहरण है—

न कठोरं न वा तीक्ष्णमायुधं पुष्पधन्वनः।
तथापि जितमेवासीदमुना भुवन त्रयम्॥[181]

तुल्ययोगिता अलंकार

प्रस्तुत के सम्बन्ध में विवक्षित गुण में उत्कृष्ट किन्हीं अप्रस्तुतों से किसी प्रस्तुत की तुलना करते हुए जहाँ प्रस्तुत की स्तुति अथवा निंदा के प्रयोजन से वर्णन किया जाता है, वहाँ तुल्ययोगिता' अलंकार होता है।[182] यह अलंकार तुल्ययोगोपमा नामक उपमाभेद से साम्य रखता है। कालांतर में केवल प्रस्तुतों अथवा अप्रस्तुतों की एकधर्मीय सम्बन्धोक्ति को तुल्ययोगिता अलंकार कहा जाने लगा। जयदेव ने दण्डी की तुल्ययोगिता को एक विशेष प्रकार की तुल्ययोगिता के रूप में ग्रहण किया तो विश्वनाथ ने उसे दीपक अलंकार के निकट रखना उचित समझा। यह अलंकार दण्डी द्वारा स्तुति, तथा निंदार्थक रूप में उदादृत किया गया है जिसके उदाहरणस्वरूप निम्नलिखित छंद उद्धृत किये जाते हैं—

यमः कुबेरो वरुणः सहस्राक्षो भवानपि।
बिभ्रत्यनन्यविषयां लोकपाल इतिश्रुतिम्॥[183]

संगतानि मृगाक्षीणां तडिद्विलसितानि च।
क्षणद्वयं न तिष्ठन्ति घनारब्धान्यपि स्वयम् ।।[184]

उपर्युक्त उदाहरण क्रमशः स्तुत्यर्था और निंदार्थातुल्ययोगिता के हैं। प्रथम उदाहरण में प्रस्तुत राजा के सम्बन्ध में जो लोकपालत्वरूप गुण विवक्षित किया गया है उसमें राजा की अपेक्षा बढ़े चढ़े यम आदि देवों से राजा की तुलना के माध्यम से उसका स्तुतिपरक कथन किया गया है जबकि द्वितीय उदाहरण में प्रस्तुत रमणीसंगम में क्षणिकत्वरूप धर्म विवक्षित है जिसमें उसमें भी बढ़ी चढ़ी बिजली की चमक से तुलना करते हुए उसका निन्दात्मक वर्णन होने से यहाँ निंदार्था तुल्ययोगिता है।

विरोध अलंकार

प्रस्तुतगत उत्कर्षरूप विशेष का प्रतिपादन करने के लिए जहाँ परस्पर विरोधी पदार्थों के सान्निध्य अथवा सहावस्थान का वर्णन किया जाता है, वहाँ विरोध अलंकार होता है।[185] काव्यप्रकाश में इसका लक्षण 'विरोधः सोऽविरोधेऽपि विरुद्धत्वेन यद्वचः' किया गया है जो वामन की विरोध संकल्पना में आभासतत्त्व की स्पष्टता का समर्थक है।[186] दण्डी इस विषय में अधिक स्पष्ट नहीं है यद्यपि उनके उदाहरणों द्वारा उपर्युक्त लक्षण का आभास अवश्य मिल जाता है। दण्डी ने क्रिया, गुण तथा द्रव्य विरोधों के उदाहरण देकर इस अलंकार का स्पष्टीकरण किया है।

अप्रस्तुत प्रशंसा

दण्डी ने अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार का लक्षण 'अप्रस्तुत प्रशंसा स्याद प्रक्रांतेषु या स्तुतिः' किया है जिसके अनुसार अप्रस्तुत पदार्थ अथवा पदार्थों की निंदा करने की दृष्टि से की गई स्तुति का नाम अप्रस्तुत प्रशंसा है।[187] यह अलंकार व्याजस्तुति की निकटवर्ती सीमा में भी ग्रहण किया गया है यद्यपि परवर्ती आचार्यों ने अप्रस्तुत के वर्णन से प्रस्तुत की प्रतीति को भी इसकी विषयवस्तु बना लिया। दण्डी ने इसे समासोक्ति अलंकार के साथ साम्यमूलक सिद्ध किया है। इसका उदाहरण निम्नलिखित छंद है जिसमें राजसेवा रूप क्लेश से व्यथित किसी स्वाभिमानी व्यक्ति ने अप्रस्तुत मृगवृत्ति की प्रशंसा करते हुए अपनी जीवनवृत्ति को कोसा है—

सुखं जीवन्ति हरिणा वनेष्वपरसेविनः।
अन्नैर यत्नसुलभैस्तृणदर्भांकुरादिभिः ।।[188]

व्याजस्तुति

जहाँ कोई कवि किसी की निंदा करता हुआ सा प्रतीत होने पर भी एक प्रकार से उसकी स्तुति ही करता है, वहाँ उसकी उक्ति व्याजस्तुति कहलाती है।[189] इस अलंकार में दोषों के समान प्रतीत होने वाले गुणों का ही वर्णन किया जाता है। व्याज स्तुति अलंकार का उपर्युक्त लक्षण दण्डी द्वारा वर्णित लेश अलंकार के द्वितीय भेद के

अनुरूप है। यद्यपि उसमें गुणों के समान प्रतीत होने वाले दोषों का वर्णन भी समाविष्ट रहता है। भोज और विश्वेश्वर ने लेश और व्याजस्तुति अलंकार का एकीकरण सा कर दिया है जबकि अप्पय दीक्षित ने व्याजस्तुति के दो भेद (एक विषयक और भिन्न विषयक) माने हैं। उनका भिन्न विषयक भेद अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार को अपने भीतर समेट लेता है। काव्यप्रकाशकार ने व्याजस्तुति का लक्षण 'व्याजस्तुतिर्मुखे निन्दा स्तुतिव रूढ़िमन्यथा' किया है। निम्नलिखित उदाहरण में प्रस्तुत राजा की निन्दा आभासित होती है जबकि वस्तुस्थिति यह है कि कवि ने परशुराम से उसकी तुलना करते हुए उसे सम्पूर्ण पृथ्वी के विजेता के रूप में संस्तुत किया है —

तापसेनापि रामेण जितेयं भूतधारिणी।
त्वया राज्ञापि सैवेयं जिता मा भून्मदस्तव ।।[190]

व्याजस्तुति के ऐसे अनेक रचना प्रयोग का काव्यग्रंथों में मिलते हैं जो या तो श्लेषानुबिद्ध है अथवा अनेक प्रकार की विशुद्ध कल्पनाओं के रूपान्तरमात्र हैं। निम्नलिखित उदाहरण में भुजंगभोगसंसक्ता पद में श्लेष होने के कारण राजा की आभासमान निंदा उसके अखिल भूमण्डल पर प्रतिष्ठित आधिपत्य की स्तुति कही जा सकती हैं—

भुजंगभोग संसक्ता कलत्र तव मोदिनी ।
अहंकार: परां कोटिमारोहति कुतस्तव ।।[191]

निदर्शना

जहाँ किसी अन्य कार्य प्रवृत्त वस्तु द्वारा उस कार्य के समान ही कोई इष्ट अथवा अनिष्ट फल (कार्य निदर्शित किया जाय, वहाँ निदर्शन अलंकार होता है।[192] कालांतर में संभव अथवा असंभव वस्तु सम्बन्ध द्वारा बिम्बानुविम्बभाव के प्रदर्शन में निदर्शना माना जाने लगा।[193] जयदेव और अप्पय दीक्षित ने दण्डी का निदर्शन अलंकार यथावत् रूप में स्वीकार किया है, यद्यपि वे उसके विषय में अन्य परिकल्पनाओं को भी प्रमुखता देते चले हैं। निदर्शना के दो रूप (सत्फलनिदर्शन तथा असत्फलनिदर्शन) माने जाते हैं जिनके क्रमश: उदाहरण निम्नलिखित छंद हैं—

उदयन्नेव सविता पद्मेष्वर्पयति श्रियम् ।
विभावयितुमृद्धीनां फलं सुहृदनुग्रहम् ।।[194]
यायि चंद्रांशुभि: स्पृष्टा ध्वान्तराजि: पराभवम्
सद्यो राजविरुद्धानां सूचयन्ती दुरन्तताम् ।।[195]

उपर्युक्त प्रथम उदाहरण में कमलशोभा के आधानरूप कर्म में प्रवृत्त सूर्य अभ्युदय के प्रयोजनरूप में मित्रोपकार रूप इष्ट फल निर्दिष्ट करता है जबकि द्वितीय उदाहरण में चन्द्रकिरणों से पराभूत होने वाली अंधकारराशि राजविरोध के असत्फल को निर्दशित करती हैं।

सहोक्ति

गुणों अथवा क्रियाओं के एक साथ घटित होने का वर्णन करने पर सहोक्ति अलंकार होता है। जबकि वस्तुओं का परस्पर विनिमय (आदान प्रदान) परिवृत्ति कहलाता है।[196] गुण और क्रिया के सहभाव का वर्णन होने से सहोक्ति के मुख्य दो रूप माने गये हैं जिनके क्रमिक उदाहरण निम्नलिखित है—

सह दीर्घा मम श्वासैरिमाः सम्प्रति रात्रयः।
पाण्डुराश्च ममैवांगैः सह ताश्चन्द्रभूषणाः।।[197]
कोकिलालाप सुभगाः सुगंधिवनवायवः।
यांति सार्धं जनानंदैर्वृद्धि सुरभिवासराः।।[198]

प्रथम उदाहरण में संबंधिभेद से भिन्न दीर्घत्व और पाण्डुरत्व गुणों के सहभाव का वर्णन होने से गुणसहोक्ति है जबकि दूसरे उदाहरण में वासंतिक दिवसों की वृद्धि के साथ-साथ व्यक्तियों की आनंदवर्धनी क्रियाओं का सहकथन होने से यहाँ क्रिया-सहोक्ति अलंकार है।

परिवृत्ति और आशी : अलंकार

'परिवृत्ति विनिमयः समन्यूनाधिकैर्भवेत्' के अनुसार परिवृत्ति अलंकार के तीन भेद (सम, न्यून और अधिक) किये जाते हैं।[199] ये भेद विनिमय पर आधारित हैं। भोज ने विनिमय के साथ व्यत्यय (परस्पर स्थानांतरण) को भी इस अलंकार का विषय बनाया है।[200] अभीष्ट वस्तु के लिए आशंसावचन (आशीर्वाद) को आशीः अलंकार कहा जाता है।[201] भामह ने 'आशीरपि च केषांचिदलंकार तया मता' द्वारा इस अलंकार के प्रति उदासीनता प्रकट की है।[202] आचार्य कुंतक इसका अलंकारतत्त्व स्वीकार नहीं करते। विश्वनाथ ने इसका ग्रहण प्रायः नाट्यालंकार के रूप में किया है।[203]

अलंकार के इतर रूप

दण्डी ने अनन्वय और संदेह अलंकारों की स्वतंत्र स्थिति न मानकर उन्हें उपमा अलंकार भेद रूपों में ही निर्दशित किया है। वे उपमारूपक को भी रूपक का ही एक भेद मानते हैं।[204] कालांतर में ये अलंकार स्वतंत्र अलंकारों के रूप में व्याख्यात किये जाने लगे। दण्डी का कथन है कि अन्य आचार्यों द्वारा उत्प्रेक्षावयव के रूप में जो पृथक् अलंकार माना गया है, वह भी उत्प्रेक्षा अलंकार का ही एक भेद है।[205] अनेक अलंकारों की संसृष्टि, अथवा एकत्र अवस्थिति को संसृष्टि अथवा संकीर्ण कहते हैं। संसृष्टि अलंकारों के दो रूप माने जाते हैं जिन्हें प्रधान और गौण भाव का संस्थान तथा समकक्ष रूप में उनकी स्थिति के माध्यम से विवेचित किया गया है।[206] दण्डी ने अंगांगिभाव संसृष्टि के रूप में उपमा तथा श्लेषनुविद्ध अर्थान्तरन्यास के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं तो समकक्षतारूप संसृष्टि में उत्प्रेक्षा और उपमा की समकक्ष रूपता में अन्योन्य निरपेक्ष स्थिति प्रतिपादित की है।[207]

श्लिष्टपद वक्रोक्ति का प्राणतत्त्व है

दण्डी ने अलंकार चक्र की विशद विवेचना करने के पश्चात् अलंकारों की संसृष्टि में श्लेष अलंकार को प्रभूत महत्त्व प्रदान किया है। उनके मतानुसार श्लेष अलंकार प्रायः सभी वक्रोक्तिरूप अलंकारों में उनकी शोभा बढ़ाता है। सच तो यह है कि सम्पूर्ण वाङ्मय अथवा काव्यसाहित्य स्वाभावोक्ति और वक्रोक्ति संज्ञक दो रूपों में विभक्त किया जा सकता है।[208] श्लेष अलंकार सभी उक्तिवैचित्र्यमूलक अलंकारों का मूल तत्त्व है। दण्डी ने स्वाभावोक्ति और वक्रोक्ति पदों द्वारा सम्पूर्ण वाङ्मय के विभाजन की जो बात कही है, उसे व्यापक अर्थ में ग्रहण करना चाहिए। यदि अलंकार विशेष की दृष्टि से 'स्वाभावोक्ति' का निरूपण किया जाय तो उसके अंतर्गत यथासंख्य, सहोक्ति हेतु, सूक्ष्म, लेश, परिसंख्या और आशीः आदि अलंकार गिने जा सकते हैं जबकि वक्रोक्ति के अंतर्गत उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति आदि अलंकार समाविष्ट होते हैं। भामह ने भी काव्य में वक्रोक्ति तत्त्व पर विशेष बल देते हुए यहाँ तक लिखा है कि उसके अभाव में अलंकार की स्थिति ही स्वीकार नहीं की जा सकती।[209] कुंतक ने तो वक्रोक्ति को काव्य का आत्मतत्त्व स्वीकार किया है। भोज ने स्वाभावोक्ति और वक्रोक्ति के साथ रसोक्ति पद जोड़कर उसे सर्वानुग्राही काव्यतत्त्व की संज्ञा दी है।[210] दण्डी ने संपूर्ण काव्य प्रबंध में व्याप्त रहने वाले गुण विशेष को 'भाविकतत्त्व' कहकर उसे काव्य का सर्वस्व सिद्ध किया है। वस्तुतः काव्य का भाविकत्व एक ऐसा तत्त्व है जिसे अलंकार तथा गुणविशेष की सीमाओं में आबद्ध नहीं किया जा सकता। कालांतर में उसे केवल सीमित, अलंकारतत्त्व प्रदान कर दिया गया किन्तु उसकी अपनी स्वतंत्र स्थिति भी रही है। दण्डी ने उसकी अलंकारता स्वीकार करते हुए उसके अंतर्गत तत्त्वों का भी उल्लेख किया है जिनमें प्रबंध वस्तु के विभिन्न भागों का परस्पर पोषकतत्त्व सार्थक विशेषणों का प्रयोग वर्ण्य विषयों का उचित सन्निवेश तथा उनका स्पष्ट अभिव्यंजन रहता है।[211] दण्डी ने नाट्यशास्त्र वर्णित संध्यग, वृत्त्यंग तथा लक्षणों को भी अलंकार चक्र में सम्मिलित करते हुए जिस रूप में अलंकारों को काव्य शोभाकर धर्म सिद्ध किया है, वह उनकी मान्यताओं का कीर्तिमान प्रतिष्ठित करने में पूर्णतः सक्षम और समर्थ है।

यमकालंकार का निरूपण

यमक के भेद-प्रभेद

दण्डी ने यमक और चित्रालंकारों के भेद-प्रभेदों का विवेचन अत्यंत विस्तार पूर्वक किया है। उनके मतानुसार दूसरे वर्ण या वर्णों के व्यवधान से रहित अथवा व्यवधान से युक्त वर्णसमुदाय की विशिष्ट पुनरावृत्ति में यमक अलंकार होता है। यह अलंकार पद्य चरणों के आदि, मध्य तथा अंत में दृष्टिगोचर होता है।[212] दण्डी ने माधुर्य गुण के प्रसंग में भी यमक अलंकार की चर्चा की थी।[213] इस अलंकार के प्रमुख दो भेद (अव्यपेत तथा व्यपेत) हैं। स्वरव्यंजनरूप वर्णसमुदाय की वर्णान्तरव्यवधानरहित

आवृत्ति में 'अव्ययेत' यमक होता है जबकि व्यवधान आवृत्तियुक्तरूप यमक 'व्यपेत' यमक कहलाता है। इन दोनों के मिश्रण से 'अव्यपेतव्यपेत' यमक भी कल्पित किया गया है। कहने के लिए तो यमक पद्य के चरणों के आदि, मध्य और अंत में होता है किन्तु इसे स्थिति-नियमन का उपलक्षणमात्र ही समझना चाहिए क्योंकि वह सम्पूर्ण चरण, चरण-खंड, पद्यार्थ तथा सम्पूर्ण पद्य में भी हो सकता है। दण्डी ने यद्यपि यमक की एकांत-मधुरता का निषेध किया है किन्तु वे उसके प्रति विशेष आग्रह रखते हुए से भी प्रतीत होते हैं। उन्होंने 66 पद्यों में उसकी चर्चा करते हुए जो उदाहरण जुटाये हैं, वे उनकी आचार्य प्रतिभा और विलक्षण व्युत्पत्ति के प्रमाण हैं। यों तो अन्य आचार्यों ने भी यमक का विश्लेषण किया है, किन्तु दण्डी का यह कार्य विशिष्ट कोटि का है। वस्तुतः यमका-लंकार विवेचन के प्रति उनकी विशेष अभिरुचि रही है जो रसध्वनिवादी मम्मट आदि आचार्यों से भिन्न दृष्टिकोण रखती है। मम्मट ने तो अनेक स्थलों पर यमक को रस-प्रतीति का व्यवधायिक माना है जबकि दण्डी इस विषय में मौन है। दण्डी के उत्तरवर्ती आचार्यों ने यमक की लक्षण-विवेचना उनसे कुछ भिन्न दृष्टि से की है। उन्होंने आवृत्त वर्णसमुदाय में अर्थ की भिन्नता तथा पूर्वग्रहीत क्रम का अनुपालन इस अलंकार का विशिष्ट लक्षण माना है[214] जबकि दण्डी का प्रतिलोमयमक उनकी परिधि से बाहर चला जाता है।

दण्डी ने एक, दो, तीन तथा चार पादगत यमकों के आदि मध्य, अंत, मध्यांत, मध्यादि आद्यंत और आदिमध्यांत संज्ञक सात प्रभेदों में उसके अनेक विकल्प संकल्पित किये है।[215] एक पादगत यमक के चार, द्विपादगत यमक के छः तथा त्रिपादगत यमक के चार भेद होते हैं। चतुष्पादगत यमक एक प्रकार का माना गया है। पादगत यमक के पन्द्रह भेद है जो आदि, मध्य तथा अंत प्रभृति सात प्रभेदों से गुणित होकर एक सौ पाँच प्रकार के हो जाते हैं। उनमें भी अव्यपेत, व्यपेत तथा व्यपेताव्यपेत रूपों से भेद विभाग करने पर यमक के कुल 315 भेद होते हैं। दण्डी ने उपर्युक्त यमक भेदों के पारस्परिक सम्मिश्रण से उत्पन्न अनेकानेक प्रभेद भी माने हैं जो सुकर (सरलता से रचे या समझे जाने योग्य) तथा दुष्कर (कठिनता से रचे या समझे जाने योग्य) रूपों में प्रतिफलित होते हैं। उन भेदों का सोदाहरण विवेचन करने में दण्डी ने पूर्ण अध्यवसाय किया है। वस्तुतः यमकालंकार के भेद-प्रभेदों का यह चक्रव्यूह अत्यंत दुर्भेद्य है जिसकी सूक्ष्मता तथा अंतर्दृष्टि का अभिज्ञान दण्डी के काव्यादर्श के तृतीय परिच्छेद के सम्यक् अध्ययन और अनुशीलन द्वारा किया जा सकता है।

दण्डी के मतानुसार दो समीपवर्ती चरणों में पूर्ववर्ती चरण का अंतभाग तथा उत्तरवर्ती चरण का आदि भाग 'संदष्ट' नामक यमक का विषय है।[216] यह भेद पूर्वोक्त व्यपेताव्यपेतादि प्रभेदों में अंतर्भुक्त है किन्तु दण्डी ने उसके स्वरूपवैशिष्ट्य के कारण उसका स्वतंत्र निरूपण किया है।[217] रुद्रट का वंशयमक तथा भोज का कांचीयमक दण्डी के संदष्ट यमक से पर्याप्त साम्य रखता है। श्लोक के अर्धभाग में दो पादों में आवृत्ति होने पर 'समुद्ग' नामक यमक होता है जिसके प्रमुख तीन भेद हैं।[218] उसका प्रथम

भेद पाद की आवृत्तिरूप 'पादाभ्यास है जिसके अनेक प्रकार दण्डी ने निरूपित किये हैं।[219] परस्पर सम्बद्ध अर्थ अथवा समान रूप वाले दो श्लोकों को 'श्लोकाभ्यास' कहते हैं जिसमें सम्पूर्ण श्लोक की परवर्ती श्लोक में उसी क्रम से पुनरावृत्ति होती है।[220] यमक का सर्वोत्कृष्ट प्रयोग 'महायमक' कहलाता है जो समान आकार वाले चार चरणों से युक्त होता है। इसमें कहीं-कहीं चरणों के मध्य में भी आवृत्ति दृष्टिगोचर होती है।[221] चरण, श्लोकार्थ अथवा सम्पूर्ण श्लोक की विपरीत क्रम से पुनः आवृत्ति होने पर उसे आवृत्ति की प्रतिलोभता (विपरीतक्रमता) के कारण 'प्रतिलोभ यमक' कहा जाता है।[222] उसके तीन भेद (पादगत, श्लोकार्थगत तथा समग्रश्लोकगत) होते हैं। रुद्रट ने इसे चित्रालंकार के अंतर्गत परिगणित किया है।[223]

चित्रालंकार विवेचन

दण्डी का चित्रालंकार विश्लेषण अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। उन्होंने गोमूत्रिका, अर्धभ्रम, सर्वतोभद्र तथा स्वरस्थानवर्णनियम सम्बन्ध में चित्रालंकार अथवा चित्रबंध माना है जो सुकर तथा दुष्कर मार्गों के माध्यम से निरूपित किया जाता है।[224] रुद्रट ने "भंग्यंतरकृततत्क्रमवर्णनिमित्तानि वस्तुरूपाणि। सांकानि विचित्राणि च रच्यन्ते यत्र तच्चित्रम्"[225] के रूप में चित्र लक्षण निर्दिष्ट करते हुए उसके अंतर्गत चक्र, खडग, अर्धभ्रम, सर्वतोभद्र आदि बंधों के साथ-साथ अनुलोम और प्रतिलोम नामक चित्र बन्ध परिगणित किये हैं। वे प्रहेलिका तथा मात्राच्युतक के प्रति उदासीन लगते हैं।[226] भोज ने चित्र के वर्ण नियम, स्थान, स्वर, आकार, गति और बंध नामक छः प्रकार माने हैं।[227] उनके मतानुसार दण्डीविवेचित गोमूत्रिका, अर्धभ्रम तथा सर्वतोभद्र गतिनियममूलक चित्र है जिनके अंतर्गत प्रतिलोमयमक भी समाविष्ट रहता है। उन्होंने आकार चित्र में 'अष्टदल' तथा बंधचित्र में 'चक्रबंध' आदि की गणना की है। भोज द्वारा वर्णित स्वर, वर्ण और स्थान चित्र दण्डी की मान्यता के अनुरूप हैं।

दण्डी ने उस दुःसाध्य पद्यबंध को गोमूत्रिका चित्र काव्य कहा है जिसके श्लोक के पूर्वार्ध तथा उत्तरार्ध को ऊपर नीचे लिखने पर दोनों में आये हुए वर्णों की एक-एक वर्ण के व्यवधान से अभिन्नता रहती है।[228] यह चित्रबंध मार्ग चलित गोबर्द (बैल) के मूत्र की आकृति जैसा होता है अतः इसे गोमूत्रिका चित्रबंध कहा जाता है। अर्धभ्रम चित्रबंध में श्लोक का आध अनुलोम मार्ग से भ्रमण अथवा पादनिष्पादन होता है। यदि उसका अनुलोम तथा प्रतिलोम मार्गों से सर्वत्र पादनिष्पादन हो तो उसे 'सर्वतोभद्र' बंध कहा जाता है।[229] दण्डी ने स्वरस्थानवर्णनियम चित्रालंकार की परिभाषा करते हुए उसे सुकर तथा दुष्कर रूपों में प्रतिपादित किया है। इन सभी चित्रबंधों के उदाहरणों द्वारा वे उनका स्वरूप स्पष्ट करते चले हैं। दण्डी का चित्रबंध निरूपण उनके गम्भीर चिंतन और व्यापक अध्ययन का प्रतिफल है। तत्सम्बद्ध उदाहरण जुटाने में उन्होंने अमंद प्रयास किया है। उनके काव्यादर्श में प्रहेलिका नामक काव्यबंध

के विविध प्रकार भी यथाक्रम निरूपित हुए हैं।[230] दण्डी का अभिमत है कि क्रीडा गोष्ठियों में प्रमोद साधन के रूप में प्रहेलिकाओं का निरन्तर उपयोग किया जाता रहा है। जिन्हें समझने वाले विदग्ध समाज में उन्हें गुप्त संभाषण के माध्यम अथवा अन्य जनों को चुनौती देकर उन्हें व्यामोहित करने के साधन के रूप में प्रयुक्त करने की परम्परा अत्यंत प्राचीनकाल से चली आई है।[231] रुद्रट के मतानुसार प्रहेलिका 'क्रीडा-मात्रोपयोगरूपिणी है।[232] जब कि भोज उसे 'संकृत् प्रश्न' कहकर उसे छः रूपों में वर्णित करते हैं।[233] भामह का एतद्विषयक दृष्टिकोण विरोधमूलक है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रहेलिका की काव्यालंकारगत उपयोगिता सभी आचार्यों को समान रूप से स्वीकार न थी। दण्डी ने उसके तीस प्रमोद परिकल्पित किये हैं। जिनमें से सोलह शिष्ट भेदों का निदर्शन काव्यादर्श में प्रस्तुत किया गया है।[234] प्रहेलिका आदि के मार्गों के सम्बन्ध में दण्डी के निम्नलिखित श्लोक महत्त्वपूर्ण है जिनमें उन्होंने उनकी सुकरता तथा दुष्करता का उल्लेख किया है—

इति प्रहेलिकामार्गो दुष्करात्मपि दर्शितः।
विद्वत्प्रयोगतो ज्ञेया मार्गाः प्रश्नोत्तरादयः॥
विशदबुद्धिरनेन सुवर्त्मना
सुकरदुष्करमार्गमवैति हि।
न हि तदन्यनयेऽपि कृतश्रमः
प्रभुरिमं नयमेतुमिदं विना॥

काव्यदोष निरूपण

काव्यदोष क्या है ?

यद्यपि दण्डी ने काव्यदोष का कोई निश्चित लक्षण निर्धारित नहीं किया है तथापि उनकी यह धारणा है कि उसके कारण काव्य में अनौचित्य तथा अशिष्टता का समावेश होता है जिससे सहृदयजनों के चित्त में उद्विग्नता उत्पन्न होती है। उन्हें दोष की अनित्य प्रकृति ग्राह्य है जिसके कारण वह स्थिति विशेष में गुण भी बन सकता है। दण्डी के अनुसार काव्यदोषों का सम्बन्ध काव्य शरीर से है जिसमें शब्द और अर्थ का सन्निवेश होता है। रसवादी आचार्यों ने रस की प्रमुखता से दोष को 'मुख्यार्थहतिदोष' कहा है।[235] जब कि दण्डी ने उसे 'इष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली' तक ही परिसीमित रखा। उन्होंने काव्यमर्मज्ञों के लिए गुणदोषों का सम्यक् अनुशीलन आवश्यक माना है क्योंकि वे उनके स्वरूपबोध द्वारा काव्यचारुता का उत्कर्ष और अपकर्ष समझने में समर्थ हो सकते हैं। दण्डी के मतानुसार काव्य में दुष्प्रयुक्त शब्द कवि की मूर्खता ही विज्ञप्त नहीं करते[236] अपितु वे श्वेतकुष्ठतुल्य लाँछन बनकर काव्य शरीर का सौन्दर्य भी क्षतविक्षत कर देते हैं।[237]

काव्यदोषों के दस प्रकार

दण्डी ने अपार्थ, व्यर्थ, एकार्थ, ससंशय, अपक्रम, शब्दहीन, यतिभ्रष्ट, भिन्नवृत्त, विसंधिक और देशकालकलालोकन्याय आगम विरोध दस काव्यदोष माने हैं जिनका परिहार काव्यमनीषियें को अपनी कृतियों में करना चाहिए।[238] 'तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथचन' द्वारा वे दोष परिहार पर विशेष बल देते हैं। यों तो भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में भी दस दोषों की चर्चा हुई है किन्तु उनके नाम और रूप दण्डी से भिन्न है। दण्डी के दोष विवेचन का प्रभाव वामन, रुद्रट तथा भोज के लक्षण ग्रंथों पर भी परिलक्षित होता है। भामह के 'काव्यालंकार' के दोषनिरूपण के साथ उसका पर्याप्त साम्य है।

अपार्थ दोष

समुदायरूप में अभिप्रेत कथ्य के घटक पदसमूह की सार्थकता से रहित वाक्य अथवा वाक्यसमूह में अपार्थ दोष होता है।[239] मद्यपानोन्मत उन्मादित व्यक्तियों और बालकों की उक्तियों को छोड़कर यह सर्वत्र काव्यदोष माना जाता है।[240] दण्डी ने निम्नलिखित उदाहरण में वाक्यसमुच्चयगत अपार्थ दोष माना है क्योंकि उसमें प्रयुक्त चारों वाक्यों की पृथक्-पृथक सार्थकता होने पर भी उनका परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं निकलता। यदि अस्वस्थ चित्त तथा उन्मादी व्यक्ति इस प्रकार के कथन करें तो उनमें दोष नहीं होता। इस प्रकार इस दोष की स्थिति सापेक्षिक है। भामह तथा भोज ने भी इससे सहमति व्यक्त करते हुए गुण दोषों की सापेक्षता स्वीकार की है।[241] इस दोष का उदाहरण इस प्रकार है—

समुद्रः पीयते देवैरहमस्मि जरातुरः।
अभी गर्जन्ति जीमूता हरेरैरावणप्रियः।[242]

अर्थ—समुद्र देवों द्वारा पिया जा रहा है, मैं बूढ़ा हो गया हूँ, ये मेघ गरज रहे हैं, ऐरावत इन्द्र का प्रिय हाथी है।

व्यर्थ दोष

जहाँ किसी एक वाक्य अथवा वाक्य समूह के पूर्वापर कथन में परस्पर संगति न हो, वहाँ व्यर्थ दोष माना जाता है।[243] परवर्ती आचार्यों ने इसे व्याहतत्व अर्थ दोष के रूप में व्याख्यात किया है।[244] यह दोष वाक्य, समूह तथा प्रबंधगत होता है। अपार्थ दोष से इसकी भिन्नता इस रूप में निर्दिष्ट की जाती है कि अपार्थ में वाक्यों की एकार्थसिद्धि के अभाव में वाक्यार्थ का बोध ही नहीं होता जब कि व्यर्थ दोष में वाक्यार्थ बोध के पश्चात् पूर्वापरपर्यालोचन से अर्थ विरोध की प्रतीति होती है। निम्नलिखित उदाहरण में 'जहि 'शत्रुवल कृत्स्नं' कथन का 'न हिते कोऽपि विद्वेष्टा' तथा सर्वभूतानुकम्पिनः से विरोध अथवा परस्पर असंगति होने के कारण यहाँ व्यर्थ दोष है—

जहि शत्रुबलं कृत्स्न जय विश्वम्भराभिमाम् ।[245]
न हि ते कोऽपि विद्वेष्टा सर्वभूतानुकम्पिनः ।

दण्डी के मतानुसार यदि वियोग, दुर्घटना अथवा अन्य किन्हीं कारणों से दुःखाभिभूत व्यक्ति परस्पर विरुद्ध अर्थवाली उक्तियों का प्रयोग करें तो उसकी उक्तियों में यह दोष गुणरूप में मान लिया जाता है। [246]

एकार्थ दोष

यदि पूर्वकथित उक्ति का शब्द अथवा अर्थ द्वारा पुनः कथन हो तथा उसमें किसी प्रकार की भिन्नता अथवा अतिरेकपूर्ण वर्णन की विशेषता न रहे तो वहाँ एकार्थ दोष होता है।[247] इसमें शब्द की पुनरुक्ति अर्थपुनरुक्तिसापेक्ष होती है। अर्थपुनरुक्ति के अभाव में शब्दपुनरुक्ति यमक अलंकार हो जाता है। परवर्ती आचार्यों ने इसे पुनरुक्त अर्थदोष माना है तथा कथितपदता नामक वाक्य दोष के रूप में भी वर्णित किया है। निम्नलिखित उदाहरण में[248] उत्काम्' एवं उन्मनयंति तथा 'गम्भीराः' और स्तनयित्नवः' में अर्थगत पुनरुक्ति होने से एकार्थ दोष है। रत्नश्रीज्ञान ने 'अम्भोधराः' तथा 'तडित्वंतः' में भी पुनरुक्ति मानी है क्योंकि दोनों शब्द मेघवाची संज्ञा शब्द हैं। दण्डी का कथन है कि यदि करुणा, विस्मय, हर्ष आदि के अतिरेकपूर्ण वर्णन में इस प्रकार के पुनरुक्त प्रयोग किये जायँ तो वे अलंकार अथवा गुणरूप हो जाते हैं।[249]

ससंशय दोष

जहाँ अभीष्ट अर्थ के निश्चित ज्ञान के लिए प्रयुक्त वचन संशय अथवा अनिश्चयात्मक ज्ञान की स्थिति उत्पन्न करते हैं, वहाँ ससंशय दोष होता है।[250] परवर्ती आचार्यों ने इसे संदिग्ध नामक पददोष तथा अर्थदोष के रूप में विवेचित किया है। जहाँ संदिग्धार्थक वचन प्रहेलिका आदि में संशय उत्पन्न करने के उद्देश्य के प्रयुक्त किये जाते हैं, वहाँ यह दोष गुणालंकार हो जाता है।[251] दण्डी ने इस दोष के स्थिति सापेक्ष उदाहरण देते हुए उनकी गुणदोषमयता सिद्ध की है। पद दोष के रूप में उन्होंने 'आरात्' शब्द के प्रयोग में 'ससंशय' दोष माना है क्योंकि अमरकोष के अनुसार आरात् शब्द दूर और समीप अर्थ का वाचक है जिसके काव्यगत प्रयोग का सही ज्ञान न होने पर ससंशय दोष की सम्भावना बनी रहती है।

अपक्रम दोष

पदार्थों का जिस क्रम से पहले उल्लेख किया गया हो, उसी क्रम से यदि उनका उल्लेख अपेक्षित होने पर भी न किया जाय तो वहाँ अपक्रम दोष होता है।[252] यह दोष यथासंख्य अथवा क्रम अलंकार का विरोधी है। भामह और वामन ने इसे दण्डी की मान्यता के अनुरूप स्वीकार किया है। इसे 'दुष्क्रम' नामक अर्थदोष और 'अक्रम' नामक वाक्य दोष से भिन्न समझना चाहिए। भोज और हेमचंद्र ने क्रमशः 'क्रम भ्रष्ट'

और 'अक्रमत्व' दोष से इसके निकटवर्ती माने हैं। यदि वाक्य में अन्वयविशेष का बोध कराने के लिए कोई प्रयास किया गया हो जिसके कारण तदर्थ क्रमभंग वांछनीय हो तो वहाँ क्रम का उल्लंघन दोष नहीं माना जाता।[253]

शब्दहीन दोष

जहाँ लक्ष्य और लक्षण का क्रम अथवा नियम दृष्टिगोचर न हो, ऐसा शिष्टजन द्वारा अनभिमत शब्द प्रयोग 'शब्दहीन' दोष कहलाता है।[254] शिष्टजन सम्मत शब्द प्रयोग में यह दोष गुणरूप हो जाता है। शिष्टजन पद का अभिप्राय वैयाकरण तथा शास्त्रज्ञ विद्वानों से है। यह दोष अप्रयुक्तत्व तथा च्युतसंस्कारत्व दोष का साम्यवर्ती है। दण्डी का कथन है कि जहां शब्दशास्त्री अथवा शास्त्रकवि अपभाषण के रूप में विशेष शब्दों का प्रयोग करते हैं, वहाँ इस दोष के कारण असौष्ठव अथवा अपकर्ष नहीं होता।[255]

यतिभ्रष्ट भिन्नवृत तथा विसंधि दोष

पद्य रचनाओं में नियतस्थान वाले विरामों अथवा यतिओं के नियमों का उल्लंघन न करने पर 'यतिभ्रष्ट' दोष होता है।[256] इसे 'भग्नयति' यतिभंग तथा हतवृत्त दोष के रूप में भी व्याख्यात किया गया है। यतिभ्रष्ट रचनाओं में जिस प्रकार की श्रवणोद्वेजकता आती है, उसे ध्यान में रखते हुए दण्डी ने इसे श्रवणोद्वेजक दोष माना है। भिन्नवृत्त 'नामक दोष पद्य रचना के उन स्थलों में होता है जहाँ छन्दशास्त्र द्वारा प्रतिपादित वर्ण अथवा वर्णों के नियमों का विधिवत् परिपालन न किया गया हो। वर्णों की अनियमित न्यूनाधिकता अथवा लघुगुरु की अनपेक्षणीय स्थिति इस दोष का कारण कही जाती है।[257] यह दोष सभी स्थितियों में निंदनीय है। दण्डी ने पद्य के विभिन्न पदों में व्याकरण सम्मत संधि न करने पर 'विसंधि' दोष माना है।[258] जहाँ प्रगृह्य संज्ञा आदि के कारण संधि नहीं की जाती वहाँ यह दोष नहीं माना जाता क्योंकि उन स्थितियों में सन्ध्यभाव शास्त्रानुमोदित ही समझा जाता है।

देशादिविरुद्धत्व दोष

दण्डी के मतानुसार काव्य का अन्तिम दोष देशादिविरोधत्त्व है। जहाँ देश, काल, कला, लोक, न्याय और आगम विरोधी तथ्य कवियों के प्रमादवश वर्णित होते हैं, वहाँ इस दोष की स्थिति मानी जाती है।[259] देश के अन्तर्गत वन, पर्वत, जनपद, समुद्र, नगर और ग्राम आदि आते हैं, रात-दिन और ऋतुचर्या 'काल' के अंग हैं; काम और अर्थ के आश्रय रूप साधक नृत्य और गीत आदि चौंसठ कलाएँ हैं, चराचर पदार्थों के व्यवहार क्रम को 'लोक' कहा जाता है, तर्कशास्त्र को न्याय तथा वेदशास्त्र एवं श्रुति-स्मृति ग्रन्थ निगमागम कहे जाते हैं। इन सभी विषयों से सम्बद्ध प्रसिद्ध अथवा अप्रसिद्ध तथ्यों का वर्णन करने से देशकालादि विरोधी दोष की सम्भावना बनी रहती है। दण्डी ने

इस दोष से सम्बन्धित विषयों के पृथक्-पृथक् उदाहरण देते हुए उनकी दोषमयता सिद्ध की है। उनका संक्षिप्त वर्णन निम्नलिखित है—

देश विरोधी काव्य दोष—मलय पर्वत पर कर्पूर वृक्ष नहीं होते तथा कलिंग वन के वृहत्काय हाथी, मृगजाति के न होकर भद्र जाति के होते हैं। यदि इनसे विरुद्ध उनका वर्णन किया जाय तो वहाँ देश विरोधी काव्य दोष होता है। भामह ने मलय पर्वत पर देवदारु वृक्षों के वर्णन में भी यह दोष माना है। रंगाचार्यशास्त्री के अनुसार चोल जनपद में कावेरी नदी का वर्णन करना इसी दोष का उदाहरण है।

कालविरोधी काव्य दोष – कमलिनी दिन में कुमुदिनी रात में खिलती हैं, वानीर वर्षा में विकसित होते हैं। मेघ केवल वर्षाकाल में ही उमड़ते हैं—ये कालानुरूप तथ्य है। इन तथ्यों के विरुद्ध किया गया काव्य-वर्णन काल विरोधी दोष होता है। दिवारात्रि तथा ऋतुचर्या का व्यतिक्रम करने पर इस दोष की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। वर्षाकाल में हंसों का कलरव, शरद ऋतु में केकीनृत्य, हेमंत में सूर्य रश्मियों की प्रखरता तथा शिशिर में चन्दन लेप का वर्णन काल-विरोधी दोष है।

कलाविरोधी दोष—दण्डी ने 'नाट्य' को चौंसठ कलाओं के अन्तर्गत परिगणित करते हुए उससे सम्बद्ध रस दोष को कलाविरोधी दोष के अन्तर्गत माना है। उनके मतानुसार 'रस' रसवत् अलंकार के अंग हैं। वीर और श्रृंगार नामक नाट्य रसों के स्थायी भाव क्रमशः उत्साह और रति है। यदि उनके स्थान पर क्रोध और विस्मय का चित्रण वीर तथा श्रृंगार रस के स्थायी भावों के रूप में किया जाय तो वहाँ कलाविरोधी दोष हो जाता है।[260] दण्डी ने 'पूर्ण सप्तस्वर सोऽयं भिन्नग्रामः प्रवर्तते।[261] के रूप में भी कला दोष की स्थिति स्वीकार की है जिसमें षाडवा और औडविका नामक गीत जातियों से निबद्ध भिन्न ग्राम नामक गति विधान को समग्र सात स्वरों से युक्त कहने पर गीत कला विरोधी दोष होता है। दण्डी का परामर्श है कि चौंसठ कलाओं के विरोध रूप दोष का पूर्ण ध्यान रखते हुए काव्यरचनाएँ की जानी चाहिए जिससे काव्य दोषों के लिए किसी प्रकार का अवकाश न रहे।[262]

लोक विरोधी दोष—दण्डी ने निम्नलिखित उदाहरण में लोकविरोधी दोष माना है जिसमें हाथी की सटाएँ झूल रही हैं, घोड़ों के सींग तीक्ष्ण हैं, एरण्ड का पौधा सुदृढ़ है तथा खदिर वृद्ध सरलता से टूटने योग्य हैं जैसी लोक विरोधी बातें वर्णित की गई हैं। इन वर्णन में जंगम (हाथी, घोड़ा) और स्थावर (एरण्ड, खदिर) पदार्थों के सहज धर्मों का अतिक्रमण हुआ है अतः इसे लोकविरोधी दोष माना गया है—

आधूतकेसरो हस्ती तीक्ष्णश्रृंगस्तुरंगमः।
गुरुसारोऽयमेरण्डो, निस्सारः खदिरद्रुमः।।[263]

न्याय विरोधी दोष—दण्डी ने इस दोष की विवेचना के अन्तर्गत बौद्ध तथा सांख्यदर्शन से सम्बद्ध दो उदाहरण प्रस्तुत किए हैं जिनमें हेतु विद्याओं का विरोध प्रदर्शित है। बौद्ध दर्शन में मानसी सृष्टि रूप संस्कारों की अनित्यता मानी गई है जबकि

निम्नलिखित उदाहरण में उन्हें बौद्धमत के अनुसार नित्य कहा गया है जिसके कारण यहाँ बौद्ध न्याय विरुद्ध दोष की संभावना हो गई है—

सत्यमेवाह सुगतः संस्कारानविनश्वरान् ।
तथाहि सा चकोराक्षी स्थितैवाद्यापि मे हृदि ।।[264]

अर्थ—भगवान बुद्ध ने चित्त के स्मृति हेतु भूत संस्कारों को विनाशरहित कहा है जो सत्य है। तभी तो यह चकोरनेत्री प्रियतम आज भी मेरे हृदय में विराजमान है।

सांख्यदर्शन बिरोधी न्याय दोष का उदाहरण निम्नलिखित हैं जिसमें सांख्य के सत्कार्यवाद सिद्धान्त का विरोध प्रदर्शित हुआ है। सांख्यमत के अनुसार प्रधानीभूत कारण में असत् की उत्पत्ति न होकर सत् की ही उत्पत्ति होती है। निम्नलिखित छंद में उद्भूति का अर्थ केवल उत्पत्ति नहीं है क्योंकि यहाँ 'असत्' के समान ही इसका श्लिष्ट प्रयोग हुआ है—

कापिलैरसदुद्भूतिः स्थान एवोपवर्ण्यते ।
असतामेव दृश्यन्ते यस्मादस्माभिरुद्भवाः ।।[265]

न्याय विरोध रूप दोष का यह क्रम वैशेषिक आदि अन्य दर्शनों के सम्बन्ध में भी समझा जाना चाहिए।

श्रुत्यागम विरोधी दोष—श्रुति के अनुसार आहिताग्नि एवं जातपुत्र मनुष्य को ही वैश्वानरी इष्टि के अनुष्ठान का अधिकार प्राप्त है जिसके विरुद्ध वर्णन होने से निम्नलिखित उदाहरण में श्रुतिरूप आगम विरोधी दोष संभव हो सका है—

अनाहिताग्नेयोऽप्येतेऽजातपुत्रा वितन्वते ।
विप्रा वैश्वानरीमिष्टिमक्लिष्टा चार भूषणाः ।।[266]

दण्डी ने स्मृतिरूप आगम विरोधी दोष के उदाहरण रूप में निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है जिसमें अनुपनीत कुमार को वेदाध्ययन करने के अधिकार की बात कही गई है जो स्मृति विरुद्ध है—

असावनुपनीतोऽपि वेदानधिजगे गुरोः ।
स्वभावशुद्धः स्फटिक को न संस्कारमपेक्षते ।।[267]

दोषों की गुणरूपता

दण्डी का काव्यदोष विवेचन संस्कृत काव्यशास्त्र में विशिष्ट गौरव का अधिकारी है। उन्होंने उपयुक्त उदाहरणों के चयन और संकलन द्वारा उनकी तर्कसंगति सिद्ध की है। उनकी मान्यता है कि देश और काल से सम्बन्धित विरोध यदाकदा कवि के वर्णन-कौशल की सीमा के कारण दोष का अतिक्रमण करता हुआ गुण की परिधि में आ जाता है।[268] दण्डी की इस प्रकार की मान्यता का समर्थन भामह की उस युक्ति से होता है जिसमें उन्होंने 'किंचिदाश्रयसौन्दर्याद् धत्ते शोभामसाध्वपि। कांताविलोचनन्यस्तं मलीमसभिवांजनम्।[269] का मंतव्य व्यक्त किया है।

दण्डी ने दोष विवेचन के पश्चात् कुछ ऐसे उदाहरण प्रस्तुत किए हैं जिनके कारण

दोषों की गुणरूपता सिद्ध होती है। साधारणतः नंदनवन के वृक्षों का मर्त्यलोक में संभावनावर्णन देश विरुद्ध है किंतु जहाँ किसी प्रतापी राजा के प्रभावातिशय का वर्णन करते समय यदि उसका उल्लेख किया जाता है तो वह अपनी आलंकारिक चमत्कृति के कारण देश विरोधी नहीं माना जाता।[270] वर्षा में खिलने वाले कदम्ब पुष्प तथा शरद् ऋतु में विकसित होने वाले सप्तपर्ण पुष्पों का एक साथ वर्णन करना काल विरोधी दोष है किन्तु जब विनाश की सूचना देने के लिए उनका एक साथ वर्णन किया जाता है तो वहां कालविरोधी दोष नहीं रहता।[271] 'अकाले फल पुष्पाणि देशोपद्रवकारणं' के अनुसार फल पुष्पों का असामयिक प्रस्फुटन देश के लिए उत्पातसूचक माना गया है। दण्डी ने दोषों की अनित्यता में विश्वास रखते हुए उनकी स्थिति सापेक्ष गुणमयता व्यक्त की है जिसके अवशिष्ट उदाहरण निम्नलिखित हैं—

1. संगीतशास्त्र के अनुसार शुद्धलययुक्त गीत ही रसिक श्रोताओं की आनंदवृद्धि करता है किन्तु जहाँ कामिनियों का शीत्कार विषमलय रूप में वर्णित किया जाता है, वहाँ वह कामीजनों की अनुरागवृद्धि का कारण बना हुआ गुण रूप बन जाता है।[272]

2. अग्नि की शीतलता तथा चन्द्रमा की उष्णता लोक विरुद्ध है किन्तु जहाँ विरही-जनों पर उनके उद्दीपक प्रभाव का कथन किया जाता है तो वहाँ इस प्रकार के वर्णन लोक विरुद्ध नहीं माने जाते।[273]
3. साधारणतः प्रमेयत्व और अप्रमेयत्व आदि परस्पर विरोधी धर्मों का एक ही आश्रय (परमात्मा) में प्रदर्शित करना तर्कविरुद्ध दोष है किन्तु जहाँ परमात्मा की अचिन्त्यरूपता प्रतिपादित की जाती है, वहाँ उनका एक साथ वर्णन दोषरूप नहीं रहता।[274]
4. भारतीय संस्कृति तथा आगम शास्त्रों के अनुसार एक स्त्री के पाँच पति होना तथा उनके होने पर भी उसे 'सती' मानना शास्त्र विरोधी बात है। किन्तु द्रौपदी के प्रसंग में इस प्रकार के वर्णन दोषमूलक नहीं माने जाते क्योंकि उनमें दैवी विधान का अचिन्त्यत्व स्वीकार किया गया है।[275]

दण्डी ने उपर्युक्त रूपों में काव्य दोषों की गुणमयता सिद्ध करते हुए अपना गुण दोष प्रकरण समाप्त किया है जो उनके 'काव्य लक्षण' में काव्य के शरीरभूत शब्द और अर्थ तथा तद्गत अलंकारों की विवेचना के उपरान्त सुकर और दुष्कर चित्र काव्यप्रकारों के उत्तरवर्ती रूप में निरूपित हुआ है। उनकी निम्नलिखित कारिका उनके काव्यादर्श की प्रयोजनीयता प्रकट करने में पूर्ण समर्थ है—

शब्दार्थलंक्रियाश्चित्रमार्गाः सुकरदुष्कराः।
गुणा दोषाश्च काव्यानामिह संक्षिप्य दर्शिताः॥[276]

संदर्भ

1. दण्डी: काव्यादर्श, 1/1
2. वही 1/2
3. वही 1/3
4. वही 1/32
5. वही 1/4
6. भर्तृहरि: काव्यपदीय 1/50, तथा 1/123-24
7- वही, 1/5
8. दण्डी: काव्यादर्श, 1/105
9. वही
10. भामह: काव्यालंकार, 1/2, वामन काव्यालंकार सूत्रवृत्ति, 1/1/5
11. दण्डी काव्यादर्श, 1/19
12. वही, 1/187
13. दण्डी: काव्यादर्श, 1/103
14. वही 1/104
15. दण्डी: काव्यादर्श, 1/6
16. वही 1/6
17. वही 1/7
18. वही 1/8
19. दण्डी: काव्यादर्श, 1/9
20. वही 1/10
21. दण्डी : काव्यादर्श, 1/12
22. वही, 1/13
23. अग्निपुराण, 337/23-4
24. साहित्यदर्पण, 6/314-5
25. दण्डी काव्यादर्श, 1/14-19
26. वही, 1/20
27. वही, 1/21-2
28-29. वही, 1/23-24
30. वही, 1/28
31 वही, 1/26-27
32. अग्नि पुराण, 337/12

33. हेमचन्द्र : काव्यानुशासन, पृष्ठ 406-8
34. दण्डी : काव्यादर्श, 1/29
35. वही, 1/30
36. वही, 1/32
37. वही, 1/36
38. दण्डी : काव्यादर्श 1/40
39. वही 1/101
40. वामन : काव्यालंकार सूत्रवृत्तिः 1/2/6-22
41. रुद्रट : काव्यालंकार 2/4
42. भोज : सरस्वतीकण्ठाभरण, 2/28
43. विश्वनाथ : साहित्य दर्पण 9/2-5
44. भामह : काव्यालंकार, 1/31-2
45. वामन : काव्यालंकार सूत्रवृत्ति, 1/2/9-10
46. दण्डी : काव्यादर्श, 1/41-2
47. भरतमुनि : नाट्य शास्त्र, 17/95-105
48. वामन : काव्यालंकार सूत्र, 3/1/1
49. दण्डी : अवंतिसुन्दरी कथा, प्रस्तावना, श्लोक 15
50. दण्डी : काव्यादर्श, 1/43
51. वही, 1/44
52. भोज : सरस्वतीकण्ठाभरण, 1/126
53. भरतमुनि : नाट्यशास्त्र, 17/97
54. भामह : काव्यालंकार, 2/3
55. वामन : काव्यालंकारसूत्र, 3/1/6
56. मम्मट : काव्यप्रकाश, 8-70-1
57. दण्डी : काव्यादर्श 1/45
58. वही 1/46
59. दण्डी: काव्यादर्श 1/47
60. वही 1/48
61. वही 1/49
62. वही 1/50
63. दण्डी: काव्यादर्श 2/292
64. वही, व्याख्या भाग 2/52
65. भामहः काव्यालंकार 2/3
66. वामनः काव्यालंकार सूत्र 3/1/21; 2/10
67. मम्मटः काव्यप्रकाश 8/68

68. विश्वनाथ साहित्य दर्पण 8/2
69. दण्डी: काव्यादर्श 2/51
70. दण्डी: काव्यादर्श, 1/61
71. वही 1/62
72. वही 1/63
73. वही 1/65
74. वही 1/66
75. भामह: काव्यालंकार, 1/52
76. भोज: सरस्वतीकण्ठाभरण, 1/17
77. दण्डी: काव्यादर्श, 1/67
78. भामह: काव्यालंकार 1/50-1
79. दण्डी: काव्यादर्श 1/68
80. भोज: श्रृंगार प्रकाश, पृष्ठ 34-9
81. दण्डी: काव्यादर्श, 1/69
82. वही, 1/71
83. भोज: सरस्वतीकण्ठाभरण, 1/128, वृत्ति भाग
84. दण्डी: काव्यादर्श, 1/73
85. भामह: काव्यालंकार 1/38
86. दण्डी: काव्यादर्श, 1/76
87. वही, 1/79
88. दण्डी : काव्यादर्श, 1/80
89. भोज : सरस्वतीकण्ठाभरण, 2/23
90. दण्डी : काव्यादर्श, 1/85
91. भोज : सरस्वतीकण्ठाभरण, 1/44
92. दण्डी : काव्यादर्श, 1/93
93. वही, 1/95
94. वही, 1/97-8
95. वही, 1/101
96. वही, 1/102
97. वही, 2/1
98. वही, 2/3
99. वही, 2/367
100. मम्मट : काव्यप्रकाश 8/67 वृत्ति भाग
101. दण्डी : काव्यादर्श, 2/8
102. वही, 2/14

103. वही, 2/51
104. भामह : काव्यालंकार, 2/39-40
105. वामन : काव्यालंकारसूत्र, 4/2/8/21
106. रुद्रट : काव्यालंकार, 11/24
107. दण्डी : काव्यादर्श, 2/56
108. वही, 2/57-65
109. केशवमिश्र, अलंकारसर्वस्व, पृ० 38-49
110. दण्डी : काव्यादर्श, 2/66
111. वही, 2/96
112. वही, 2/97
113. विश्वनाथ : साहित्यदर्पण, 10/48
114. दण्डी : काव्यादर्श, 2/115
115. वही, 2/116
116. भोज : सरस्वतीकण्ठाभरण, 4/78,
विश्वनाथ साहित्यदर्पण, 10/48-9
मम्मट : काव्यप्रकाश, 10/103 वृत्ति
117. चन्द्रलोक 5/46-7,
कुवलयानंद 49-50
118. दण्डी : काव्यादर्श, 2/169
119. वही, 2/170-1
120. मम्मट : काव्यप्रकाश, 10/109
121. विश्वनाथ : साहित्यदर्पण, 10/61-2
122. दण्डी : काव्यादर्श, 2/172-9
123. वही, 2/199
124. विश्वनाथ : साहित्य दर्पण, 10/66
125. दण्डी काव्यादर्श, 2/203
126. वही, 2/204
127. वही, 2/205
128. वही, 2/212
129. वही, 2/214
130. वामन : काव्यालंकारसूत्र, 4/3/10
131. मम्मट : काव्यप्रकाश, 10/100-1
132. विश्वनाथ : साहित्यदर्पण 10/46-7
133. दण्डी : काव्यादर्श, 2/220
134, भामह : काव्यालंकार, 2/85

135. ध्वन्यालोक, 3/37 वृत्ति
136. सरस्वतीकठाभरण, 4/84
137. काव्यप्रकाश 10/136 वृत्ति,
138. दण्डी : काव्यादर्श, 2/221
139. विश्वनाथ : साहित्यदर्पण, 10/40
140. वही, 10/46 वृत्ति
141. रुय्यक : अलंकार सर्वस्व, पृष्ठ 297
142. लिम्पतीव तमोऽङ्गांनि वर्षं तीवांजनंनभः ।
इतीदमपि भूयिष्ठभुत्प्रेक्षालक्षणान्वितम् ॥2/226
143, दण्डी : काव्यादर्श 2/234
144. वही, 2/235
145. भामह: काव्यालंकार 2/86
146. भोज : सरस्वतीकण्ठाभरण, 3/19-21
147. दण्डी : काव्यादर्श, 2/236
148. वही, 2/240
149. गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः ।
इत्यमेवमादि किं काव्यं वार्तामिनां प्रचक्षते ॥
(काव्यालंकार, 2/87)
150. दण्डी : काव्यादर्श, 2/244
151. वही, 2/253-4
152. वही, 2/260
153. वही, 2/261
154. वही 2/265
155. विश्वनाथ : साहित्यदर्पण 10/92
156. दण्डी : काव्यादर्श, 2/5
157. वही 2/266
158. वही 2/273
159. वही, 2/275
160. वही, 2/281
161. कुंतः वक्रोक्ति जीवितः 3/11-2 वृत्ति
162. भोजः सरस्वतीकण्ठाभरण, 5/172 वृत्ति
163. दण्डीः काव्यादर्श 2/292
164. वही 2/295
165. विश्वनाथः साहित्यदर्पण, 10/60
166. जयदेवः चन्द्रालोक, 5/66

167. दण्डी: काव्यादर्श. 2/297
168. वही 2/298
169. वही 2/299
170. वही 2/300
171. विश्वनाथ, साहित्यदर्पण 10/94
172. दण्डी काव्यादर्श, 2/301
173. वही 2/304
174. विश्वनाथ: साहित्यदर्पण, 10/38
175. भोज: सरस्वतीकण्ठाभरण 4/41-3
176. दण्डी: काव्यादर्श 2/310
177. विश्वनाथ: साहित्यदर्पण 10/11-12
178. दण्डी: काव्यादर्श 2/314-5
179. दण्डी: काव्यादर्श, 2/323
180 विश्वनाथ: साहित्यदर्पण 10/67
181: दण्डी: काव्यादर्श, 2/324
182. वही 2/330
183. दण्डी: काव्यादर्श, 2/331
184. वही 2/332
185. वही 2/333
186. विश्वनाथ: साहित्यदर्पण 10/110
187. दण्डी: काव्यादर्श 2/340
188. दण्डी : काव्यादर्श, 2/341
189. वही, 2/343
190. वही, 2/344
191. वही, 2/346
192. वही, 2/348
193. विश्वनाथ : साहित्यदर्पण, 10/51
194. दण्डी : काव्यादर्श, 1/349
195: वही, 2/350
196. वही, 2/351
197. वही, 2/352
198. वही, 2/354
199. विश्वनाथ : साहित्य दर्पण 10/80
200. भोज : सरस्वतीकण्ठाभरण, 3/29
201. दण्डी : काव्यादर्श, 2/357

202. भामह : काव्यालंकार, 3/55
203. विश्वनाथ : साहित्य दर्पण, 6/195
204. दण्डी : काव्यादर्श, 2/358
205. वही, 2/359
206. वही, 2/360
207. वही, 2/361-2
208. वही, 2 363
209. भामह : काव्यालंकार, 2/85
210. सरस्वतीकण्ठाभरण 5/8
211. दण्डी : काव्यादर्श : 2/36
212. वही, 3/1
213. वही, 1/61
214. विश्वनाथ : साहित्यदर्पण, 10/8
215. दण्डी : काव्यादर्श, 3/2
216. वही, 3/51
217. वही, 3/51
218. वही, 3/53
219. वही, 3/53
220. वही, 3/67
221. वही, 3/70
222. वही, 3/73
223. रुद्रट : काव्यालंकार, 5/3
224. दण्डी: काव्यादर्श 3/78
225. रुद्रट: काव्यालंकार 5/1
226. वही, 5/24
227. भोज: सरस्वतीकंठाभरण, 2/109
228. दण्डी: काव्यादर्श, 3/78
229. वही 3/80
230. वही 3/96
231. वही, 3/96
232. रुद्रट: काव्यालंकार, 5/24
233. भोज: सरस्वती कण्ठाभरण, 2/133
234. दण्डी: काव्यादर्श, 3/108-24
235. मम्मट: काव्यप्रकाश, 7/49
236. दण्डी: काव्यादर्श, 1/6

237. वही, 1/7
238. वही, 3/125-6
239. वही, 3/128
240. वही, 3/128
241. भामह: काव्यालंकार, 1/54
भोज: सरस्वतीकंठाभरण, 1/89
242. दण्डी काव्यादर्श, 3/129
243. वही, 3/131
244. मम्मट: काव्यप्रकाश, 7/55
245. दण्डी काव्यादर्श, 3/132
246. वही, 3/133
247. वही 3/135
248. वही, 3/136
उत्कामुन्मनयन्त्येते बालां तदलकत्विषः,
अम्भोधरास्तडित्वंतो गम्भीराः स्तनयित्नवः
249. वही, 3/137
250. वही, 3/139
251. वही, 3/141
252. वही 3/144
253. दण्डी: काव्यादर्श 3/146
254. वही, 3/148
255. वही, 3/151
256. वही, 3/152
257. वही, 3/156
258. वही, 3/159
259. दण्डी : काव्यादर्श, 3/162-4
260. वही, 3/170
261. वही, 3/170
262. वही, 3/171
263. वही, 3/172
264. वही, 3/174
265. वही, 3/175
266. वही, 3/177
267. वही, 3/178

268. दण्डी काव्यादर्श, 3/179
269. भामह : काव्यालंकार, 1/55
270. दण्डी : काव्यादर्श, 3/180
271. वही, 3/181
272, वही, 3/182
273. वही, 3/183
274. वही, 3/184
275. वही, 3/185
276. वही, 3/186

वामन : 'काव्यालंकारसूत्र'

'काव्यालंकारसूत्र' का प्रतिपाद्य

आचार्य वामन का कार्यकाल ईसा की नवम् शताब्दी के प्रथम चरण के आस-पास माना जाता है। 'काव्यालंकारसूत्र' उनका एकमात्र लक्षण ग्रंथ है जिसमें उन्होंने सूत्र, वृत्ति तथा उदाहरणों द्वारा काव्यशास्त्रीय विषयों का विवेचन किया है। इसमें पाँच अधिकरण हैं जिन्हें क्रमशः 'शारीर', 'दोष दर्शन', 'गुण विवेचन', 'आलंकारिक' तथा 'प्रायोगिक' नामों से अभिहित किया गया है। प्रत्येक अधिकरण में भिन्न-भिन्न अध्याय हैं जिनमें काव्य-लक्षण, काव्य-प्रयोजन, रीति-तत्त्व, काव्यांग-भेद, दोष-दर्शन, तथा गुणालंकार आदि विषयों का विवेचन हुआ है। सूत्रवृत्ति की शैली में लिखा गया यह एक आदर्श लक्षण ग्रंथ है। जिसके अनुशीलन द्वारा काव्यशास्त्रीय परम्परा के अनेक पक्षों का अन्तर्बोध किया जा सकता है। वामन की काव्यालंकार विषयक मान्यताएं उनके पूर्ववर्ती तथा समकालीन विचार-सूत्रों की परिणति है जिनके माध्यम से उन्होंने परवर्ती आचार्यों को भी चिंतन सामग्री प्रदान की है। उनका रीति-सिद्धान्त उन्हें संस्कृत काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में आचार्य-कोटि प्रदान करने वाला है।

काव्य के लक्षण और प्रयोजन

वामन की काव्य-विवेचना अलंकार तत्त्व पर आधारित है। वे प्रारम्भ से ही 'काव्यं ग्राह्यमलंकारात्'[1] की धारणा लेकर चले हैं जिसमें अलंकार को सौन्दर्य-स्वरूप (सौन्दर्यमलंकारः)[2] माना गया है। जब तक काव्य में अलंकार का संयोग नहीं होता, वह काव्य-पद का अधिकारी नहीं हो सकता। सौन्दर्य और अलंकार एक-दूसरे से भिन्न नहीं है। अलंकार गुणधर्मी है जिसका यह तात्पर्य है कि उसमें गुणसमष्टि स्वतः निहित रहती है। गुणों और अलंकारों के सन्निवेश से काव्य सौन्दर्यशाली बनता है। जिसका आधार लेकर काव्य के शरीरभूत शब्द और अर्थ अलंकृत होते हैं। वस्तुतः सौन्दर्य अथवा अलंकार ही काव्य का आधायक तत्त्व हैं। अलंकार का अभिप्राय 'भावार्थक अलंकृति' है जिसे करण में घञ् प्रत्यय द्वारा व्युत्पन्न मानने पर वह उपमा और रूपक आदि प्रसिद्ध अलंकारों का बोध कराता है। वामन ने भाव में घञ् प्रत्यय करते हुए 'अलंकार' पद की सिद्धि की है जिसका तात्पर्य यह है कि तत्त्वतः वह सौन्दर्य का साधन अथवा कारण न

होकर साक्षात् सौन्दर्य स्वरूप है। अपनी इस स्थिति के कारण वह काव्य का स्वरूपाधायक तत्त्व सिद्ध होता है जिसे कटक कुण्डल आदि के तुल्य बाह्य अलंकरण मात्र नहीं माना जा सकता।

वामन ने काव्य को सौन्दर्यस्वरूप कहकर 'सदोष गुणालंकारहानादानाभ्याम्'[3] सूत्र द्वारा उसे दोषों के दान (परित्याग) तथा गुणों एवं अलंकारों के उपादान से ग्राह्य माना है। इन सबका सम्यक् बोध शास्त्र के अध्ययन द्वारा सम्भव है। जिनका विश्लेषण काव्यशास्त्रीय ग्रंथों में वैशद्यपूर्वक किया गया है। वामन ने काव्य को स्वभावतः सुन्दर मानकर उसके प्रयोजन निर्दिष्ट किए हैं। उसका दृष्ट प्रयोजन 'प्रीति' तथा अदृष्ट प्रयोजन 'कीर्ति' है। प्रीति की प्रयोजनीयता कवि तथा पाठक दोनों के लिए है। ऐहिक अथवा लौकिक फल प्रदाता होने के कारण उसे 'दृष्ट' कहा जाता है। कीर्ति का सम्बन्ध मूलतः कवि-कर्म से जुड़ा हुआ है। जिसके कारण कवि अपनी कृतियों द्वारा जीवन तथा मृत्यु के पश्चात् भी 'यशः कायेन जीवति' की कहावत चरितार्थ करता है। कीर्ति को काव्य का आमुष्मिक फल भी कहा जाता है। वामन ने इसी संदर्भ में कुछ संग्रह श्लोक उद्धृत किये हैं जिनमें काव्य का प्रयोजिनी कीर्ति की प्रशंसा तथा अपयश की निंदा की गई है—

[4]प्रतिष्ठां काव्यबंधस्य यशसः सरणिं विदुः।
अकीर्तिवर्तिनी त्वेवं कुकवित्व विडम्बनाम्॥
कीर्तिं स्वर्गफलमाहुरासंसार विपश्चितः।
अकीर्तिं तु निरालोकनरकोद्देशदूतिकाम्॥[4]

काव्य के अधिकारी और विषय

वामन ने काव्य के प्रयोजन का निरूपण करने के पश्चात् उसके अधिकारी तथा विषय की चर्चा की है क्योंकि वे दोनों काव्य के 'अनुबंध चतुष्टय' से सम्बन्धित हैं। अधिकारी की दृष्टि से कवियों के दो भेद हैं जिन्हें 'अरोचकी' तथा 'सतृणाभ्यवहारी' कहा गया है।[5] ये दोनों पद सादृश्यमूला गौणी लक्षणा के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। जिनके लाक्षणिक अर्थ 'विवेकी' तथा 'अविवेकी' हैं। 'अरोचकी' कवि उन्हें कहा जाता है जिन्हें काव्य रूपी भोज्य पदार्थों में किसी भी प्रकार का विपर्यास (गड़बड़ी) ग्राह्य नहीं होता क्योंकि उनकी रचना स्वाद्य और अस्वाद्य वस्तुओं की चर्वणा का विवेक करने में अत्यधिक अभ्यस्त होती है। उनके विपरीत 'सतृणाभ्यवहारी' कवियों को इस बात का पता ही नहीं चलता कि अस्वाद्य पदार्थ में रस प्रतिकूल पदार्थों का मिश्रण किस रूप में हुआ है। तृण मिश्रित भोजन की भाँति उन्हें दोष मिश्रित काव्य पदार्थों की सही पहिचान ही नहीं होती। अतः वे पदार्थों की भक्ष्याभक्ष्यता तथा काव्य की सरसताविरसता का निर्णय ही नहीं कर पाते। उनमें नीर क्षीर विवेक का अभाव देखकर ही उन्हें सतृणाभ्यवहारी अथवा अविवेकी कहा गया है। वामन ने उपर्युक्त प्रकारों में कवियों के जो भेद निरूपित किए हैं, वे राजशेखर द्वारा भावक पक्ष में भी प्रयुक्त किए गए हैं। वस्तुतः

विवेकी कवि ही शास्त्र ज्ञान के अधिकारी अथवा उपदेश के पात्र हैं जिनकी सूझ-बूझ में यथार्थ निर्णय की अद्‌भुत क्षमता होती है। सतृणाभ्यवहारी कवि तथा भावक काव्य रचना और काव्य-समीक्षा के अनधिकृत पात्र हैं जिनका निदर्शन 'न कतकं पंक प्रसादनाय'[6] सूत्र द्वारा प्रस्तुत किया गया है। उसका यह अभिप्रय है कि जिस प्रकार कतक (निर्मली अथवा वृक्ष विशेष का फल) को पीसकर जल में डालने से जल तो स्वच्छ हो जाता है किन्तु उससे कीचड़ स्वच्छ नहीं हो पाता, उसी प्रकार अज्ञानी व्यक्ति शास्त्र के अनुशीलन यथा अध्ययन द्वारा ज्ञान प्राप्ति तो कर सकते हैं किन्तु उनमें विवेकशीलता न होने के कारण वे अच्छे-बुरे का निर्णय नहीं कर पाते।

रीति सिद्धांत की प्रतिष्ठा

वामन ने काव्य के लक्षण, प्रयोजन और अधिकारी की चर्चा करने के पश्चात् 'रीति सिद्धांत' नामक अपने प्रतिपाद्य विषय की विवेचना का उपक्रम किया है। उस सिद्धांत का मूल सूत्र 'रीतिरात्मा काव्यस्य'[7] है जिसका अर्थ रीति ही काव्य की आत्मा है। इस लक्षण का वाक्य शेष 'शरीरस्येवेति (शरीर के समान) है जिसके संयोजन से काव्य-लक्षण की पूर्ण संगति होती है। शब्द और अर्थ-काव्य के शरीर स्थानीय हैं जिनमें रीति-तत्त्व जीवनाधायक पदार्थ के रूप में प्रतिष्ठित रहता है। वामन ने 'विशिष्ट पद रचना रीति:'[8] तथा 'विशेषोगुणात्मा'[9] सूत्रों द्वारा इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है कि उत्तम पद रचना की शैली ही रीति है जिसमें वक्ष्यमाण गुणों का अस्तित्व उसके 'विशेष' तत्त्व के रूप में निहित रहता है।

रीतियों के भेद

वामन ने वैदर्भ, गौडीया और पांचाली नामक तीन रीति-भेद माने हैं।[10] उन्होंने अपनी ओर से स्वत: यह प्रश्न उठाया है कि क्या काव्यों के द्रव्यगुण अथवा वैशिष्ट्य की उत्पत्ति देश विशेष के कारण होती है। जिसके हेतुत्व से विदर्भ, गौड और पांचाल आदि देश विशेषों से उनका नामकरण किया गया है। इसका उत्तर देते हुए उन्होंने लिखा है कि न तो देश विशेष से द्रव्यगुण अथवा काव्य विशेष की उत्पति होती है और न उनके कारण ही रीतियों के नामकरण किए गए हैं। वस्तुत: विदर्भ आदि देशवासियों ने विशेष-विशेष प्रकार की रचना-शैलियों के आविष्कार किए हैं अत: उन देशों के नाम पर ही रीतियों के भी नाम रखे गए हैं। विदर्भ आदि देशों में आविष्कृत अथवा दृष्ट होने के कारण उन देशों के नाम पर प्रचलित रीतियों का उल्लेख 'विदर्भादिषु दृष्टत्वात् तत्समाख्या'[11] सूत्र में हुआ है।

वैदर्भी रीति

वामन ने वैदर्भी रीति को 'समग्रगुणा' कहा है जिसके अनुसार यह रीति ओज, प्रसाद और माधुर्य आदि शब्दगुणों और अर्थगुणों से समाविष्ट होती है। वह सम्पूर्ण काव्य-

दोषों से रहित तथा समस्त काव्यगुणों से युक्त होने के कारण 'विपंची स्वरसौभाग्या' अर्थात् वीणा के स्वरों के समान मधुर कहलाती है। उसका संस्तव करते हुए कवियों ने तो यहाँ तक कहा है कि अपने वर्ण्य विषय के अभिव्यंजक शब्दों और अर्थों पर किसी सुयोग्य कवि का चाहे कितना ही अधिकार क्यों न हो, किन्तु यदि उसे वैदर्भी रीति में काव्य-रचना करने का प्रावीण्य अथवा कौशल प्राप्त नहीं तो वह अपनी रचनाओं के रूप में वाणी का मधुरस परिस्रवित नहीं कर सकता। इस विषय में निम्नलिखित संग्रह श्लोक उल्लेखनीय है—

अस्पृष्टा दोषमात्राभिः समग्रगुणगुम्फिता।
विपंचीस्वर सौभाग्या वैदर्भी रीतिरिष्यते।।
सति वक्तरि सत्यर्थे सति शब्दानुशासने।
अस्ति तन्न विना येन परिस्रवति वाङ्मधु।।[12]

वामन ने वैदर्भी रीति के उदाहरण में अभिज्ञान शाकुन्तलम् के द्वितीय अंक का षष्ठ श्लोक उद्धृत किया है जिसका भावार्थ यह है कि महाराज दुष्यंत के मन में शकुन्तला के प्रति प्रणय भावना उत्पन्न हो जाने के कारण उन्होंने मृगयानुराग से विमुख होकर वन के सभी प्राणियों और अपने धनुष को विश्राम का आदेश देना ही अपने लिए प्रीतिकर माना है। उस छंद में वामन ने सभी काव्य गुणों का समाहार सिद्ध किया है।

गौडीया रीति

वामन के मतानुसार गौडीया रीति सर्वगुणसम्पन्न नहीं होती। उसमें केवल ओज और कांति नामक गुण ही पाये जाते हैं। अतः उसे 'ओजःकांतिमती गौडीया'[13] कहा गया है। माधुर्य और सौकुमार्य आदि गुणों के अभाव से यह रीति समासबहुला और अत्युल्वणपदा (अत्यन्त उग्र पदोंवाली) होती है। वामन ने बंध की गाढ़ता तथा पदों की उज्ज्वलता की कारणरूपता में ओज ओर कांति गुण माने हैं जिनसे समन्वित कोई भी रचना गौडीया रीति का अपूर्व उदाहरण सिद्ध हो सकती है। इस रीति के स्वरूप-बोध के विषय में निम्नलिखित श्लोक उल्लेखनीय है—

समस्तात्युद्भटपदामोजः कांतिगुणान्विताम्।
गौडीयामिति गायंति रीतिं रीति विचक्षणाः।।[14]

पांचाली रीति

माधुर्य और सौकुमार्य गुणमयी रीति का नाम पांचाली है। उसमें ओज और कांति गुणों का अभाव होने के कारण उसके पद ओज रहित और विच्छाय होते हैं। इस रीति का लक्षण निम्नलिखित श्लोक में निरूपित है। जिसमें उसे अश्लिष्टश्लथभावा, पूरणछायाश्रिता, मधुरा और सुकुमारा कहा गया है—

अश्लिष्टश्लथभावां तां पूरणच्छाययाश्रिताम्।
मधुरां सुकुमारां च पांचालीं कवयो विदुः।।[15]

रीति और काव्य-रचना

वामन ने त्रिविध रीतियों के अंतर्गत काव्य का स्वरूप समायोजित किया है। उनका कथन है कि जिस प्रकार रेखाओं के भीतर चित्र प्रतिष्ठित होता है, उसी प्रकार रीतियों में काव्य का स्वरूप समाविष्ट रहता है।[16] रीतियों का अपना-अपना सापेक्षिक महत्त्व और तारतम्य है। समस्त गुणों की अधिष्ठात्री मानी जाने वाली वैदर्भी रीति जितनी अधिक सुग्राह्य होती है उतनी अन्य रीतियां नहीं हो सकतीं। गौडीया और पांचाली रीतियाँ अल्पगुण वाली होती हैं जिनमें क्रमशः ओज और कांति तथा माधुर्य और सौकुमार्य गुणों का ही समावेश रहता है। उनका अपना निजी वैशिष्ट्य तथा महत्त्व अवश्य है, किन्तु वे वैदर्भी का वर्चस्व नहीं पा सकती।

वैदर्भी रीति का वर्चस्व

वामन की भांति अनेक लब्ध प्रतिष्ठ विद्वानों और कवियों ने भी वैदर्भी रीति का गुणगान किया है। महाकवि बिल्हण ने उसे श्रवण सुधा की निर्मेघवृष्टि तथा वाणी वैभव की जन्भूममि माना है जिसके कारण कविजन सौभाग्य पदवी प्राप्त करते हैं।[17] कविवर पद्मगुप्त परिमल के मतानुसार वैदर्भी रीति सर्वश्रेष्ठ काव्यमार्ग है जिसका अनुसरण करना तलवार की धार पर चलने के समान कठिन है।[18] महाकवि नीलकण्ठ ने उसे आह्लादजनक वस्तुओं में प्रथम तथा वाग्देवता की प्राणस्वरूपा कहा है जिसका अवलम्बन करने से कविजन कवित्व शक्ति की पराकाष्ठा पर पहुँच जाते हैं।[19] उनका तो यहां तक कहना है कि वैदर्भी के सम्मुख स्वर्ग तथा अपवर्ग का सुख सौभाग्य भी नगण्य है। महाकवि श्री हर्ष ने उसे वैदर्भी (विदर्भ देश की राजकुमारी दमयंती) के तुल्य माना है जिसने अपने सौन्दर्य और लावण्य आदि गुणों के द्वारा नैषध राज नल को अपनी ओर आकृष्ट कर लिया था।[20] आचार्य वामन के मतानुसार उसे ऐसी लोकोत्तर पदरचना कहा जा सकता है जिसमें निबद्ध होकर तुच्छ अथवा असत् वस्तु भी अलौकिक चमत्कारपूर्ण हो जाती है। वह सहृदयजनों की श्रोतशष्कुली में अमृत वर्षण करती हुई उन्हें परम आह्लादित कर देती है। उसका शब्द पाक अनिर्वचनीय आनंद जनक और सौंदर्यबोधक है। इस विषय में निम्नलिखित छंद उल्लेखनीय हैं जिनमें वैदर्भी रीति का गुण गौरव अभिशंसित हुआ है—

किन्त्वस्ति काचिदपरैव पदानुपूर्वी
यस्यां न किंचिदपि किंचिदिवावभाति।
आनंदयत्यथ च कर्णपथं प्रयाता
चेतं सतामममृतवृष्टिरिव प्रविष्टा॥
वचसि यमधिगम्य स्पन्दते वाचक श्री—
वितथमवितथत्वं यत्रवस्तु प्रयाति।

उदयति स तादृक् क्वापि वैदर्भरीतौ
सहृदय हृदयानां रंजक: कोऽपि पाक: ।।[21]

वैदर्भी का रचनाक्रम स्वायत्त (निरपेक्ष) है

कतिपय विद्वानों के मतानुसार पांचाली यथा गौडीया रीति से सम्बद्ध काव्य रचनाएँ करते-करते वैदर्भी रीति में भी दक्षता प्राप्त की जा सकती है। वामन इस धारणा से सहमत नहीं है। उनका कथन है कि जिस प्रकार अतत्त्व के अभ्यास से तत्त्व की उपलब्धि नहीं की जा सकती, उसी प्रकार पांचाली और गौडीया रीति का आभ्यासिक कवि वैदर्भी में निपुणता नहीं प्राप्त कर सकता।[22] उन्होंने इसका उदाहरण ने शणसूत्र वानाभ्यासे त्रसरसूत्रवान वैचित्र्यलाभ:' सूत्र में निरूपित किया है।[23] उसका अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार सन की सुतली से टाटपट्टी बुनने वाला व्यक्ति अपने उस अभ्यास वश टसर के सुन्दर रेशमी वस्त्र बुनने में कौशल प्राप्त नहीं कर सकता, उसी प्रकार पांचाली और गौडीया रीति के अभ्यास मात्र से वैदर्भी मार्ग की रचना पटुता प्राप्त नहीं की जा सकती। इस मान्यता की पुष्टि योगदर्शन प्रयुक्त 'सम्प्रज्ञात' तथा 'असम्प्रज्ञात' समाधियों के साधनाभेद से भी की जा सकती है।[24] जिस प्रकार प्रथम प्रकार की समाधि के साधन के लिए द्वितीय प्रकार की समाधि-साधना सम्भव और सापेक्षिक नहीं है, उसी प्रकार पांचाली और गौडीया में अभ्यस्त कविजनों के लिए भी वैदर्भी का कर्तृत्व सुसाध्य नहीं होता। सच तो यह है कि वैदर्भी रीति का क्षेत्र सर्वथा भिन्न और स्वतंत्र है। वह समास रचना के अभाव में भी उत्कृष्ट और शुद्ध मानी जाती है।[25] उसकी अर्थगुण-सम्पदा पूर्ण रूप से आस्वाद्य और आह्लादकारिणी होती है।[26] उसमें समायोजित अर्थ गुणों का लेशमात्र भी जब आस्वाद्य माना जाता है तो समग्र अर्थ गुणों का प्रकाशन तो उसे और भी अधिक सुन्दर और सहृदयजनसंवेद्य बना सकता है। वामन ने वैदर्भी की प्रशंसा करते हुए उसे 'साऽपि वैदर्भी तात्स्थात्[27] सूत्र द्वारा और भी अधिक स्पष्ट किया है। उन्होंने 'मंचा: क्रोशंति उदाहरण में तात्स्थ्य सम्बन्ध से होने वाली लक्षणा वृत्ति के गौण रूप का उल्लेख करते हुए बतलाया है कि जैसे मंचस्थ पुरुषों के लिए मंच शब्द का प्रयोग उपचार मात्र है, उसी प्रकार वैदर्भी रीति में स्थित अर्थगुण सम्पदा के लिए भी उपचार लक्षणा से ही वैदर्भी शब्द का प्रयोग किया जाता है। इस विषय में भामह तथा कुंतक उनसे भिन्न दृष्टिकोण रखते हैं जिनका विवेचन उनके मत विश्लेषण के प्रसंग में किया गया है।

काव्य के अंग और भेद

काव्यांगों की त्रिविधता

वामन ने काव्य के अंगों को उसके अवयव रूप में विवेचित न कर उसके साधनों के रूप में निरूपित किया है जिसका उल्लेख 'लोकोविद्या प्रकीर्णं च काव्यांगानि'[28]

सूत्र में हुआ है। 'लोक' पद में स्थावर और जंगम रूप में विद्यमान सम्पूर्ण जगत का लोक व्यवहार समाविष्ट है। 'विद्या' पद चतुर्दश अथवा अष्टादश प्रकार की विद्याओं का वाचक है। प्रकीर्ण पद में काव्य के अवशिष्ट सभी साधन सम्मिलित हैं जिनमें काव्यों का ज्ञान, काव्यमर्मज्ञों की सेवा, पद-निर्वाचन की सावधानी, स्वाभाविक प्रतिभा और उद्योग आदि अनेक रूप समन्वित रहते हैं। इन साधनों के आधार पर अपनी-अपनी क्षमता के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार के कवि अपना रचना-कौशल प्रदर्शित करते हैं। वामन प्रतिपादित 'काव्यांग' काव्यहेतुओं के पर्याय हैं जिन्हें विवेचित करने की शास्त्र-परम्परा प्रारम्भ ही से प्रचलित रही है। वामन ने उपर्युक्त काव्यांगों का स्पष्टीकरण जिस रूप में किया है, वह प्रकारान्तर से भामह, दण्डी, कुंतक, मम्मट और विश्वनाथ आदि आचार्यों को भी सुमान्य रहा है यद्यपि उनकी निरूपणप्रक्रिया में सामान्य अंतर अवश्य है। 'लोकवृत्त' को वामन ने 'लोक-स्थावर जंगमात्मा। तस्य वर्तनं वृत्तमिति'[29] कहा है। 'विद्या' पद की व्याख्या 'शब्दस्मृत्य भिधान कोशच्छन्दोविचितिकला—कामशास्त्र दण्डनीतिपूर्वा विद्याः'[30] सूत्र में सन्निहित है। इस सूत्र में 'शब्दस्मृति' को प्रथम स्थान पर रखने का यह प्रयोजन है कि वह 'व्याकरण' रूप में समस्त विधाओं की अधिष्ठात्री मानी गई है जिसके बिना भाषा का विशुद्ध ज्ञान नहीं हो सकता। शब्द प्रयोग की साधुता अथवा शुद्धता वाङ्मय-विमर्श का अनिवार्य पक्ष है जिसका प्रतिपादन वैदिक साहित्य और वेदांगों के कार्यकाल से ही किया जाता रहा है। पतंजलि ने उसे व्याकरण का प्रयोजन माना है तो भामह और दण्डी उसे सभी दृष्टियों से सुग्राह्य सिद्ध करते हैं। दुष्प्रयुक्त शब्द कवियों की अपकीर्ति अथवा निंदा का हेतु अथवा विषय है जिसे कुपुत्र की भाँति काव्य कुल का कलंक ही समझना चाहिए। इस विषय में निम्नलिखित कथन उल्लेखनीय है—

यस्तु प्रयुंक्ते कुशलो विशेषे शब्दान् यथावद् व्यवहारकाले।
सोऽनंतमाप्नोति जयं परत्र वाग्योगविद् दुष्यति चापशब्दैः ।।[31]

सर्वथा पदमप्येकं न निगाद्यमवद्यवत् ।
विलक्ष्मणा हि काव्येन दुःसुतेनेव निन्द्यते ।।[32]
गीर्गोः कामदुधा सम्यक् प्रयुक्ता स्मर्यतेबुधैः ।
दुष्प्रयुक्ता पुनर्गोत्वं प्रयोक्तुः सैव शंसति ।।[33]

विद्याँगभूत इतर साधन

पदों के अर्थों का निश्चय अभिधान कोष से किया जाता है। उसके द्वारा काव्य रचना में प्रवेशयोग्य पदों का निश्चय हो जाने पर इस बात का संदेह नहीं रहता कि अर्थ की दृष्टि से कौन से पद ग्राह्य हैं तथा कौन से पद त्याज्य माने जाने चाहिए। कोश की सहायता से नये-नये शब्दों और अर्थों का बोध होने के कारण उन्हें काव्यप्रयुक्त करने की दिशा में कवियों की अभिरुचि बढ़ती है। वामन का मत है कि अभिधान कोश द्वारा अभिनव शब्दों का अर्थज्ञान भले ही कर लिया जाय, किन्तु किन्हीं विशेष शब्दार्थों को

काव्य-प्रयुक्त करने की परम्परा न रहने से उनका प्रयोग 'अप्रयुक्तत्व' जैसे काव्यदोषों का उद्भावक भी हो सकता है।[34] 'हम् हिंसागत्योः' धातु पाठ के अनुसार 'हम्' धातु गत्यर्थक भी है किन्तु काव्य रचनाओं में उसके गमनार्थक प्रयोग की परम्परा न होने के कारण 'कुंज हन्ति कृशोदरी' पंक्ति में 'हन्ति' का गमनार्थक प्रयोग अप्रयुक्तत्व दोष माना जाता है। कोश के अनुगार 'पद्म' शब्द पुंल्लिग और नपुंसकलिंग दोनों रूपों में प्रयुक्त हो सकता है किंतु काव्य में उसका पुंल्लिगवत् प्रयोग वर्जित है। शब्दार्थों की संदिग्धता भी दोषमूलक समझी गई है। वामन ने 'नाममाला' के अनुसार 'नीवी' शब्द का अर्थ 'नीवी संग्रथनं नार्या जघनस्थस्य वाससः' करते हुए बतलाया है कि यह शब्द नारियों के वस्त्रग्रंथिबंधन के अर्थ में ही रूढ़ है किन्तु यदि उसका प्रयोग पुरुष के वस्त्रग्रंथिबंधन के लिए किया जाय तो वह प्रयोक्ता के अज्ञान का ही सूचक होगा। उपचार लक्षणा अथवा गौणी वृत्ति से किये जाने वाले इस प्रकार के दोषमूलक नहीं माने जाते।

छंदोविचित अथवा छन्दशास्त्र छन्दविषयक संशय का निवारक है। यों तो काव्य रचना के अभ्यासवश कवियों में वृत्तसंक्रांति (छंद विषयक निपुणता) होती है किन्तु मात्रिक छंदों में उन्हें कहीं-कहीं संशय भी हो सकता है जो छन्दशास्त्र के ज्ञान से दूर किया जा सकता है। कलाशास्त्रों द्वारा कलातत्त्व का बोध किया जाता है। कला के अन्तर्गत गीत, नृत्य और चित्र आदि की गणना की जाती है जिनका उपयोग कला विषयक चित्रण के समय कवि को अवश्यमेव करना चाहिए। काव्य में शृंगार आदि रसों से सम्बन्धित ऐसे प्रसंग भी आते हैं जहाँ कामविषयक लोकव्यवहारों के चित्रण में कामशास्त्र का ज्ञान परम वांछनीय है। दण्डनीति अथवा कौटिल्य के अर्थशास्त्र का अध्ययन 'नय' और 'अपनय' का बोध कराता है। नय में संधि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय और द्वैधीभाव समाविष्ट रहते हैं जिनका समुचित प्रयोग करना नीतिपरक माना गया है। अपनय में इन छह गुणों का वैपरीत्य पाया जाता है। नायक और प्रतिनायक के स्वभाव चित्रण तथा कार्यकलापों में क्रमशः नय और अपनय का व्यावहारिक प्रयोग अपेक्षित है क्योंकि उनकी समुचित व्यवस्था द्वारा ही उनका चरित्र काव्यबंध के घटनाचक्रों के साथ जुड़कर अपनी सजीवता और सरसता प्रकट करता है। वामन ने 'इतिवृत्त कुटिलत्वं च ततः'[35] सूत्र द्वारा इस तथ्य की भी स्थापना की है कि दण्डनीति के परिज्ञान से ही इतिवृत्त अथवा कथावस्तु की काव्योपयोगी कुटिलता (विचित्रता) प्रकट होती है। सामान्यतः 'विद्या' पद में ये विषय सम्मिलित रहते हैं जिनके अतिरिक्त उसमें अन्य विषयों का भी समायोजन किया जा सकता है।

'प्रकीर्ण' की विषय वस्तु

वामन ने काव्यांग के तृतीय प्रकार को 'प्रकीर्ण' कहा है जिसका वाच्यार्थ 'फुटकर' है। उन्होंने 'लक्ष्यज त्वमभियोगो वृद्धसेवाऽवेक्षणं प्रतिभानमवधानं च प्रकीर्णम्।'[36] सूत्र द्वारा प्रकीर्ण का अर्थ स्पष्ट किया है जिसके अंतर्गत लक्ष्यतत्व, अभियोग, वृद्धसेवा, अवेक्षण, प्रतिमान और अवधान नामक छह प्रकार परिगणित

किये गये हैं। अन्य काव्यों का परिचय अथवा अनुशीलन लक्ष्यतत्व है जिससे काव्य रचना में व्युत्पत्ति प्राप्त होती है। काव्य रचना के लिए किया जाने वाला उद्यम (प्रयास) ही अभियोग है जिससे काव्यबंध में कवित्व अथवा काव्यगुणों का उत्कर्ष होता है। काव्य रचना की शिक्षा देने वाले गुरुजनों की शुश्रूषा ही वृद्ध सेवा है जिससे काव्य विद्या में संक्रांति (काव्य रचना की निपुणता) प्राप्त होती है। काव्य-कृतियों में पद विशेष का प्रयोग (आधान) तथा परित्याग (उद्धरण) भी विचारणीय है जिसका विवेक अवेक्षण कहलाता है। कवि का कर्त्तव्य है कि वह शब्द प्रयोग की महिमा समझते हुए काव्य में ऐसे शब्दों का प्रयोग करे जो लोकोत्तर चमत्कार तथा आह्लाद के अभिव्यंजक हों। इस प्रकार की क्षमता 'अवधान' द्वारा ही सम्भव है जिसके लिए चित्र की एकाग्रता आवश्यक है। उस एकाग्रता के कारण ही हमारे चित्त में बाह्यार्थों की निवृत्ति होती है जिसके फलस्वरूप कुशल कवि काव्य के लिए अभीष्ट अर्थों का साक्षात्कार करता हुआ उनकी अभिव्यक्ति में तल्लीन हो जाता है। वामन ने इस अवधान (एकाग्रता) की उत्पत्ति देश और काल से मानी है। जिनमें स्थान की निर्जनता तथा रात्रि का चतुर्थ प्रहर (ब्राह्ममुहूर्त) अत्यंत महत्वपूर्ण है। इन सबसे अधिक महत्व तो 'प्रतिमान' का है जिसे वामन ने 'कवित्व का बीज' कहा है। यह कवित्व बीज एक प्रकार का जन्मजन्मान्तरागत संस्कार विशेष है जिसके बिना काव्य का निष्पादन किया ही नहीं जा सकता। यदि वह निष्पादन अन्य साधनों से संभव भी हो जाय तो भी उसमें लोकोत्तर चमत्कार नहीं आ सकता जिसके कारण वह उपहासिस्पिद भी हो सकता है।

काव्य के भेद

गद्य और पद्य

गद्य और पद्य के रूप में काव्य दो प्रकार का होता है। इन दोनों प्रकारों में गद्य का प्रथम निर्देश उसकी दुर्लक्ष्यता तथा दुर्बन्धता के कारण किया गया है।[37] उसे कवियों की कसौटी भी कहा जाता है। 'वृत्तगंधि', 'चूर्ण' तथा 'उत्कलिकाप्राय' संज्ञक उसके तीन भेद हैं। पद्य भाग से युक्त अथवा उसके समान प्रतीत होने वाला गद्य 'वृत्तगंधि' कहलाता है क्योंकि उसमें वृत्त अथवा छंद की गंध आती है। असमस्त (अनाविद्ध) और ललित पदों से युक्त गद्य 'चूर्ण' कहलाता है। उसमें दीर्घ समास तथा कठोर पदावली प्रयुक्त नहीं की जाती। 'चूर्ण' गद्य से विपरीत रचना वाला गद्य उत्कलिका है जिसमें दीर्घ समास रचना और उद्धत पदावली रहती है। गद्य की भाँति पद्य के भी अनेक भेद हैं। सम, अर्धसम और विषम नामों से उसके भेदों का विस्तार किया गया है। वामन ने गद्य पद्यात्मक काव्य का विभाजन 'अनिबद्ध और निबद्ध' के नाम से भी किया है।[38] अनिबद्ध में परस्पर असम्बद्ध, फुटकर और मुक्तक वाक्यों की गणना होती है तो निबद्ध में परस्पर सम्बद्ध खण्ड काव्य और महाकाव्य आदि गिने जाते हैं। वामन ने उन दोनों की क्रमसिद्धि 'स्रगुत्तंसवत्' मानी है जिसका यह अभिप्राय है कि जिस

प्रकार स्रक् (माला) के बन जाने पर उससे ही उत्तुंस (मुकुट या मौर) बनाया जाता है उसी प्रकार अनिबद्ध और निबद्ध काव्यों में भी क्रमसिद्धि रहती है।[39] अग्नि के अकेले परमाणु के समान अकेला मुक्तक काव्य शोभित नहीं होता जबकि प्रबंध काव्यों में दशरूपक अथबा नाटक आदि श्रेष्ठ और श्रेयस्कर माने जाते हैं।[40] उनकी श्रेष्ठता का कारण यह है कि वे चित्रपट के तुल्य समस्त विशेषताओं से युक्त होने के कारण चित्र-रूप होते हैं जिनका साक्षात् दर्शन उसके अभिनय के रूप में किया जा सकता है। वह अभिनय सब प्रकार से लोकोत्तर आनंद का निष्पादक माना गया है। वामन ने दशरूपक के संदर्भ से काव्य के अन्य भेद भी कल्पित किये हैं जिनमें आख्यायिका, कथा एवम् महाकाव्य आदि उल्लेखनीय हैं। वामन के अतिरिक्त भामह, आनन्दवर्धन, दण्डी, मम्मट, विश्वनाथ और जगन्नाथ आदि आचार्यों ने भी अपने-अपने दृष्टिकोणों से काव्य के भेदो-प्रभेद निरूपित किये हैं जिनका विवेचन उनके काव्य सिद्धाँतों के अंतर्गत यथास्थान किया गया है।

दोष दर्शन

दोष के लक्षण और भेद

काव्यालंकारसूत्र का द्वितीय अधिकरण 'दोष दर्शन' के नाम से अभिहित है जिसके दो अध्यायों में क्रमशः पद और पदार्थ दोनों के भेद-प्रभेद निरूपित किये गये हैं। ये दोष शब्दार्थमय काव्य-शरीर के लिए विघातक हैं क्योंकि उनके कारण उसका अपकर्ष होता है। काव्य सौन्दर्य की शोभा तभी बढ़ सकती है जब उसमें दोषों का 'अपनयन' और गुणों का 'आधान' किया जाए। शब्द और अर्थ से सम्बन्धित शब्द दोषों को पदों और पदार्थों के रूप में विभक्त करते हुए वामन ने उन्हें गुण विपर्ययात्मनो दोषा: सूत्र द्वारा परि-भाषित किया है।[41] इस सूत्र के अनुसार गुणों के विपर्यय का अर्थ गुणों का अभाव भी हो सकता है। उस स्थिति में गुणाभाव का नाम दोष होने से दोष भी अभाव रूप में माने जा सकते हैं। वामन दोषों की अभावरूपता से सहमत नहीं हैं, अतः उन्होंने अपने सूत्र में 'आत्म' शब्द का प्रयोग करते हुए बतलाया है कि 'विपर्यय' का अर्थ अभाव न होकर 'विपरीयंते वि द्धं गच्छंति इति विपर्यय:' है जिसके अनुसार 'विपर्यय' पद के साथ जुड़ा हुआ 'आत्म' शब्द उसकी अभावरूपता निर्दिष्ट नहीं करता। वस्तुतः गुणों के विपरीत अथवा विरुद्धगामी तत्त्व का नाम ही दोष है जिसका स्वरूप ज्ञान गुणों के परिज्ञान पर भी निर्भर रहता है।

वामन ने जिस अर्थ में दोषों को 'गुण विपर्ययात्मभूत' कहा है उससे एक शंका यह उत्पन्न होती है कि जब गुणों का विपर्यय ही दोष है तो उनकी स्वतंत्र विवेचना की क्या आवश्यकता है क्योंकि गुणों के ज्ञान से ही उनका ज्ञान किया जा सकता है। 'अर्थत-स्तदवगम'[42] सूत्र के अनुसार अर्थापत्ति द्वारा गुण विरोधी दोषों का ज्ञान सम्भव है जिनके पृथक् निरूपण की कोई उपयोगिता प्रतीत नहीं होती। इसका उत्तर देते हुए

वामन ने लिखा है कि उनका पृथक् विवेचन सुगमता के लिए है क्योंकि 'सौकिर्याय प्रपंच:' सूत्र के अनुसार उनके नामनिर्देश तथा लक्षण निरूपित करने से वे सरलतापूर्वक समझे जा सकते हैं।[43]

पद-दोष विवेचन

पद-दोषों के पांच प्रकार

वामन ने 'दुष्टं पदमसाधु कष्टं ग्राम्यमप्रतीतमनर्थ-कं च' सूत्र के अनुसार पांच प्रकार के पद-दोष माने हैं जिनके नाम असाधुपद, कष्टपद, ग्राम्यपद, अप्रतीतपद तथा अनर्थक पद हैं।[44] शब्दस्मृति (व्याकरणशास्त्र) के विरुद्ध शब्द प्रयोग 'असाधुपद' कहलाता है। जैसे 'अन्यकारकवैयर्थ्यम्' पद अशुद्ध है जबकि व्याकरणशास्त्र के अनुसार उसे 'अन्यत्कारकवैयर्थ्यम्' रूप में ही शुद्ध माना जाता है।[45] श्रुतिविरसता अर्थात् कर्ण-कटुतापूर्ण शब्दों के प्रयोग में कष्टत्व पद दोष होता है। जिसे नवीन आचार्यों ने 'दु:श्रव' नाम दिया है। 'द्राक्' जैसे कर्णकटु पदों के प्रयोग में यह दोष माना गया है। जो पद शास्त्र विहित न होकर लोक प्रयुक्तमात्र होते हैं वहाँ ग्राम्यत्व पद-दोष होता है।[46] 'तल्ल' और 'गल्ल' आदि प्रयोग इस दोष के उदाहरण हैं। शास्त्रमात्र में प्रयुक्त होने वाले पद जब काव्य-व्यवहृत होते हैं तो वहाँ अप्रतीत्व दोष होता है। 'रूपस्कन्ध' और 'नांतरीयक' आदि पद इसके उदाहरण हैं। वैसे बौद्ध दर्शन में 'रूपस्कन्ध' पद मुख्य रूप से रूप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा और संस्कार नामक पंच स्कंधों में एक स्कंध है तथा 'नान्तरीयक' पद न्यायदर्शन में मुख्यत: अविनाभाव या व्याप्ति अर्थ में प्रयुक्त होता है। इन्हें काव्य प्रयुक्त करने पर अप्रतीत्व पद दोष होता है। केवल पाद पूर्ति के लिए प्रयुक्त अव्यय पद अनर्थक कहलाते हैं। 'च', 'तु', 'हि' 'खलु' और 'ननु' आदि अव्यय जहाँ द्वन्द्व में केवल पादपूर्ति के लिए प्रयुक्त होते हैं, वहाँ अनर्थक पद दोष होता है। 'दण्डा-पूपन्याय' से इनके अतिरिक्त अन्य पद भी अनर्थक हो सकते हैं। वामन का कथन है कि जहाँ 'खलु', 'तु' आदि अव्यय पादपूर्ति के लिए प्रयुक्त न होकर वाक्यालंकार के रूप में आते हैं, वहाँ अनर्थक पद दोष नहीं होता।

पदार्थ दोष निरूपण

1. अन्यार्थ दोष

वामन ने पदार्थ दोषों का उल्लेख 'अन्यार्थनेयगूढार्थाश्लीलक्लिष्टानि च' सूत्र में किया है जिसके अनुसार, अन्यार्थ, नेयार्थ गूढ़ार्थ, अश्लीलत्व और क्लिष्टत्व नाम पाँच पदार्थ दोष होते हैं।[47] 'रूढ़ि च्युतमन्यार्थम्' सूत्र के अनुसार जहाँ योगरूढ़ अथवा रूढ़ शब्द रूढ़ि से च्युत होकर रूढ़ अर्थ से भिन्न अर्थ में प्रयुक्त होता है, वहाँ अन्यार्थ दोष माना जाता है।[48] इसके उदाहरण 'आवहति' तथा 'प्रस्मरंति' जैसे क्रियापद हैं। इनका विश्लेषण करते हुए कहा जा सकता है कि आङ्पूर्वक 'वह्' धातु 'करोति' के अर्थ में

रूढ़ है किन्तु जहाँ रूढ़ अर्थ की उपेक्षा करते हुए उसका प्रयोग 'धारण करना' अर्थ में किया जाता है, वहाँ अन्यार्थ दोष होता है। 'प्र' पूर्वक 'स्मृ' धातु विस्मरण के अर्थ में रूढ़ है किन्तु जहाँ विस्मरणात्मक 'प्र' पूर्वक 'स्मृ' धातु का प्रयोग 'प्रस्मरन्ति' क्रियापद द्वारा प्रकृष्ट स्मरण के अर्थ में किया जाता है, वहाँ पर भी अन्यार्थ दोष होता है। 'नैषध' महाकाव्य में "नाक्षराणि पठता किमपाठि। प्रस्मृतः किमथवा पठितोऽपि" जैसी पंक्तियों में 'प्रस्मृत' पद का प्रयोग विस्मरण अर्थ में हुआ है अतः वहाँ अन्यार्थ दोष है।

2. नेयार्थ दोष

वामन के मतानुसार नेयार्थ दोष का लक्षण 'कल्पितार्थं नेयार्थम्' है जिसका अर्थ यह है कि जहाँ वाक्य में स्पष्ट रूप से सुनाई न देने वाले कल्पित अर्थ का बोध अनुमान आदि से कल्पनीय पदार्थ की कल्पना द्वारा कर लिया जाता है, वहाँ नेयार्थ दोष होता है।[49] इसका उदाहरण निम्नलिखित छंद है जिसमें इस बात का उल्लेख किया गया है कि महाबली मेघनाद ने अपने तीक्ष्ण बाणों से वानरों की उस सेना को जीत लिया जिसमें राम-लक्ष्मण दशरथ के पुत्र भी थे तथा जो बड़े-बड़े पर्वतों की वर्षा करने वाली थी—

सपदि पंक्ति विहंगमनामभृत तनय संवलितं बल शालिना।
वितुल पर्वतवर्षिशितैः शरैः प्लवगसैन्यमुलूकजिताजितम्।।

उपर्युक्त छंद में पंक्ति 'विहंगमनामभृततनय' का अर्थ 'दशरथ के पुत्र राम-लक्ष्मण' तथा 'उलूकजिता' का अर्थ मेघनाद है। इन अर्थों तक पहुँचने में हमें इनमें प्रयुक्त पदों के अर्थ कल्पित करने पड़ते है जिनके कारण यहाँ नेयार्थ दोष है। विहंगम शब्द का अर्थ पक्षी है जिसका अर्थ एक पक्षी-विशेष अर्थात् चक्रवाक (चकवा) लेकर उसमें से 'चक्र' का अर्थ रथ का पहिया लिया गया। चक्र को धारण करने वाले अर्थ का वाचक पद 'रथ' हुआ। इसके पूर्व प्रयुक्त 'पंक्ति' शब्द से 'देश' की संख्या लक्षित की गई। इस प्रकार पंक्ति (दश) और विहंगमनाभृत् (रथ) पदों के कल्पित अर्थ जोड़ने से 'दशरथ' अर्थ निकला जिनके तनय (पुत्र) रामलक्ष्मण हुए। इसी छंद में दूसरा समस्त पद 'उलूकजित्' है। उलूक को 'कौशिक' भी कहते हैं जो इन्द्र अर्थ का भी वाचक है। इस प्रकार उलूक का पर्याय कौशिक और कौशिक का अर्थ इन्द्र ग्रहण करते हुए इन्द्रजित् का अर्थ मेघनाद (रावण का पुत्र) किया गया क्योंकि इन्द्रविजयी के रूप में मेघनाद के लिए इन्द्रजित पद उसके पर्याय शब्द का वाचक हो गया है।

3. गूढार्थ दोष

'अप्रसिद्धार्थप्रयुक्तं गूढार्थम्' सूत्र के अनुसार अप्रसिद्ध अर्थ में प्रयुक्त पद गूढार्थ दोष युक्त होता है।[50] इसका यह अभिप्राय है कि बहुत से ऐसे अनेकार्थवाचक पद हैं जिनका एक अर्थ तो लोक प्रसिद्ध होता है किन्तु दूसरा अर्थ लोक प्रसिद्ध नहीं होता। काव्य रचनाओं में जब उनका प्रयोग अप्रसिद्ध अर्थ में किया जाता है तो वहाँ गूढार्थ दोष

होता है। इसका उदाहरण 'सहस्त्रगोरिवानीकं दुस्सह भवतः परैः' छंद-पंक्ति है जिसका अर्थ 'सहस्त्र नेत्र वाले इन्द्र के समान आपकी सेना शत्रुओं के लिए असह्य' माना गया है। इस अर्थ तक पहुँचने के लिए हमें पहले 'गो' शब्द का अर्थ इन्द्रिय मान कर 'सहस्त्रगो' का अर्थ सहस्त्र गायें अर्थात् चक्षुरूपिणी इन्द्रियाँ करना पड़ता है जिससे 'इन्द्र' के लिए 'सहस्त्रगु' पद प्रयुक्त होता है। 'गो' शब्द का नेत्र वाचक अर्थ कवियों में अप्रसिद्ध है फिर भी उपर्युक्त पंक्ति में वह वाच्य रहा है अतः उस प्रयोग के कारण यहाँ गूढार्थ दोष है।

4. अश्लील दोष

वामन ने अश्लील दोष को 'असभ्यार्थान्तरमसभ्यस्मृति हेतु' कहा है।[51] जहाँ किसी अनेकार्थवाचक पद का दूसरा अर्थ असभ्यता वाचक हो जिससे असभ्य अर्थ की स्मृति होती हो, वहाँ अश्लील दोष होता है। इसका उदाहरण 'वर्चस्' पद है जो 'तेज' तथा 'विष्ठा' इन दोनों अर्थों में प्रयुक्त होता रहा है। उसका विष्ठा रूप अर्थ जुगुप्सा-वाचक अश्लील है क्योंकि वर्चस् पद असभ्यार्थान्तर का भी वाचक है। असभ्यार्थ का वाचक होने से वह असभ्य अर्थ का स्मृति हेतु भी है क्योंकि सभ्य अर्थ में वह 'तेज' का बोधक होने पर भी एक देश से असभ्यार्थ का स्मरण कराने वाला है। वामन ने 'कृकाटिका' पद में भी हुए उपर्युक्त लक्षण के अनुसार अमंगलव्यंजक अश्लीलत्व माना है क्योंकि 'कृकाटिका' का सभ्य अर्थ 'कनपटी' होने पर भी 'काटि' एक देशीय पद से वह प्रेतयान अर्थात् मुर्दे ले जाने की काटी का स्मरण दिला देता है। वामन का कथन है कि जहाँ असभ्य अर्थ गुप्त (अप्रसिद्ध) अथवा लक्षित (लक्षणा बोध्य) किंवा लोक व्यवहार से संवृत हो गया हो, वहाँ अश्लील दोष नहीं होता। उन्होंने 'गुप्त' को 'अप्रसिद्धासभ्य', लक्षित को 'लाक्षणिकासभ्य' तथा संवृत को लोक संवीत कहा है। इनकी व्याख्या निम्नलिखित रूप में की जा सकती है:—

1. जिस पद का असभ्य अर्थ प्रसिद्ध न हो उसे 'गुप्त' कहते हैं।[52] इसका उदाहरण 'सम्बाध' पद है जो 'वेशेऽपि गंधः सम्बाधो गुह्यसंकटयोर्द्वयोः' कोश के अनुसार गुह्येन्द्रिय उपस्थ तथा संकट इन दोनों अर्थों का वाचक है। 'सम्बाध' पद संकट अर्थ में ही प्रसिद्ध है अतः उसका अप्रसिद्ध अर्थ (उपस्थेन्द्रिय) गुप्त रहने से ऐसे प्रयोगों में अश्लील दोष नहीं माना जाता।

2. असभ्य अर्थान्तर वाला पद असभ्य अर्थ के लाक्षणिक अथवा लक्षणागम्य होने पर लक्षित होता है।[53] अपने लक्षित रूप में वह असभ्य अर्थ होने पर भी अश्लील नहीं कहलाता। 'जन्मभूमि' पद इसका उदाहरण है जो लक्षणा से स्त्री की योनि या उपस्थ का बोधक है किन्तु अभिधाशक्ति से वह अश्लील अथवा गुह्य नहीं है अतः ऐसा प्रयोग अश्लील नहीं कहा जाता।

3. लोक व्यवहार से संबीत (दबा हुआ) पद भी अश्लील दोषयुक्त नहीं होता।[54] सुभगा और भगिनी आदि पद इसी प्रकार के हैं जिनमें प्रयुक्त 'भग' शब्द स्त्री के गुह्यांग (योनि) का वाचक है किन्तु वह लोक व्यवहार से दबा हुआ होने के

कारण अपनी अश्लीलता प्रकट नहीं कर पाता । वामन ने 'उपस्थान,' 'अभिप्रेत','कुमारी' और 'दोहृद' पदों में भी 'लोक संवीत संवृतम्' सूत्र द्वारा उनकी अश्लीलता का खण्डन किया है । इस विषय में किसी प्राचीन आचार्य का निम्नलिखित श्लोक उल्लेखनीय है जिसमें लोक संवीत के कारण 'शिवलिंग' जैसे प्रयोगों में अश्लीलता नहीं मानी गई है :—

संवीतस्य हि लोकेन न दोषान्वेषणं क्षमम् ।
शिवलिंगस्य संस्थाने कस्यासभ्यत्वभावना ।।

अश्लील दोष के प्रकार

अन्य आचार्यों की भाँति वामन ने भी अश्लीलता के तीन भेद माने हैं जो व्रीडा, जुगुप्सा और अमंगलातंकदायी नामो से अभिहित किये गये हैं ।[55] व्रीडादायी (लज्जा-जनक) अश्लीलता के उदाहरण रूप में उन्होंने 'वाक्काटवम्' तथा 'हिरण्यरेता:' 'पद प्रस्तुत किये हुँ । 'वाक्काटव' का सामान्य अर्थ 'वचन की तीक्ष्णता' है किन्तु उसमें प्रयुक्त 'काटव' शब्द एक देशीय रूप में लिंग की प्रतीति कराने वाला होने के कारण व्रीडाजनक हो गया है । 'हिरण्यरेत: पद में भी 'रेतस्' अंश 'वीर्य' का बोधक होने से व्रीडाजनक अश्लीलता निरूपित करता है । वामन ने जुगुप्सादायक अश्लीलत्व के उदाहरण रूप में 'कपर्दक' पद तथा अमंगलातंकदायी अश्लीलता के लिए 'संस्थित' पद प्रस्तुत किये हैं । 'कपर्दक' पद कौडी वाचक होने पर भी 'पर्द' पदांश द्वारा अपान वायु का बोधक है क्योंकि 'पर्द कुत्सिते शब्दे 'जैसे धातु पाठ के अनुसार तथा 'पर्दस्तु गुदजे शब्दे' जैसे कोष परिज्ञान से वह लज्जाजनक ही सिद्ध होता है । 'संस्थित' पद का सामान्य अर्थ 'सुचारू रूप से स्थित' है किन्तु उसका दूसरा अर्थ 'मृत' (मरा हुआ) भी होता है अत: यह पद अमंगलातंकदायक अश्लीलत्व का उदाहरण है ।

5. क्लिष्ट दोष

जिस पद के अर्थ की प्रतीति व्यवधान से होती है, उसके प्रयोग में क्लिष्ट दोष माना जाता है ।[56] इसका उदाहरण 'दक्षात्मजादयितवल्लभ' पद है जिसकी अर्थ प्रतीति के लिए 'दक्षात्मजा' का अर्थ दक्ष की पुत्री तारा, उसके दयित (प्रिय) चन्द्रमा तथा उसकी वल्लभाएँ अर्थात् चन्द्रकांतमणियाँ करते हुए हमें उस अर्थ तक पहुँचना होता है । सामान्यत: चन्द्रकांत मणियों के लिए 'दक्षात्मजादयितवल्लभ' पद प्रयुक्त नहीं होता अत: उस अर्थ तक पहुँचने में व्यवधान होता है । यों तो नेयार्थ दोष में भी कल्पितार्थता होने के कारण इस प्रकार की कठिनता रहती है किन्तु नवीन आचार्यों ने उसका लक्षण 'रूढि प्रयोजनाभावादशक्तिकृतलक्ष्यार्थप्रकाशन नेयार्थम्' माना है जिसके अनुसार रूढि अथवा प्रयोजन रूप लक्षणा के प्रयोजक हेतुओं के अभाव में लक्ष्यार्थ का प्रकाशन होता है । क्लिष्टत्व में लक्षणा की आवश्यकता नहीं होती । उसमें तो अर्थ प्रतीति में व्यवधान (बाधा) मात्र रहता है । वामन ने 'अरूढार्थत्वात्' सूत्र[57] द्वारा यही संकेत किया है । कि क्लिष्ट दोष में व्यवहित अर्थ की प्रतीति विलम्ब से होती है जिसका कारण यह है

कि वहाँ अर्थ अरूढ अर्थात् अप्रसिद्ध होता है। 'काँची गुण स्थान' पद कटिदेश (कमर) के अर्थ में रूढ नहीं है फिर भी इस प्रयोग में क्लिष्टत्व दोष नहीं माना जाता क्योंकि इसकी अर्थ प्रतीति में विलम्ब अथवा व्यवधान नहीं होता। वामन ने अश्लीलत्व और क्लिष्टत्व दोनों को वाक्यगह भी माना है जिनके उदाहृत छंदों में उन्होंने क्रमशः 'साधनोन्नति' जैसे प्रयोगों तथा दूरान्वयता जैसे कारणों से उनकी अश्लीलता तथा क्लिष्टता निरूपित की है।

वाक्य और वाक्यार्थ दोष

वाक्य दोष के तीन भेद

वामन ने वाक्य तथा वाक्यार्थ दोषों का निरूपण द्वितीय अधिकरण के द्वितीय अध्याय में किया है। उनके मतानुसार भिन्नवृत्त, यतिभ्रष्ट तथा विसंधि नामक तीन वाक्य दोष हैं।[58] लक्षणहीन छंद की रचना में भिन्नवृत्त तथा छंद के विरस विराम में यतिभ्रष्ट दोष होते है।[59] जिस प्रकार छन्द शास्त्र निरूपित छंदों के लक्षणों का पूर्ण परिपालन न करना दोष मूलक है उसी प्रकार अरुचिकर स्थलों में विराम वाले छंद भी दोषपूर्ण समझे जाते हैं। जहाँ स्वर संधि के नियमों का प्रायः उल्लंघन किया जाता है, वहां यतिभ्रष्ट दोष होता है। वामन ने वैतालीय वृत्त के उदाहरण द्वारा 'भिन्नवृत्त' तथा 'मंदाक्राँता, शिखरिणी छंदों में प्रयुक्त विसंधियों द्वारा 'यतिभ्रष्ट' दोषों का स्पष्टीकरण किया है। पदों की विरूप (अनुचित) संधि में 'विसंधि' दोष होता है जिसके विश्लेष रूप, अश्लीलत्व रूप और कष्टत्व रूप तीन भेद हैं।[60]

वाक्यार्थ दोषों के सात प्रकार

व्यर्थ और एकार्थ दोष

उपर्युक्त वाक्य दोषों के अतिरिक्त 'व्यर्थ', 'एकार्थ', 'संदिग्ध', 'अप्रयुक्त', 'अप-क्रम', लोक विरुद्ध' और 'विद्या विरुद्ध' नामक सात प्रकार के अन्य वाक्यार्थ दोष भी माने जाते है।[61] अर्थ के पूर्वोत्तर क्रम में विरोध अथवा व्याघात होने पर व्यर्थ दोष होता है। जैसे छंद प्रयुक्त किसी मुग्धानायिका की संभोगकालीन चेष्टाओं का वर्णन करते समय 'मुग्धायाः स्मरचतुराणि चेष्टितानि' जैसी पंक्ति द्वारा उन्हें रति चतुर कहना। वस्तुतः मुग्धानायिका में रतिचतुरता नहीं होती अतः उसके पूर्व उल्लेख के पश्चात् उसके परवर्ती रूप में उसकी चेष्टाओं को 'रतिचतुर' कहना पूर्वोत्तर विरोध का संचक है जिसके कारण ऐसे स्थलों में 'व्यर्थ' दोष माना जाता है।[62] जिस वाक्य में उक्तार्थ पुन-रुक्त पद हो, वह उक्तार्थ पद वाला वाक्य एकार्थ दोषपूर्ण होता है। 'चितामोहमनंग-भंग तनुते विप्रेक्षितं सुभ्रुवः' पंक्ति में एकार्थ दोष है क्योंकि उसमें प्रयुक्त 'अनंग' शब्द की शृंगारपरकता से स्वतः ही उसकी मोहमूलक और चितापरक प्रकृति का ज्ञान हो जाता है जिसके लिए पृथक् प्रयोग की आवश्यकता नहीं है। पुनरुक्ति का सम्बन्ध दो या अनेक पदों से होता है अतः उसे वाक्यार्थ दोष के अंतर्गत माना गया है। उसे वाक्यान्तर्गत

मानने में 'छात्रिन्याय' प्रयुक्त हुआ है। जहाँ पुनरुक्ति के मूल में कोई विशेष प्रयोजन होता है, वहाँ यह दोष नहीं माना जाता। वामन ने 'धनुज्याध्वनि,' 'कर्णावतंस', 'मुक्ता-हार', 'पुष्पमाला' ओर 'करिकलम' जैसे प्रयोगों में यह दोष नहीं माना है क्योंकि विशेष-विशेष प्रसंगों में वे किन्हीं विशेष प्रयोजनों से प्रयुक्त होकर वाक्यार्थों का उत्कर्ष हीं प्रमाणित करते है।[63]

3. संदिग्ध दोष

संशय उत्पन्न करने वाले वाक्यार्थ 'संदिग्ध' दोष कहलाते हैं।[64] 'स महात्मा भाग्यवशान्महापदमुपागत:' उदाहरण साधारण अथवा विशेष धर्मों के श्रवण से संशय उत्पन्न करता हुआ दो अर्थों की प्रतीति कराता है जो संधि-विच्छेद के भेद से प्रकरण आदि के अभाव में सम्भव है। वाक्य-प्रयुक्त दोनों अर्थ 'भाग्यवशात् महापदम् उपागत:' तथा अभाग्यवशात् महा आपदं उपागत: के संधि-विच्छेद से संदेह उत्पन्न करने वाले हैं जिनके अर्थ क्रमश: 'भाग्यवश महान् पद को प्राप्त हुआ' तथा 'अभाग्यवश महती आपदा को प्राप्त हुआ' के रूप में संदिग्ध अथवा संदेहजनक प्रतीत होते हैं। यदि ऐसे वाक्यों के अर्थ बोध के समय प्रकरण आदि का परिज्ञान हो तो 'संदिग्ध' दोष की सम्भावना नहीं रहती।

4-5. अप्रयुक्त और अपक्रम दोष

जिस वाक्य का अर्थ माया अथवा छल आदि से कल्पित हो वहाँ अप्रयुक्त वाक्यार्थ दोष होता है।[65]' 'विदग्ध मुखमण्डन' आदि ग्रंथों में इसके विरल उदाहरण मिलते हैं। क्रम विहीन वाक्यों में अपक्रम दोष होता है। 'कीर्ति प्रतापौ भवत: सूर्याश्चन्द्र-मसो: समौ' उदाहरण में कीर्ति का सम्बन्ध चन्द्रमा के साथ तथा प्रताप का सम्बन्ध सूर्य के साथ अधिक अनुरूप और उचित प्रतीत होता है जिनका उपर्युक्त वाक्य में अपक्रम हो जाने से यहाँ अपक्रम दोप है। प्रधान अर्थ के निर्देश क्रम में पूर्व और अप्रधान अर्थ का व्यतिक्रम होने पर भी अपक्रम दोष होता है। 'तुरंगमथ मातंगं प्रयच्छास्मै मदालसम्' में 'इसे घोड़ा अथवा मदमस्त हाथी प्रदान करो' में प्रधान अर्थ हाथी को पहले तथा अप्रधान अर्थ घोड़े को पश्चात् क्रमबद्ध किया जाना उचित था जिसके विपरीत कथन होने से यहाँ पर भी अपक्रम दोष है।

6. लोक विरुद्ध दोष

देश, काल और स्वभाव से विरुद्ध अर्थ वाले वाक्यों में लोक विरूद्ध दोष होता हैं। उदाहरणार्थ मथुरा नगरी का वर्णन करते समय उसे 'सौवीर देश स्थित' कहना तथा वहाँ अखरोट तथा नारियल के वृक्षों का आधिक्य है निरूपित करना देश विरुद्ध दोष के उदाहरण हैं।[66] क्योंकि मथुरा नगरी स्त्रुघ्न प्रांत में यमुना नदी के किनारे पर बसी हुई हैं जिसमें करील कुंजों और बदरी फलों का बाहुल्य है। "कदम्बकुसुमस्मेंर मधौ वनमशोभत' वाक्य काल विरुद्ध दोष का उदाहरण है जिसमें

वसंतकालीन वन को कदम्बकुसुमों से स्मेराननन (मुस्कुराता हुआ) कहा गया है। वस्तुतः वसंत ऋतु में कदम्ब पुष्पों का वर्णन काल विरुद्ध दोष है क्योंकि वे वर्षाऋतु में ही विकसित होते हैं। 'सप्रच्छद' वृक्ष के स्तबक होते हैं; मंजरियां नहीं होतीं। उनका वर्णन करते समय यदि कोई कवि उनकी मंजरियों का वर्णन करे तो वहाँ स्वभाव विरुद्ध दोष माना जाता है। इसी प्रकार कली से निकले हुए मधु को गाय के खुर के बराबर परिमाण तथा स्थान घेरने वाला कहना भी स्वभाव विरुद्ध अर्थ संकेतित करता है क्योंकि सामान्यतः मकरंद का इतना अधिक मात्रा बाहुल्य वर्णित नहीं होता। उपर्युक्त सभी उदाहरण लोक विरुद्ध अर्थ के द्योतक हैं जिनके प्रयोग में लोक विरुद्ध दोष माना जाता है। यदि इस प्रकार के वर्णन 'कवि समय' के अंतर्गत स्वीकार्य रहे हैं तो उनके वर्णन में दोष नहीं माना जाता क्योंकि 'लोक यात्रा' और 'कवि समय' में विरोध होने पर 'कवि समय' को लोक व्यवहार से अधिक प्रबल माना जाता है।

7. विद्याविरुद्ध दोष

वामन ने कला तथा चतुर्वर्गीय शास्त्रों के अर्थविरोध में विद्याविरुद्ध दोष माना है।[67] इसके उदाहरण निम्नलिखित है—

1. कलिंग शैली के अनुसार पत्र लेखन की प्रक्रिया खड़ी नोक से न होकर गिरी नोक की कलम से परिचालित होती है जिसका वर्णन करते समय उसे 'अपतित कोटि' का कहना कलाशास्त्र विरोधी वाक्य दोष है।
2. 'कामोपभोग साफल्यफलो राज्ञां महाजयः' वाक्य में राजाओं की पृथिवी-विजय को जिस रूप में कामोपभोग की सफलता का फल कहा गया है, वह दोषमूलक है क्योंकि भारतीय संस्कृति में पृथ्वी विजय का फल कामोपभोग न होकर धर्म तथा यज्ञकर्म की प्रतिष्ठा करना माना गया है।
3. 'अहंकारेण जीयन्ते द्विषन्तःकिं नयश्रिया' पंक्ति में शत्रुओं को अहंकार से जीतने की जो बात कही गई है, वह नीति विरुद्ध है अतः अर्थशास्त्रीय दृष्टि से यह विद्याविरुद्ध दोष का उदाहरण है।
4. कामशास्त्र विरोधी दोष का उदाहरण 'दशनांकपवित्रितोत्तरोष्ठ' पद्यांश है जिसमें दंतक्षतचिह्नित उत्तरोष्ठ (ऊपर के होंठ) का वर्णन किया गया है जब-कि कामशास्त्र के अनुसार अधरोष्ट (नीचे के होठ) का चुम्बन, नखछेदन तथा दंतक्षत करना ही प्रीतकर माना जाता है।
5. तत्त्वमीमांसा में सामान्यतः ऋते ज्ञानान्नमुक्तिः की धारणा प्रतिष्ठित है जिसके विरुद्ध यदि 'देवताभक्तितो मुक्तिर्नतत्वज्ञानसम्पदा' का सिद्धांत निरूपित किया जाय तो वह मोक्ष शास्त्र विरुद्ध कथन माना जायगा क्योंकि 'अधिकांशतः तत्त्वज्ञान से ही मुक्ति मानने का सिद्धांत भारतीय दर्शन में प्रतिपादित रहा है।

गुण विवेचन

गुणालंकारों की काव्यगत स्थिति

वामन ने गुणों का लक्षण 'काव्यशोभाया: कर्तारोधर्मा गुणा: किया है जिसके अनुसार शब्द और अर्थ के वे धर्म 'गुण' कहलाते हैं जिनसे काव्य की शोभा उत्पन्न होती है।[68] यमक और उपमा आदि अलंकार उस श्रेणी में नहीं आते क्योंकि वे काव्य के लिए शोभाजनक धर्म न होकर शोभावर्द्धक हेतुमात्र हैं। प्रसाद ओज तथा माधुर्य गुण आदि ही काव्य के शोभाकारक धर्म हैं क्योंकि वे शौर्य और शालिन्य आदि गुणों की भाँति काव्य के शोभाधायक तत्त्व हैं। आधान तथा उत्कर्ष की दृष्टि से ही गुणों और अलंकारों का अवांतर अर्थभेद बोधगम्य करना चाहिए। इस विषय में अभेदवादी और भेदवादी पक्ष प्रमुख हैं। प्रथम पक्ष के अनुसार गुणों और अलंकारों में तात्त्विक भेद नहीं है और उनके जो व्यावहारिक भेद किये जाते हैं, वे गड्डलिका प्रवाह मात्र अर्थात् केवल भेड़चाल है। भामह तथा उनके टीकाकार भट्टोद्भट्ट इस सिद्धान्त के समर्थक हैं। इनके विपरीत आनंदवर्धन तथा मम्मट आदि रसध्वनिवादी आचार्य भेदवादी दृष्टिकोण से गुणों और अलंकारों में अंतर मानते हैं। इस विषय का विपद विवेचन इन आचार्यों के काव्य-सिद्धांतों के प्रसंग में यथास्थान किया गया है।

वामन ने गुणों और अलंकारों का अंतर स्पष्ट करने के लिए उन्हें क्रमशः-काव्य के 'शोभाकारक धर्म' तथा अतिशय हेतु' कहा है। तदतिशयहेतवस्त्वलंकारा: 'सूत्र[69] में 'तु' अव्यय उन दोनों के भेद प्रदर्शन-निमित्त प्रयुक्त हुआ है। यमक और उपमा आदि अलंकार शब्दों और अर्थों के अलंकार हैं जिनका प्रयोग किये बिना भी शुद्ध गुण युक्त काव्य रचना रसिकजनों के लिए प्रीतिकर हो सकती है। काव्य के गुण रमणी के लावण्य और सौन्दर्य कल्प हैं जो उसकी अलंकृति अथवा अनलंकृति जैसी किसी भी स्थिति में आकर्षक और आह्लाददायक ही होते हैं। यदि कवि-वाणी में माधुर्य, ओज तथा प्रसाद गुणों का अभाव हो तो वह चाहे कितने ही अलंकारों से अभिमण्डित कर दी जाय, सहृदय-जनों के मन: प्रसादन का विषय नहीं हो सकती। गुणविहीन रचना के लिए लोकप्रिय अलंकार सौभाग्यवर्द्धक नहीं समझे जाते। इस विषय में निम्नलिखित छंद उल्लेखनीय है जिनमें उपर्युक्त मान्यता का समर्थन हुआ है –

युवतेरिव रूपमंग काव्यं, स्वदते शुद्धगुणं तदप्यतीव।
विहितप्रणयं निरंतराभि: सदलंकार विकल्पकस्पनाभि:॥
यदि भवति वचश्च्युतं गुणेभ्यो, वपुरिव यौवनवंध्यमंगनाया:।
अपि जनदयितानि दुर्भगत्वं, नियतमलंकरणानि संश्रयन्ते॥[70]

वामन ने पूर्वे नित्या: सूत्र के अनुसार काव्यगत गुणों को नित्य तथा अपरिहार्य माना है जिनके बिना काव्य-शोभा का आधान किया ही नहीं जा सकता। उन्होंने ओज, प्रसाद और माधुर्य आदि गुणों को पद रचना अथवा काव्य बंध के गुण कहा है जिन्हें ध्वनिकार ने संघटना के माध्यम से विवेचित किया है। वामन के शब्दों में 'बंध' का ही

नाम पद रचना है जिसके लिए 'रीति' शब्द का प्रयोग करते हुए उन्होंने गुणात्मकता को ही पदरचना का वैशिष्ट्य माना है। गुण और संघटना के भेदाभेद का विमर्श आनन्दवर्धन के काव्य सिद्धांतों के संदर्भ में यथास्थान किया गया है।

गुणों के भेद और लक्षण

शब्द गुणों के प्रकार

वामन ने ओज, प्रसाद, श्लेष, समता, समाधि, माधुर्य, सौकुमार्य, उदारता अर्थव्यक्ति और कांति नामक दस बंधगुण माने हैं।[71] उनके लक्षण निर्धारित करते हुए उन्होंने ओज को गाढ़बंधत्व, प्रसाद को शैथिल्य, श्लेष को मसृणत्व, समता को मार्गभेद, समाधि को आरोहावरोहक्रम, माधुर्य को पृथक्पदत्व, सौकुमार्य को अजरठत्व, उदारता को विकटत्व, अर्थव्यक्ति को अर्थव्यक्तिहेतु तथा काँति को औज्ज्वल्य रूप में परिभाषित किया है। इन लक्षणों के अनुरूप उदाहरण प्रस्तुत करते हुए उन्होंने उनकी यथार्थता प्रतिपादित की है। ओजगुण के गाढ़बन्धत्व का यह अभिप्राय है कि उसके अवयवों अथवा अक्षरविन्यास में परस्पर संश्लिष्टता रहती है जिनके संयुक्त अक्षरों में स्वर्ग आदि के प्रयोग विशेष रूप से किये जाते हैं। प्रसाद गुण का शैथिल्य एक प्रकार से ओजगुण का विपर्यय है फिर भी उसे दोष नहीं कहा जा सकता। क्योंकि वह 'गुणः सम्प्लवात्' सूत्र के अनुसार ओजगुण के साथ मिश्रित रहता है। यदि उसकी स्थिति सर्वथा ओजविहीन मानी जाय तब तो उसका बंधशैथिल्य दोष रूप भी हो सकता है अन्यथा मिश्रित स्थिति में वह गुणरूप ही है। यहाँ इस प्रकार की शंका करना व्यर्थ है कि ओज और प्रसाद गुण अपनी पारस्परिक विरोधी प्रकृति के कारण एक साथ कैसे रह सकते हैं? इसका सीधा उत्तर यही है कि बंधगाढत्व तथा बंधशैथिल्य का सहभाव अनुभवसिद्ध है जिसकी पहिचान केवल काव्य-वैकटिक ही कर सकते हैं। इस विषय में निम्नलिखित श्लोक उल्लेखनीय है जिसमें करुण रस के नाटकों में जिस प्रकार का सुख-दुःख मिश्रण माना गया है उसी प्रकार का मिश्रण ओज और प्रसाद की सहस्थिति में भी सहज सम्भव है—

करुणप्रेक्षणीयेषु सम्प्लवः सुखदुःखयोः।
यथाऽनुभवतः सिद्धस्तथैवोजःप्रसादयोः॥

प्रसाद और ओज के सम्मिश्रण की जो बात कही गई है उसमें 'साम्योत्कर्षौ च' सूत्र घटित होता है जिसके अनुसार उन दोनों के सम्प्लव में साम्य और उत्कर्ष दोनों रहते हैं। कहीं ओज गुण प्रसाद गुण से उत्कृष्ट होता है तो नहीं उसकी स्थिति विपरीत हो जाती है। 'श्लेष' गुण की मसृणता का आशय यह है कि उसमें बहुत से पद एक पद के समान मिले हुए से प्रतीत होते हैं जिसे 'एकपदवत् भासनात्मकता' भी कहा जा सकता है। 'समता' गुण में रचनाशैली का अभेद रहता है जिसका यह अभिप्राय है कि जिस शिल्पक्रम से काव्य-रचना प्रारम्भ की जाय, वह अंततः बना रहे तथा उसमें किसी प्रकार

का व्यतिक्रम उपस्थित न हो। जहाँ रचनाक्रम में आरोह और अवरोह के इस क्रम में बंधगाढत्व तथा बंधशैथिल्य का सहभाव देखकर इसे ओज तथा प्रसाद में अंतर्भुक्त करने के प्रति यदि किसी का आग्रह हो तो उचित नहीं है क्योंकि वामन के मतानुसार समाधि गुण में इन दोनों का सम्मिश्रण ऐसे रूप में रहता है जिसे नदी की दो धाराओं के संगम के समान कहा जा सकता है। यह संगम ही समाधि गुण के स्वतंत्र अस्तित्व का आधार है अन्यथा उनकी पृथकता में तो वह ओज एवं प्रसाद में समाहित हो ही सकता है।

वामन ने आरोह और अवरोह के क्रम से 'समाधि' गुण माना है। कहने के लिए तो 'आरोह' गाढबंधत्व तथा 'अवरोह' बंधशैथिल्य से जुड़ा हुआ है किन्तु ओज तथा प्रसाद गुण में उनका अनैकांतिक भाव रहता है जिसकी कारणरूपता से भी समाधि गुण की स्वायत्तता स्वीकार करनी पड़ती है। यह आवश्यक नहीं है कि ओज में सर्वत्र आरोह तथा प्रसाद में सर्वत्र अवरोह ही हो। आरोह और अवरोह के साथ ओज तथा प्रसाद का अन्वय व्यतिरेक होने से भी उनकी तद्गत एकांत स्थिति नहीं होती अतः इस तथ्य के आधार पर भी 'समाधि' गुण स्वतंत्र गुण सिद्ध होता है। समाधि गुण में प्रयुक्त 'आरो-हावरोह क्रम' पद का 'क्रम' शब्द गौणी लक्षणा द्वारा 'निमित्त' अर्थ का बोधक है जिसके अनुसार आरोह और अवरोध का 'निमित्त' ही समाधि गुण है। इसे इस रूप में भी कहा जा सकता है कि ओज और प्रसाद की तीव्रावस्था में जो आरोह और अवरोह होता है उसे ओज और प्रसाद से भिन्न मानकर उसके निमित्त का नाम ही समाधि गुण है। अभिप्राय यह है कि वामन के मतानुसार समाधि गुण की स्वतंत्र सत्ता है जिसकी सिद्धि के लिए उन्होंने अनेक तर्क प्रस्तुत किये हैं किन्तु वे इसमें पूर्ण सफल नहीं हो सके हैं।

माधुर्य गुण का लक्षण 'पृथक्पदत्व' है जिसका अर्थ यह है कि उसमें समास रहित पदों को प्रयोग किया जाता है। 'सौकुमार्य गुण में रचना बंध की कठोरता नहीं होती अतः वह प्रपारूष्य के अधिक निकट है। 'उदारता' में रचना शैली की विकटता रहती है जिसे उदारता कहते हैं। उसके कारण काव्य रचना के पद नृत्य सा करने लगते हैं जिसमें आरोह और अवरोह का क्रम तथा भाव भंगिमा की चित्र-छबियाँ रूपायित हो जाती हैं। अर्थ की स्पष्ट और संद्यःप्रतीति का नाम 'अर्थव्यक्ति' गुण है। 'काँति गुण' में बंध की उज्ज्वलता अथवा नवीनता रहती है जिसके कारण उसमें चमत्कार-सा आ जाता है। काव्य-रचना से सम्बद्ध ये सभी गुण अनुभूतिसंवेद्य और अबाधित हैं जिनकी रचनागत उपयोगिता असंदिग्ध है।

अर्थगुण विवेचन

ओजगुण और अर्थ प्रौढ़ि

वामन द्वारा प्रतिपादित शब्द गुणों की भाँति अर्थगुण भी दस प्रकार के होते हैं जिनके नाम तो वे ही हैं किन्तु उनके लक्षणों में अन्तर है। उनमें मौलिक भेद इतना ही है कि शब्द गुणों में प्रयुक्त 'प्रौढ़ि' आदि पद वाचक (शब्द के धर्म) होते हैं जब कि अर्थ-

गुणों में वे वाच्य अर्थात् अर्थ के धर्म हो जाते हैं। यदि शब्द की प्रौढ़ि शब्दगत ओज गुण है तो अर्थ की प्रौढ़ि ओज नामक अर्थगुण कहलाता है। वामन ने अर्थ की प्रौढ़ि पाँच प्रकार की मानी है जिनका उल्लेख निम्नलिखित कारिका में हुआ है—

पदार्थे वाक्यवचनं वाक्यार्थे च पदाभिधा।
प्रौढिर्व्यास समासौ च साभिप्रयत्वमेव च ।।[72]

1. प्रथम प्रकार की अर्थ प्रौढ़ि वह है जिसमें पदार्थ का बोध कराने के लिए लम्बे वाक्य का प्रयोग किया जाता है। यों तो अर्थ का प्रतिपादन केवल एक शब्द-प्रयोग द्वारा भी सम्भव है किन्तु उसे शोभावायक बनाने के लिए कवियों को अनेक प्रकार की वाक्य योजना भी करनी पड़ती है। इसका उदाहरण 'अथ नयनसमुत्थं ज्योतिरत्रेरिव द्यौः' है जिसमें चन्द्रमा के लिए 'अत्रि ऋषि के नेत्र से उत्पन्न ज्योति' वाक्यांश का प्रयोग किया गया है जो केवल 'चन्द्रमा' पद के प्रयोगमात्र से भी अर्थ व्यक्ति कर सकता था। यद्यपि उपर्युक्त उदाहरण में क्रियापद का प्रयोग न होने के कारण उसे पूर्ण वाक्य तो नहीं कहा जा सकता फिर भी वह पद समूह के रूप में वाक्य के निकट अवश्य है अतः इसे सामान्य रूप से वाक्य मान लेना अधिक अनुचित नहीं है। पद-समूहों से अर्थ प्रौढि मानने के अन्य उदाहरण 'कपिलिम्नाक्रतपदं' तथा 'अरुणगुणसंसर्गितवपुः' पद समूह है जिनसे क्रमशः 'कपिल' और 'अरुण' अर्थ बोधित होते हैं। इस प्रकार के प्रयोगों में "दक्षात्मजादयितवल्लभ' जैसे प्रयोगों की भाँति क्लिष्टत्त्व दोष नहीं माना जाता क्योंकि चन्द्रमा के लिए 'नयनसमुत्थं ज्योतिरत्रेरिव द्यौः' जैसा प्रयोग काव्य शोभाजनक गुण के रूप में हुआ है जिसमें अर्थ प्रौढ़िपरक ओजगुण का सामान्य लक्षण घटित होता है।

2. वाक्य के प्रतिपाद्य अर्थ का बोध कराने के लिए जहाँ केवल एक पद का कथन किया जाता है, वहाँ दूसरे प्रकार की अर्थ प्रौढ़ि मानी जाती है। उदाहरण के लिए "दिव्येयं न भवति किन्तु मानुषी' वाक्य के स्थान पर केवल 'निमिषति' पद का प्रयोग किया जाय तो वहाँ दूसरे प्रकार की अर्थ प्रौढ़ि होती है। इसका अर्थ यह है कि 'यह दिव्य अप्सरा नहीं है अपितु मानुषी (स्त्री) है' कथन को जब 'निमिषति अर्थात् 'पलक झपकाती है' क्रिया-पद द्वारा व्यक्त किया जाता है तो उससे उसके स्त्री भाव का बोध स्वतः ही हो जाता है क्योंकि कवि परम्परा के अनुसार देवताओं और अप्सराओं में पलकों का उत्थान-पतन नहीं माना जाता जबकि यह शारीरिक क्रिया केवल भूलोकवासी प्राणियों तथा नर-नारियों के लिए ही सम्भव है। अतः 'निमिषति' पद स्वतः ही वर्णित विषय का नारी रूप सिद्ध कर देता है। 'निनिषति' क्रियापद 'निमेष' से बना है जिसका अर्थ 'पलक' होता है।

3. वाक्य द्वारा प्रतिपादित अर्थ का जहाँ अधिक विस्तार किया जाता है, वहाँ तृतीय प्रकार की अर्थप्रौढ़ि होती है। उदाहरण के लिए यदि किसी कवि को सुख और दुःख के अनेक विधसम्बन्धों का वर्णन करना अभीष्ट हो तो वह उनके अनेक रूप प्रदर्शित करता हुआ उनसे सम्बद्ध भावाभावों का भी विशद चित्रण करता है जिसके

कारण वहाँ तृतीय प्रकार की अर्थ प्रौढ़ि होती है। वामन ने इसके उदाहरण रूप में प्रस्तुत छंद में 'पुनस्तस्मादूर्ध्वं भवति न च दुःखं न च सुखं' पंक्ति द्वारा यही भाव व्यक्त किया है।[73] इसमें तथा प्रथम प्रकार की प्रौढ़ि में यह अंतर है कि प्रथम प्रकार की प्रौढ़ि में तो पद के अर्थ का विस्तार रहता है जबकि इस प्रौढ़ि में वाक्य के अर्थ का विस्तार किया जाता है।

4. चतुर्थ प्रकार की अर्थ प्रौढ़ि वह है जिसमें अनेक वाक्यों द्वारा प्रतिपाद्य अर्थ को संक्षिप्त करते हुए एक वाक्य में अथवा छोटे-छोटे अनेक वाक्यों में उसका कथन किया जाता है। जबकि द्वितीय प्रकार की प्रौढ़ि में वाक्य द्वारा कथनीय अर्थ को केवल एक पद द्वारा संक्षेप में कहा जाता है। इसका उदाहरण निम्नलिखित श्लोक है जिनमें अनेक वाक्यों द्वारा प्रतिपाद्य विषय को श्लोक रूप एक वाक्य में चित्रित किया गया है—

ते हिमालयमामंत्र्य पुनः प्रेक्ष्य च शूलिनम्।
सिद्धंचास्मै निवेद्यार्थं तद्विसृष्टाः स्वमुद्ययुः॥

अर्थात् वे (सप्तर्षि) हिमालय से मंत्रणाकर, शिवजी से पुनः मिलकर और उन्हें अर्थ सिद्धि की सूचना देकर उनसे विदा लेते हुए स्वर्ग को चले गए।

5. जिस कथन में किसी अर्थका अभिप्राय विशेष रूप से वर्णित होता है, वहाँ पंचम प्रकार की अर्थप्रौढ़ि होती है। इसका उदाहरण 'रतिविगलितबंधे केशपाशे सुकेश्याः' हो सकता है जिसमें किसी सुन्दर केशों वाली रमणी का केश-सौन्दर्य उसकी रतिक्रीडा के प्रसंग से वर्णित होकर उसके 'विगलित बंध' का अभिप्राय व्यक्त करता है।

प्रसाद गुण

अर्थ का वैमल्य अर्थात् स्पष्ट बोध प्रसाद गुण है।[74] इसका उदाहरण 'सवर्णा कन्यका रूपयौवनारम्भ शालिनी' पंक्ति है जिसमें प्रयुक्त 'सवर्णा' पद कन्या की उपादेयता अर्थात् विवाह-योग्यता सूचित करता है। इस पद से इस अर्थ का स्पष्ट बोध होता है कि वह कन्या सवर्णा अर्थात् क्षत्रिय जाति की होने के कारण राजा के लिए उद्वहन योग्य है।

श्लेष और समता गुण

वामन ने अर्थगत श्लेष गुण को 'घटना' कहा है[75] जिसका अर्थ यह है कि उसमें क्रम, कौटिल्य, अनुल्वणत्व तथा उपपत्ति का योग रहता है। 'समता' गुण अवैषम्यमूलक है जिसमें प्रक्रम का अभेद तथा अर्थबोध की सुगमता होती है।[76] इसका प्रसिद्ध उदाहरण 'कुमारसम्भव' महाकाव्य के प्रथम सर्ग का प्रथम छंद है जिसमें कालिदास ने 'अस्त्युत्त-रस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः' पंक्ति द्वारा समतागत गुण की सुगमता और सुबोधता का सन्निवेश किया है।

समाधि गुण

अवधानमूलक अर्थदृष्टि में 'समाधि' गुण होता है जिसके कारण समाहित (एकाग्र) चित्त ही उसके अर्थों का सुचारूरूपेण साक्षात्कार कर सकता है।[77] समाधि गुण की अर्थ दृष्टि दो प्रकार की होती है जिनके नाम अयोनि और अन्यच्छायायोनि हैं।[78] 'अयोनि' को अकारण अथवा 'अवधानमात्रनिमित्तक' भी कहा जाता है जिसमें कोई कवि किसी अन्य कवि के वर्णन से प्रेरित होकर चित्रण नहीं करता अपितु वह स्वतः प्रेरित होकर अर्थ-वर्णन करता है। जहाँ किसी अन्य कवि के काव्य की छाया अभिप्रेत रहती है, उसे 'अन्यच्छाय।योनि' दृष्टि कहते हैं। अयोनि अर्थ कवि-प्रतिभा का प्रकाशक और लोकोत्तर होता है जबकि दूसरा अर्थ व्युत्पत्तिजन्य कहा जा सकता है। प्रकारान्तर से अर्थ के दो रूप हैं जिन्हें 'व्यक्त' और 'सूक्ष्म' कहते हैं।[79] व्यक्त अर्थ स्थूल और सर्वजनसंवेद्य होता है जबकि सूक्ष्म अर्थ केवल सहृयजन संवेद्य ही हो सकता है। वामन ने सूक्ष्म अर्थ को 'भाव्य' तथा 'वासनीय' संज्ञक दो प्रकारों में विभक्त किया है[80] शीघ्रमेव बोधगम्य अर्थ 'भाव्य' कहलाता है। जिस अर्थबोध में चित्त की एकाग्रता तथा अवधानता अपेक्षित होती है, उसे 'वासनीय' कहते हैं। वामन ने समाधि गुण से सम्बन्धित इन अर्थभेदों के उदाहरण प्रस्तुत करते हुए उनकी अर्थगत संगति सिद्ध की है।

माधुर्य गुण

उक्तिवैचित्र्य का नाम ही माधुर्य अर्थगुण है।[81] इसका उदाहरण निम्नलिखित छंद है जिसमें प्रेयसी का अधरपान समस्त उपमानों से उत्कृष्ट और आनन्ददायक माना गया है। उसे कवि ने उक्ति वैचित्र्य के माध्यम से अमृत, मधु तथा आम्र रस से भी अधिक मधुर और सुस्वादु माना है—

रसवदमृतं कः सन्देहो मधून्यपि नान्यथा।
मधुरमधिकं चूतस्यापि प्रसन्नरसं फलम्॥
सकृदपि पुनर्मध्यस्थः सन् रसांतर विज्जन्ते।
वदतु यदिहान्यत् स्वादु स्यात् प्रियादशनच्छदात॥

सौकुमार्य, उदारता और कांति गुण

कठोरता के अभाव में सौकुमार्य तथा अग्राम्यत्वे में उदारता नामक अर्थ गुण होते हैं।[82] वस्तुस्वभाव की स्पष्टता 'अर्थ व्यक्ति' गुण का सामान्य लक्षण है।[83] काव्य-रचना का दीप्तरसत्व 'काँति' संज्ञक अर्थ गुण है जिसका विशेष सम्बन्ध रस चर्वणा से माना जाता है।[84] वामन ने इसी प्रसंग में काव्यपाकों का भी उल्लेख किया है क्योंकि रसप्रतीति के साथ उनका भी सहज सम्बन्ध होता है। उनके शब्दों में 'गुणों की स्फुटता और पूर्णता को ही काव्यपाक कहते हैं जिसकी उपमा आम्रपाक से दी जाती है।' उन्होंने काव्यसम्बद्ध 'वृन्ताकपाक' तथा 'दाडिमपाक' की अभिशंसा नहीं की है क्योंकि उनमें

अस्फुटता, क्लिष्टता तथा अनर्थकता जैसे दोष अंतर्निहित रहते हैं। काव्यपाकों का विश्लेषण राजशेखर रचित 'काव्यमीमांसा' में विशेष रूप से हुआ है जिसमें उन्होंने नौ प्रकार के काव्य पाक निर्दिष्ट किए हैं। उनमें पिचुमद पाक, वार्ताक पाक और क्रमुक पाक त्याज्य, बदर पाक, तितिडीक पाक तथा त्रपुस पाक संस्कार्य एवं मृद्वीका पाक, सहकार पाक और नारिकेल पाक उपादेय माने गए हैं।

अलंकार-विवेचन

शब्दालंकार : यमक के भेद-प्रभेद

वामन ने 'गुणनिर्वर्त्या काव्यशोभा। तस्याश्चातिशयहेतवोऽलंकाराः' द्वारा गुणों को काव्यशोभाकारक धर्म तथा अलंकारों को उसके 'अतिशय हेतु' मानते हुए उनका पृथक-पृथक विश्लेषण किया है। गुण-विवेचन के पश्चात् 'आलंकारिक' नामक चतुर्थ अधिकरण के तीन अध्यायों में अलंकार विवेचन हुआ है जिनमें क्रमशः शब्दालंकार उपमालंकार तथा उपमा प्रपंच के अंतर्गत अवशिष्ट अर्थालंकार संकलित हैं। शब्दालंकारों में यमक और अनुप्रास प्रमुख हैं जिनमें यमक के भेद-प्रभेदों का विस्तार विशेष रूप से किया है। वामन ने यमक का लक्षण 'पदमनेकार्थमक्षरं वाऽऽवृत्तं स्थान नियमे यमकम्[85] करते हुए बतलाया है कि स्थान नियम के साथ अनेकार्थक पद अथवा अक्षर की आवृत्ति का नाम यमक है। सूत्र प्रयुक्त अनेकार्थ विशेषण अक्षर मात्र का विशेषण न होकर पद का विशेषण है क्योंकि पद ही अनेकार्थक हो सकता है। यमक में भिन्नार्थक एक या अनेक पदों की आवृत्ति होती है। समानार्थक पदों की आवृत्ति में यमक अलंकार नहीं माना जाता। जहाँ पूर्ण पद की आवृत्ति न होकर उसके किसी एक देश की आवृत्ति हो; वह अक्षर आवृत्ति कहलाती है जो अनर्थक भी हो सकती है। वामन ने यमक के लक्षण में 'स्थान नियम' का उल्लेख विशेष रूप में करते हुए उन स्थानों का भी विस्तृत विवेचन किया है जिनमें यमक अलंकार की सम्भावनाएँ निहित हैं। भामह और विश्वनाथ आदि आचार्यों का एतद्विषयक निरूपण वामन के दृष्टिकोण से भिन्न रहा है।

वामन के मतानुसार यमक में किसी एक सम्पूर्ण पाद तथा एक या अनेक पादों के आदि, मध्य तथा अंत के भाग उसकी आवृत्ति के उचित स्थान है।[86] सम्पूर्ण पाद की आवृत्ति वाले यमक का उदाहरण निम्नलिखित श्लोक है जिसमें प्रयुक्त 'कलिकामधुर्गर्हितम्' पद की पूर्ण आवृत्ति भिन्न-भिन्न अर्थों में हुई है। इसका प्रथम पदच्छेद 'कलिकामधुक्' तथा अर्हितम्' है। श्लोक तथा उसका अर्थ निम्नलिखित है —

असज्जनवचो यस्य कलिकामधुर्गर्हितम्।
तस्य न स्याद् विपतरोः कलिकामधुर्गर्हितम्॥

अर्थ—असज्जन (दुष्ट जन) के कलि (युग अथवा पाप) की इच्छाओं को पूर्ण करने वाले (कामधुक्) वचन जिसके लिए अर्हित (पूज्य या मान्य) हैं, उसके लिए विप-

वृक्ष की कलिकाओं का मधु भी गर्हित (निंदित अथवा त्याज्य) नहीं होता।

एक तथा दो पादों के आदि मध्य तथा अंत में स्थित पदों के आवृत्ति रूप यमक के पृथक्-पृथक् उदाहरण देते हुए वामन ने उनकी विशद विवेचना की है। उनका एकान्तर पादांत यमक तथा समस्त पादांत यमक विषयक विश्लेषण पठनीय है। पाद-यमकों के निरूपण के पश्चात् उन्होंने अक्षर यमकों का परिचय दिया है। एकाक्षर, अनेकाक्षर तथा स्थानांतर के भेद से 'अक्षर यमक' के अनेक प्रकार होते हैं। पदों में भंग अथवा विच्छेद कर देने से यमक और भी अधिक उत्कृष्ट हो जाता है।[87] भंग की दृष्टि से यमक के तीन भेद हैं जिनके नाम शृंखला, परिवर्तक और चूर्ण हैं।[88] यदि वर्ण-विच्छेद का चलन (आगे सरकना) शृंखला है[89] तो पास के किसी सम्बद्ध अक्षर का साथ छूट जाने पर उसके कारण जिस स्वरूप की प्राप्ति होती है उसे परिवर्तक कहते हैं।[90] जहाँ संयुक्ताक्षर को पृथक् कर देने पर पद के स्वरूप का लोप हो जाता है, उसे चूर्ण यमक कहते हैं।[91] वामन ने संग्रह श्लोकों के उद्धरणों द्वारा यमक भंग के तीनों प्रकार स्पष्ट करते हुए लिखा है कि शृंखला-भंग से यदि वर्ण विन्यास में विचित्रता आती है तो उनका परिवर्तक-भंग अपने वास्तविक स्वरूप में अद्भुत कौशल उत्पन्न कर देता है। चूर्ण भंग केशपाश की रचना-विशेष की भाँति उचित स्थान पर स्थित होकर काव्य में शोभातिशय का जनक माना जाता है। इनके अतिरिक्त एक 'अद्भुत' यमक भी होता है जिसमें 'सुबंत और तिङन्त पदों की पृथक्-पृथक् अथवा मिश्रित आवृत्ति से शब्द रचना का चमत्कार प्रदर्शित होता है।

'अनुप्रास' अलंकार

वामन ने 'शेषः सरूपोऽनुप्रासः[92] सूत्र द्वारा यमक से भिन्न अन्य सारूप्य को अनुप्रास माना है। अनुप्रास में स्वरभेद होने पर भी व्यंजनों की आवृत्ति पर्याप्त समझी जाती है जिसे विश्वनाथ ने 'अनुप्रासः शब्दसाम्यं वैषम्येऽपि स्वरस्य यत्' कहा है। अनुल्वण अर्थात् हल्के और अनुग्र वर्णों का अनुप्रास उल्वण वर्णों के प्रयोग की अपेक्षा अधिक श्रेयस्कर और सुग्राह्य होता है।[93] पादयमक की भाँति अनुप्रास का एक प्रमुख भेद पादानुप्रास भी है जिसके समस्त पादों में वर्णों की आवृत्ति होती है।[94] उसे लाटानुप्रास भी कहा जाता है जिसमें तात्पर्य भिन्नता से शब्द तथा अर्थ की पुनरुक्ति होती है। वह एक पादगत तथा अनेकपादगत भी हो सकता है जिनके उदाहरण निम्न-लिखित हैं—

1. स्मरे राजीवनयने नयने किं निमीलिते।
   पश्य निर्जितकन्दर्पे कन्दर्पवशगं प्रियम्॥
2. यस्य न सविधे दयिता दवदहनस्तुहिनदीधितिस्तस्य।
   यस्य च सविधे दयिता नवदहनस्तुहिनदीधितिस्तस्य॥

प्रथम उदाहरण में 'नयने' पद की आवृत्ति हुई है जिनके तात्पर्य में दोनों स्थानों पर भिन्नता होने के कारण वह एकपदीय लाटानुप्रास है तथा दूसरे उदाहरण में अनेकपदों

की आवृत्ति होने के कारण वह अनेक पदगत लाटानुप्रास माना जाता है। अनुप्रास के उपर्युक्त भेदों के अतिरिक्त परवर्ती आचार्यों द्वारा वृत्त्यनुप्रास की भी परिकल्पना की गई है। जिसमें अनेक वर्णों की अनेक बार आवृत्ति होती है। विश्वनाथ ने 'अन्त्यानुप्रास' नामक एक अन्य अनुप्रास भी माना है। जिसमें पहले स्वर के साथ व्यंजन की यथावस्थ आवृत्ति होनी चाहिए। अनुप्रास का यह भेद निरूपण कालाँतर में छेक, वृत्ति, श्रुति, अन्त्य तथा लाट के अनुसार विवेचित किया जाने लगा जिसका सूक्ष्म संकेत वामन प्रतिपादित अनुप्रास अलंकार में अन्तर्निहित है।

उपमालंकार

वामन ने उपमा अलंकार का विवेचन अधिक व्यापकता से किया है। उनके मतानुसार उपमा अलंकार सभी अर्थालंकारों का मूल तत्त्व है, जिसका लक्षण 'उपमानेनोपमेयस्य गुण लेशतः साम्यमुपमा' किया गया है।[95] इस लक्षण के अनुसार जहाँ अधिक उत्कृष्ट गुण वाले पदार्थ के साथ न्यूनगुण वाला अन्य पदार्थ उपमित किया जाता है वहाँ अधिक गुणवाला पदार्थ उपमान तथा न्यून गुण वाला पदार्थ उपमेय कहलाता है। कहने के लिए उन दोनों में ऐसा सम्बन्ध रहता है जिसके कारण एक के ग्रहण से दूसरे की सिद्धि हो सकती है किन्तु लोकप्रसिद्धि के परिग्रह के लिए दोनों का पृथक्-पृथक् उल्लेख किया गया है। उदाहरण के लिए लोकप्रसिद्धि के अनुसार 'कमल के समान मुख है' की उक्ति प्रचलित है किन्तु कुमुद के समान मुख की लोक प्रसिद्धि न होने के कारण वहाँ उपमान उपमेय का ग्रहण नहीं किया जाता अतः वामन ने अपने उपमासूत्र में दोनों का पृथक्-पृथक् उल्लेख किया है।

उपमा के भेद

वामन ने 'लौकिकी' और 'कल्पिता' नाम से उमभा के दो भेद माने हैं। प्रथम प्रकार में उपमान और उपमेय दोनों लोक प्रसिद्ध होने चाहिए जबकि दूसरे प्रकार में वे कविकल्पित होते हैं। कविकल्पित उपमा का निर्णय गुणबाहुल्य से किया जाता है।[96] यदि गुणबाहुल्यमूलक उत्कर्ष उपमान होता है तो उससे अपकर्ष रखनेवाला पद उपमेय कहलाता है। वामन ने इसके उदाहरण के रूप में 'सद्यो मुण्डितमत्तहूणचिबुकप्रस्पर्धि नारंगकम्' पंक्ति उद्धृत की है जिसमें नारंगी के फल को तुरंत मुंडे गए हूण की चिबुक के समान कहा गया है। यह उपमा कविकल्पित है जो लोकप्रसिद्धि पर आधारित न होने के कारण 'कल्पिता उपमा' कही जाती है। इसमें 'नारंगकं' पदउपमेय तथा सद्योमुण्डितमत्तहूणचिबुक' उपमान है जिनके सादृश्य का ध्यान रखते हुए कवि ने इस प्रकार की कल्पना की है।

वामन ने 'पदार्थ वृत्ति' तथा 'वाक्यार्थवृत्ति' के नाम से भी उपमा के भेद कल्पित किए हैं जिनके उदाहरण प्रस्तुत करने के पश्चात वे पूर्णोपमा तथा लुप्तोपमा की विवेचन दिशा की ओर उन्मुख हो गए हैं।[97] गुणद्योतकोपमानोपमेयशब्दानां सामग्रये पूर्णा' सूत्र[98]

के अनुसार जिस उपमा में उसके चारों अंग (उपमेय, उपमान, साधारण धर्म और वाचक शब्द) सन्निहित रहते हैं वह पूर्णोपमा कहलाती है तथा जिसमें उनका लोप होता है, वह लुप्तोपमा के नाम से जानी जाती है। कमलमिव मुखं मनोज्ञमेतत् (यह मुख कमल के समान सुन्दर है) पूर्णोपमा का उदाहरण है तो 'शशीव राजा' (राजा चन्द्रमा के समान है) लुप्तोप्मा का उदाहरण माना गया है। प्रथम उदाहरण में उपमा के चारों अंग विद्यमान हैं तथा दूसरे उदाहरण में साधारण धर्म का लोप प्रदर्शित है। परवर्ती आचार्यों ने उपमा के इन रूपों का अत्यधिक विस्तार किया है जिनमें विश्वनाथ द्वारा प्रतिपादित पूर्णोपमा के छह भेद तथा लुप्तोपमा के इक्कीस भेद उल्लेखनीय हैं।[99]

उपमा के प्रयोजन

वामन ने 'स्तुतिनिन्दातत्त्वाख्यानेषु' सूत्र के अनुसार उपमा के प्रयोजन भी प्रतिपादित किए है।[100] प्रशंसा और निन्दापरक प्रयोजनों से प्रेरित उपमा का उदाहरण स्निग्धं भवत्यमृतकल्पमहो कलत्रं हालाहलं विषमिवापगुणं तदेव' काव्य पंक्ति है। जिसमें स्नेहमयी पत्नी को अमृत के समान तथा स्नेहविहीन पत्नी को विष के समान कहा गया है। इन दोनों के अतिरिक्त उपमा का 'तत्त्वाख्यान' नामक तीसरा प्रयोजन भी माना गया है जिसमें यथार्थ कथन का प्रयोग किया जाता है। इसका उदाहरण निम्नलिखित छन्द है जिसमें तारकन्यास की उपमा शकटाकार से देते हुए रोहिणी के यथार्थ स्वरूप का प्रदर्शनमात्र वर्णित है—

तां रोहिणीं विजानीहि ज्योतिषामत्रमण्डले।
यस्तन्वि तारकन्यासः शकटाकारमाश्रितः॥

उपमा के दोष

वामन ने उपमा विवेचन के प्रासंगिक क्रम में उपमा के छह दोषों का निरूपण किया है जो ''हीनत्वाधिकत्व लिंगवचनभेदासादृश्यासम्भवास्तद् दोषाः'' सूत्र में उल्लिखित है।[101] उनका सामान्य स्वरूप निम्नलिखित विवेचना से बोधगम्य किया जा सकता है—

1. **हीनत्व दोष**—जाति, परिमाण तथा धर्म की दृष्टि से उपमान की न्यूनता हीनत्व दोष कहलाती है।[102] इसका उदाहरण 'चाण्डालैरिव युष्माभि साहसं परमं कृतम्' है जिसमें सैनिकों के साहस को चाण्डालों के समान कहा गया है। चाण्डालों में जातिगत न्यूनता होने के कारण उनके साथ वीरों के साहस को उपमित करना दोषमूलक है परिणामगत हीनता का उदाहरण 'वह् निस्फुलिंग इव भानुरयं चकास्ति' है जिसमें सूर्य को अग्नि की चिनगारी के समान प्रकाशमान कहना उसके परिमाण की हीनता का सूचक है। इसी प्रकार के अन्य उदाहरणों द्वारा भी उपमागत धर्म आदि से सम्बद्ध हीनत्व दोषों का परिज्ञान किया जा सकता है।

2. **अधिकत्व दोष**—पूर्ववर्णित हीनत्व दोष की भाँति यह उपमादोष जाति, परिमाण और धर्म से सम्बन्धित है। इसमें उपमेय की अपेक्षा उपमान में उपर्युक्त गुणों का

आधिक्य निरूपित किया जाता है। परिमाणगत आधिक्य दोष का उदाहरण निम्नलिखित श्लोक है जिसमें पाताल से नाभि की, पर्वत से स्तनों की तथा यमुना प्रपात से वेणी की उपमा दी गई है जो उपमान में मर्यादा का अतिक्रमण करने वाली होने के कारण असंगत और अनुचित है—

पातालमिव नाभिस्ते स्तनौ क्षितिधरोपमो।
वेणीदण्डः पुनरयं कालिंदीपातसन्निभः ॥

3. लिंगभेद रूप दोष—सामान्यतः उपमान और उपमेय शब्दों में लिंगभेद होने से यह दोष होता है।[103] जैसे "सैन्यानि नद्य इव जग्मुर नर्गलानि" पंक्ति में 'सैन्यानि' पद उपमेय और 'नद्यः' पद उपमान है जिनका साधारण धर्म 'अनर्गलगमन' तथा वाचक शब्द 'इव' है। उपमा के इन चारों अंगों के कारण यहाँ पूर्णोपमा है किन्तु उपमान पद 'नद्यः' स्त्रीलिंग तथा उपमेयपद 'सैन्यानि' नपुंसक लिंग होने के कारण इस उदाहरण में लिंग-भेद दोष है। इस दोष के कुछ अपवाद भी हैं। जैसे पुल्लिग और नपुंसक लिंग का विपर्यय प्रायः इष्ट होता है और उसमें दोष नहीं माना जाता।[104] इसका उदाहरण 'चन्द्रमिव मुखं पश्यति' है जिसमें उपमानभूत 'चन्द्र' शब्द पुल्लिग तथा उपमेय रूप 'मुख' शब्द नपुंसक-लिंग है किन्तु उनका लिंग विपर्यय दोषमूलक नहीं है। वामन ने 'इन्दुरिव मुखं भाति' उदाहरण में प्रयुक्त 'इन्दु' शब्द में पुल्लिग तथा 'मुखं' शब्द में नपुंसकलिंग का विपर्यय प्रतिपादित करते हुए इस प्रकार के प्रयोगों में दोष माना है। क्योंकि ऐसे प्रयोग कविजनों की रुचि के अनुकूल नहीं माने जाते। वामन ने लौकिकयां समासाभिहितायामुपमाप्रपंचैः सूत्र[105] द्वारा लिंगभेद दोष के कुछ अपवाद भी उल्लिखित किए हैं। 'स तस्याः छाया इव' (वह पुरुष उस स्त्री की छाया के समान है) तथा 'पुरुष इव स्त्री' (स्त्री पुरुष के समान है) उदाहरणों में 'सः' पुल्लिग तथा 'छाया' स्त्रीलिंग का लिंग विपर्यय प्रथम उदाहरण में विद्यमान है तथा द्वितीय उदाहरण के अंतर्गत उपमेय 'स्त्री' स्त्रीलिंग और उपमानरूप पुरुष पुल्लिग है फिर भी इन प्रयोगों में दोष नहीं माना जाता क्योंकि लोकव्यवहार में इस प्रकार के प्रयोग प्रायः दृष्टिगोचर होते हैं। वामन ने समासाभिहित उपमा में लिंग भेद दोष का अपवाद 'भुजलता नीलोत्पल सदृशी' उदाहरण में माना है जिसमें 'भुजलता' शब्द स्त्रीलिंग तथा 'नीलोत्पल' शब्द नपुंसक लिंग होने पर भी दोष विधायक नहीं है।

4. वचन भेद दोष—उपमेय और उपमान शब्दों के 'वचन' में भेद होने पर वचन भेद दोष होता है। उदाहरणार्थ 'पास्यामि लोचने तस्याः पुष्पं मधुलिहो यथा' (उस नायिका के नेत्रों का पान भौंरे के समान करूँगा) पंक्ति में 'पास्यामि' क्रियापद से उपमेय में एकवचन सूचित होता है किन्तु उपमानभूत 'मधुलिहः' पद बहुवचनांत है। इस प्रकार का उपमेयोपमानगत वचनभेद उपमादोष का हेतु माना जाता है।

5. असादृश्य दोष—लोक में प्रतीत न होने वाले गुणों द्वारा जहाँ सादृश्य प्रदर्शित किया जाता है, वहाँ असादृश्य उपमा दोष होता है।[106] इसका उदाहरण 'ग्रथ्नामि काव्यशशिनं विततार्थरश्मिम्' है जिसमें चन्द्रमा के साथ काव्य का जो सादृश्य दिखलाया गया है, वह अनुभव में न आने वाले गुणों से वर्णित है अतः यहाँ असादृश्य रूप

उपमा दोष है। उपर्युक्त पंक्ति का अर्थ 'फैली हुई अर्थरूपिणी रश्मियों से युक्त काव्य रूप चन्द्रमा को ग्रथित करता हूँ' है जिसे ध्यान में रखते हुए इस दोष की व्याख्या की गई है। अर्थों और रश्मियों में सादृश्य का कोई हेतु रूप गुण न होने के कारण ही यह दोष माना गया है अन्यथा इस उदाहरण में दोष न मानने वाले आचार्यों का यह तर्क है कि अर्थ में रश्मितुल्यता मान लेने पर उसे प्रतीत सादृश्य के आधार पर काव्य में भी शशितुल्यता हो जाएगी। जिसके कारण वहाँ यह दोष न रहेगा। वामन इस व्याख्या से संतुष्ट नहीं हैं। उन्होंने उपर्युक्त उदाहरण में असादृश्य दोष माना है। उनके मतानुसार उपमा अलंकार का जीवन ही सादृश्य पर निर्भर है अतः उसके अभाव में वह नष्ट हो जाती है तथा सादृश्य विहीन उपमा के प्रयोक्ता कविजन यश और प्रतिष्ठा से वंचित होकर मारे जाते हैं।"[107]

6. असम्भव दोष—उपमान की अनुपपत्ति में असम्भव उपमा दोष होता है। इसका उदाहरण निम्नलिखित श्लोक है जिसमें खिले हुए कमल के भीतर चाँदनी का वर्णन किया गया है जो अनुपपन्न है क्योंकि कमल रात में न खिलकर दिन में खिलता है और चाँदनी रात में विकसित होती है। कमल और चाँदनी के माध्यम से दिन का और रात का यह सम्बन्ध-चित्रण अनुपपन्न और असम्भव है। अतः इस उदाहरण में यह दोष माना गया है। छंद इस प्रकार है—

चकास्ति वदनस्यान्तः स्मितच्छाया विकासिनः।
उन्निद्रस्यारविन्दस्य मध्ये मुग्धेव चन्द्रिका॥

उपमा प्रपंचविचार

प्रतिवस्तूपमा और समासोक्ति (अर्थालंकार)

वामन ने यमक, अनुप्रास और उपमा अलंकारों का निरूपण करने के पश्चात् अपने अभिमत अलंकारों का विवेचन किया है। वे सभी अलंकार उपमा प्रपंच के अन्तर्गत समाविष्ट किए गए हैं जिनकी संख्या तीस है। इन अलंकारों में प्रतिवस्तूपमा सम्पूर्ण उपमा-प्रपंच का मूल है क्योंकि 'वाक्यार्थ उपमा' से उसका सादृश्य होने के कारण वह सर्वप्रथम विवेचित हुआ है। वामन ने उपमेय का कथन होने पर उसके समान अन्य वस्तु के वर्णन में प्रतिवस्तूपमा मानी है जो वाक्यार्थस्वरूपा होती है।[108] इसमें उपमेय और उपमान दोनों दो वाक्यार्थ रूप रहते हैं जबकि वाक्यार्थोपमा में दोनों मिलकर एक वाक्यार्थ हो जाते हैं। प्रतिवस्तूपमा का उदाहरण निम्नलिखित छंद है[109] जिसमें प्रथम पंक्ति वाक्यार्थभूत उपमेय रूप है तथा द्वितीय पंक्ति उपमान-रूप। प्रथम पंक्ति के उपमेय रूप में यह बात कही गई है कि देवीभाव अर्थात् पटरानी पद पर अभिषिक्त यह नायिका सामान्य परिजनों की भाँति सामान्य व्यवहार के योग्य नहीं है जिसका उपमान रूप द्वितीय पंक्ति में इस प्रकार कहा गया है कि देवता के रूप में अंकित रत्न सामान्य रत्नों के समान उपभोग्य नहीं होता। ये दोनों कथन प्रतिवस्तु अथवा प्रतिद्वन्द्वी रूप में है अतः उपर्युक्त उदाहरण में प्रतिवस्तूपमा अलंकार है। इसे समासोक्ति अलंकार नहीं कहा

जा सकता क्योंकि समासोक्ति में उपमेयभूत वाक्यार्थ का कथन नहीं होता तथा समान वस्तु (उपमान) का वर्णन किया जाता है।[110] एक प्रकार से संक्षिप्त कथन का नाम ही समासोक्ति है जिसका उदाहरण निम्नलिखित छंद[111] है जिसमें उपमानरूप मरुस्थल में स्थित करील की प्रशंसा तथा सुमेरु पर्वत पर स्थित कल्पवृक्षों की निन्दा उनके उपमेय रूप का कथन किए बिना ही की गई है जिससे परोपकारी निर्धन की प्रशंसा तथा अपकारी धनिक की निन्दा का संक्षिप्त कथन स्वतः ही हो जाता है। परोपकारी निर्धन तथा अपकारी धनिक उपमेय रूप में वर्णित हो सकते थे किन्तु उनका उल्लेख न होने के कारण केवल उपमानभूत पदार्थों के कथन से ही उनका संसूचन किया गया है जो अपनी संक्षिप्तता के कारण समासोक्ति अलंकार के कारण बन गए हैं।

अप्रस्तुत प्रशंसा

विवेचना के इसी क्रम में समासोक्ति और अप्रस्तुत प्रशंसा का अंतर भी उल्लेखनीय है। वामन ने 'किंचिदुक्ताव प्रस्तुत प्रशंसा' सूत्र में अप्रस्तुत प्रशंसा का लक्षण निर्धारित किया है। जिसके अनुसार अप्रस्तुत प्रशंसा वहाँ होती है जहाँ उपमेय का लिंग-मात्र से किंचित् कथन करने पर समान वस्तु का न्यास (वर्णन) हो जाता है।[112] इसका उदाहरण निम्नलिखित छंद है जिसमें कोई प्रेमी युवक किसी युवती को नदी तट पर स्नानार्थ आई हुई देखकर उसका नदी रूप में वर्णन करता है जिसमें प्रयुक्त 'लावण्य' पद से उसके उपमेयभूतमुख और नेत्र आदि का वर्णन उत्पल आदि अप्रस्तुत पदार्थों की प्रशंसा द्वारा स्वतः ही हो जाता है। उदाहरण इस प्रकार है—

लावण्यसिंधुरपरैव हि काचनेयं
यत्रोत्पलनि शशिना सह सम्प्लवन्ते।
उन्मज्जति द्विरदकुंभतटी च यत्र
यात्रापरे कदलिकाण्डमृणालदण्डाः॥

अपह्नुति और रूपक

अपह्नुति अलंकार भी अतिवस्तूपमा से भिन्न है क्योंकि अपह्नुति तुल्य वस्तु अर्थात् उपमान से अन्य वस्तु अर्थात् उपमेय का अपलाप अर्थात् निषेध किया जाता है।[113] यह निषेध अथवा छिपाव रूपक अलंकार में नहीं होता। रूपक और अपह्नुति में मूल अंतर इतना ही है कि रूपक में तो पदार्थों का शब्द ताद्रूप्य होता है जबकि अपह्नुति में शब्द ताद्रूप्य न होकर वाक्यार्थों के तात्पर्य से अर्थात् ताद्रूप्य का आपेक्ष कराया जाता है। वामन ने इसी दृष्टिकोण से रूपक अलंकार को 'उपमानोपमेयस्य गुणसाम्यात् तत्त्वारोपो रूपकम्' कहा है।[114] अपह्नुति और रूपक अलंकारों के अंतर निम्नलिखित उदाहरणों द्वार स्पष्ट किया जा सकता है—

अपह्नुति अलंकार

न केतकीनां विलसंति सूचयः प्रवासिनोहंत हसत्ययं विधिः ।
तडिल्लतेयं न चकास्ति चंचला पुरः स्मर ज्योतिरिदं विवर्तते ।।

अर्थ—यह केतकी की सूचियाँ नहीं हैं अपितु वियोगियों पर दैव हँस रहा है। यह चंचल विद्युल्लता (बिजली) शोभित नहीं हो रही है अपितु काम की ज्योति विवर्त रूप में सम्मुख प्रकट हो रही है।

रूपक अलंकार—

इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्तिर्नयनयोः
असावस्याः स्पर्शो वपुषि बहुलश्चंदनरसः ।
अयं कण्ठे बाहुः शिशिरमसृणो मौक्तिक सरः
किमस्या न प्रेयो यदि परमसह्यस्तु विरहः ।।

अर्थ—यह (सीता) घर में लक्ष्मी, नेत्रों में अमृत की शलाका है। इसका शीतल स्पर्श शरीर में प्रचुर चंदन रस का लेप है। इसका शीतल और चिकना बाहु गले में मोतियों का हार है। इसकी कौन-सी वस्तु प्रिय नहीं है ? यदि कुछ अप्रिय (असह्य) है तो केवल इसका वियोग ही है।

उपर्युक्त छंद भवभूति प्रणीत 'उत्तररामचरितं' नाटक से उद्धृत किया गया है जिसमें भगवान श्रीराम सीता के विषय में 'इयं' सर्वनाम द्वारा उसका निर्देश करते हुए उसमें लक्ष्मीत्व, अमृतवर्तित्व, चन्दनरसत्व यथा मुक्ताहारत्व आदि का आरोपण करते हैं, अतः इस छंद में रूपक अलंकार है ।

श्लेष

वामन ने रूपक और श्लेष अलंकार का अंतर 'स धर्मेषुतंत्रप्रयोगे श्लेषः' सूत्र द्वारा व्यक्त किया है।[115] यहाँ 'तंत्र' का अर्थ एक बार के उच्चारण से अनेक अर्थों का बोध रूप अनेकोपकारित्व हैं जिसके प्रयोग से उपमानोपमेय धर्मों में श्लेष अलंकार होता है। श्लेष अलंकार अनेक अलंकार शास्त्रियों के विवेचन का रुचिकर विषय रहा है। साहित्य-दर्पणकार विश्वनाथ ने वर्ण, प्रत्यय, प्रकृति, लिंग, पद, विभक्ति, वचन और भाषा श्लेषों के नाम से इसके आठ भेद निरूपित करते हुए उसे सभंग, अभंग तथा सभंगाभंग रूपों में निरूपों में निरूपित किया है ।[116] मम्मट आदि आचार्यों ने शब्द श्लेष और अर्थ श्लेष की विवेचना द्वारा इसे नवीन चमत्कृति प्रदान की है। विस्तारभय से यहाँ उनका सामान्य कथन मात्र किया गया है ।

वक्रोक्ति

वामन ने रूपक के मुखचंद्र आदि उदाहरणों में मुख में चन्द्रत्व आदि के आरोपों में जिस प्रकार गौण अर्थ का अलंकारत्व माना है उसी प्रकार लाक्षणिक अर्थ का भी अलंकारत्व स्वीकार किया है । इस दृष्टि से वक्रोक्ति अलंकार उल्लेखनीय है जिसे उन्होंने 'सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः'[117] कहा है। यों तो लक्षणा के अनेक उदारण प्रस्तुत

किये हैं जिनमें 'उन्मिमील कमलं सरसीनां कैरवं च निमिमील मुहूर्तात्' उदाहरण उल्लेखनीय है जिसमें सूर्योदय होते ही सरोवरों में कमल खिलने तथा कुमुद बंद होने के सादृश्यमूलक लक्षणा द्वारा सूचित किया गया है अत: यहाँ वक्रोक्ति अलंकार है। असादृश्य निमित्तक लक्षणा वक्रोक्ति नहीं होती जैसा कि 'जरठकमलकंदच्छेदगौरैर्मयूखैः' उदाहरण से स्पष्ट है जिसका 'छेद' शब्द सामीप्य सम्बन्ध के कारण 'द्रव्य' को लक्षित करता है किन्तु उसमें गौरत्व की उपपत्ति होने के कारण यहाँ सादृश्मूला लक्षणा नहीं है। विश्वनाथ और कुंतक आदि आचार्यों ने वक्रोक्ति का निरूपण भिन्न दृष्टि से किया है जिनका उल्लेख उनकी विवेचना के अंतर्गत किया गया है।

उत्प्रेक्षा

वामन ने रूपक और वक्रोक्ति से उत्प्रेक्षा अलंकार का अंतर प्रदर्शित करने के लिए उत्प्रेक्षा का लक्षण 'अतद्रूपस्यान्यथाध्यवसानमतिशयार्थमुत्प्रेक्षा सूत्र में[118] निरूपित किया है जिसके अनुसार 'जो वस्तु जैसी नहीं है, उसका अतिशय द्योतन करने के लिए जहाँ उसके वास्तविक स्वरूप से भिन्न रूप में अन्यथा सम्भावना की जाती है वहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार होता है। इस लक्षण में प्रयुक्त 'अध्यवसाय' शब्द सम्भावना को उत्कटै ककोटिक: संशय: रूप में व्यक्त करता है। इस प्रकार के संशय में जो सम्भावना होती है वह वक्ता द्वारा अध्यारोपित नहीं होती अपितु उसका वक्ता वस्तु के यथार्थ स्वरूप का ज्ञाता होने पर भी किसी प्रकार के अतिशय द्योतन के लिए अतद्रूप में उसकी सम्भावना करता है। उप्रेक्षा में निश्चयात्मक ज्ञान नहीं रहता अपितु उसमें 'उत्कटैककोटिरूपा' सम्भावना मात्र ही अभिप्रेत होती है। जो विद्वान् उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति को एक मानते हैं उनका खण्डन करने के लिए वामन ने अतिशयोक्ति को 'सम्भाव्यधर्मतदुत्कर्षकल्पनाऽतिशयोक्तिः' कहा है जिसके अनुसार सम्भाव्य धर्म तथा उसके उत्कर्ष की कल्पना अतिशयोक्ति है।[119]

संदेहालंकार

वामन ने भ्रांतिज्ञानस्वरूपा उत्प्रेक्षा और संशयज्ञानस्वरूप संदेह अलंकारों का अंतर स्पष्ट करने के लिए 'संदेह' को 'उपमानोमेय-संशय: संदेह:' माना है।[120] जहाँ अतिशय चमत्कृति के आधान के लिए उपमेय में उपमान और उपमेय इन दोनों का परामर्शी संशय किया जाता है वहाँ संदेह अलंकार होता है। इसका उदाहरण निम्नलिखित श्लोक है जिसमें किसी रमणी के उपमेय रूप चक्षु और उपमान रूप कर्णोत्पल के वर्णन में दो विरुद्ध धर्मों का परामर्श होने से संदेह अलंकार है। उदाहरण इस प्रकार है—

इदं कर्णोत्पलं चक्षुरिदं वेति विलासिनि।
न निश्चिनोति हृदयं किन्तु दोलायते मन:॥

अर्थ—हे सुन्दरी, यह तुम्हारे कान का नीलकमल है अथवा कान तक फैली हुई तुम्हारी आँख है, इस बात का निश्चय न कर पाने के कारण मेरा मन संशय (द्विविधा) में पड़ा हुआ है।

विरोध और विभावना

विरुद्ध न होते हुए भी जहाँ विरुद्ध तुल्य अर्थ की प्रतीति होती हैं, वहाँ विरोध अलंकार होता है।[121] इसका उदाहरण 'पीतं पानमिदं त्वयाद्य दयिते मत्तं ममेदं मन:' है जिसका अर्थ यह है कि हे प्रिये, आज तुमने मदिरापान किया है किन्तु तुम्हें देखकर मेरा मन उन्मत्त हो रहा है।' वामन ने उपर्युक्त पंक्ति में विरोधाभासता की संगति स्वीकार करते हुए उसके दो प्रकार के कथनों में विरोध प्रतीति मानी है जिसे परवर्ती आचार्यों ने असंगति अलंकार की कोटि में रखा है। इसी क्रम में विरोध और विभावना अलंकार का अंतर स्पष्ट करने के प्रयोजन से वामन ने विभावना का लक्षण 'क्रियाप्रतिषेधे प्रसिद्धतत्फल व्यक्तिर्विभावना' माना है[122] जिससे स्पष्ट है कि कारण रूप क्रिया का निषेध होने पर उसके प्रसिद्धफल की उत्पत्ति का वर्णन विभावना अलंकार कहलाता है। इसका उदाहरण निम्नलिखित छंद[123] है जिसमें कहा गया है कि असज्जनों की संगति होने पर भी बुद्धिमान पुरुषों के (बिना धोये ही निर्मल) हृदयों में विकार नहीं रहता। भामह का विभावना लक्षण वामननिरूपित लक्षण से मिलता-जुलता है जिसे विश्वनाथ ने उक्तनिमित्ता और अनुक्तनिमित्ता नामक प्रकारों में विभक्त करते हुए 'विभावना तु विना हेतुं कार्योत्पत्तिर्यदुच्यते' कहा है।[124]

अनन्वय अलंकार

'एकस्योपमेयोपमानत्वेऽनन्वय:' सूत्र के अनुसार एक ही पदार्थ के उपमेयत्व और उपमानत्व रूप वर्णन में अनन्वय अलंकार होता है।[125] इसका प्रसिद्ध उदाहरण निम्न लिखित श्लोक है जिसमें आकाश को आकाश के समान, सागर को सागर के समान तथा रामरावण के युद्ध को रामरावण युद्ध के समान कहा गया है—

गगनं गगनाकारं सागर: सागरोपम:।
रामरावण योर्युद्धं रामरावणयोरिव॥

उपमेयोपमा

उपमेयोपमा अलंकार में एक ही अर्थ का उपमेयत्व और उपमानत्व क्रमपूर्वक वर्णित होता है।[126] इसका उदाहरण निम्नलिखित छंद है जिसमें जल को आकाश के समान स्वच्छ और प्रकाश को जल के समान निर्मल माना गया है। इसी क्रम से चन्द्रमा को हंस के समान शुभ्र तथा हंस को चन्द्रमा के समान धवल कहते हुए तारकों और कुमुदों के आकार में भी इस प्रकार का क्रम सादृश्य दिखलाया गया है। उदाहरण इस प्रकार है—

खमिव जलं जलमिव खं हंस इवशशी शशीव हंसोऽयम्।
कुमुदाकारास्तारा ताराकाराणि कुमुदानि।

यों तो उपमेयोपमा में भी अनन्वय अलंकार की भाँति एक ही अर्थ का उपमान-उपमेय-भाव होता है। किन्तु दोनों में मौलिक अंतर यह है कि अनन्वय में 'गगनं-

गगनाकारं' आदि उदाहरणों में एक ही पदार्थ का एक ही साथ उपमानोपमेय होता है जबकि उपमेयोपमा में दोनों का उपमानोपमेय भाव एक साथ न होकर क्रमपूर्वक होता है। 'खमिव जलं' में जल उपमेय और आकाश (ख) उपमान है जबकि जलमिव खं में जल उपमान और आकाश उपमेय हो गया है। कुछ विद्वान् उपमेयोपमा को 'परिवृत्ति' अलंकार भी कहते हैं किन्तु वामन उन्हें भिन्न-भिन्न मानते हैं।

परिवृत्ति अलंकार

परिवृत्ति अलंकार का लक्षण 'समविसदृशाभ्यां परिवर्तनं परिवृत्तिः' है जिसके अनुसार समान अथवा असमान वस्तुओं से होने वाले परिवर्तन को परिवृत्ति कहते है।[127] इसमें समान अथवा असमान अर्थ से अन्य अर्थ का परिवर्तन होता है। इसका उदाहरण निम्नलिखित छंद है जिसमें कहा गया है कि यह नायिका कान का अरुण किसलय लेकर उसे अरुण चरण में अर्पित करती है। किसलय तथा चरण इन दोनों में 'समविनिमय' होने के कारण उन दोनों में से किसी ने भी एक-दूसरे को नहीं ठगा है।

आदाय कर्णकिसलयमियमस्मै च रणमरुणमर्पयति।
उभयोः सदृशविनिमयाद न्योन्यमवंचितं मन्ये।।

क्रमालंकार

'क्रम' अथवा यथासंख्य अलंकार वहाँ होता है जहाँ उपमान और उपमेयों का सम्बन्ध एक विशेष प्रकार के क्रम से प्रदर्शित किया जाता है।[128] निम्नलिखित उदाहरण में किसी नायिका के आलाप, स्मित और दृष्टि की प्रबन्धलीलाओं का क्रम वल्लकी (वीणा) कुंदकुसुम और नीलकमलों की मालाओं को जीतने के रूप में निरूपित हुआ है, अतः यहाँ क्रम अलंकार है---

तस्याः प्रबंधलीलाभिरालापस्मित दृष्टिभिः।
जीयन्ते वलल्लकी कुंदकुसुमेन्दीवरस्रजः।।

दीपक अलंकार

उपमान और उपमेय वाक्यों में एक क्रिया का सम्बन्ध दिखलाने पर दीपक अलंकार होता है।[129] इसे 'देहली दीपक न्याय' से समझा जा सकता है जिसका आशय यह है कि जिस प्रकार देहली पर रखा हुआ दीपक भीतर और बाहर दोनों ओर प्राकाश करता है, उसी प्रकार एक ही क्रिया-पद उपमान और उपमेय वाक्यों से सम्बद्ध होता है। आदि, मध्य और अंत वाक्यों में इस प्रकार की योजना की जाती है जिसके कारण इस अलंकार के आदि दीपक, मध्य दीपक और अंत दीपक नामक तीन भेद किये जाते हैं।[130] वामन ने तीनों के उदाहरण प्रस्तुत करते हुए उनका अंतर स्पष्ट किया है। सामान्य जानकारी के लिए अंत दीपक का उदाहरण दिया जाता है जो इस प्रकार है—

गुरु शुश्रूषया विद्या मधुगोष्ठ्या मनोभवः।
उदयेन शशांकस्य पयोधिरभिवर्धते ॥

उपर्युक्त उदाहरण के तीन वाक्यों के साथ अन्वित होने वाली एक क्रिया 'अभिवर्धते' उनके अंत में प्रयुक्त हुई है जिसके अनुसार उपर्युक्त श्लोक का यह अर्थ है कि गुरुओं की सेवा से विद्या, मदिरापान की गोष्ठी से कामदेव तथा चन्द्रमा के उदय से समुद्र बढ़ता है। वामन विवेचित दीपक अलंकार एक प्रकार से क्रिया दीपक कहा जा सकता है जबकि विश्वनाथ ने उसके अतिरिक्त 'कारकदीपक' भी माना है।[131] कारकदीपक में एक ही कारक का अन्वय अनेक क्रियाओं के साथ होता है। कुंतक के मतानुसार क्रिया दीपक के स्थान पर 'वस्तुदीपक' पद का प्रयोग अधिक युक्तिसंगत है। इस अलंकार के विषय में भामह और वामन के विचारों में पूर्ण साम्य है। कारकदीपक का उदाहरण निम्नलिखित छंद है जिसमें एक ही कर्ता कारक 'सा' अनेक क्रियाओं (उत्तिष्ठति, स्वपिति, आयाति, याति, हसति और श्वपिति) के साथ अन्वित होने से कारकदीपक अलंकार का बोधक है। निम्नलिखित छंद में वियोगिनी नायिका की मनोदशा का चित्रण अनेक क्रियाओं के अन्वित रूप में किया गया है—

दूरं समागतवतित्वयि जीवनाथे
भिन्ना मनोभवशरेण तपस्विनी सा।
उत्तिष्ठति स्वपितिवास गृहं त्वदीय—
मायाति याति हसिति श्वसिति क्षणेन ॥

निदर्शनाकार

जहाँ शुद्ध (अन्यनिरपेक्ष) क्रिया द्वारा ही अपना और अपने प्रयोजन के सम्बन्ध का बोधन किया जाता है, वहाँ निदर्शन अलंकार होता है।[132] इसमें भी दीपक अलंकार की भाँति संक्षिप्त शैली का आश्रय लिया जाता है तथा इसके सम्बन्ध का बोधन हेतु तथा दृष्टांत के मिश्रण द्वारा प्रदर्शित होता है। इसका उदाहरण निम्नलिखित छंद है जिसमें प्रयुक्त 'पतति' क्रिया का प्रयोजन इस बात का बोधन करने के निमित्त है कि 'अत्यन्त उच्च पद की प्राप्ति पतन के लिए होती है। 'अर्थशालिनाँ शंसत्' पद से उपर्युक्त बात का 'ख्यापन' हुआ है। छंद का मुख्य आशय यह है कि धनवानों की उच्च पद प्राप्ति अंततोगत्वा पतन के लिए होती है जिसका निदर्शन वृक्ष बंधन की ग्रंथि से टूट कर गिरने वाला पीला पत्ता है—

अत्युच्चपदाध्यासः पतनायेत्यर्थशालिनां शंसत्।
आपाण्डु पतति पत्रं तरोरिंद बन्धनग्रन्थेः॥

अर्थान्तरन्यास

निदर्शन अलंकार से मिलता-जुलता अलंकार अर्थान्तरन्यास है किन्तु इन दोनों का अंतर भी स्पष्ट रूप में समझा जा सकता है। वामन ने अर्थान्तरन्यास का लक्षण

'उक्तसिद्ध्यै वस्तुनोऽर्थान्तरस्यैव न्यसनमर्थान्तर न्यासः' सूत्र में निरूपित किया है ।[133] जिसके अनुसार जहाँ उक्त (कथित) अर्थ की सिद्धि अथवा समर्थन के लिए जहाँ किसी अन्य वाक्यार्थ रूप अर्थ का प्रस्तुतीकरण किया जाता है, वहाँ अर्थान्तरन्यास अलंकार होता है । इसमें निदर्शन अलंकार की भाँति अर्थ सिद्धि के लिए हेतु का प्रतिपादन आवश्यक नहीं है । परवर्ती आचार्यों ने इस अलंकार का स्पटीकरण अधिक सरलता से किया है । विश्वनाथ ने सामान्य का विशेष से तथा विशेष का सामान्य से समर्थन करने में अर्थान्तरन्यास मानते हुए उसे आठ भेदों में विभक्त किया है ।[134] सामान्य का विशेष से समर्थन करने का उदाहरण निम्नलिखित छंद है--

वृहत्सहाय: कार्यान्तं क्षोदीयानपि गच्छति ।
सम्भूयाम्भोधिमभ्येति महानद्या नगापगा ।।

व्यतिरेकालंकार

जहाँ उपमान की अपेक्षा उपमेय में गुणों का आधिक्य वर्णित होता है, वहाँ व्यतिरेक अलंकार माना जाता है ।[135] इसमें प्रयुक्त गणातिरेक्य वाच्य तथा गम्यमान इन दोनों रूपों में हो सकता है । मम्मट और विश्वनाथ आदि परवर्ती आचार्यों ने इनका निरूपण अत्यन्त व्यापकता से किया है । 'साहित्य दर्पण' में इसके अड़तालीस भेद परिकल्पित किये गये हैं । इसका एक उदाहरण निम्नलिखित छंद है जिसमें प्रयुक्त उपमान रूप चन्द्रमा में कलंक तथा उपमेय रूप मुख को निष्कलंक कहते हुए उपमेय में गुणों की अधिकता अथवा अतिरेकता मानी गई है—

सत्यं हरिणशावाक्ष्या: प्रसन्नसुभगं मुखम् ।
समानं शशिन: किन्तु स कलंकविडम्बित: ।।

विशेषोक्ति

विशेषोक्ति अलंकार में एक गुण की न्यूनता की कल्पना तो की जाती है किन्तु अन्य गुणों से उसका साम्य भी सुदृढ किया जाता है ।[136] वामन ने उसका उपर्युक्त लक्षण 'एक गुणहानिकल्पनायां साम्यदार्ढ्यं विशेषोक्तिः' सूत्र में निर्दिष्ट किया हैं । इसका उदाहरण कुमार संभव महाकाव्य के प्रथम सर्ग की 'भवंति यत्रौषधयो रजन्याम तैलपूरा: सुरतप्रदीपा:' छंद पंक्ति है जिसमें हिमालय पर्वत पर रात्रिकाल में चमकने वाली औषधियों को सुरतकाल में दीपक का काम करने वालो वस्तुएं कहा गया है । इस पंक्ति में 'अतैलपूरा:' विशेषणपद एक गुण की न्यूनता (तेल का अभाव) का सूचक है किन्तु उस अभाव (न्यूनत्व, हीनत्व) के होते हुए भी औषधियों के दीपक के साथ साम्य की दृढ़ता होती है अत: यहाँ विशेषोक्ति अलंकार है । औषधियों को सुरत प्रदीप का रूप देने से इसमें रूपक सादृश्य भी है अत: वामन ने विशेषोक्ति को 'प्रायेण रूपक' कहा है । इसके कतिपय उदाहरण निम्नलिखित हैं—

1. द्यूतं हि नाम पुरुषस्यासिंहासनं राज्यम् (पुरुष के लिए जुआ बिना सिंहासन का राज्य है।)
2. निद्रेयम कमला लक्ष्मीः (यह निद्रा बिना कमल वाली लक्ष्मी है)
3. हस्ती हि जंगमं दुर्गम् (हाथी चलता-फिरता किला है)
4. वेश्या हि नाम मूर्तिमत्येव निकृतिः (वेश्या मूर्तिमती तिरस्कृति (अवमानना) है।)
5. व्यसनं हि नाम सोच्छ्वासां मरणम् (व्यसनदुःख जीवित रहते हुए मृत्यु है।)
6. द्विजो भूमिवृहस्पतिः (ब्राह्मण पृथ्वी का वृहस्पति है।)

उपर्युक्त सभी उदाहरणों में किसी न किसी रूप में एक गुण की हानि अथवा न्यूनता प्रदर्शित की गई है किन्तु उसके साथ अन्य गुणों का साम्य भी सुदृढ़ हुआ है अतः इन सभी उदाहरणों में विशेषोक्ति अलंकार है।

व्याजस्तुति और व्यजोक्तिः

वामन ने 'सम्भाव्यविशिष्टकर्माकरणान्निदा स्तोत्रार्था व्याजस्तुतिः' सूत्र में व्याजस्तुति अलंकार का लक्षण निरूपित किया है।[137] जहाँ किसी विशिष्ट पुरुष द्वारा कर सकने योग्य कर्मों के न करने पर वस्तुतः स्तुति के लिए निन्दा की जाती है वहाँ व्याजस्तुति अलंकार होता है। भामह और वामन ने केवल स्तुति के लिए की जाने वाली निन्दा को व्याजस्तुति माना है जब कि मम्मट और विश्वनाथ आदि आचार्य निंदा के लिए की जाने वाली स्तुति को भी व्याजस्तुति कहते है। वामन ने व्याजस्तुति से भिन्न 'व्याजो-क्ति' नामक अलंकार भी निरूपित किया है जिसमें व्याज का सारूप्य सत्य के साथ प्रदर्शित किया जाता है।[138] इसका यह अभिप्राय है कि असत्य के बहाने जहाँ सत्य का सादृश्य प्रतिपादित होता है, वहाँ व्याजोक्ति अलंकार माना जाता है। इसे कुछ विद्वानों ने 'मायोक्ति' भी कहा है। इसका उदाहरण निम्नलिखित छंद है जिसमें सात्वि-कभावजन्य अश्रुपात को काश पुष्प के तिनके के आंख में पड़ जाने से होने वाला अश्रुपात कह कर सत्य को छुपाने का प्रयास किया गया है—

शरच्चन्द्रांशुगौरेण वाताविद्धेन भामिनि।
काशपुष्पलवेनेदं साश्रुपातं मुखं कृतम्॥

तुल्ययोगिता

जहाँ विशिष्ट (अधिक) गुणवाले उपमान के साथ न्यून गुणवाले उपमेय के साम्य के प्रतिपादन के लिए उन दोनों का एक ही काल में होने वाली क्रिया में योग वर्णित किया जाय वहाँ तुल्ययोगिता होती है।[139] इसका उदाहरण 'जलधिरशनामिमां धरित्रीं वहति भुजंगविभुर्भवद्भुजश्च' है जिसका अर्थ यह है कि समुद्र रूपी रशना (करधनी) को धारण करने वाली यह पृथ्वी शेषनाग तथा आपकी भुजा से धारण की जाती है। इस

उदाहरण में उपमान भूत शेषनाग तथा उपमेयभूत राजा की भुजा के साथ एक ही तुल्य धर्म का योग होने के कारण यहाँ तुल्ययोगिता अलंकार है।

आक्षेपालंकार

उपमान का आक्षेप अथवा प्रतिषेध आक्षेप अलंकार कहलाता है। जहां तुल्य-कार्य वाले अर्थ की निरर्थकता विवक्षित होती है, वहाँ यह अलंकार माना जाता है। वामन ने इसे 'उपमानक्षेपश्चाक्षेप: 'सूत्र[140] में निरूपित किया है जिसका अर्थ यह भी हो सकता है कि जहाँ उपमान की अर्थ प्रतीति आक्षेप से होती है वहाँ आक्षेप अलंकार मानना चाहिए। इसका उदाहरण 'तस्याश्चेन्मुखमस्ति सौम्यसुभगं किं पार्वणेनेन्दुना' पंक्ति है जिसमें यह बात कही गई है कि यदि उस नायिका का सौम्य और सुन्दर मुख विद्यमान है तो फिर उसी के समान कार्य करने वाले पूर्णिमा के चन्द्रमा की क्या आवश्यकता अथवा उपयोगिता है। यह कथन एक प्रकार से उपमानभूत चन्द्रमा का आक्षेप अथवा प्रतिषेध है, अत: यहाँ आक्षेप अलंकार हैं।

सहोक्ति अलंकार

दो वस्तुओं की तुल्यकालीन दो क्रियाओं को एक ही पद से एक साथ कथन करना सहोक्ति अलंकार का लक्षण है।[141] इसका उदाहरण 'अस्तं भास्वान प्रयात: सह रिपुभिरयं संह्रियन्तां बलानि' है जिसमें यह कहा गया है कि 'शत्रुओं के साथ सूर्य भी अस्ताचल की ओर चला गया है अत: सारी सेनाएँ लौटा दो।' इस उदाहरण में अर्थों की न्यूनता और अधिकता विवक्षित नहीं है तथा 'प्रयात:' और 'संह्रियन्तां' क्रियाएँ एक ही पद से एक साथ कथन की गई है अत: यहाँ सहोक्ति अलंकार है।

समाहित अलंकार

वामन ने 'यत्सादृश्यं तत्सम्पत्ति: समाहितम्' सूत्र द्वारा[142] समाहित अलंकार का निरूपण किया है जिसके अनुसार जहाँ जिस वस्तु का सादृश्य उपमेय में दिखलाना अभीष्ट है, वहाँ उस वस्तु के स्वरूप की प्राप्ति उपमेय द्वारा की जाने पर समाहित अलंकार होता है। इसका सुप्रसिद्ध उदाहरण वह संदर्भ है जिसमें बिना इस बात की कल्पना की गई है कि लता में उर्वशी का सादृश्य देखने वाले पुरूरवा के लिए (कल्पना वश) उर्वशी ही वह लता बन गई है।

संसृष्टि अलंकार

वामन ने उपमा प्रपंच विचार के अंतर्गत अपने अभिमत अर्थालंकारों का विवेचन करने के पश्चात् उनके शुद्ध और मिश्र रूपों का भी उल्लेख किया है। उनके मतानुसार विशिष्ट अलंकारों का मिश्रण संसृष्टि अलंकार होता है जिसका लक्षण 'अलंकारस्यालंकार योनित्वं संसृष्टि: 'सूत्र में निर्दिष्ट है।[143] संसृष्टि का अर्थ संसर्ग अथवा सम्बन्ध

है । वामन ने संसृष्टि अलंकार के दो भेद माने है जिनके नाम 'उपमारूपक' और 'उत्प्रेक्षा-वयव' हैं ।[144] उपमाजन्य रूपक उपमारूपक कहलाता है तो उत्प्रेक्षा का हेतु (रूपक आदि अन्य अलंकार) उत्प्रेक्षावयव माना गया है ।[145] इनके उदाहरण देते हुए वामन ने उनका अलंकार तत्त्व विवेचित किया है ।

काव्य समय और शब्द शुद्धि

वामन ने काव्यालंकार सूत्र के 'प्रायोगिक' नामक पंचम अधिकरण के प्रथम अध्याय में 'काव्य समय' के नाम से काव्य की अनुसरणीय परम्पराओं का निरूपण किया है । उन्होंने कुल सत्रह सूत्रों में 'काव्य समय' से सम्बद्ध ऐसे सत्रह नियम उल्लिखित किये है जिनका परिपालन करने से काव्य रचना के परम्परा प्राप्त नियमों अथवा आचारों का सफल निर्वाह हो सकता है । वे सभी नियम संस्कृत काव्य रचना की प्रकृति के अनुसार किये गये हैं । 'प्रायोगिक' अधिकरण का द्वितीय अध्याय 'शब्द शुद्धि' से सम्बन्धित है । इसमें कुल 91 सूत्र है जिनमें वामन ने उन शब्दों और क्रियापदों का विवेचन विशेष रूप से किया है जो ऊपरी दृष्टि से शुद्ध प्रतीत होते है किन्तु पाणिनीय व्याकरण के अनुसार उनका प्रयोग उचित और शुद्ध नहीं कहा जा सकता । इस अध्याय में ऐसे शब्दों का भी व्याकरण सम्मत विवेचन किया गया है जो वस्तुतः शुद्ध हैं किन्तु उनकी शुद्धता के प्रति शंकित रहने के कारण कविजन उनका प्रयोग नहीं करते । वस्तुतः वामन का यह विवेचन काव्य शास्त्र के मूल सिद्धांतों से सम्बद्ध न होकर उसके प्रायोजिक तथा व्यावहारिक पक्ष का उद्घाटन मात्र कराता है । उसकी उपयोगिता इस प्रयोजन में निहित है कि काव्य रचना करते समय किन-किन बातों का ध्यान रखना चाहिए । वामन ने सुप्रसिद्ध काव्य रचनाओं से उद्धरणों का चयन करते हुए उनके विशुद्ध प्रयोग निर्दिष्ट किये हैं । यह विवेचन एक प्रकार से 'कवि शिक्षा' का ही महत्वपूर्ण अंग है ।

वामन ने 'काव्य समय' के अंतर्गत जिन नियमों का उल्लेख किया है; वे सामान्य तथा विशेष प्रकार के कहे जा सकते हैं । काव्य में एक साथ अथवा एक वाक्य में एक पद का दो बार प्रयोग करना अनुचित है । छंद प्रयुक्त पदों में कुछ स्थलों को छोड़कर संधि के नियमों का पालन करना भी अनिवार्य है । जिससे भाषा शुद्धि के औचित्य का निर्वाह हो सके । उनके मतानुसार छंद के प्रारम्भ में 'खलु' 'हंत' 'इव' और 'किल' जैसे शब्द प्रयोग दोष मूलक होते हैं । वे बहुब्रीहि समास की प्रतीति कराने वाले कर्मधारय समास के प्रयोग को भी उचित नहीं समझते । उनका कथन है कि विशेष्य की प्रतीति हो जाने पर विशेषण मात्र का प्रयोग पर्याप्त समझा जाता है । काव्य में कुछ ऐसे स्थल और संदर्भ भी आते है जहाँ देशज शब्दों का प्रयोग शोभनीय और अवसरोचित माना जाता है । काव्य रचना में लाक्षणिक योजना भी वांछनीय है किन्तु उसकी भी अपनी सीमाएँ होती हैं । भ्रमर के लिए 'द्विरेफ' शब्द तो उपर्युक्त है किन्तु काक (कौआ) को 'द्विक' कहना अप्रसिद्ध और चिन्त्य है । 'स्तन', 'चक्षु' और 'कर' आदि युग्म अवयवों के बोधक शब्दों को द्विवचन में प्रयुक्त करना ही उचित समझा जाना चाहिए । जहाँ तक बने, शब्द प्रयोग

करते समय युक्ति, प्रमाण और लक्षण का पूर्ण ध्यान रखना चाहिए जिससे काव्य का सौन्दर्य निखरता रहे। वस्तुतः काव्य रचना शब्द साधना है जिसमें 'एकः शब्दःसम्यक्-ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग्मवति' जैसे आप्त वचनों का परिपालन सभी दृष्टियों से श्रेयस्कर है।

संदर्भ

1. वामन : काव्यालंकार सूत्र, 1/1/1
2. वही, 1/1/2
3. वही, 1/1/3
4. वही, 1/1/5 वृत्तिभाग
5. वही, 1/2/1
6. वही, 1/2/5
7. वही, 1/2/6
8. वही, 1/2/7
9 वही, 1/2/8
10. वही, 1/2/9
11. वही, 1/2/10
12. वही, 1/2/11 वृत्तिभाग
13. वही, 1/2/12
14. वही, 1/2/13 वृत्तिभाग
15. वही, 1/2/13 वृत्तिभाग
16. वही, 1/2/13 वृत्तिभाग
17. विल्हणः विक्रमांकदेवचरितम्, 1/9
18. पद्मगुप्त परिमलः नवसाहसांक चरितम्, 1/5
19. नीलकण्ठ : नलचरितम् नाटक, अंक 2
20. श्री हर्ष : नैषध चरितम्, 3/116
21. वामन : काव्यालंकारसूत्र, 1/2/21 वृत्तिभाग
22. वही, 1/2/17
23. वही, 1/2/18
24. पतंजलि : योगदर्शन 1/18
25. वामनः काव्यालंकारसूत्र, 1/2/19
26. बही, 1/2/20
27. वही, 1/2/22

28. वही, 1/3/1
29. वही, 1/3/2
30. वहा, 1/3/3
31. पतंजलि : महाभाष्य, प्रथम आह्निक
32. भामह : काव्यालंकार, 1/11
33. दण्डी : काव्यादर्श में उद्धृत
34. वामन : काव्यालंकार सूत्र, 1/3/5 वृत्ति
35. वही, 1/3/10
36. वही, 1/3/11
37. वामनः काव्यालंकार सूत्र, 1/3/21 वृत्तिभाग
38. वही, 1/3/27
39. वही, 1/3/28
40. वही, 1/3/30-1
41. वही, 2/1/1
42. वही, 2/1/2
43. वही, 2/1/3
44. वही, 2/1/4
45. पतंजलिः अष्टाध्यायी, 6/3/99
46. वामनः काव्यालंकार सूत्र, 2/1/7
47. वही, 2/1/10
48. वही, 2/1/11
49. वही, 2/1/12
50 वही, 2/1/13
51. वही 2/1/14
52. वही, 2/1/16
53. वही, 2/1/17
54. वही, 2/1/18
55. वही, 2/1/19
56. वही, 2/1/20
57. वही, 2/1/21
58. वही, 2/2/1
59. वही, 2/2/2-3
60. वही, 2/2/7-8
61. वही, 2/2/9
62. वही, 2/2/10

63. वही, 2/2/13-17
64. वही, 2/2/20
65. वही, 2/2/21
66. सौवीरेष्वस्ति नगरी मधुरा नाम विश्रुता ।
    अक्षोटनारिकेलाद्या यस्याः पर्यन्तभूमयः ।
67. वामन-काव्यालंकारसूत्र, 2।2।24
68. वही, 3/1/1
69. वही, 3/1/2
70. वही, 3/1/2 संग्रहश्लोक
71. वही, 3/1/4-13
72. वही, 3/2/2 वृत्तिभाग
73. वही, 3/2/ वृत्तिभाग
74. वही 3/2/3
75. वही, 3/2/4-5
76. वही, ,,
77. वही, वही, 3/2/7-8
78. वही, ,,
79. सूत्र, 3/2/9-15
80. वही, ,,
81. वही, ,,
82. वही, ,,
83. वही, ,,
84. वही, ,,
85. वही, 4/1/1
86. वही, 4/1/2
87. वही, 4/1/3
88. वही, 4/1/4-7
89. वही, ,,
90. वही, ,,
91. वही, ,,
92. वही, 4/1/8-10
93. वही, ,,
94. वही, ,,
95. वही, 4/2/1
96. वही, 4/2/2

97. वही, 4/2/3
98. वही, 4/2/5
99. विश्वनाथ : साहित्य दर्पण, 10/16/17
100. वामन : काव्यालंकार सूत्र 4/2/7
101. वही, 4/2/8
102. वही, 4/2/9
103. वही, 4/2/12
104. वहीं, 4/2/13
105. वही, 4/2/14
106. वही, 4/2/16
107. वही, 4/2/17
108. वही, 4/3/2
109. देवीभावं गमिता परिवारपदं कथं भजत्येषा।
न खलु परिभोग योग्यं दैवतरूपांकितं रत्नं ।।
110. वामन : काव्यालंकार सूत्र 4/3/3
111. श्लाघ्या ध्वस्ताध्वगग्लाने: कतीरस्य मरौ स्थिति।
धिङ् मेरौ कल्पवृक्षाणामव्युत्पन्नार्थिनां श्रियः ।।
112. वही, 4/3/4
113. वही, 4/3/5
114. वही, 4/3/6
115. वही, 4/3/7
116. विश्वनाथ साहित्यदर्पण 10/11
117. वामनः काव्यालंकार सूत्र, 4/3/8
118. वही, 4/3/9
119. वही, 4/3/10
120. वही, 4/3/11-13
121. वही, ,,
122. वही, ,,
123. अप्यसज्जसांगत्ये न वत्येव वैसक्तम्।
अक्षालित विशुद्धेषु हृदयेषु मनीषिणाम् ।।
124. विश्वनाथ : साहित्यदर्पण 10/66
125. वामनः काव्यालंकार सूत्र 4/3/14
126. वही, 4/31/15
127. वही, 4/3/16
128. वही, 4/3/17

129. वही, 4/3/18
130. वही, 4/3/19
131. विश्वनाथ : साहित्यदर्पण 10/49
132. वामन : काव्यलंकार सूत्र 4/3/20
133. वही, 4/3/21
134. विश्वनाथ : साहित्य दर्पण, 10/61
135. वामन : काव्यालंकार सूत्र, 4/3/22
136. वही, 4/3/23
137. वही, 4/3/24
138. वही, 4/3/25
139. वही 4/3/26
140. वही, 4/3/27
141. वही, 4/32/28
142. वही, 4/3/29
143. वही, 4/3/30
144. वही, 4/3/31
145. वही, 4/3/32-3

रुद्रट : 'काव्यालंकार'

काव्य के प्रयोजन

1. यशप्राप्ति

रुद्रट ने काव्यप्रयोजन के परिसर में यश का स्थान सर्वोपरि माना है। उनका कथन है कि अलंकारों के कारण देदीप्यमान तथा दोषाभाव के कारण उज्ज्वल और निर्मल काव्य की रचना करनेवाला महाकवि अपनी सरस कृतियों द्वारा प्रत्यक्ष रूप से अपना यश तो विस्तीर्ण करता ही है; साथ-ही-साथ परोक्ष रूप से वह अपने कथानायक की कीर्ति को भी अमर कर देता है।[1] यदि महाकवियों द्वारा अतीतकालीन राजाओं के जीवनवृत्त और चरित प्रबंधबद्ध नहीं किये जाये तो उनके द्वारा निर्मित इन्द्र प्रसादतुल्य राजमहलों के नष्ट होने के साथ-साथ उनकी कीर्तिकौमुदी भी विलीन हो जाती।[2] जो कवि अपने नायक के चिरस्थायी, निर्मल, महत्त्वपूर्ण और लोकप्रिय यश का विस्तार अपने चरितकाव्यों के माध्यम से करता है, वह एक प्रकार से अपने कथानायक का उपकार ही करता है। उपकार करना भी एक महान् धर्म है, इसे सभी परमार्थतत्त्वज्ञ मनीषी स्वीकार करते हैं।[3]

2. अर्थप्राप्ति और सुखोपलब्धि

काव्य-रचना का प्रयोजन अर्थप्राप्ति भी है जिससे सभी प्रकार के अनर्थों का उपशमन और विपत्तियों का ध्वंस होता है। उससे भौतिक, मानसिक और आध्यात्मिक सुख मिलते हैं। इस लोक में कामजन्य सुख तथा मोक्षजन्य परत्र आनन्दप्राप्ति की परम्परा काव्यप्रयोजनों में अन्तर्भूत मानी गई है। देवस्तुतियाँ रचनेवाले अनेक कवियों ने धन, वैभव, विपत्ति-विनाश, अभीष्ट कामनाओं की पूर्ति तथा लोकोत्तर सुख एक साथ प्राप्त किये हैं जो काव्य-रचना की प्रयोजनीयता सिद्ध करते हैं। रुद्रट काव्यालंकार में अनिरुद्ध आदि कवियों का उल्लेख किया है जो दुर्गा के स्तुतिपरक काव्यनिर्माण द्वारा शत्रु की अधीनतारूप दुस्तीर्ण विपत्ति पार कर गये तथा वीरदेव आदि कवि रोगमुक्त हो गये।[4] यद्यपि वर्तमान युग की लोकतांत्रिक शासन-प्रणाली में न तो राजाओं का महत्त्व रहा है और न आज की वैज्ञानिक तथा भौतिक दष्टि दैवी शक्तियों के अद्भुत चमत्कारों

में ही आस्था रखती है फिर भी उनके प्रतीक के रूप में मान्यताप्राप्त शासक तथा अद्भुत शक्तिसम्पन्न व्यक्ति किसी कवि की रचना से प्रसन्न होकर उसे कृतकृत्य कर सकें तो क्या वह प्रकारांतर से उनकी प्रयोजनसिद्धि नहीं मानी जाएगी ?

कवि महिमा का वैशिष्ट्य

काव्यालंकार आचार्य रुद्रट ने काव्य के प्रयोजनीभूत यश का सम्बन्ध कवि-महिमा के साथ जोड़कर उसे हिमधवलकांति तथा सकललोककमनीयता से उपमित किया है। कवि की कीर्ति कभी क्षीण नहीं होती। वह उत्तरोत्तर संवर्धित होती रहती है। आदिकवि वाल्मीकि और महामुनि व्यास अपनी रचनाओं के कारण ही अजर-अमर हैं जिनका यश कदापि धूमिल नहीं हो सकता। कीर्तिमान कवियों के साथ यशोरूप काव्यप्रयोजन का सम्बन्ध जोड़ते हुए आचार्य रुद्रट ने लिखा है—

स्फारस्फुरदुरुमहिमा हिमधवलं सकललोककमनीयम्।
कल्पान्तस्थायियशः प्राप्नोति महाकवि-काव्यात् ।।[5]
अमरसदनादिभ्यो भूता न कीर्तिरनश्वरी,
भवति यदसौ संवृद्धापि प्रणश्यति तत्क्षये।
तदलममलं कर्तुं काव्यं यतेत समाहितो,
जगति सकले व्यासादीनां विलोक्य परंयशः ।।[6]

काव्यालंकार के टीकाकार नमिसाधु ने भी अपनी टिप्पणियों के अन्तर्गत काव्य-कथा प्रसंग तथा काव्यरचना का प्रमुख प्रयोजन यश ही माना है। उनका कथन है कि इस नश्वर संसार में यश प्राप्ति से बढ़कर काव्य का अन्य कोई प्रयोजन नहीं हो सकता। इस संदर्भ में उन्होंने निम्नलिखित छंद उद्धृत किया है—

यत. क्षणध्वंसिनि संभवेऽस्मिनकाव्याहृतेऽन्यत्क्षयमेति सर्वम्।
अतो महद्भियशसे स्थिराय प्रवर्तितः काव्यकथाप्रसंगः ।।[7]

काव्यशास्त्र की उपयोगिता

कवियों के लिए भी काव्यशास्त्रीय ग्रंथों का अध्ययन और अनुशीलन उपादेय है। उनके आकलन द्वारा वे काव्य के विभिन्न अंगों से परिचित हो जाते हैं। साथ-ही-साथ वे उनके शास्त्रज्ञान के बल पर अपनी रचनाओं में संशोधन, परिवर्द्धन तथा परिस्करण भी कर सकते हैं। मध्यम श्रेणी कवियों के लिए तो उनकी उपयोगिता परम वांछनीय है क्योंकि उन्हें अनेक बार उनसे मार्गदर्शन भी मिलता है। आचार्य रुद्रट ने 'काव्यालंकार' में अपनी रचना का जो प्रयोजन निरूपित किया है, वह सभी काव्य-शास्त्रीय ग्रंथों पर सामान्य रूप से घटित होता है—

अस्य हि पौर्वापर्यं पर्यालोच्याचिरेण निपुणस्य।
काव्यमलंकर्तुमलं कर्तुरुदारा मतिर्भवति ।।[8]

कवि अपनी रचनाओं के रूप में अमर है

प्रतिभाशाली कवि अपनी रचनाओं के रूप में अमर हैं। उनका पार्थिव शरीर पंचभूतों में विलीन होकर उनका भौतिक अस्तित्व नष्ट कर देता है किन्तु जिन अक्षरों के रूप में वे अपना सारस्वत वैभव विकीर्ण कर जाते हैं, वे उनकी अक्षय कीर्ति का उज्ज्वल आलोक अखिल ब्रह्मांड में व्याप्त करने में समर्थ हैं। वे दिवंगत होने पर भी काव्यशरीर के रूप में हमारे मानस-लोक में विद्यमान रहते हैं। काव्यशास्त्र में यश अथवा कीर्ति को एक प्रमुख प्रयोजन के रूप में निरूपित किया गया है जो एक प्रकार से कविनिष्ठ काव्य-महिमा का ही व्यंजक है। सभी लक्षण-ग्रंथों में कविमहिमा के प्रसंग में उसका विशेष उल्लेख हुआ है। आचार्य भामह की निम्नलिखित कारिकाएँ इस संदर्भ में उल्लेखनीय हैं—

उपेयुषमपि दिवं सन्निबंधविधायिनाम्।
आस्त एव निरातंकं कान्तं काव्यमयं वपुः॥
रुणद्धि रोदसी चास्य यावत् कीर्तिरनश्वरी।
तावत् किलाऽयमध्यास्ते सुकृती वैबुधं पदं॥[9]

—उत्तम काव्य के प्रणेता कवि यद्यपि स्वर्गवासी हो गये हैं किन्तु काव्य के रूप में उनका सुन्दर शरीर अब भी इस लोक में निरांतक रूप में विद्यमान है।

जब तक कवि की अविनाशी कीर्ति आकाश और पृथ्वी को आच्छादित किये हुए है, तब तक वह पुण्यात्मा देवपद पर ही अधिष्ठित रहेगा।

रसिकनिष्ठ काव्यप्रयोजन

रुद्रट ने कविनिष्ठ प्रयोजन के साथ-साथ सहृदयनिष्ठ काव्यप्रयोजनों का भी उल्लेख किया है। उनके मतानुसार काव्य एक ऐसा माध्यम है जिसके द्वारा रसिक जनों का धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप चतुर्वर्ग के विषय में ज्ञान कराया जाता है। उस ज्ञान-प्रक्रिया में शीघ्रता और कोमलता के गुण स्वतः समाहित रहते हैं जिसे मम्मट ने 'कांता-सम्मित उपदेश' कहा है। यों तो शास्त्र भी ज्ञानप्राप्ति के साधन हैं किन्तु उनमें नीरसता होती है जिसके कारण रसिकजन उनसे भयभीत रहते हैं। यही बात काव्यालंकार की निम्नलिखित कारिका में कही गई है—

ननु काव्येन क्रियते सरसानामवगमश्चतुर्वर्गे।
लघु मृदु च नीरसेभ्यस्ते हि त्रस्यंति शास्त्रेभ्यः॥[10]

रुद्रट की मान्यता है कि काव्य से बढ़कर चतुर्वर्गप्राप्ति का अन्य कोई रमणीय साधन नहीं हो सकता। उनकी रमणीयता रसनिर्भर है अतः काव्यरचना को महान् प्रयत्न द्वारा रसयुक्त बनाना चाहिए।[11] यदि काव्य में रस न होगा तो सहृदय समाज उससे उसी प्रकार उद्वेजित होगा जिस प्रकार शास्त्रादि की कठोर अनुपालना से होता है।[12] रुद्रट के मतानुसार काव्य के प्रयोजनीभूत चतुर्वर्ग और रस-निबन्धन में सहज सम्बन्ध है जिसकी सफलता इस बात में है कि काव्य-रचना को अधिकाधिक सरस और संप्रेषणीय

बनाया जाए। जिन प्रबन्ध काव्यों में सरसता का जितना अधिक संचार होता है, वे अपने श्रोताओं अथवा पाठकों को उतनी ही सुगमता से पुरुषार्थ चतुष्ट्य की प्राप्ति करा सकते हैं।

रुद्रट का काव्य-प्रयोजनविषयक दृष्टिकोण अत्यन्त उदार और व्यापक है। उन्होंने उसे काव्यफल के साथ नियोजित करते हुए जिस चतुर्वर्ग की प्राप्ति संकेतित की है, वह भारतीय जीवन-साधना का सर्वस्व है। काव्य के ये प्रयोजन कविनिष्ठ और सहृदयनिष्ठ हैं जिनकी सिद्धि में काव्य सरस साधन बनता है। उनकी इस विचारधारा से इस भ्रम का भी निराकरण हो जाता है कि रुद्रट केवल अलंकारवादी आचार्य थे। उन्होंने काव्यनिरुपण और अलंकार विवेचन में रस का अभीष्ट गौरव और महत्त्व स्वीकार किया है जिससे स्पष्ट है कि उनकी विशेष अभिरुचि अलंकार-निरुपण की ओर होने पर भी वे काव्य में रस की प्रमुखता मानते थे।

काव्य गुणों का गौरव

रुद्रट ने काव्य को 'गुरुगुणमणिसागर' से उपमित किया है जिसका अभिप्राय यह है कि जिस सागर में असंख्य और अनंत मणिरत्न भरे पड़े हैं, उसी प्रकार काव्य में भी गुणों की कोई इयत्ता नहीं है।[13] ऐसी स्थिति में कवियों का कर्त्तव्य है कि वे अपनी पुरुषार्थ सिद्धि हेतु श्रेष्ठ रचनाओं में प्रवृत्त हों। ऐसा करने से न केवल उनका ही प्रयोजन सिद्ध होगा। अपितु वे लोककल्याण तथा लोकरंजन का पुण्यलाभ भी कर सकेंगे। रुद्रट ने इसी बात को ध्यान में रखकर लिखा है कि यदि पद, वाक्य, प्रमाण और शास्त्रों के ज्ञान से वाणी का संस्कार होता है, तो सुचारु काव्य रचना द्वारा उसके संस्कारों की फलसिद्धि मानी जाती है।[14]

काव्य के हेतुतत्त्व

शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास

रुद्रट ने काव्य-हेतुओं की विवेचना में शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास संज्ञक त्रितय को महत्त्व दिया है। उनका कथन है कि सुन्दर काव्य की रचना में, 'असार' का त्याग तथा 'सार' का ग्रहण वांछनीय है जिनके लिए शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास संज्ञक तीनों हेतुओं की आवश्यकता रहती है।[15] उन्होंने दोषों को काव्य का 'असार' तथा अलंकार और गुणों को उसका सारभूत तत्त्व कहा है। दण्डी की भाँति उन्होंने भी प्रतिभा को शक्ति माना है जिसका उदय होने पर कवि के स्वस्थ चित्त में अनेक अभिधेयों का निरन्तर स्फुरण तथा अक्लिष्ट पदों का प्रस्फुटन होता रहता है। प्रतिभा के दो रूप हैं—सहजा और उत्पाद्या।[16] इन दोनों में सहजा प्रतिभा ज्यायसी और प्रशस्यतर है क्योंकि वह व्यक्ति के साथ उत्पन्न होती है। सहजा शक्ति अपने संस्कारों का उत्कर्ष स्वयं कर लेती है। उसके लिए अन्य हेतुओं का अनुसंधान सहज सम्भव है। उत्पाद्या की

प्राप्ति के मार्ग में अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ होती हैं जिन्हें व्युत्पत्ति द्वारा निराकृत किया जा सकता है।[17]

रुद्रट ने छन्द, व्याकरण, कला, लोकस्थिति, पद तथा पदार्थों के विशेष ज्ञान द्वारा उचित और अनुचित के सम्यक् विवेक को 'व्युत्पत्ति' माना है।[18] संक्षेप में यही व्युत्पत्ति की परिभाषा है। उसकी विस्तृत परिभाषा में 'सर्वज्ञता' का संचार रहता है क्योंकि संसार में ऐसा कोई भी वाच्य अथवा वाचक नहीं है जो किसी न किसी रूप में काव्य का अंग न बनता हो। इस प्रसंग में निम्नलिखित श्लोक प्रसिद्ध है—

न स शब्दो न तद्वाक्यं न स न्यायो न सा कला।
जायते यन्न काव्यांमहो भारो महान्कवेः॥

रुद्रट ने अभ्यास को काव्य का लोकप्रसिद्ध हेतु मानकर उसकी विशेष चर्चा नहीं की है। इस विषय में उन्होंने केवल इतना ही लिखा है कि अभ्यास की आवश्यकता सभी प्रकार के कवियों के लिए अपेक्षित है क्योंकि उसी के द्वारा वे अपनी रचनाओं को उत्कृट बना सकते हैं। रुद्रट ने अभ्यास का सम्बन्ध 'सुजन-सन्निधि' से भी जोड़ा है।[19] उनका कहना है कि जो कवि सहृदय जनों तथा सुकवियों की संगति में रहते हुए अपना 'काव्याभ्यास' करते हैं; वे अपनी कृतियों में और भी अधिक सफल हो सकते हैं। उन्होंने बतलाया है कि यदि सम्पूर्ण पदार्थों के ज्ञाता तथा प्रतिभाशाली कवि भी सुजनसंगति तथा सतत अभ्यास का महत्त्व समझ कर चलें तो उनकी रचनाओं में उत्तरोत्तर चमत्कृति का संचार तथा काव्यसौष्ठव का प्रसार हो सकता है।

काव्य का लक्षण

शब्दार्थौ काव्यम्

काव्यालंकारकार रुद्रट ने काव्य का लक्षण 'ननुशब्दार्थौ काव्यम्' माना है जिसका अर्थ यह है कि शब्द और अर्थ का संयोग काव्य है। काव्य का यह लक्षण भामह द्वारा प्रतिपादित काव्यलक्षण की ही प्रतिच्छाया है क्योंकि उन्होंने भी 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' के रूप में काव्य की परिभाषा की थी। ये लक्षण शब्द और अर्थ के पारस्परिक सम्बन्ध पर आधारित हैं तथा व्यापक दृष्टि से व्याख्येय है। शब्द और अर्थ के समन्वयन में भावों की अभिव्यक्ति होती है जिसका साधन भाषा है। शब्द और अर्थ का पारस्परिक संबंध भाषा का एक अनिवार्य तत्त्व है जिसे महाभाष्यकार पतंजलि ने 'सिद्धे शब्दार्थ-सम्बन्धे' के सूत्र रूप में स्वीकार किया है। मूल रूप में शब्द और अर्थ ही काव्य के मूल तत्त्व हैं जिनके विराट् वैभव का विस्तार व्याकरण तथा काव्यशास्त्रीय ग्रंथों में किया गया है। शब्दब्रह्म का विवेचन अनेक प्रकार की दार्शनिक प्रतिपत्तियों से भी अनुप्रेरित रहा है। वह अर्द्धनारीश्वर की भाँति अर्थ से सम्पृक्त रहता है। शब्द और अर्थ त्रिविध शब्दशक्तियों से समन्वित हैं। उनका क्षेत्र ज्ञान-विज्ञान और साहित्य कला की अनंतता को घेरकर विस्तीर्ण हुआ है। सूत्र रूप में काव्य को शब्दार्थमय मानना स्वीकार्य

है किन्तु जब तक उनकी काव्यगत स्थिति, स्वरूप-योजना तथा प्रयोगविषयक औचित्य का विशद विश्लेषण नहीं किया जाता, तब तक शब्दार्थमात्र की सम्पृक्ति से काव्यलक्षण की पूर्ण संगति नहीं हो सकती। शब्द और अर्थ की सत्ता एवं महत्ता सभी काव्य-शास्त्रियों के लिए मान्य रही है। वामन, कुन्तक और मम्मट के काव्यलक्षण भी 'शब्दार्थौ' के प्रयोग द्वारा व्याख्यात हुए हैं। साहित्य दर्पणकार विश्वनाथ ने भी 'काव्यस्यशब्दार्थौ शरीरं' पद का प्रयोग किया है। पण्डितराज जगन्नाथ ने यद्यपि 'शब्द' को काव्य माना है तथापि उसके पूर्व उसकी रमणीयार्थता प्रतिपादित करते हुए प्रकारांतर से 'शब्दार्थौ' की ही सिद्धि की है। दण्डी की 'इष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली' एक प्रकार से शब्दार्थ की ही प्रतिपादिका है। राजशेखर ने साहित्यविद्या के लक्षण में भी 'शब्दार्थयोयथावत् सहभावेन विद्या साहित्य विद्या' द्वारा काव्य की शब्दार्थमयता ही सिद्ध की है। परवर्ती काल में काव्य के लक्षण-निर्धारण में भले ही परिष्कार आता गया किन्तु भामह और रुद्रट के रचनाकाल पर्यन्त उसे 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' कहने की जो परिपाटी चल पड़ी थी, वह सर्वथा उपेक्षणीय नहीं है। काव्य की चाहे जो कुछ भी परिभाषा की जाए, उसके लक्षण से शब्द और अर्थ के सहभाव अथवा संयोग का निष्कासन कदापि नहीं किया जा सकता।

काव्यालंकार का प्रतिपाद्य

काव्य के शब्द नाम, आख्यात, निपात, उपसर्ग और कर्म प्रवचनीय से जुड़े रहते हैं अतः रुद्रट ने काव्यलक्षण के पश्चात् उनके स्वरूप की व्याख्या की है। उनका यह विवेचन निरुक्त व्याकरण तथा महाभाष्य की परम्परा पर आधारित है। तदुपरांत उन्होंने समासयुक्त वृत्तियों का विश्लेषण किया है जिनके नाम पांचाली लाटीया और गौडीया रीतियाँ भी हैं। रीतियों का यह विवेचन प्रत्यक्ष रूप से काव्यशास्त्रीय चिंतन के साथ सुनियोजित है जिसका सम्यक् विकास रीतिसिद्धान्त के रूप में वामन द्वारा किया गया था। इसी क्रम में वाक्य के लक्षण तथा उनके गुण विवेचित हुए हैं। वाक्य के भेद तथा भाषा के प्रकारों का विश्लेणण करते-करते आचार्य रुद्रट अलंकारविमर्श की भूमिका पर उतर आये हैं। उन्होंने शब्दालंकारों के रूप में वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष तथा चित्र अलंकारों का विशेष उल्लेख करते हुए उनके विस्तृत आयामों की प्रस्तावना प्रस्तुत कर ली है। काव्यालंकारों के तृतीय अध्याय से लेकर दशम अध्याय तक अलंकारों के भेद-प्रभेद विवेचित तथा उदाहृत हुए हैं। षष्ठ अध्याय दोषचर्चा और दोष-विवेचना से सम्बन्धित हैं। परवर्ती अध्यायों में अर्थदोष, रसविमर्श तथा काव्यभेदों का विश्लेषण हुआ है। सब मिलाकर कहा जा सकता है कि रुद्रट का 'काव्यालंकार' मुख्यतः अलंकार-विवेचन का ग्रंथ है जिसमें काव्य-लक्षण, काव्य-प्रयोजन, काव्यहेतु, काव्यभेद, दोष-विवेचन तथा रसविमर्श आदि विषयों की भी सैद्धान्तिक तथा शास्त्रीय व्याख्या की गई है। काव्यशास्त्रीय चिंतन में उसका महत्त्व और गौरव अक्षुण्ण है जिसकी

उपलब्धियों के वैशिष्ट्य का मूल्यांकन करते हुए काव्यशास्त्र के क्षेत्र में रुद्रट का स्थान निर्धारित किया जा सकता है।

वृत्ति-विवेचन

रुद्रट का वृत्ति-विवेचन काव्यशास्त्रीय चिंतन का एक महत्वपूर्ण पक्ष है। उन्होंने समास तथा असमास के भेद से वृत्तियों के दो प्रकार माने हैं। समासवती वृत्ति की तीन रीतियाँ हैं जिन्हें पांचाली, लाटीया और गौडीया कहा जाता है। इनमें क्रमशः लघु, मध्य और आयत समासयुक्त रचनाएँ होती हैं।[20] पांचाली वृत्ति द्वित्रिपदा तथा लाटीया पंचसप्तपदा होती है जबकि गौडीया वृत्ति सात से अधिक पदयुक्त समासमयी भी हो सकती है। इन वृत्तियों की सघटना कवि की क्षमता और शक्ति पर निर्भर है। रुद्रट ने इसी प्रसंग में वैदर्भी रीति का उल्लेख किया है जो समासमयी नहीं होती। निरूपण-क्रम में उपसर्गों का भी उल्लेख हुआ है जो वृत्तियों के शब्दों और क्रियाओं के पूर्व जुड़कर काव्य के अर्थों में वैशिष्ट्यपरक चमत्कार उत्पन्न कर देते हैं। कहा जा सकता है कि रुद्रट का यह विवेचन केवल परिचयमूलक है।

वाक्य के लक्षण और गुण

रुद्रट ने काव्य को शब्दार्थमय कहा है जो बढ़ते-बढ़ते साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ द्वारा रसात्मक वाक्य की कोटि तक पहुँचा दिया गया था। वाक्य की दृष्टि से महाकाव्य को महावाक्य भी कहा जाता है। रुद्रट के अनुसार वाक्य उन शब्दों का समुदाय है जो परस्पर व्यपेक्षवृत्तियुक्त और एकपरक हों। उसमें किसी प्रकार की आकांक्षा नहीं होनी चाहिए।[21] उन्होंने वाक्य के गुण निर्दिष्ट करते हुए लिखा है कि उसमें प्रयुक्त किए जाने वाले शब्द और पद् यथासम्भव संतुलित, क्रमबद्ध, अभीष्ट अर्थ द्योतक, चारु प्रयुक्त, संप्रेषणीय तथा सर्वतः पूर्ण होने चाहिए।[22] जिन शब्दों में उपर्युक्त गुण होते हैं, वे ही वाक्य के लिए शोभावर्द्धक सिद्ध होते हैं। रुद्रट ने शब्द और वाक्य के जिन गुणों का उल्लेख किया है उनमें यदि रसात्मककता का संचार कर दिया जाए तो उनसे निर्मित वाक्य काव्य-पद का अधिकारी हो जाएगा। विश्वनाथ ने वाक्य की रसात्मकता को ध्यान में रखकर ही काव्य का लक्षण 'रसात्मकं वाक्यं काव्यम्' निर्धारित किया है। यद्यपि रुद्रट ने वाक्य पक्ष से काव्य की विशद विवेचना नहीं की है तथापि उनके विश्लेषण से स्पष्ट है कि वे काव्य के लिए सुसंयत और सुन्दर वाक्य योजना परम अनिवार्य समझते थे। उन्होंने शब्द सम्बन्धी उपर्युक्त गुणों के साथ-साथ इस बात का भी उल्लेख किया है कि काव्य-वाक्यों में ऐसे शब्दों का प्रयोग करना चाहिए जो रचना के अभिधानों में सौन्दर्य अथवा चारू-चमत्कृति उत्पन्न कर दें। कहने की आवश्यकता नहीं कि रचना के अभिधानों के अंतर्गत उन्होंने संज्ञा, सर्वनाम और विशेषण शब्दों का तात्पर्य ध्वनित किया है जिनके औचित्य-प्रयोगों से काव्य में सौन्दर्य वृद्धि होती है।

वाक्यभेद और शब्दालंकार

रुद्रट ने वाक्य के दो प्रकार माने हैं— गद्यबद्ध और छन्दोबद्ध । भाषा के आधार पर वे वाक्य के छह भेद मानते हैं जो प्राकृत, संस्कृत, मागध, पिशाच, शौरसेनी तथा अपभ्रंश कहे जाते हैं । भिन्न-भिन्न भूभागों के विभिन्न प्रयोगों के कारण अपभ्रंश भाषा के भी अनेक रूप हैं ।[23] इसी क्रम में उन्होंने शब्दालंकारों का विवेचन किया है जिनमें वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष तथा चित्रालंकार प्रमुख हैं । श्लेष की गणना अर्थालंकारों में भी की गई है ।[24] यों तो रुद्रट के पूर्व भामह, दण्डी और वामन ने भी वक्रोक्ति का विवेचन किया था किन्तु रुद्रट ने उसे कुछ नवीन रूप में प्रस्तुत किया । भामह ने अतिशयोक्ति और वक्रोक्ति को प्रत्येक अलंकार का अनिवार्य तत्त्व माना है जिनके बिना कोई भी कथन साधारण वार्तामात्र होता है । दण्डी ने तो स्वाभावोक्ति और वक्रोक्ति की प्रणाली से समस्त वाड़्मय को ही द्विविध प्रकारों में विभक्त कर दिया तथा स्वाभावोक्ति को छोड़कर अन्य सभी अलंकारों को वक्रोक्ति का ही पर्याय रूप सिद्ध किया जिसमें श्लेष का समावेश करने पर काव्य-शोभा में चमत्कार उत्पन्न हो जाता है । वामन के अनुसार वक्रोक्ति सादृश्यमूला लक्षणा अथवा गौणी लक्षणा का ही दूसरा नाम है[25] जबकि रुद्रट के अभिमत से वह एक विशेष प्रकार का शब्दालंकार है । उन्होंने श्लेष और काकु की अभिधा से वक्रोक्ति के दो प्रकार माने हैं जिनमें श्लेष वक्रोक्ति का मूल सम्बन्ध श्लिष्ट पदों के प्रयोग से हैं जिनमें वक्ता के विशिष्ट अभिप्राय से कथित वचनों को सुनकर उसका श्रोता वचन भंग के आश्रय से अर्थान्तर की कल्पना करता है ।[26] काकु वक्रोक्ति का आधार विशेष प्रकार की कण्ठध्वनि है जिसमें अश्लिष्ट पदों के न रहने पर भी स्वर विशेष अथवा उच्चारण की भिन्नता से अर्थान्तर की प्रतीति की जाती है ।[27] यही वक्रोक्ति कुंतक द्वारा 'काव्य जीवितम्' के रूप में प्रतिष्ठित की गई है । जिसका विशद विश्लेषण कुंतक के वक्रोक्ति-सिद्धान्त के अंतर्गत किया गया है । आचार्य रुद्रट का इस क्षेत्र में विशेष योगदान यह है कि उन्होंने वक्रोक्ति को एक विशेष चमक-दमक के साथ प्रस्तुत किया । उनका अनुप्रास विवेचन भी उपर्युक्त दृष्टि से ही उपबृंहित है जिसमें उन्होंने अनुप्रास अलंकार को मधुरा, प्रौढ़ा, परुषा, ललिता तथा भद्रा संज्ञक वृत्तियों में विभक्त करते हुए उसकी व्यंजन-योजना निरूपित की है ।[28] वृत्तियों की दृष्टि से किया गया अनुप्रास-विश्लेषण रुद्रट की मौलिकता का परिचायक है । उनके द्वारा निरूपित वर्ण प्रयोग अनुप्रास अलंकार की वृत्तियों का तत्त्वदर्शन प्रस्तुत करता है । इस विवेचन के अंत में उन्होंने अपना जो निष्कर्ष निकाला है उसका प्रमुख अभिप्राय यही है कि वृत्तियों की शक्ति को प्रयत्नपूर्वक समझ कर तथा उनके पात्रगत औचित्य तथा अभिधेयार्थ की अनुकूलता को पहिचान कर जब उनका सही प्रयोग किया जाता है तो काव्य रचना में विविध प्रकार की निरूपण शैलियों अथवा अनेक रूपताओं का संचार होता है । इस विषय में उनका निम्नलिखित उद्धरण उल्लेखनीय है—

एताः प्रयत्नादधिगाम्य सम्यगौचित्यमालोच्य तथार्थसंस्थम् ।
मिश्राः कवीन्द्रैरघनाल्पदीर्घाः कार्या मुहुश्चैव गृहीतमुक्ता ।।[29]

यमकालंकार का विवेचन

रुद्रट ने यमक का लक्षण-निरूपण[30] करने के पश्चात् उसके भेद-प्रभेदों का विस्तृत विवेचन किया है। ऐसा करते समय उन्होंने पूर्ववर्ती आचार्यों की विवेचना का पूर्ण आधार लिया है। काव्यालंकार का यमक-प्रकरण अनेक दृष्टियों से पठनीय और विचारणीय है। विषयान्तर की आशंका से अधिक विश्लेषण करना अयोजनीय समझकर हम आचार्य रुद्रट के उस अभिमत का उल्लेख करना ही पर्याप्त समझते हैं जिसमें उन्होंने इस बात का स्पष्ट आग्रह किया है कि यमक के समस्तपादज तथा एकदेशज आदि भेदों का पर्यवेक्षण करने के पश्चात् ही उनका औचित्यपूर्ण प्रयोग करना चाहिए जिससे काव्य-कृतियों की निबंधना में चारु चमत्कृति आ सके। उनका परामर्श है कि महाकाव्यों में उनका प्रयोग युक्तिसंगत है किन्तु नाटक, कथा तथा आख्यायिका आदि काव्य प्रकारों में किया जाने वाला यमक प्रयोग अधिक ग्राह्य नहीं है। इस विषय में उनका कथन है—

इति यमकमशेषं सम्यगालोचयद्भिः
सुकविभिराभियुक्तैर्वस्तु चौचित्यविद्भिः।
सुविहितपदभंगं सुप्रिद्धाभिधानं
तदनु विरचनीयं सर्गबंधेषु भूम्ना॥[31]

शब्दश्लेषविमर्श

रुद्रट का श्लेष-विवेचन अपने पूर्ववर्ती के विमर्श का प्रतिफलन है। उन्होंने काव्यालंकार के चतुर्थ अध्याय मे वर्ण, पद, लिंग, भाषा प्रकृति, प्रत्यय, विभक्ति और वचन की दृष्टि से जिस श्लष अलंकार का विवेचन किया है, वह शब्दालंकार मात्र है। भाषागत श्लेष में उन्होंने संस्कृत, मागधी, पैशाची, शौरसेनी तथा अपभ्रंश भाषाओं के उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। अर्थश्लेष का विश्लेषण काव्यालंकार के दशम अध्याय में किया गया है। उनके मतानुसार जिस रचना में श्लिष्ट, अक्लिष्ट तथा विविध पद-संधियुक्त वाक्यों का युगपद् प्रयोग किया जाय वहाँ श्लेष अलंकार होता है।[32] रुद्रट से पूर्व भामह ने गुण, क्रिया, और नाम के आधार पर श्लेष का वर्णन किया था जिसमें उसके भेद-प्रभेदों के लिए विशेष आग्रह नहीं था। दण्डी ने अभिन्न पद तथा भिन्नपदप्राय से श्लेष की विवेचना की जो एक प्रकार से अभंग और सभंग श्लेष के ही प्रतिरूप हैं। 'काव्यालंकार' में वर्ण, पद, लिंग, भाषा, प्रकृति, विभक्ति और वचन की प्रक्रिया से जिस श्लेष अलंकार का विवेचन किया गया है, वह अत्यन्त विशद और सांगोपांग है। उसके उदाहरण जुटाने तथा उनका विग्रहपूर्वक विश्लेषण करने में रुद्रट ने पूरी सूझ-बूझ और समझ से काम लिया है। उनके अध्ययन से पता चलता है कि अलंकार विवेचन के क्षेत्र में रुद्रट कितने अधिक कुशल और निष्णात थे। अपने विवेचन के अंतर्गत उन्होंने इस बात का भी विचार किया है कि भाषा श्लेष को छोड़कर अन्य सभी प्रकार के श्लेषों में अन्य अलंकारों का भी संकरण रहता है जिनमें उपमा और समुच्चय अलंकार के अधिक उपयुक्त औरग्राह्य हैं।[33] अपनी इस मान्यता के प्रमाण में उन्होंने अनेक उदाहरण प्रस्तुत करते हुए

उनकी श्लेषगत संगति सिद्ध की है वस्तुतः श्लेष अलंकारों का क्षेत्र स्वतंत्र भी है तथा अन्य अलंकारों से युक्त भी है। जहाँ श्लेष के साथ अन्य अलंकार रहते हैं, वहाँ वह कहीं उनसे पुष्ट होता है तो कहीं उन्हें पोषित भी करता है। इन स्थितियों का निर्णय कवि की विवक्षा से न किया जाकर सहृदय के हृदयसंवाद से किया जाना चाहिए। रुद्रट ने महाकवियों को इस बात का परामर्श दिया है कि वे व्याकरण के परिनिष्ठ अध्ययन, महाकवियों के लक्ष्य ग्रंथों के अनुशीलन, देशी भाषाओं के ज्ञानोपार्जन तथा शब्दकोषों के चिंतन और मनन के पश्चात् ही श्लेष-रचना में प्रवृत्त हों जिससे काव्य सौन्दर्य की श्रीवृद्धि की जा सके।[34]

चित्रालंकार और काव्यबंध

काव्य-रचना में चित्र नामक शब्दालंकार की स्थिति विचित्र है। उसका लक्षण-निरूपण करने के पश्चात् रुद्रट ने उसके अनेक रूप प्रकाशित किए हैं। रुद्रट के पूर्व आचार्य दण्डी ने गोमूत्रिका, अर्धभ्रम तथा सर्वतोभद्र नामक बंधचित्रों आदि के रूप में चित्र अलंकार का विवेचन किया था जो रुद्रट द्वारा चक्र, खड्ग आदि बंधचित्रों तथा अनुलोम, प्रतिलोम आदि वर्णविन्यासवैचित्र्यों के रूप में विकसित किया गया। 'सरस्वती-कण्ठाभरण' के दूसरे परिच्छेद में आचार्य भोज ने वाकोवाच्य, गूढोत्तर तथा प्रश्नोत्तर के योग से चित्रालंकार के अनेक भेद माने हैं जिनमें बंधचित्र, पद्मबंध आदि आकार-चित्रों का भी समावेश हुआ है। मम्मट और विश्वनाथ ने भी चित्र अलंकार का उल्लेख किया है किन्तु वे उसकी बारीकियों में नहीं फँसे हैं। सब मिलाकर चित्र अलंकार एक प्रकार की शाब्दिक 'कलाबाजी' ही है जिसमें शब्दों की अटकलबाजियाँ तथा ऐन्द्र-जालिकता अपने पेंतरे दिखाती है। ध्वनि और रस की व्यंजकता को उत्तम काव्य की आत्मा मानने वाले आचार्यों ने इसी दृष्टि कोण से चित्र काव्य तथा चित्रालंकार को अधम श्रेणी प्रदान की है।

आचार्य रुद्रट ने चित्र अलंकार उसे माना है यहाँ चक्र और खड्ग आदि वस्तुओं के रूप अपने चिह्नों के साथ इस प्रकार रचे जाते हैं कि उनमें इनका रचना विन्यासक्रम भंग्यंतर अथवा विशेष विच्छित्ति रूप से वर्णों द्वारा चित्रित होता है।[35] सर्वतोभद्र, अनु-लोम प्रतिलोम आदि बंध चित्र अलंकार के ही प्रकार हैं। रुद्रट ने वस्तुविशेष की आकृति के आधार पर चित्रकाव्य के रचनविषयक अनेक रूप माने हैं जिनमें चक्र, खड्ग, मुसल, धनुष, शक्ति शूल, हल आदि रूपों के अतिरिक्त चतुरंग पीठ पर बने हुए रथ, अश्व और गज आदि भी सम्मिलित हैं। अनुलोम, प्रतिलोम, अर्धभ्रम, मुरज और सर्वतोभद्र आदि रूपों में भी उसके अनेक भेद-प्रभेद हैं जिनकी सम्पूर्ण गणना अशक्य समझ कर रुद्रट ने उसके कुछ ही भेदों के उदाहरण प्रस्तुत किए हैं।[36] रूद्रट का कहना है कि चित्र अलंकार से सम्बन्धित ऐसे और भी काव्यबंध हैं जिनमें मात्राच्युतक, बिन्दुच्युतक, प्रहेलिका, कारकगूढ़, क्रियागूढ़, प्रश्नोत्तर आदि काव्यकौशल प्रकट होते हैं किन्तु उनकी गणना अलंकार चक्र के अंतर्गत नहीं होती। उनका विशुद्ध प्रयोजन तो मनोविनोद मात्र

ही है ।[37] रुद्रट ने चित्र अलंकारों के भेद-प्रभेदों के क्रम में उपर्युक्त कलाविनोदों के लक्षण तथा उदाहरण प्रस्तुत करते हुए उनका भी रहस्योद्‌घाटन किया है। उनका यह काव्य-चयन जहाँ एक ओर उनकी अंत: प्रज्ञा और विदग्धता का परिचायक है; वहाँ दूसरी ओर उन उदाहरणों द्वारा संस्कृतकाव्य की रचना प्रक्रिया के अद्‌भुत कौशल और कलात्मक अभिव्यंजन की छटा का भी बोध होता है।

काव्यदोष और रुद्रट

वाक्यपद दोष

काव्यशास्त्रीय चिंतन में दोषचर्चा तथा दोषविवेचना का प्रवर्तन भारतमुनि के नाट्‌यशास्त्र से ही हो गया था। भरतमुनि ने दस, भामह ने पच्चीस, दण्डी ने दस तथा वामन ने बीस दोष माने थे। रुद्रट ने उन्हें छब्बीस की संख्या तक पहुँचा दिया। आनंद-वर्धन ने उन्हें रस विरोधी छह तत्त्वों के अंतर्गत रखा। महिम भट्ट ने 'अनौचित्य' के नाम से उनका विवेचन किया। उनके मतानुसार अर्थविषयक अनौचित्य अंतरंग तथा शब्द-विषयक अनौचित्य अंतरंग होता है। 'रसों में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों का अनुचित विनियोग' अंतरंग अनौचित्य का लक्षण है। बहिरंग अनौचित्य में पाँच दोष आते हैं। मम्मट ने कुल सत्तर दोष माने है जिनमें सोलह पदगत, इक्कीस वाक्यगत, तेईस अर्थगत और दस रसगत हैं। नाट्‌यशास्त्र में गुण दोष विपर्यस्त है [38] तो वामन के शब्दों में उन्हें 'गुणविपर्य्यात्मनो दोषा:' कहा जा सकता है।[39] दण्डी ने गुणों को काव्य की सम्पत्ति तथा दोषों को उसकी विपत्ति माना है। 'सम्पत्ति' से उनका तात्पर्य सौन्दर्य विधायक तत्त्व है तो विपत्ति का अभिप्राय सौन्दर्यविधातक तत्त्व लिया जा सकता है। आनंदवर्धन के अनुसार दोष रसों के अपकर्षकारी है तो मम्मट उन्हें 'मुख्यार्थहतिर्दोष:' के रूप में व्याख्यात करते हैं। विश्वनाथ ने 'रसापकर्षका: दोषा:' का सिद्धांत प्रतिपादित किया है। दण्डी ने काव्य-शरीर में दोषों की स्थिति श्वेतकुष्ठतुल्य मानी है[40] तो केशव मिश्र ने उनके विषय में 'दोष: सर्वात्मना त्याज्यो, रसहानिकरो हि स:'[41] का उल्लेख किया है। वाग्भट के शब्दों में दोष विष के समान है।[42] अभिप्राय है कि हमारे काव्यशास्त्रीय चिंतन में प्रारम्भ से ही दोषों के प्रति तिरस्कार भावना ही रही है क्योंकि उनके कारण काव्य का अपकर्ष ही होता है।

यों तो आचार्य रुद्रट ने वाक्य का लक्षण निरूपित करने के संदर्भ में न्यून पदत्व तथा अधिक पदत्व दोषों का उल्लेख किया है[43] किन्तु वे 'काव्यालंकार' के षष्ठ अध्याय में उनका विस्तृत विवेचन करने की ओर प्रवृत्त हुए हैं। उन्होंने असमर्थ, अप्रतीत, विसंधि, विपरीत कल्पन, ग्राम्य तथा अव्युत्पत्तिपरक देश संज्ञक छह पदगत दोष माने हैं जिनकी पृथक्-पृथक् परिभाषा करते हुए वे उन्हें उदाहृत भी करते चले हैं। उनके मतानुसार संकीर्ण, गर्भित और गतार्थ नामक तीन वाक्य दोष भी हैं। इन सभी दोषों के विविध उदाहरण देते हुए उन्होंने उनके परिहार-हेतु कुछ परामर्श भी दिये हैं। रुद्रट का यह दोष विवेचन सामान्य कोटि का है। उनके उत्तरवर्ती काल में एतद्‌विषयक सामग्री

का इतना अधिक प्राचुर्य और वैविध्य रहा जिसके सम्मुख रुद्रट की दोष-विवेचना धूमिल-सी होने लगी। वस्तुत: रुद्रट को तो अलंकार-विवेचन अभीष्ट था जिसके लिए उन्होंने काव्यालंकार का आधा भाग आरक्षित सा कर लिया है। अवशिष्ट अर्द्ध भाग में दोष विवेचन के लिए अधिक गुंजाइश नहीं रखी गई है, अत: उसका उल्लेखनीय वैशिष्ट्य न होने के कारण इसे अधिक तूल देना समीचीन नहीं है।

अर्थदोष और उपमादोष

काव्यालंकार का एकादश अध्याय अर्थदोषों तथा उपमा-दोषों का विवेचन प्रस्तुत करता है। रुद्रट ने अपहेतु, अप्रतीत, निरागम, बाधयन्, असम्बद्ध, ग्राम्य, विरस, तदवान् और अतिमात्र नामक नौ अर्थदोष माने हैं। इन दोषों के कारण अर्थ में विपरीतता, अशुद्धता, अमान्यता, भ्राँति और अपूर्णता आती है जिसके फलस्वरूप उसकी अन्यथा प्रतीति होने लगती है। रुद्रट का अर्थदोष विवेचन पददोषविमर्श की अपेक्षा अधिक प्राँजल और स्पष्ट है। उनके लक्षणों और उदाहरणों में भी पर्याप्त संगति है। काव्यप्रयुक्त शब्दों और अर्थों का सम्पूर्ण ज्ञान किए बिना इन दोषों की छानबीन करना कठिन है। रुद्रट में पदों और पदार्थों के सम्यक् बोध की अच्छी पकड़ और परख थी, अत: वे उनका सही अनुसंधान करने में पर्याप्त सफल रहे। उन्होंने अर्थ दोषों के क्रम में उपमादोषों का भी विवेचन किया है जिनके अंतर्गत सामान्य शब्दभेद, वैषम्य, असम्भव और अप्रसिद्धि संज्ञक चार दोष परिगणित हैं। उनके पूर्व भामह, दण्डी और वामन ने भी उपमा-दोषों की विवेचना की थी जो सभी दृष्टियों से पूर्ण प्रामाणिक नहीं है। भोज ने वाक्य तथा वाक्यार्थगत दोषों के अंतर्गत उपमादोषों का विवरण प्रस्तुत किया है। इस दिशा में मम्मट का योगदान अधिक प्रशंसनीय है जिन्होंने अनुप्रास, यमक, उत्प्रेक्षा और समासोक्ति आदि अलंकार दोषों के साथ-साथ उपमादोषों का भी निरूपण किया है। सब मिलाकर कहा जा सकता है कि रुद्रट द्वारा विवेचित दोष प्रकरण अलंकार विवेचन के सम्मुख हतप्रभ है जिसका प्रमुख कारण यही हो सकता है कि या तो रुद्रट की इस विषय में गहरी पैठ नहीं थी अथवा उन्हें यह विषय अधिक रुचिकर नहीं लगता था।

काव्य के भेद

प्रबंध काव्य और महाकाव्य

रुद्रट ने चतुर्वर्गफलदायक प्रबंध-काव्यों की चर्चा करने के पश्चात् काव्यकथा तथा आख्यायिका आदि काव्य-रूपों का भी निरूपण किया है। उनकी दृष्टि से सभी काव्य रसाश्रित होने पर ही सुग्राह्य समझे जाते हैं। उत्पाद्य तथा अनुत्पाद्य के नाम से प्रबंधकाव्यों के दो प्रकार हैं जो महान् तथा लघुरूप में दो भेदों में विभक्त हैं। उत्पाद्य काव्य की कथा तथा उसके पात्र कवि-कल्पना की निर्मिति हैं तो अनुत्पाद्य काव्य इतिहास प्रसिद्ध कथा के पूर्ण अथवा एकदेशीय अंश का परिणाम होता है। नमिसाधु ने उत्पाद्य

काव्य के अतर्गत धनपाल रचित 'तिलकमंजरी कथा' तथा बाणभट्ट निर्मित 'कादम्बरी' की गणना की है। उनकी दृष्टि से भारविकृत 'किरातार्जुनीय' काव्य पौराणिक कथा-वृत्त पर आधारित होने के कारण अनुत्पाद्य काव्य की श्रेणी में आता है। जिन प्रबंध-काव्यों के विस्तृत आयाम में पुरुषार्थ चतुष्टय की प्रयोजनीयता तथा सम्पूर्ण रसों की निबंधना के साथ-साथ विस्तृत वस्तु-वर्णना रहती है, वे महाकाव्य कहलाते हैं। महाकवि माघ का शिशुपालवध महाकाव्य का ही उदाहरण है। लघु प्रबंधकाव्य वे हैं जिनमें चतुर्वर्ग का एक अंश तथा किसी एक रस की पूर्णता प्रकाशित हो जैसे कालिदास विरचित मेघदूत नामक संदेश-काव्य। रुद्रट ने महाकाव्य के और भी लक्षण निर्दिष्ट किये हैं। उत्पाद्य महाकाव्य में सर्वप्रथम किसी श्रेष्ठ नगरी का वर्णन तथा तदुपरांत उस नगरी में नायक के वंश की प्रशंसा होनी चाहिए। कवि का कर्त्तव्य है कि उसमें वह ऐसे नायक की स्थापना करे जो त्रिवर्गप्राप्ति में आसक्त, शक्तित्रय से सम्पन्न, सर्वगुणोपेत, सर्वप्रजाप्रिय तथा विजय का अभिलाषी हो। वह ऐसा नायक अपने राज्य का विधिवत् परिपालन करता हुआ शरदादि ऋतुओं का आनन्द भी उठाता है तथा मुख्य कथा के फल का अधिकारी भी होता है।

रुद्रट के अनुसार महाकाव्यों में प्रतिनायक की कल्पना भी परम वांछनीय है। उनका परामर्श है कि अपने तथा अपने मित्र के लिए धर्मादि का साधन करने वाले नायक के शत्रु रूप में किसी ऐसे प्रतिनायक की कल्पना भी करनी चाहिए जो उसकी अपेक्षा गुणराशि में न्यूनतर हो। महाकाव्य में नायक और प्रतिनायक के युद्ध के कारणों का निर्देश करने के साथ-साथ दोनों की सैन्यशक्ति, युद्धप्रणाली तणा युद्धप्रयाण की वेला में वस्तु-वर्णन आदि का संयोजन ऐसी आलंकारिकता से किया जाना चाहिए जिससे कथाबंध में चारु चमत्कृति आ सके। इस प्रकार के वर्णन के अंतर्गत जनपद, पर्वत, नदी, अटवी, कानन, सरोवर, मरुभूमि, समुद्र, द्वीप, भुवन, स्कंधावार, क्रीडाकौतुक, सूर्योदय, संध्या-काल, चन्द्रोदय, संगीतसभा, मधुपान तथा श्रृंगार चर्चाएँ भी सम्मिलित की जा सकती हैं। महाकाव्य के प्रकरणों को सर्ग कहते हैं जिनमें किया गया पंचसंधियों (मुख, प्रति-मुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहण) का प्रयोग उनकी कथावस्तु में क्रमबद्धता लाता है। रुद्रट का कथन है कि इन नियमों का परिपालन करने से महाकाव्य की रचना सफल और सरस सिद्ध हो सकती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि रुद्रट ने महाकाव्य के स्वरूप-निर्देश की अधिकांश सामग्री अपने पूर्ववर्ती आचार्यों से ग्रहण की है जिसका प्रभाव उनके परवर्ती आचार्यों पर भी पड़ा है।

महाकथा

रुद्रट ने उस कथा को महाकथा कहा है जिसके प्रारम्भ में कवि अपने इष्टदेवों तथा गुरुओं की वंदना करने के पश्चात् अपना तथा अपने कुल का संक्षिप्त परिचय देता है। तदुपरांत वह सानुप्रासिक तथा लघ्वक्षरी गद्य द्वारा नगर आदि का वर्णन करता हुआ अपना कथा-शरीर निर्मित करता है। कथा के प्रारम्भ में उसे ऐसी अंतर्कथा की भी

योजना करनी पड़ती है जिसमें मुख्य कथा संकेतित की गई हो। वह कथा कन्या प्राप्ति अथवा राज्य प्राप्ति रूप फल देने वाली होनी चाहिए। उसमें शृंगार रस के सभी रूपों का सम्यक् विन्यास वांछनीय है। संस्कृत में उसे गद्य में लिखने की परम्परा है जब कि संस्कृतेतर प्राकृत आदि भाषाओं में उसे पद्य अथवा गाथा छंद में भी लिखा जा सकता है।

आख्यायिका

महाकथा की भाँति आख्यायिका में भी प्रथमत: गुरु तथा देवता को नमस्कार किया जाता है। तदुपरांत कवि-प्रशंसा करते हुए काव्य रचना प्रारम्भ की जाती है। साधारणत: आख्यायिका गद्य प्रधान होती है। उसकी कथा उच्छ्वासों में विभक्त रहती है। प्रथम उच्छ्वास को छोड़कर शेष उच्छ्वासों के प्रारम्भ में ऐसे दो श्लिष्ट आर्या छंद नियोजित किये जाते हैं जिनमें प्रस्तुत अंश के सूचनार्थ सामान्य अर्थ का निर्देश रहता है। उसमें प्रसंगानुकूल अन्योक्ति, समासोक्ति तथा श्लेष आदि अलंकारों एवम् आर्या, अपरवक्त्र तथा पुष्पिताग्रा आदि छंदों का भी प्रयोग किया जाता है। उसकी रचना में मालिनी छंद के प्रयोग की भी परम्परा है।

काव्य के अन्य प्रकार

लघुकाव्य का ही दूसरा नाम खण्डकाव्य है। उसकी खण्डकथा में नायक अथवा उसके सहायकों को पहले आपत्तिग्रस्त तथा अंत में सुखी दिखलाया जाता है। लघुकाव्य करुण रस अथवा प्रवासगत विप्रलम्भ शृंगार से समन्वित होता है जिसमें नायक का अनुराग और उत्कर्ष वर्णित होता है। रुद्रट के मतानुसार अनुत्पाद्य प्रबंधरूपों में उपर्युक्त लक्षणों का परिपालन आवश्यक नहीं है। उनमें तो यथार्थ घटना का वर्णन मात्र होता है। इन काव्य प्रकारों के अतिरिक्त कुछ अन्य काव्य प्रकार भी हैं जिनमें वर्णक, प्रशस्ति और कुलक आदि की गणना होती है। नाटक आदि काव्यरूप दृश्य तथा अभिनेय हैं। काव्य का एक विशेष प्रकार 'विचित्र' कहा जाता है जिसमें बहुविध भाषाओं का प्रयोग होता है। मुक्तक, संदानितक, विशेषक, कलापक, कोष और परिकथा आदि भी काव्य ही के भेद हैं। नाटक आदि दृश्य काव्यों में प्रकरण, ईहामृग, समवकार, भाण, व्यायोग, डिम, वीथी और प्रहसन आदि की गणना की जाती है। रुद्रट का अभिमत है कि सभी प्रकार के काव्यों में कुछ ऐसे सामान्य प्रसंग भी होते हैं जिनका निर्वाह करने में कवि को सतर्कता रखनी पड़ती है। साथ ही साथ कतिपय ऐसे निषिद्ध प्रसंग भी हो सकते हैं जिनका वर्णन करने से काव्य में अनौचित्य आता है। रुद्रट ने उपर्युक्त सामान्य प्रसंगों तथा निषिद्ध प्रसंगों का भी उल्लेख किया है किन्तु अब वे केवल इतिहास की सामग्री अथवा जर्जर परम्परा के ही ध्वंसावशेष रह गये हैं जिनकी आज के युग में कोई उपयोगिता न रहने के कारण उनका विवेचन करना व्यर्थ है।

रसतत्त्व और रुद्रट

रसतत्त्व की महत्ता

संस्कृत काव्य शास्त्र के प्रारम्भ से ही काव्य में रसतत्त्व की महत्ता सभी आचार्यों को मान्य रही है। भरतमुनि के नाट्य शास्त्र में उसे नाट्य-प्रदर्शन के एक अनिवार्य धर्म के रूप में स्वीकार किया गया है।[44] भरतमुनि ने काव्य के अन्य तत्त्वों (अलंकार, गुण और दोष) को रस संश्रय के माध्यम से ही संकीर्तित करना उचित समझा है।[45] अलंकारवादी आचार्य भामह, दण्डी और उद्भट ने भी रस और भाव आदि को रसवत् अलंकार कहकर उसकी अभ्यर्थना की है। वे उसे महाकाव्य का एक अनिवार्य और आवश्यक तत्त्व मानकर चले हैं।[46] भामह का तो विश्वास है कि कटु औषधि तुल्य शास्त्रचर्चा भी रस के संयोग से मधुर बनाई जा सकती है।[47] दण्डी का माधुर्य गुण भी रसवत् ही है जिसकी रसवत्ता सहृदय मधुपों को प्रमत्त बना देती है।[48] उन्होंने माधुर्य गुण के अन्तर्गत समविष्ट वस्तुगत माधुर्य को अग्राम्यता का नाम देकर उसे रससेचन का सर्वाधिक शक्तिशाली अलंकार माना है।[49] रस विषयक महत्ता और गरिमा का वर्चस्व आचार्य रुद्रट को भी स्वीकार है। उन्होंने उसे महाकाव्य का आवश्यक तत्त्व मानकर इस बात का स्पष्ट उल्लेख किया है कि वैदर्भी और पांचाली रीतियों तथा मधुरा और ललिता वृत्तियों का रस‌ानुकूल प्रयोग ही काव्य के लिए परम वांछनीय है। वे शृंगार रस की अभिशंसा करते हुए सभी कवियों को इस बात का परामर्श देते हैं कि वे रसप्रवण रचना करने में ही प्रयत्नशील रहे।[50] ध्वनिवादी आचार्य आनदवर्धन और मम्मट तो उसके सबसे बड़े समर्थक हैं ही; तभी तो उन्होंने रसध्वनि को सर्वश्रेष्ठ काव्य मानकर उसका वर्चस्व प्रतिष्ठापित किया है। उनका तो पूर्ण विश्वास है कि वाच्यार्थों की बहुविध रचनाएँ रस के आश्रय से ही सुशोभित होती हैं।[51] उन्होंने व्यंग्यार्थ के अन्य भेदों में रस-ध्वनि और भावध्वनि को प्राधान्य देकर उन्हें वसंतकालीन द्रुमों की शोभा से उपमित किया है। आनंदवर्धन तथा मम्मट के अनुसार तो रस ही काव्य का सर्वोपरि प्रयोजन है। कुंतक रस को ही प्रकरण वक्रता तथा प्रबंध वक्रता का प्राण समझते हैं।[52] उनकी दृष्टि में रसवत् अलंकार सभी अलंकार का जीवित है।[53] अग्निपुराण में रस की गरिमा का निर्देश 'वाग्वैदग्ध्य प्रधानेऽपि रस एवाऽत्र जीवितं' की शब्दावली में किया गया है। उसके अनुसार जिस प्रकार लक्ष्मी त्याग (दान) के बिना शोभित नहीं होती, उसी प्रकार वाणी भी रस के बिना शोभित नहीं हो सकती।[54] व्यक्तिविवेककार महिम भट्ट ने भी उसे 'काव्यस्यात्मनि संगिनि ' रसादिरूपे न कस्यचित् विमतिं' की धारणा द्वारा अभ्यार्थित किया है। काव्यपुरुष की कल्पना में भी रस उसके आत्मतत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित है। काव्यशास्त्र के रसेतर ग्रंथों में भी यथा प्रसंग रस का राजत्व प्रतिपादित हुआ है। विश्वनाथ का काव्य-लक्षण 'रसात्मक वाक्यं काव्य' के माध्यम से रस को परमकोटि प्रदान करता है। इन विचार-सूत्रों से स्पष्ट है कि रसतत्त्व भारतीय काव्यशास्त्र की आत्मा है। ऐसी स्थिति में आचार्य रुद्रट की उसके प्रति जो रुझान है, वह सभी दृष्टियों से युक्ति-

संगत और औचित्यपूर्ण ही मानी जाएगी। वे 'छात्रिन्याय' से भले ही अलंकारवादी आचार्य माने जाएँ किन्तु अपने काव्यालंकार के अनेक अध्यायों में यथाप्रसंग व्यक्त की गई रसविषयक धारणाओं द्वारा वे उसके अभिशंसक और समर्थक ही सिद्ध होते हैं।

प्रेयान् रस की उद्भावना

रुद्रट ने परम्परागत नवरसों की शृंखला में प्रेयान् रस जोड़कर उनकी संख्या दस मानी है।[55] उनके मतानुसार प्रेयान् रस की प्रकृति स्नेह है जिसका नायक संगतशील (सौहार्द सम्पन्न) आर्य (श्रेष्ठ पुरुष) होता है।[56] 'स्नेह' शब्द निश्छल चित्तवृत्ति का प्रतीक है जिसके साहचर्य से शिष्ट व्यवहार उत्पन्न होता है। स्नेह में पारस्परिक सौहार्द, प्रेम, सद्भाव तथा कोमल संलाप की वृत्तियाँ सम्मिश्रित हैं। उसके कारण हमारे अन्तःकरण में आर्द्रता का संचार होता है जिसके द्वारा आह्लादजनक अश्रुप्रवहण तथा स्निग्ध दृष्टि के रूप प्रस्यंदित होते हैं।[57] 'स्नेह' मैत्रीभाव और प्रणयभाव का भी संसूचक है। उसमें प्रीति और रीति का अद्भुत सामंजस्य है। प्रेयान् रस का सर्वप्रथम प्रतिपादन आचार्य रुद्रट ने ही किया है जो कालांतर में आचार्य भोज द्वारा उन्नमित तथा प्रसरित किया गया। यद्यपि अलंकारवादी आचार्यों ने उसे अपनी मान्यताओं के अनुरूप ही विवेचित किया है तथापि उससे यह निष्कर्ष तो निकाला ही जा सकता है कि वे अलंकारों के संगम में रस का सारस्वत प्रवाह अनिवार्यतः स्वीकार्य समझते हैं।

रस चर्चा और नायक-नायिका भेद

रुद्रट मूलतः अलंकारवादी आचार्य थे अतः उन्होंने इस विवेचना में अंगी भाव नहीं रखा। वे रसवादी आचार्यों की भांति उसका उपनिषद तो नहीं कर सके फिर भी उन्होंने यथासंदर्भ उसकी आशंसा करने में भी कोई कमी नही रखी। रुद्रट ने रसाश्रित स्थायीभावों तथा संसारी भावों का विवरण प्रस्तुत करते हुए इस विषय का सामान्य उल्लेख किया है कि निर्वेद आदि भाव किस प्रकार रस रूप हो जाते हैं? उनका कथन है कि जिस प्रकार मधुर, अम्ल और लवण आदि लौकिक रस अपनी आस्वाद्यता के कारण आनन्ददायक होते हैं, उसी प्रकार निर्वेद आदि भाव ही हमारी आनन्द प्राप्ति के साधन हैं जिन्हें काव्य में रस कहने की परम्परा है।[58] रुद्रट का 'निर्वेद' शब्द व्याख्या सापेक्ष है जिसका स्पष्टीकरण करते हुए उनके टीकाकार नमिसाधु ने लिखा है कि उनका अभिप्राय शांत और प्रेयान् रस के स्थायी भाव के रूप में भी ग्रहण किया जाना चाहिए। वस्तुतः रुद्रट तथा नमिसाधु ने 'निर्वेद' शब्द की अभीष्ट व्याख्या नहीं की है जिसके अभाव में उनका मूल मंतव्य स्पष्ट नहीं हो पाता। वे इसी क्रम में शृंगार रस का लक्षण निरूपित करते चले हैं। उन्होंने दो परस्पर अनुरक्त स्त्री-पुरुषों के रतिपरक व्यवहार को शृंगार कहकर उसके दो प्रकार (संभोग और विप्रलंभ) माने है। नायक-नायिका की संगति में संभोग तथा उनकी वियुक्ति में विप्रलम्भ होता है। शृंगार के दो अन्य भेद भी हैं जिन्हें 'प्रच्छन्न' और 'प्रकाश' कहा गया है।[59] इस रस से सम्बन्धित आलम्बन विभाव के

अन्तर्गत रुद्रट ने नायक नायिका भेद का भी वर्णन किया है। उन्होंने उस व्यक्ति को श्रृंगार रस का नायक माना है जो रति उपचार में चतुर, कुलीन, रूपवान, निरोग, अग्राम्य, उज्ज्वलवेष, सौम्य चेष्टायुक्त, स्थिर प्रकृति, वैभवशाली, कला कुशल, तरुण, त्यागी, प्रियवंद, दक्ष तथा गम्या नायिकाओं का विश्वासपात्र होता है। नायिकाश्रय की दृष्टि से नायक के चार भेद हैं जिनके नाम अनुकूल, दक्षिण, शठ और धृष्ट हैं। रुद्रट ने इन चतुर्विध नायकों के लक्षण निरूपित करने के पश्चात् उसके सहायक रूप 'नर्मसचिव' की व्याख्या पीठमर्द, विट और विदूषक की अभिधा से की है। आत्मीया, अन्या और सर्वा-सक्ता के नाम से त्रिविधि नायिकाओं का निरूपण करते हुए उन्होंने मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा नामक आत्मीया नायिकायें निर्दिष्ट की हैं। इन नायिकाओं के उपभेद धीरा-अधीरा और ज्येष्ठा-कनिष्ठा आदि हैं जिनके प्रति नायक का व्यवहार दाक्षिण्य और प्रेम-रूपों में दृष्टिगोचर होता है। परकीया नायिका कन्या और विवाहिता हो सकती हैं जो साक्षात्कार, चित्रदर्शन, स्वप्न तथा ऐन्द्रजालिक क्रियाओं के माध्यम से नायक में अनुरक्त होती है। वेश्या सर्वसाधारण की प्रेयसी नायिका है जो एक मात्र अर्थ प्राप्ति की कामना से ही नायकों में अनुरक्त होती है। वह सर्वगम्या है।[60] नायिकाओं के अन्य भेद अधीनपतिका, वासकसज्जा, अभिसारिका, उत्का, अभिसंधिता, प्रगल्भा, प्रोषित-पतिका और खण्डिता आदि हैं। उत्तमा, मध्या और अधमा संज्ञक श्रेणियों में भी नायि-काओं का वर्गीकरण किया जाता है जिनकी कुल संख्या 384 हो जाती है।[61] रुद्रट ने श्रृंगार रस के प्रसंग में नायक-नायिका भेद का निरूपण इस प्रयोजन से किया है कि इनकी जानकारी किये बिना यदि कोई स्थिरमति काव्यस्रष्टा भी साधुकाव्य की रचना करना चाहे तो वह भी अपनी अत्यधिक रसिकता के कारण अन्यथा भाव से ग्रस्त हो सकता है। इस विषय में रुद्रट का निम्नलिखित छंद उल्लेखनीय है—

इति कथितमशेषं लक्षणं नायकाना—
मनुगतसचिवानां हीनमध्योत्तमानाम्।
अतिरसिकतयेदं नान्यथा जातु कुर्यात्,
कविरविहतचेताः साधुकाव्यं विधित्सन्।।[62]

संभोग श्रृंगार की विवेचना

रुद्रट प्रणीत 'काव्यलंकार' का त्रयोदश अध्याय संभोग श्रृंगार की स्वरूप-विवेचना से प्रयोजनीय है। उसमें नायिकाओं की अन्तर्दशाओं और चेष्टाओं के साथ-साथ नवो-ढाओं के लक्षण भी निरूपित किये गये हैं। संभोग श्रृंगार की परिभाषा करते हुए रुद्रट ने लिखा है कि अन्योन्याश्रित नायक-नायिका पारस्परिक आलोकन तथा संभाषण आदि द्वारा जब सुखानुभूति करते हैं तो वह संभोग श्रृंगार कहलाता है।[63] उसमें उद्यानविहार, पुष्पचयन, जलक्रीडा, मधुपान, ताम्बूलचर्वण तथा सुरतक्रियायें भी सम्मिलित हैं। संभोग श्रृंगार में चातुर्य, प्रेम तथा माधुर्ययुक्त नायिकाओं की चेष्टाएँ सभी स्थानों और समयों के अनुकूल होती हैं।[64] रुद्रट ने जिस मनोवैज्ञानिक क्रम से नायक-नायिकाओं की श्रृंगार-

परक चेष्टाओं का वर्णन किया है, वह उनके द्वारा अनुभूत सुख की सी चित्रमयता अंकित करने में सक्षम है। विषयान्तर की दृष्टि से उसका विवरण प्रस्तुत न कर हम श्रृंगार-रसिकों से इस बात का आग्रह करते हैं कि वे काव्यालंकार के त्रयोदश अध्याय की कारिकाओं का अनुशीलन करते हुए उनका रसास्वाद करें।[65] रुद्रट ने नवोढाओं के स्वरूप चित्रण में भी श्रृंगार-रसिकता का परिचय दिया है।[66] उन्होंने इसी अध्याय के अंत में नायक को शिक्षा दी है कि तल्पगता सुकुमार स्त्रियाँ पुरुषों की आराध्य होती हैं अतः उनकी इच्छा के विरुद्ध प्रवृत्त होने वाले, मूर्ख नायक श्रृंगार का नाश कर देते हैं। वस्तुतः वाक्पटु तथा सामप्रवण नायक ही अपनी चाटुउक्तियों द्वारा नारी का प्रसादन करता हुआ श्रृंगार का वास्तविक रसभोक्ता और सर्वश्रेष्ठ काम-क्रीडक होता है। रुद्रट ने श्रृंगारी कवियों को इस बात का परामर्श दिया है कि वे इस रस-रहस्य को समझकर अपनी काव्यरचनाओं में प्रवृत्त हों जिससे उन्हें अक्षय कीर्ति तथा अभिशंसा मिल सके।[67]

विप्रलंभ श्रृंगार के विविध प्रकार

'काव्यालंकार' का चतुर्दश अध्याय विप्रलम्भ श्रृंगार के स्वरूप तथा उसके भेद-प्रभेदों का निरूपक है। उसमें विप्रलम्भ श्रृंगार के अनुराग, मान, प्रवास तथा करुण संज्ञक चतुर्विध प्रकारों की सुस्पष्ट विवेचना की गई है। 'अनुराग' के अंतर्गत प्रेमियों की दस दशाएँ, नायक के प्रयत्न तथा परदारा प्रसंग की चर्चा है तो 'मान' दशा में अपराध-प्रकार, अपराध-बोधक चिह्न, कोप-प्रकार, देशकालपात्र के पृथक्-पृथक् तीन रूप, आशंका परि-हरण के उपाय, कोप-परिणाम तथा कोप-निवारण के उपाय आदि विषय विवेचित हुए हैं। प्रवास तथा करुण-विप्रलम्भ का स्वरूप-निर्देश भी इस अध्याय का विवेच्य विषय है। तदुपरांत श्रृंगार रस के भेद-प्रभेद, श्रृंगारभास तथा श्रृंगार और रीतियों के पारस्परिक सम्बन्धों की चर्चा करते हुए आचार्य रुद्रट ने श्रृंगार रस की उत्कृष्टता सिद्ध की है।

रुद्रट का विप्रलम्भ श्रृंगार निरूपण केवल शास्त्रीपक्ष से सम्बन्धित न होकर जीवन के व्यावहारिक पक्ष से भी अनुबिद्ध है। उन्होंने अनुराग की परिभाषा[68] करने के पश्चात् उसकी जिन अंतर्दशाओं का वर्णन किया है। उनके नाम अभिलाष, चिंता, स्मरण, गुणसंकीर्तन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता और मरण हैं।[69] इन दशाओं के अन्तर्गत नायक का यह प्रयास होता है कि वह साम, दान तथा मान आदि उपायों द्वारा नायिका तथा उसकी अंतरंग सखियों का विश्वास अर्जित करे जिससे वह उनके अनुराग का अधिकारी बन सके। रुद्रट ने इन दशाओं का वर्णन कामशास्त्रीय धारणाओं के परि-प्रेक्ष्य में किया है। नैतिक दृष्टि से उन्होंने परदाराप्रसंग को त्याज्य और उपेक्षणीय माना है, किन्तु यदि व्यांग के रूप में उसका चित्रण किया जाता है तो वह कवि के लिए दोष-व्यंजक नहीं होता।[70] मानदशा के अन्तर्गत प्रथमतः नायककृत अपराध-चिह्नों का उल्लेख हुआ है जो नायक के वस्त्र, नखक्षत, गोत्रस्खलन, तथा सखीवचन द्वारा व्यक्त होते हैं। रुद्रट ने नायिका के असाध्य, सुखसाध्य तथा दुःखसाध्य नाम से त्रिविध कोपों का वर्णन कर उनके तीन-तीन रूप निर्दिष्ट किए हैं जो देशकाल और पात्र से सम्बन्धित हैं। इसी

क्रम में उन्होंने नायिका की आशंका निवारण के कतिपय उपायों का उल्लेख करने के पश्चात् कोप के परिणामों की चर्चा की है जिसकी अंतिम परिणति नायिका का निधन है। रुद्रट के मतानुसार साम, दान, भेद, प्रणति, उपेक्षा और प्रसंगविभ्रंश कोप-निवारण के उपाय हैं। श्रृंगार में दण्ड तो सदैव वर्जित और त्याज्य है। इन उपायों में प्रथमतः मृदु तथा सरल उपाय प्रयोजनीय हैं किन्तु यदि उनसे कार्यसिद्धि न हो सके तो परवर्ती बलवान उपायों का प्रयोग करना चाहिए।

'प्रवास' विप्रलम्भ श्रृंगार का चतुर्थ प्रकार है। उसमें नायक के विदेशगमन की त्रिकालवर्ती मनःस्थितियों का चित्रण होता है। नायक-नायिका में से किसी एक की मृत्यु अथवा मृतकल्प अवस्था में किये जाने वाले प्रलाप-प्रसंग का नाम करुण-विप्रलम्भ है जिससे प्रभावित नायक अथवा नायिका शिथिलांग, चेतनारहित, तथा खिन्न होकर निरंतर आँसू बहाते हैं अथवा दीर्घोष्णनिःश्वास लेते रहते हैं।

श्रृंगाराभास और रीति संयोजन

रुद्रट ने विप्रलम्भ श्रृंगार की प्रासंगिकता में श्रृंगाराभास का उल्लेख किया है। उनके मतानुसार श्रृंगाराभास की स्थिति उस दशा में सम्भव है जब कोई प्रेमी किसी विरक्त के प्रति अपने अनुराग की व्यंजना करे। कालांतर में रस ध्वनिवादी आदि आचार्यों द्वारा श्रृंगाराभास की विवेचना में जिस एक निष्ठ रति तथा अनौचित्य का उल्लेख किया गया, वह रुद्रट की उपर्युक्त मान्यता में सन्निहित है। रुद्रट ने बतलाया है कि श्रृंगार रस की अभिव्यक्ति में वैदर्भी अथवा पाँचाली 'रीति' तथा 'मधुरा' और 'ललिता' वृत्ति का प्रयोग ही शोभनीय है। उन्होंने श्रृंगार रस की उत्कृष्टता तथा प्रधानता सूचित करते हुए लिखा है कि वह रस सभी रसों से सरस तथा श्रेष्ठतर है जिसकी व्याप्ति बालवृद्धपर्यन्त है। उसके अभाव में काव्य नीरस हो जाता है—

अनुसरति रसानां रस्यतामस्य नान्यः
सकलमिदमनेन व्याप्तमाबालवृद्धम्।
तदिति विरचनीयः सम्यगेष प्रयत्ना—
द्भवति विरसमेवानेन हीनं हि काव्यम्॥[71]

श्रृंगारेतर रसों का परिचय

काव्यालंकार के पंचदश अध्याय का प्रतिपाद्य श्रृंगारेतर रसों का वर्णन है जिनमें रीतिप्रयोग की चर्चा करने के पश्चात् रुद्रट ने उनका माहात्म्य निर्दिष्ट किया है। इस विवेचन में किसी प्रकार की उल्लेखनीय मौलिकता नहीं है क्योंकि वह श्रृंगारेतर रसों का परम्परागत निरूपण मात्र है। रुद्रट ने उत्साहात्मभूत वीर रस को युद्ध, धर्म और दान विषयों में विभक्त कर जिस वीर नायक की कल्पना की वह धीर, अक्षुब्ध तथा ख्यातवृत्त होता है। नीति, विनय, बल, पराक्रम, गाम्भीर्य, औदार्य आदि उसके विशेष गुण हैं। वह लोकप्रिय, कार्यतत्पर तथा अपने उत्तरदायित्व को निभाने वाला

होता है। करुण रस शोक प्रकृतिक है। वह प्रियजन की विपत्ति तथा उसके अनिष्ट से उत्पन्न होता है। उसका नायक दुर्दैव पीडित होने के कारण अविरल अश्रुपात तथा प्रलाप करता हुआ विवर्ण, मूर्च्छित, तथा देवनिंदक होता है। जुगुप्सा वीभत्सरस की प्रकृति है जो घृणित पदार्थों को देखने, सुनने तथा वर्णन करने से उत्पन्न होती है। हृत्कंपन, निष्ठीवन (थूकना), मुखकूणन (मुँह बनाना) तथा सर्वगात्रसंहृति (सभी अंगों को सिकोड़ना तथा उद्विग्न होना) उसके संसूचक लक्षण हैं। भयानक रस की प्रकृति भय है जो घोर गर्जन आदि आलम्बनों से उत्पन्न होता है। नीच व्यक्ति, स्त्री और बालक इसके नायक होते है। दिक्प्रेक्षण, मुखशोषण, वैवर्ण्य, स्वेद, गद्‌गद्, त्रास, करचरण कंपन, संभ्रम तथा मोह आदि अनुभव तथा अंग प्रक्रियाएँ उसके लक्षण हैं। हास्य रस की प्रकृति हास है। दूसरों के विकृत अंग:वेश तथा उनकी विकृत चेष्टाएँ इसके अंग हैं। नीच व्यक्ति, स्त्री और बालक इसके नायक होते हैं। इसकी चेष्टाएँ नायकों की श्रेणियों के अनुरूप होती हैं। अद्‌भुत रस विस्मयात्मक होता है। स्वानुभूत और परानुभूत असंभाव्यता विस्मय का कारण है। नेत्रविस्फारन, अश्रु, पुलक, स्वेद, संभ्रम, गद्‌गद् तथा निर्निमेषतत्त्व इसके लक्षण हैं। रौद्र की प्रकृति क्रोध है। शत्रुकृत पराभव से इसकी उत्पत्ति होती है। इसका नायक उग्रप्रकृति, दारुणचेष्ट तथा सामर्ष होता है। अंसस्फालन, विषम भ्रुकुटीक्षण, आयुध-उत्क्षेप, स्व शक्ति प्रशंसा तथा प्रतिपक्षाक्षेपदलन आदि इसके लक्षण हैं। शांत रस की प्रकृति सांसारिक विषयों का सम्यक् ज्ञान है। वैराग्यपूर्ण व्यक्ति ही इसका नायक हो सकता है। सांसारिक मोह तथा तमोगुण का नाश होने पर ही सम्यक् ज्ञान होता है। जन्मजरा और मरण आदि का त्रास, विषयों से विरक्ति, सुख दु:ख की अनिच्छा तथा समभावना और अद्वेष इसके लक्षण है। प्रेयान् रस की प्रकृति स्नेह है। उसका नायक संगतशील और सौम्य स्वभाव वाला व्यक्ति होता है। उसकी निश्छल प्रकृति सौहार्दमयी सद्‌भावना तथा मधुर संभाषणकला इसके लक्षण हैं।

रुद्रट ने उपर्युक्त रसों का सामान्य परिचय देने के पश्चात् उनके रीतिनियमों का भी उल्लेख किया है। उनके मतानुसार प्रेयान्, करुण, भयानक और अद्‌भुत रसों में वैदर्भी और पांचाली रीति का प्रयोग करना चाहिए। रौद्र रस के लिए लाटीया और गौडीया रीति उपयुक्त है। शेष रसों में रीति प्रयोग के लिए निश्चित नियम नहीं है। उनका प्रयोग करते समय इस परिपोष का औचित्यमात्र वांछनीय है। रस प्रयोग तथा रस माहात्म्य के विषय में रुद्रट की कितनी अधिक निष्ठा थी, इसका प्रमाण उनका निम्नलिखित छंद दे सकेगा जिसमें उन्होंने सरस काव्य की रचना तथा गुरुता का उल्लेख किया है :—

एते रसा रसवतो रमयंति पुंस.
सम्यग्विभज्य रचिताश्चतुरेण चारु।
यस्मादिमाननधिगम्य न सर्वरम्यं
काव्यं विधातुमलमत्र तदाद्रियेत ॥[72]

संदर्भ

1. रुद्रट : काव्यालंकार, 1/4
2. वही, 1/5-6
3. वही, 1/7
4. वही, 1/9
5. वही, 1/21
6. वही, 1/22
7. वही, (नमिसाधु की टिप्पणी)
8. वही, 1/3
9. भामह : काव्यालंकार, 1/6-7
10. रुद्रट : काव्यालंकार, 12/1
11. वही, 16/1
12. वही, 12/2
13. वही, 1/11
14. वही, 1/13
15. वही, 1/14
16. वही, 1/15-16
17. वही, 1/17
18. वही, 1/18
19. वही, 1/20
20. रुद्रट : काव्यालंकार, 2/34
21. वही, 2/7
22. वही, 2/8
23. रुद्रट : काव्यालंकार, 2/11-12
24. वही, 2/13
25. वामन : काव्यालंकार सूत्रवृत्ति, 4/3-8
26. रुद्रट : काव्यालंकार, 2/15
27. वही, 2/16
28. वही, 2/19
29. वही, 2/32
30. वही, 3/1
31. रुद्रट : काव्यालंकार, 3/59
32. वही, 4/1

33. वही, 4/31
34. वही, 4/35
35. रुद्रट काव्यालंकार 5/1
36. वही, 5/2-4
37. वही, 5/24
38. भरतमुनि : नाट्यशास्त्र, 17/95
39. वामन : काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, 2-1-1
40. दण्डी : काव्यादर्श, 1/17
41. केशव मिश्र : अलंकारशेखर, 6/40
42. इति दोषविषनिषेकैरकलंकितमुज्ज्वलं सदा विबुधैः।
    कविहृदय सागरोत्थितममृतमिवास्वाद्यते काव्यम्॥
43. रुद्रट : काव्यालंकार, 2/8
44. भरतमुनि : नाट्यशास्त्र, 1/110
45. वही, 17/108
46. भामह : काव्यालंकार, 1/21
47. वही, 5/3
48. दण्डी : काव्यादर्श, 1/51
49. वही, 1/62
50. रुद्रट : काव्यालंकार, 14/37-38
51. आनंदवर्धन : ध्वन्यालोक, 4/8
52. कुंतक : वक्रोक्ति जीवित, 4/4
53. वही, 3/14
54. अग्निपुराण, 339/9
55. रुद्रट : काव्यालंकार, 12/3
56. वही, 15/17
57. वही, 15/18-19
58. वही, 12/4
59. वही, 12/5-6
60. वही, 12/16-40
61. रुद्रट : काव्यालंकार (प्रक्षिप्त) श्लोक 12/1-10
62. वही, 12/47
63. वही, 13/1
64. वही, 13/2
65. वही, 13/5-8

66. वही, 13/9-14
67. रुद्रट : काव्यालंकार, 13/17
68. वही, 14/2
69 वही, 14/4-5
70. वही, 14/12-13
71. रुद्रट : काव्यालंकार, 14/38
72. वही, 15/21

आनंदवर्धन : 'ध्वन्यालोक'

मम्मट : 'काव्यप्रकाश'

आनन्दवर्धन : 'ध्वन्यालोक'

ध्वनि तत्त्व का प्रतिष्ठापन—

आचार्य आनन्दवर्धन के पूर्व कतिपय काव्यशास्त्रियों ने काव्य के आत्मतत्त्व के रूप में ध्वनि-सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की थी जिसका उल्लेख 'ध्वन्यालोक' के प्रथम उद्योत के प्रारम्भ में हुआ है। इस सिद्धान्त के पूर्व पक्ष के रूप में आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनिविरोधी तीन मतों का उल्लेख किया है जिन्हें अभाववादी, भाक्तवादी तथा अशक्य-वक्तव्यत्ववादी मत कहा जाता है। प्रथम मत के समर्थक आचार्य काव्य में ध्वनि तत्त्व का सर्वथा अभाव मानते हैं तो द्वितीय मत के अनुसार ध्वनि तत्त्व लक्षणागम्य है। तीसरा मत यह मानकर चलता है कि ध्वनि-तत्त्व वाणी का विषय कदापि नहीं हो सकता। तीनों मतों के वैमत्य के अपने-अपने तर्क हैं जिन्हें वैशद्यपूर्वक विवेचित करने के पश्चात् आनन्द-वर्धन ने सहृदय जनों की मनः प्रीति के प्रयोजन से ध्वनि का स्वरूप और तत्त्व निरूपित करने के प्रयोजन से 'ध्वन्यालोक' की रचना की थी।

ध्वनि को काव्य की आत्मा मानने वाले काव्यतत्त्ववेत्ता विद्वानों को 'बुधजन' की संज्ञा देकर आनन्दवर्धन ने उनकी सम्मति को प्रामाणिक तथा स्वीकार्य माना है। उन विद्वानों ने परम्परागत विचारधारा के परिवेश में ध्वनि को काव्य की आत्मा के रूप में समाम्नात किया था जिसे आनन्दवर्धन ने अत्यन्त प्रांजल पद्धति द्वारा शास्त्रानुमोदित किया। ध्वनि के अस्तित्त्व में विश्वास न रखने वाले अभाववादी आचार्यों के लिए 'अपारं मौर्ख्यमभाववादिनां' पदों का प्रयोग कर उन्होंने उनकी मूर्खता का उपहास किया है। आनन्दवर्धन ने स्पष्ट लिखा है कि उन्होंने अभाववादियों के विकल्प और तर्क सुने नहीं है फिर भी वे उनकी सम्भावनाओं के आधार पर ही उनके दोषों का विवेचन करना उचित समझते हैं। सम्भावित पक्षों की असम्भाव्य स्थिति तथा अभावपक्ष की कल्पना को तत्त्व-ज्ञान कुण्ठित मस्तिष्क की स्फुरणा कहकर उन्होंने अभाववादी दृष्टिकोण को एक प्रकार से निरस्त सा कर दिया है। उनके मतानुसार अभाववादी पक्ष अज्ञान पर आधारित होने के कारण विपर्ययमूलक है।

ध्वनि-विरोधी अभिमत

1. अभाववादियों के विकल्प

अभाव विकल्प के तीन प्रकार हैं जिनके सम्भावित पक्षों का खण्डन करते हुए आनन्दवर्धन ने ध्वनि तत्त्व की प्रतिष्ठा की है। प्रथम विकल्प में यह माना गया है कि शब्द, अर्थ, गुण और अलंकारों के अतिरिक्त काव्य का अन्य कोई शोभाहेतुक धर्म नहीं होता, अत: उनसे भिन्न 'ध्वनि' नामक तत्त्व की कल्पना व्यर्थ है। दूसरे विकल्प के अनुसार जब ध्वनि नामक कोई पदार्थ ही नहीं है तो काव्य का कोई ऐसा प्रकार उसकी सीमा में सन्निविष्ट ही नहीं किया जा सकता जो उसके प्रस्थान (गुण, अलंकार, रीति, वृत्ति) से भिन्न हो। इस विकल्प के अनुसार सहृदयों के हृदय को आह्लादित करने वाली शब्दार्थमयता ही काव्य का लक्षण है अत: उपर्युक्त प्रस्थान के अतिरिक्त अन्य ऐसा कोई मार्ग नहीं माना जा सकता जिसमें काव्य-लक्षण घटित हो सके। यदि ध्वनि-सिद्धांत में काव्य का व्यवहार प्रवर्तित भी किया जाय तो भी वह सभी विद्वानों द्वारा सुमान्य होगा, यह कोई आवश्यक नियम नहीं है।

अभाववादियों का तीसरा सम्भावित विकल्प यह है कि जब ध्वनि नाम की कोई अपूर्व वस्तु सम्भव ही नहीं है तो उसका अंतर्भाव काव्य के अन्य चारुत्व हेतुओं में मान लेना चाहिए। यदि किसी को 'ध्वनि' संज्ञा से ही विशेष मोह हो तो वह किसी एक चारुत्व हेतु को ध्वनि कहकर अपना मोह संवरण कर सकता है। सच तो यह है कि वाणी के अनंत विकल्प हैं जिनकी सूक्ष्मता और व्यापकता की ओर अनेक काव्य लक्षण विधायक आचार्यों का ध्यान गया है किन्तु किसी ने भी ध्वनि नाम के प्रति विशेष आग्रह प्रदर्शित नहीं किया। वस्तुत: काव्य-प्रस्थान के अन्तर्गत ध्वनि शब्द का कोई अस्तित्त्व ही नहीं है अत: उसके समर्थक यदि झूठी सहृदयता की भावना लेकर तथा वास्तविकता की ओर से अपनी आँखें मूँदकर ध्वनि-ध्वनि चिल्लाते हुए नाचते-फिरते हैं तो उसमें हमें कोई औचित्य दिखलाई नहीं पड़ता। अलंकार शास्त्रियों ने सहस्रों संख्या में अलंकारों के भेद-प्रभेद प्रकाशित किए हैं तथा भविष्य में भी करेंगे किन्तु उनकी यह दशा सुनाई नहीं पड़ती।

अभाववादियों की संभावनाओं के अनुसार ध्वनि-मत प्रवाद मात्र है। उसमें किसी भी प्रकार के क्षोदक्षम (अधिक पीसने योग्य) तत्त्व-प्रकाशन की क्षमता नहीं है।[1] वह न तो गुण और अलंकारों से भिन्न कोई तत्त्व है और न उसकी पृथक शोभाधर्मिता ही स्वीकार की जा सकती है। यदि ध्वनि को अन्य नवीन अलंकारों के समान स्वतन्त्र शोभा हेतु मान भी लिया जाय तो भी उसके अधिक आदर का कोई ठोस कारण नहीं बनता। इस विषय में आलोककार के समकालीन मनोरथ कवि का निम्नलिखित छंद उल्लेखनीय है जिसमें ध्वनि-तत्त्व की कदर्थना करने में कोई कसर नहीं रखी गई है—

> यस्मिन्नस्ति न वस्तु किंचन मन: प्रह्लादि सालंकृति
> व्युत्पन्नैरचितं न चैव वचनैर्वक्रोवितशून्यं च यत्।

काव्यं तद् ध्वनिना समन्वितमिति प्रीत्या प्रशंसञ्जडो
नो विद्मोऽभिदधाति किं सुकृतिना पृष्टः स्वरूपं ध्वनेः ।।

अर्थात् जिसमें न तो मन को प्रसन्न करने वाली अलंकार युक्त कोई वस्तु है, जो न विचित्र वचनों द्वारा रची गई है तथा न जिसमें वक्रोक्ति (उत्कृष्ट संघटना) है : ऐसे काव्य को ध्वनियुक्त कहकर जड़जन उसकी प्रीतिपूर्वक प्रशंसा करते हैं। यदि उन्हें कोई पुण्यात्मा ध्वनि का स्वरूप पूछ बैठें तो वे उसका क्या उत्तर देंगे—यह हम नहीं जानते।

2. भाक्तमत का दृष्टिकोण

लक्षणा के लिए भक्ति शब्द का भी प्रयोग होता है जिससे भाक्त पद उपपन्न हुआ है। उसकी व्युत्पत्ति निम्नलिखित रूपों में समझी जा सकती है—

(अ) 'भज् सेवायाम्' धातु से कर्म अर्थ में क्तिन् प्रत्यय जोड़कर 'भक्ति' शब्द बनाता है जिसका अर्थ है जिसका भजन या सेवन किया जाय। यहाँ भक्ति शब्द सामीप्य इत्यादि ऐसे धर्मों का सूचक है जो लक्ष्यार्थ-प्रतीति के निमित्त रूप में प्रसिद्ध हो चुके हैं तथा लक्ष्यार्थ अपने बोध के लिए जिनका सहारा लेता है। भक्ति से निष्पन्न 'भाक्त' शब्द लाक्षणिक अर्थ का बोधक है। अभिधेय के साथ सामीप्य, सारूप्य, समवाय, वैपरीत्य तथा क्रियायोग सम्बन्धों से सम्बन्धित होने के कारण भक्ति (लक्षणा) पाँच प्रकार की मानी गई है।

(आ) गुण समुदाय में रहने वाले अथवा गुण समुदाय के बोधक शब्द का तैक्षण्य इत्यादि जो अर्थ भाग होता है, उसे भक्ति कहते हैं। उससे प्राप्त होने वाला गौण अर्थ 'भाक्त' कहलाता है।

(इ) 'भक्ति' शब्द का अर्थ श्रद्धा का अतिशय (आधिक्य) भी है जो प्रतिपाद्य सामीप्य, तैक्ष्ण्य इत्यादि में रहता है। उसे प्रयोजन रूप में स्वीकार कर उससे प्राप्त होने वाला अर्थ 'भाक्त' कहलाता है जिसके 'गौण' और 'लाक्षणिक' नामक दो रूप हैं।

(ई) 'भक्ति' शब्द 'भञ्ज्' धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय होकर भी बनता है जिसका अर्थ है भंग करना या तोड़ना। लक्षणा में मुख्य अर्थ भंग किया जाता है अतः उसे भाक्त कहते हैं। उसमें मुख्यार्थबाध, निमित्त और प्रयोजन इन तीनों का सद्भाव उसका उपचार बीज है।

लक्षणावादी आचार्य ध्वनि के स्थान पर गुणवृत्ति को काव्य की आत्मा मानते हैं। गुण वृत्ति का अर्थ है सामीप्य इत्यादि धर्मों तथा तीक्ष्णता आदि उपायों से शब्द की अर्थान्तर में प्रवृत्ति होना जो एक प्रकार से अमुख्य अभिधा व्यापार का ही नाम है। इस मत के अनुसार ध्वनि और गुणवृत्ति एक-दूसरे से अभिन्न है जबकि ध्वनिवादी आचार्य उन्हें परस्पर आधारित कहकर भी उनकी एकरूपता स्वीकार नहीं करते। ध्वनि और गुणवृत्ति एक प्रकार का अमुख्य शब्दबोध है जिसे उपचरित शब्दार्थ भी कहा जाता है।

चाहे ध्वनित करने वाला शब्द, ध्वनित होने वाला अर्थ तया ध्वनन-व्यापार 'ध्वनि' पद से अभिहित किया जाय, वह उपचरित शब्द के अर्थ-व्यापार अर्थात् गुणवृत्ति से भिन्न वस्तु नहीं होता। लक्षणावादियों के अनुसार मुख्य अर्थ में अभिधा होती है अतः परिशेष रहने से अमुख्य अर्थ में गुणवृत्ति ही मानी जानी चाहिए। इन दोनों के अतिरिक्त तृतीय वृत्ति के लिए उसमें किसी भी प्रकार की गुंजाइश ही नहीं है।

आचार्य आनन्दवर्धन के पूर्व अन्य काव्यलक्षणकारों ने न तो ध्वनि शब्द का ही संकीर्तन किया और न वे गुणवृत्ति का वह प्रमुख तत्त्व ही प्रकाशित कर सके जो कालान्तर में विकसित हुआ। उन्होंने अमुख्य वृत्ति के नाम से उसका काव्य-व्यवहार अवश्य प्रदर्शित किया था जिसमें ध्वनि-सिद्धांत का यत्किंचित् स्पर्श सम्भव हो सका है। भट्टोद्भट तथा वामन आदि आचार्यों ने जिस अमुख्य वृत्ति का उल्लेख किया था वह ध्वनि-मार्ग के प्रस्तुतीकरण का अत्यन्त दुर्लभ पक्ष है। भामह ने काव्य हेतुओं के अंतर्गत 'शब्द' और 'अभिधान' का पृथक्-पृथक् उल्लेख किया है जिनके भेद की व्याख्या करते हुए भट्टोद्भट ने 'अभिधान' शब्द का अर्थ 'शब्दों का अभिधा व्यापार' माना है। वह व्यापार 'मुख्य' तथा 'गुणवृत्ति' संज्ञक दो प्रकार का होता है। वामन ने सादृश्यवती लक्षणा को वक्रोक्ति कहकर उसकी सामान्य विवेचना मात्र की है किन्तु वे भी ध्वनिमत तक नहीं बढ़ सके हैं। भामह ने 'अभिधान' शब्द द्वारा उसे संकेतित करते हुए अधूरा ही छोड़ दिया है। कतिपय आचार्य ध्वनि और लक्षणा को एक ही तत्त्व मान कर चले हैं जिसके कारण ध्वनिमत की विवेचना में अनेक प्रकार की भ्रांतियाँ सम्भावित हो गई हैं। अभिप्राय यह है कि ध्वनि मत की प्राण-प्रतिष्ठा करने की दिशा में ध्वन्यालोक के पूर्व ऐसा कोई उपक्रम परिलक्षित नहीं होता जो उसका आलोक स्तम्भ कहा जा सके।

3. अशक्यलक्षणवादी अभिमत

ध्वनि विरोधी तीसरा मत अशक्यवक्तव्यत्ववादी आचार्यों का है जिनकी सुकुमार बुद्धि में ध्वनि का लक्षण निर्धारित करने की बात ही नहीं आती। उनके मतानुसार ध्वनि-तत्त्व अनिर्वचनीय (वाणी से अगोचर) है जिसे सहृदय हृदय संवेद्य मात्र कहा जा सकता है। इस मत का मंतव्य निम्नलिखित छंद में उपबृंहित है—

कवेरभिप्रायमशब्दगोचरं स्फुरन्तमार्द्रेषु पदेषु केवलम्।
वददिरगैः स्फुटरोमविक्रियैर्जनस्य तूष्णीं भवतोऽयमंजलिः॥

अर्थात् "कवि का अभिप्राय शब्द से गोचर नहीं होता, वह केवल आर्द्र पदों में ही स्फुटित होता है जो व्यक्ति उस अनिवर्चनीय आनन्द को प्राप्त कर मौन हो जाते हैं उनके रोमांच ही उस आनन्द की अभिव्यक्ति करते हैं। ऐसे व्यक्तियों को हम हाथ जोड़कर नमस्कार करते हैं।

त्रिविध मतों की क्षेत्र सीमा

ध्वनि-विरोधी उपर्युक्त तीनों मतों की अपनी-अपनी सीमाएँ हैं। उनमें अभाव-

वादी मत सबसे अधिक निम्नकोटि का है क्योंकि उसके अनुयायियों को ध्वनि-सिद्धांत का ज्ञान ही नहीं है जिसके कारण वे उसकी सत्ता सर्वथा अस्वीकार करते हैं। भाक्तवादी आचार्य मध्यमकोटि में आते हैं क्योंकि वे ध्वनि को मानते तो हैं किन्तु वे उसका अंतर्भाव लक्षणा में कर देते हैं। उनका पक्ष अधिकाँशतः सन्देहमूलक है। अशक्यलक्षणवादी आचार्य यद्यपि ध्वनि का कहीं पर भी अन्तर्भाव नहीं करते किन्तु उन्हें उसका लक्षण-निरूपण करना ही नहीं आता। वे उसकी अनिर्वचनीयता में ही आस्था रखकर चलते हैं। आनन्द-वर्धन ने उपर्युक्त तीनों मतों का आलोड़न-विलोड़न करने के पश्चात् ध्वनि का लक्षण तथा विवेचन प्रस्तुत किया है। वे अनुबंध-चतुष्टय के अनुसार इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि ध्वनि-सिद्धांत सर्वथैव बोधगम्य है। ध्वनि अभिधेय है और शास्त्र अभिधायक। ध्वनि का स्वरूप-निर्धारण उसका विषय है, सहृदय उसके अधिकारी हैं, वैमत्य-निराकरण के साथ ध्वनि का स्वरूप-ज्ञान उसका प्रयोजन है तथा शास्त्र और प्रयोजन का साधक-साध्य-भाव उसका सम्बन्ध है। वक्ता और श्रोता के व्युत्पादक-व्युत्पाद्य सम्बन्ध द्वारा भी उसका निरूपण किया जाता है। इन सब बातों को ध्यान में रखकर ही आलोककार आनन्दवर्धन ने ध्वनि का अनुबंध-चतुष्टय सिद्ध किया है।

'ध्वन्यालोक' में अभाववादी तथा अशक्यवक्तव्यत्ववादी ध्वनि-विरोधी मतों की विवेचना के अन्तर्गत 'जगदुः' तथा 'ऊचुः' क्रिया-पदों का प्रयोग किया गया है जिनसे उनकी परोक्षभूत सत्ता सिद्ध होती है। वस्तुतः इन मतों का उल्लेख किसी ग्रन्थ विशेष में नहीं मिलता अतः उनके लिए 'सम्भावना' मात्र विवक्षित है। लक्षणवाद अथवा भाक्तमत की स्थिति उनसे भिन्न है। उसके लिए वर्तमानकालिक 'आहुः' क्रिया-पद का प्रयोग इस हेतु किया गया है कि लक्षणापक्ष का विवेचन विभिन्न काव्यशास्त्रीय ग्रंथों में अविच्छिन्न रूप में मिलता है जिसकी परम्परा ध्वन्यालोक के रचनाकाल में भी विद्यमान थी।

वाच्य और प्रतीयमान अर्थ

आनंदवर्धन ने ध्वनि का स्वरूप-लक्षण निर्धारित करने के पूर्व उसकी भूमिका बनाने के लिए अर्थ के द्विविध भेदों (वाच्य और प्रतीयमान) का निरूपण किया है। उनके मतानुसार जिस प्रकार किसी अपूर्व निर्माण की इच्छा होने पर पहले भूमि बनाई जाती है, उसी प्रकार प्रतीयमान अर्थ (ध्वनि) के स्वरूप निर्धारण के पूर्व वाच्य अर्थ का अभि-धान उसके लिए भूमिका-तुल्य ही है क्योंकि उसी की पीठिका पर प्रतीयमान अर्थ का उल्लेख किया जा सकता है। उनके शब्दों में 'काव्य की आत्मा के रूप में स्थित सहृदय श्लाघनीय जो अर्थ है, उसके वाच्य और प्रतीयमान नामक दो भेद कहे गये हैं।[2] जिस काव्य को शब्दार्थशरीर कहा जाता है उसमें उसकी अनुप्राणक आत्मा अवश्य होनी चाहिए। शब्द उसका ऐसा शरीर भाग है जो अपनी स्थूलता अथवा कृशता के अनुसार सर्वजनसंवेद्य धर्म वाला है जबकि अर्थ सर्वजनसंवेद्य नहीं होता। अर्थमात्र से काव्य काव्य नहीं कहलाता क्योंकि लौकिक और वैदिक वाक्यों में उसका अभाव देखा जाता है। काव्य में वही अर्थ महत्वपूर्ण है जो सहृदय जनों द्वारा श्लाघनीय समझा जाता है। उसकी

श्लाघा तभी की जा सकती है जब उसमें कुछ न कुछ 'विशेष' तत्व विद्यमान हो। वस्तुतः अर्थ का प्रतीयमान रूप ही काव्य का 'विशेष' है जो अपनी हेतुतावश काव्य का आत्मतत्त्व निर्धारित किया गया है। काव्य का वाच्यार्थ उसके प्रतीयमान अर्थ से भिन्न होता है। दोनों को एक मान लेना तथा दोनों की संहृति में ही काव्य की आत्मा अनुसंधित करना चित नहीं है। चूँकि प्रतीयमान अर्थ ही सहृदयश्लाघ्य होता है, अतः उसे ही काव्य का र्वस्व तथा आत्मतत्त्व समझना चाहिए।

प्रतीयमान अर्थ की काव्यगत स्थिति

काव्य प्रतीयमान अर्थ की वही स्थिति है जो शरीर में आत्मा की होती है। ललित और उचित तत्त्वों के सन्निवेश के कारण सुन्दर प्रतीत होने वाले काव्य में सहृदयश्लाध्य अर्थ साररूप में स्थित रहता है जिसके वाच्य और प्रतीयमान संज्ञक दो भेद हैं।[3] यहाँ 'ललित' शब्द द्वारा 'गुण' और 'अलंकार' का भाव ग्रहण करना चाहिए। 'उचित' पद रसविषयक औचित्य का व्यंजक है। उसके द्वारा प्रतीयमान अर्थ में रस-ध्वनि का जीवितत्त्व सूचित होता है। औचित्य के अभाव में रसपरक काव्य रचना की कल्पना भी नहीं की जा सकती। गुण और अलंकार काव्य के चारुत्व हेतु अवश्य हैं, किन्तु उनसे व्यक्तिरिक्त ध्वनि नहीं होती, इस कथन में स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास ही मानना चाहिए। आत्मा शरीर की चारुता में कदापि हेतु नहीं होती और यदि दुर्जनतोष न्याय से उसे चारुत्व हेतु मान भी लिया जाय तो भी हेतु में व्यभिचार तो आ ही सकता हैं। इसका कारण यह है कि जो स्वयं अलंकार्य है, वह अलंकार कैसे हो सकता है अथवा जो स्वयं गुणी है, वह गुण कैसे हो सकता है। यदि प्रतीयमान अर्थ को ही गुण और अलंकार मान लिया जाय तो गुणी और अलंकार्य क्या होंगे, यह एक विचारणीय विषय है।

यद्यपि सहृदयश्लाघ्य अर्थ के दो अंश है तथापि उनमें वाच्यार्थ अंश अधिक प्रसिद्ध है। वनितावदन, उद्यान और चंद्रोदय इत्यादि के रूप में वाच्यार्थ लौकिक ही होता है। उपमा इत्यादि अलंकार-भेदों से उसकी व्याख्या और संगति सिद्ध की गई है। उपमा सभी अलंकारों में प्रधान है अतः अप्पयदीक्षित ने उसे सभी अलंकारों का प्रपंचमात्र माना हैं।[4] जिन आचार्यों ने उपमा आदि अलंकारों द्वारा वाच्यार्थ की अनेक प्रकार से व्याख्या की है वे वाच्यार्थ को ही काव्य की आत्मा मान बैठे हैं। ऐसे आचार्य बहुत कम हुए हैं जिन्होंने प्रतीयमान अर्थ की काव्यात्मकता का प्रबंधबद्ध प्रतिपादन किया हो। प्रतीयमान अर्थ की उत्कृष्टता और रमणीयता का वर्णन करते हुए आनंदवर्धन ने लिखा है कि जिस प्रकार नायिकाओं के मुख, नाक और कान आदि अनेक अव्यय होते हैं किन्तु लावण्य नामक कोई अवयव नहीं होता फिर भी वह सभी अवयवों से स्फुरित होने वाला प्रधान तत्त्व है; उसी प्रकार प्रतीयमान अर्थ किसी शब्द का संकेतिक अर्थ नहीं होता फिर भी वह सभी शब्दों के संकेत से स्फुरित होता है। महाकवियों की वाणी में वाच्यार्थ से भिन्न प्रतीयमान अर्थ कुछ और ही तत्त्व है जो स्वयं भी शोभित होता है तथा वाच्यार्थ को भी शोभित करता हुआ स्वयंमेव काव्य की आत्मा बन जाता है।[5]

प्रतीयमान अर्थ काव्य सौन्दर्य का लावण्य है

प्रतीयमान अर्थ सहृदयजनों में अत्यन्त प्रसिद्ध है। वह काव्यवर्णित अलंकारों तथा प्रतीत होने वाले अवयवों से उसी प्रकार भिन्न है जिस प्रकार अंगनाओं के सौन्दर्य में प्रस्फुरित होने वाला लावण्य उसके आभूषणों (अलंकारों) और अवयवों से पृथक् होता है। जिस प्रकार अंगनाओं का लावण्य उनके समस्त अंगों से व्यतिरिक्त प्रतीति-गोचर होकर सहृदयों के नेत्रों के लिए अमृततुल्य कुछ दूसरा ही तत्त्व बन जाता है' उसी प्रकार प्रतीयमान अर्थ भी काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिभासित होता है। प्रतीय-मान से अनुप्राणित काव्य रचना करने में निपुण प्रतिभाशाली कवि ही महाकवि पद के अधिकारी होते हैं। ऐसे महाकवियों की रचनाशक्ति उसी प्रकार प्रकाशित होती है जिस प्रकार किसी रमणी का लावण्य उसके अवयव संस्थान द्वारा अभिव्यक्त होने पर भी उससे भिन्न होता है।

प्रतीयमान अर्थ के विविध रूप

यों तो वाच्यसामर्थ्य से आक्षिप्त होकर प्रतीयमान अर्थ वस्तु, अलंकार और रस इत्यादि अनेक रूपों में विभक्त किया जाता है किन्तु उनमें रस की स्थिति सबसे भिन्न और लोकोत्तर आनंदविधायिनी है। लौकिकता और काव्यमात्रगोचरता की दृष्टि से प्रतीयमान अर्थ के दो भेद हैं। 'स्वशब्दवाच्य प्रतीयमान' लौकिक कहलाता है जिसके विधिनिषेध इत्यादि अनेक प्रकार हैं। अलंकारध्वनि और वस्तुध्वनि का विवेचन लौकिक प्रतीयमान के अन्तर्गत ही किया जाता है। प्रतीयमान अर्थ का दूसरा रूप उसकी 'काव्य-मात्र गोचरता' से सम्बन्धित है जिसे स्वशब्दवाच्यता तथा लोक व्यावहारिता के कठघरे में नियंत्रित नहीं किया जा सकता। उसका स्वरूप विशुद्ध आनंदमय होता है। रस की निष्पत्ति और उसके स्वरूप के सम्बन्ध में आनंदवादी आचार्यों ने अपनी जो मान्यताएँ प्रतिष्ठित की हैं, वे सब उसके पक्ष में संघटित की जा सकती हैं। वस्तुतः रसध्वनि का क्षेत्र और परिसर उसकी क्रीड़ास्थली है। भट्टनायक ने 'अंशत्वं न रूपता' द्वारा जिस ध्वनि को काव्य का अंश माना है, उसका अभिप्राय वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि की अंश-रूपता प्रतिपादित करना है। उन्होंने भी रसध्वनि को काव्य का निरपेक्ष आत्मतत्त्व स्वीकार किया है जो अभिधा और भावना नामक अंशों का अतिक्रमण कर उपस्थित होता है। सभी ध्वनियाँ अंततः रसपर्यवसायी होती हैं। वाच्य सामर्थ्य से आक्षिप्त होना तीनों ध्वनियाँ (वस्तु, अलंकार और रस) के लिए वांछनीय है। 'ध्वनित करना' शब्द का व्यापार है किन्तु उसमें सहकारी अर्थसामर्थ्य की सत्ता सर्वत्र विद्यमान रहती है। शब्दशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रम व्यंग्य में भी अर्थ शक्ति से ही प्रतीयमान की प्रतीति होती हैं। असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य तो रसध्वनि होता ही है जिसकी सत्ता सर्वोपरि और स्वतः सिद्ध है।

प्रतीयमान अर्थ की ध्वन्यात्मकता

'प्रतीयमान अर्थ ही काव्य की आत्मा है।' इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि प्राचीन काल में क्रौंच के जोड़े के परस्पर वियोग से उत्पन्न आदि कवि वाल्मीकि का शोक ही श्लोक-रूप में परिणत हो गया।

ध्वन्यालोक की उपर्युक्त मान्यता से निम्नलिखित निष्कर्ष निकलते हैं :

(अ) शोक करुणरस का स्थायी भाव है जो अपने निरपेक्ष भाव के कारण विप्रलम्भ-श्रृंगारोचित रति नामक स्थायी भाव से भिन्न है।

(आ) जब उसका तदनुकूल विभाग तथा उससे उत्पन्न आक्रन्दन आदि अनुभावों के साथ संयोग होता है तो उसकी चर्वणा द्वारा हमारा हृदयसंवाद होता है जिसके कारण उसमें आस्वाद्यमानता आ जाती है।

(इ) शोक की वह आस्वाद्यमानता करुण रस की निष्पत्ति करती है जो निश्चय ही लौकिक शोक से भिन्न होती है।

(ई) वस्तुतः करुण रस एक प्रकार से सहृदय जनों की चित्त-द्रुति का समास्वादन ही है जो रस-परिपूर्ण कुम्भ के उच्चलन के समान हमारी चित्त-वृत्ति को रसचर्वण में निमग्न कर देता है।

(उ) आदिकवि का वह शोक चित्तवृत्ति की व्यंजकता से आविष्ट होकर समुचित शब्दयोजना तथा छन्दोवृत्ति के नियंत्रण द्वारा श्लोक बन गया और वे सहज भाव से अपनी आदिरचना प्रस्तुत कर सके।

(ऊ) आदिकवि की वह प्रथम रचना प्रतीयमान अर्थ की व्यंजक थी जिसे ध्वनिकाव्य का उत्कृष्ट उदाहरण कहा जा सकता है।

(ए) मुनि का वह शोक उनके भग्नावरणचित् का ही प्रकाशन था अन्यथा वह अपने व्यक्तिसापेक्ष सम्बन्ध के कारण उनकी दुःखसन्तप्त मनोदशा का ही अभिव्यंजन कर पाता।

(ऐ) वस्तुतः चर्वणायोग्य शोक नामक स्थायी भाव ही करुण रस के उच्चलन का स्वभाव बन जाता है जो अन्य शब्दबोधों से विलक्षण होने के कारण रस-निष्पत्ति करने का सामर्थ्य रखता है। वही रस-ध्वनित होकर काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित होता है।

आनंदवर्धन ने प्रतीयमान अर्थ के माध्यम से जिस काव्यात्मतत्त्व का विश्लेषण किया है वह उनके परवर्ती अन्य आचार्यों द्वारा भी सुमान्य रहा है। 'हृदयदर्पण' में 'यावत्पूर्णो न चैतेन तावन्नैव वमत्यमुम्' द्वारा यही बात प्रकारान्तर से कही गई है। इस विषय में भट्टनायक का कथन है कि "शब्द की प्रधानता का आश्रय लेकर पृथक्शास्त्र को जानते हैं, अर्थतत्त्व से युक्त को तो आख्यान कहते हैं। इन दोनों के गौण हो जाने पर तथा व्यापार की प्रधानता होने पर काव्यबुद्धि हो जाती है।" कहने की आवश्यकता

नहीं कि भट्टनायक के मतानुसार भी वह काव्य व्यापार ध्वन्यात्मक रसनास्वभाव वाला ही है।

आनंदवर्धन ने शोकचर्वणा से उद्भूत जिस श्लोक[6] की चर्चा की है, वह करुण रस का अद्वितीय और अनुपम उदाहरण है। वस्तुत: शोकसंज्ञक स्थायी भाव ही विभाव और अनुभाव आदि से भावित होकर हमारी चित्तवृत्ति को रसचर्वणा के अनुकूल बना देता है। उस चर्वणा में औचित्य निबंधना भी एक अनिवार्य तत्त्व है। रस की वह चर्वणा प्रथमत: स्वसंवेदनागोचर होती है जो क्रमश: परत्र अनुमित होकर हमारे चित्तवृत्तिजात संस्कारों के द्वारा हमारा हृदय-संवाद करती है। इस चर्वणा में प्रतीयमान अर्थ एक महत्त्वपूर्ण भूमिका का काम करता है जिसे काव्य का आत्मतत्त्व माना गया है। वस्तु और अलंकार ध्वनियाँ प्रतीयमान अर्थ के ही रूपान्तर हैं। इससे पृथक् रहने वाली भाव-ध्वनि भी उसके अंतर्गत समाविष्ट होती है।

प्रतीयमान अर्थ की काव्यात्मकता स्वसंवेदनसिद्ध है जिस पर किसी को अनुपपत्ति हो ही नहीं सकती। महाकवियों की वाणी प्रतीयमान अर्थ के रूप में रसध्वनि तथा भावध्वनि इत्यादि का ही प्रकाशन करती है। उसमें व्यंग्यार्थक का सौन्दर्य झलकता है। आनंदवर्धन के शब्दों में 'आस्वादपरिपूर्ण अर्थवस्तु को निष्यंदित करने वाली महा-कवियों की भगवती भारती सर्वत्र स्फुरित होने वाली प्रतिभा की ऐसी विशेषता अभिव्यक्त करती है जिसकी समानता लोक में नहीं मिलती।[7] इतने बड़े संसार में, जहाँ कवियों की परम्परा अत्यन्त वैचित्र्यपूर्वक निरन्तर चलती रहती है; कालिदास जैसे प्रतिभाशाली महाकवियों की श्रेणी में बहुत कम आते हैं। आनंदवर्धन ने इतिहासमुख से प्रतीयमान अर्थ की रसात्मकता तथा स्वयंवेद्यता प्रतिपादित की है। वे वस्तु शब्द से अर्थशब्द तथा तत्त्व शब्द से वस्तु शब्द ध्वनित करते चले हैं। इस विषय में भट्टनायक ने उचित ही लिखा है कि 'वाणीरूपी धेनु सहृदयरूपी वत्स की तृष्णा से इस दिव्य रस को प्रवाहित करती है अत: इसके समान वह नहीं हो सकता जो योगियों द्वारा दुहा जाता है।[8] कवियों की प्रतिभा प्रतिपत्ताओं के लिए अनुमानगम्य नहीं होती अपितु रसावेश से प्रकाशमान होती है। इसी बात को ध्यान में रखकर अभिनवगुप्त के गुरु आचार्य भट्टतौत ने 'नायकस्य कवे: श्रोतु: समानोऽनु-भवस्तत:' लिखकर बतलाया है कि नायक, कवि और श्रोता के अनुभव समतुल्य होते हैं।

प्रतीयमान अर्थ की वैशिष्ट्य सिद्धि

आनंदवर्धन का प्रतियमान अर्थ विषयक विवेचन कई दृष्टियों से वैशिष्ट्यपूर्ण है। उन्होंने उसी के प्रसंग में प्रयुक्त 'प्रतिभाविशेष' को 'अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा' कहा है। जिसकी विशेषता का अर्थ है 'रसावेश की विशदता का सौन्दर्य तथा उसी के अनुरूप काव्यनिर्माण की क्षमता।' वस्तुत: प्रतिभाविशेष को निमित्त बनाकर ही महाकवित्व प्रतिष्ठित होता है। महाकवित्व की प्राप्ति के लिए स्फुरणशील प्रतिभाविशेष की अभि-व्यक्ति परम अनिवार्य है।

प्रतीयमान अर्थ की काव्यात्मभूत स्वसंवेदनसिद्धि मानने के साथ-साथ आनंदवर्धन ने उसकी सत्ता-सिद्धि के अन्य प्रमाण भी प्रस्तुत किये हैं। उनकी मान्यता है कि प्रतीयमान अर्थ शब्दार्थशासन (व्याकरण और कोश) द्वारा नहीं जाना जाता अपितु उसके सच्चे मर्मज्ञ तो केवल काव्यार्थतत्त्वज्ञ ही हो सकते हैं। चूँकि वह अर्थ वाच्यरूप नहीं होता अतः उसकी प्रतीति वाच्य और वाचक के परिज्ञानमात्र से नहीं हो सकती। वह तो मूलतः रसरूप होता है जिसके प्रबोध के लिए ध्वनिशास्त्र का ज्ञान आवश्यक है। लोचनकार ने इस कथन की पुष्टि में गान्धर्व विद्या का उदाहरण प्रस्तुत किया है। उन्होंने लिखा है कि जिस प्रकार गांधर्व विद्या से अनभिज्ञ व्यक्ति उसके अंगभूत स्वरश्रुति' आदि विषयों के लक्षण नहीं जानते, उसी प्रकार व्यंजक व्यंग्यभाव रूपिणी व्यंजना से अपरिचित व्यक्ति भी प्रतीयमान अर्थ की रसबोधता नहीं समझ सकते। जिन लोगों ने केवल वाचकवाच्य के परिज्ञान में ही अपना सम्पूर्ण समय नष्ट कर दिया है अथवा जो उसकी संकुचित परिधि में ही सिमटकर रह गए हैं; वे भला काव्यतत्त्वार्थ की चर्वणा से विमुख व्यक्तियों के लिए रसरूप व्यंग्यार्थ का साक्षात्कार किसी भी रूप में कदापि सम्भव नहीं है।

वाच्यव्यतिरेकी व्यंग्य अथवा प्रतीयमान अर्थ की सत्ता विशिष्ट कोटि की होती है। व्यंग्यार्थ और उसकी व्यंजना के सामर्थ्य में योग रखने वाला शब्द 'प्रत्यभिज्ञेय' है जिसका आशय है कि महाकवियों को व्यंग्यार्थ तथा व्यंजक शब्दों का प्रत्यभिज्ञान अवश्य होना चाहिए। इस प्रकार के प्रत्यभिज्ञान के कारण ही काव्य-स्रष्टा महाकवित्व का लाभार्जन कर सकते हैं क्योंकि वाच्य वाचकभाव की रचनामात्र से उसकी उपलब्धि नहीं होती। कवियों की भाँति सहृदयजनों के लिए भी उपर्युक्त 'प्रत्यभिज्ञान' की आवश्यकता और उपयोगिता नितांत वांछनीय है जिसके द्वारा वे काव्यकृति का रसास्वादन करते हैं। इस मान्यता की संसिद्धि सहृदयों के हृदयसंवाद को प्रमाण मानकर की जा सकती है। अभिनवगुप्त के गुरु आचार्य श्रीमत् उत्पलपाद ने भी इस मत का समर्थन निम्नलिखित उदाहरण द्वारा किया है—

तैस्तैरप्युपयाचितैरूपनयस्तन्व्याः स्थितोऽप्यंतिके
कांतो लोकसमान एवमपरिज्ञातो न रंतुं यथा।
लोकस्यैव तथानवेक्षितगुणः स्वात्मापि विश्वेश्वरो
नैवालं निजवैभवाय तदियं यत्प्रत्यभिज्ञोदिता।।

आचार्य उत्पलपाद का उपर्युक्त छंद लौकिक उदाहरण द्वारा 'प्रत्यभिज्ञा' का महत्व प्रदर्शित करता है। इसका मूल आशय यह है कि जिस प्रकार कोई नायिका दूती-सम्प्रेषण आदि उपायों द्वारा अपने प्रियतम को अपने निकट बुला भी ले, किन्तु वह अज्ञानवश उसे साधारण व्यक्ति समझकर उसके साथ रमण करने में प्रवृत्त नहीं होती, उसी प्रकार यह जानते हुए भी कि विश्वेश्वर परमात्मा सम्पूर्ण संसार का आत्मा है किन्तु जब तक उसके गुणों का साक्षात्कार नहीं होता, उसके वैभव का प्रत्यभिज्ञान नहीं किया जा सकता। अभिप्राय यह है कि काव्य-सृष्टि और काव्यास्वादन की प्रक्रिया में

भी उपर्युक्त छंद की भाव छाया के अनुरूप 'प्रत्यभिज्ञा' एक अनिवार्य तत्त्व है जिसके प्रभाव में कवि और सहृदय अपनी प्रयोजन-सिद्धि कर ही नहीं सकते। 'प्रत्यभिज्ञान' का सामान्य अर्थ 'ज्ञानवस्तु की पहिचान' है जिसका आशय यह है कि ज्ञानवस्तु का विशेषतः निरूपण अथवा पुनः-पुनः अनुसंधान करने की प्रवृत्ति से प्रेरित होकर जब कोई कवि अथवा सहृदय वाग्वपुरुष शब्दार्थ की व्यंग्यव्यंजकता की पूरी पहिचान कर लेता है, तभी वह अपनी अभिव्यक्ति में कृतकृत्य हो सकता है। प्रतिभाशाली कवियों की वाणी में व्यंग्यगर्भित शब्दार्थ स्वतः प्रस्फुरित होते हैं जिनका प्रत्यभिज्ञान उनके आत्मचैतन्य का स्वाभाविक धर्म है। ध्वन्यालोक में यह तत्त्व निम्नलिखित कारिका में व्यक्त किया गया है—

सोऽर्थस्तद्व्यक्ति सामर्थ्ययोगी शब्दश्च कंचन।
यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवेः ॥1-8॥

शब्द व्यापार और अर्थ प्रतीति

तत्त्वदृष्टि से स्पष्ट है कि कोई भी काव्यरचना व्यंग्यव्यंजकभाव की प्रधानता के कारण ही उत्कृष्ट और रमणीय होती है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि उसमें वाच्य वाचकभाव का योगदान नहीं रहता। मूलतः अभिधा व्यापार अथवा वाच्यवाचक भाव की प्रक्रिया से ही हम व्यंजना व्यापार अथवा प्रतीयमान अर्थ की ओर बढ़ते हैं जिसके कारण अभिधा को मुख्य शब्द शक्ति माना गया है। इसमें कोई संदेह नहीं कि काव्य का परम साध्य रस-व्यंजना ही है किन्तु उसके प्रथम सोपान के रूप में अभिधा ही प्रयुक्त होती है। अभिधा और व्यंजना का अंतर्सम्बन्ध दीपशिखा एवम् वनितावदन विलोकन के उदाहरण द्वारा विशदीकृत किया जा सकता है। जिस प्रकार आलोक अथवा वनितावदन विलोकन का इच्छुक कोई व्यक्ति प्रथमतः वस्तुप्रत्यक्ष के उपाय के रूप में दीपशिखा के लिए प्रयत्नशील होता है, उसी प्रकार व्यंग्यार्थ दर्शन के लिए कवि को भी वाच्यवाचक रूपिणी दीपशिखा का आश्रय लेना पड़ता है। जिस प्रकार दीपशिखा किसी भी प्रकार के आलोक अथवा इन्द्रियार्थ सन्निकर्षजन्य चाक्षुष प्रत्यक्ष का उपाय है जिसके अभाव में आलोक की स्थिति सम्भव सी नहीं है, उसी प्रकार व्यंग्यार्थ की अभिव्यक्ति के अभिलाषी कवियों को भी वाच्यार्थ के लिए प्राथमिक प्रयास करना पड़ता है। प्रथम उपादान के रूप में वाच्यवाचकभाव का प्राधान्य होता है किन्तु इसकी परिणति तो व्यंग्यव्यंजकभाव में ही हो सकती है। यदि वाच्यार्थ उपाय है तो व्यंग्यार्थ उपेय। इन दोनों का सम्बन्ध साधनसाध्यभाव से भी समझा जा सकता है। इसी बात को ध्वन्यालोक में निम्नलिखित कारिका द्वारा स्पष्ट किया गया है—

आलोकार्थी यथा दीपशिखायां यत्नवाञ्जनः।
तदुपायतया तद्वदर्थे वाच्ये तदादृतः ॥ 1-9 ॥

काव्य क्रिया की दृष्टि से वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ प्रधान होता है जिस पर कवि तथा सहृदय इन दोनों के दृष्टिकोण से विचार किया जा सकता है। श्रेष्ठ कवि

व्यंग्यार्थ का अवगम कराने के लिए ही शब्द का प्रयोग करते हैं जिसका अभिप्राय यह है कि व्यंग्यार्थ ही उनका चरम लक्ष्य है। सहृदय पाठक श्रोता तथा प्रेक्षक के दृष्टिकोण से भी काव्य में व्यंग्यार्थ की प्रधानता होती है। काव्य का प्रतिपाद्य व्यंग्यार्थ ही है जिसके प्रतिपादन के माध्यम मात्र के रूप में वाच्यार्थ की सत्ता स्वीकार की गई है। वाक्यार्थज्ञान तथा व्यंग्यार्थबोध की प्रक्रिया समझने का सही दृष्टिकोण यह है कि हम पहले पदार्थज्ञान द्वारा वाक्यार्थ बोध करें ओर तदुपरांत वाच्यार्थप्रतीति द्वारा व्यंग्यार्थप्रतिपत्ति की ओर बढ़ें। सामान्य व्यक्ति शब्दों के अर्थज्ञान वाच्यार्थ का बोध करते हैं और तदुपरांत पौर्वापर्य क्रम से व्यंग्यार्थ की प्रतीति की दिशा में प्रयत्नशील होते हैं। शाब्दबोध का यह प्रक्रिया क्रम संवेदनशील सहृदयजनों के सन्दर्भ में खरा नहीं उतरता। वे तो बिना किसी प्रकार के पौर्वापर्य क्रम के व्यंग्यार्थ की सहज प्रतीति कर लेते है। इसका मुख्य कारण यह है कि जिनकी सहृदय-संवेदना पराकाष्ठा पर पहुँच चुकी है उनके लिए क्रमबोध की औपचारिकता अभीष्ट नहीं होती। लोचनकार अभिनवगुप्त ने यही तथ्य निम्नलिखित रूप में अभीष्ट किया है—

अत्यंतसहृदयो यो न भवति तस्यैव स्फुटसंवेद्य एव क्रमः। यथात्यन्यशब्दवृत्तज्ञो यो न भवति तस्य पदार्थवाक्यार्थक्रमः। काष्ठा प्राप्त सहृदयभावस्य तु वाक्यवृत्तकुशल स्येव सन्नपि क्रमोऽभ्यस्तानुमानाविनाभाव स्मृत्यादिवदसंवेद्य इति।[9]

वाच्यार्थबोध व्यंग्यप्रतीति का प्रवेश-द्वार है

यद्यपि व्यंग्यार्थ की प्रतीति वाच्यार्थबोध के अनंतर ही होती है तथापि उसमें व्यंग्यार्थ की प्रधानता किसी भी रूप में लुप्त नहीं होती। सच तो यह है कि काव्य का अभीष्ट व्यंग्यार्थ ही है और उस तक पहुँचना ही काव्यार्थप्रतीति का लक्ष्य होता है अतः उसकी उपलब्धि के मार्ग में शब्दबोध, अर्थज्ञान तथा वाक्य-विन्यास आदि उपकरणों द्वारा हमें जिस वाच्यार्थ की प्रतीति होती है; वह व्यंग्यार्थ बोध के मार्ग में एक प्रकार का प्रवेशद्वार अथवा विश्रांतिस्थल मात्र है। व्यंग्यार्थ तक पहुँचना ही जब हमारा साध्य होता है तो उसके अंतराल की प्रक्रियाएँ उपचार मात्र बन जाती हैं। सहृदयजनों का चरम लक्ष्य तो व्यंग्यार्थबोध होता है, अतः अन्वय व्यतिरेक द्वारा प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति ही उनका प्रयोजनीय कहा जा सकता हैं। अर्थ प्रतीति का यह क्रम यों तो अपने पदसामर्थ्य (योग्यता, आकांक्षा और आसक्ति) द्वारा ही वाक्यार्थ का बोध कराता है किन्तु उसकी व्यापार-निष्पत्ति इस प्रकार संश्लिष्ट और एक प्राण रहती है कि उसमें किसी क्रमजन्य पार्थक्य का पता ही नहीं चलता। व्यंग्यार्थ की प्रधानता ही एक ऐसा तत्त्व है जिसकी प्रतीति के प्रति जिज्ञासा एवं उत्सुकता की शीघ्रता होने के कारण हमें मध्यविश्रांति का अवसर ही नहीं मिलता। और न इस प्रक्रिया में कोई क्रम ही लक्षित होता है। वाच्यार्थ से विमुख रहने वाले सहृदयजनों की बुद्धि में एक ऐसो संवेदनशील शक्ति होती है जिसके कारण वे शीघ्रमेव तत्त्वार्थ बोध करते हुए काव्य के व्यंग्यार्थ का 'झरिति प्रत्यय' कर लेते हैं।[10]

ध्वनि काव्य

लक्षण निरूपण

वाच्य व्यतिरिक्त व्यंग्यार्थ की सत्ता तथा प्रधानता सभी ध्वनिवादी आचार्यों को मान्य है। उन्होंने उसकी उपयोगिता और प्रकृति का विचार कर उस काव्यविशेष को 'ध्वनि' नाम से अभिहित किया है जिसमें उसके अर्थ अथवा शब्द अपनी आत्मा ओर अपने अर्थ का उपसर्जन कर अर्थात उन्हें गौण बनाकर व्यंग्यार्थ की अभिव्यक्ति करते हैं।[11]

'ध्वनि' काव्य के उपर्युक्त लक्षण में प्रयुक्त 'अर्थ' शब्द का अर्थ है विशेष प्रकार का वाच्यार्थ तथा शब्द का अर्थ है विशेष प्रकार का वाचक। जहाँ पर वाच्य अथवा वाचक किसी प्रधानीभूत व्यंग्यार्थ को व्यक्त करते हैं, उस काव्य विशेष को 'ध्वनि' कहते हैं। ध्वनि की इस परिभाषा द्वारा यह बतलाया गया है कि ध्वनि का विषय वाच्यार्थ की चारुता से उत्पन्न होने वाले उपमा इत्यादि अलंकारों से उसी प्रकार भिन्न है जिस प्रकार वाचक की चारुता से उत्पन्न होने वाले अनुप्रास इत्यादि अलंकारों से।

ध्वनि-लक्षण में प्रयुक्त 'स्वार्थौ' पद का भी विशेष अर्थ है। 'स्व' शब्द आत्म-वाचक है जिसके साथ 'अर्थ' शब्द जोड़कर 'स्वार्थौ' पद बनाया गया है। ध्वनि काव्य में 'स्व' और 'अर्थ' दोनों मिलकर अपनी आत्मा और अपने अभिधेय को गौण बना देते हैं अर्थात् उन दोनों में सर्वत्र ध्वनन व्यापार मात्र रह जाता है।

उपर्युक्त कारिका में प्रयुक्त 'काव्य विशेष' शब्द समानाधिकरण तथा व्यधिकरण द्वारा क्रमशः 'काव्य और उनकी विशेषता' तथा 'काव्य की विशेषता' अर्थ द्योतित करते हैं। उनका आशय यह है कि जिस ध्वनि को काव्यकी आत्मा कहा गया है, वह ऐसे शब्दों और अर्थों पर अधिष्ठित होकर व्यक्त होनी चाहिए जिनमें गुण और अलंकार तो विद्यमान हों ही, साथ ही साथ जिनमें रीतियों और वृत्तियों का भी अनुसरण किया गया हो।

ध्वनि शब्द अत्यंत व्यापक है। उसमें शब्द, अर्थ तथा उन दोनों के व्यापार समाविष्ट रहते हैं। वाच्य और प्रतीयमान (व्यंग्य) नाम से अर्थ दो प्रकार के होते हैं। कर्तृवाच्य में जब ध्वनि की व्युत्पत्ति 'ध्वनतीति ध्वनि' की जाती है तो उसका अर्थ हो जाता है वाच्यार्थ। शब्द का समावेश भी इसी व्युत्पत्ति में होता है। कर्मवाच्य में की गई ध्वनि की व्युत्पत्ति 'ध्वन्यते' है जिसका सम्बन्ध व्यंग्यार्थ से है। जब 'ल्युट्' प्रत्यय द्वारा ध्वनि की व्युत्पत्ति 'ध्वननमिति' की जाती है तो उसका अर्थ शब्द और अर्थ का व्यापार हो जाता है। इन समस्त समुदायों की प्रधानता के कारण जो काव्यरूप बनता है, वह अपने 'काव्यविशेष' में ध्वनि कहलाता है।

काव्य में शब्द, वाच्यार्थ, व्यंग्यार्थ, गुण, अलंकार, रीति और वृत्ति आदि अनेक तत्त्व समाहित रहते है। जिनका समूह 'मुख्य रूप से काव्य' कहलाता है। यह मुख्य काव्य ही ध्वनि हे जिसके व्यंजक तत्त्वों को लेकर व्यंग्यार्थ प्रवृत्त होता है। कारिका में प्रयुक्त 'सः ध्वनिरिति' पद जिस 'मुख्य काव्य' अथवा 'मुख्य रूप से काव्य' अर्थ ध्वनित करता है उसका एक तात्पर्य यह भी है कि ध्वनि के अतिरिक्त अन्य काव्य प्रकार भी हो सकते

हैं किन्तु वे ध्वनि की भाँति मुख्य न माने जाकर अमुख्य ही कहलायेंगे।

अभाववादियों के मत का खण्डन

आनंदवर्धन काव्य विशेष के रूप में जिस 'ध्वनि' काव्य का स्वरूप-लक्षण निर्धारित किया है, वह व्यंजना-व्यापार का ही एक रमणीय रूप है। उन्होंने व्यंग्यार्थ की सत्ता, प्रधानता और ध्वनि की रूप-विवेचना के साथ-साथ उन ध्वनिविरोधी आचार्यों के मतों का भी खण्डन किया है जो ध्वनि की सत्ता, स्वतन्त्र स्थिति तथा वर्ण्यमानता ही स्वीकार नहीं करते थे। उनमें प्रथम पक्ष अभाववादियों का है जिसका खण्डन ध्वनि की परिभाषा में स्वतः अंतर्निहित है। वाच्यार्थ की चारुता में उपमा तथा वाचक की चारुता में अनुप्रास इत्यादि अलंकारों का हेतुत्व निरूपित कर ध्वनिकार ने ध्वनि की स्थिति उनसे भिन्न मानी है। ऐसा मानने का मुख्य कारण यह है कि गुण और अलंकारों के प्राण वाच्य और वाचक होते हैं जबकि ध्वनि के प्राण व्यंज्य और व्यंजक माने जाते हैं। ध्वनि का अपना स्वतंत्र क्षेत्र है जिससे भिन्न स्थल पर उस शब्द (ध्वनि) का प्रयोग किया ही नही जाता। उपमा और अनुप्रास आदि अलंकारों से उसकी भिन्नता का प्रतिपादन किया जा चुका है। इन तर्कों से अभाववादियों का वह पक्ष निरस्त हो जाता है जिसमें उन्होंने शब्दार्थमय काव्य शरीर की शब्दार्थगत चारुता में अनुप्रास और उपमा, संघटनागत धर्म में माधुर्य आदि गुण तथा उनसे सम्बन्धित रीतियों और वृत्तियों का उल्लेख कर इस बात की चुनौती दी थी कि उनसे भिन्न ध्वनि नाम की कोई अन्य वस्तु हो ही नहीं सकती। उन्होंने ध्वनि को एक नई बला कहकर सर्व थैव उपहासास्पद माना था।

अभाववादियों ने 'प्रसिद्ध प्रस्थानातिक्रमणो मार्गस्य काव्यत्वहोनर्ध्वनिर्नास्ति' द्वारा अपने द्वितीय पक्ष के रूप में जिस ध्वनिवाद का खण्डन किया था, उसे ध्वन्यालोककार ने अयुक्तिसंगत बतलाया है। अभाववादियों के अनुसार 'गुण, अलंकार, रीति तथा वृत्ति आदि अलंकार शास्त्र के प्रसिद्ध प्रस्थान हैं। जिनके अतिरिक्त काव्य हो ही नहीं सकता। आनंदवर्धन को उनका यह मत स्वीकार नहीं है। उनका कहना है कि ध्वनितत्त्व केवल लक्षणकारों में ही प्रसिद्ध नहीं है अपितु रामायण और महाभारत जैसे लक्ष्य ग्रंथों का भी वह काव्यतत्त्व है जिससे सहृदयों के हृदय का आह्लादन होता है। अभाववादियों में लक्षण ग्रंथों में ध्वनि विवेचन का निषेध तथा लक्ष्य ग्रंथों में उसकी अनुपलब्धि का उल्लेख करते हुए ध्वनि का स्वरूप-लक्षण करना जिस रूप में असंगत माना है वह ध्वनिकार के अनुसार अनुचित है क्योंकि उनके तर्कों में क्रमशः विरुद्ध तथा प्रसिद्ध हेत्वाभास है। सच तो यह है कि रामायण और महाभारत जैसे ग्रंथों में ध्वनि का अस्तित्व पाया जाता है जिसे नाटक प्रयुक्त नृत्य गीत और वाद्य के तुल्य मान कर काव्य-जगत् से निष्कासित करने की कुचेष्टा दुस्साहस मात्र है। काव्य के सर्वस्व एवं उसके आत्मतत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित ध्वनि को नृत्य और गीत आदि की श्रेणी में रखना अपनी संकीर्णता तथा अज्ञानराशि का परिचय देना है। वस्तुतः ध्वनि ही उत्कृष्ट काव्य है जिसे आलेखकल्प चित्र-काव्य की श्रेणी में रखना कदापि शोभनीय नहीं कहा जा सकता।

अभाववादियों का तीसरा विकल्प 'कामनीयकमनतिवर्तमानस्य तस्योक्तालंकारादिष्वेवान्तर्भाव:' की शब्दावली में व्यक्त हुआ है जिसके अनुसार 'ध्वनि कमनीयता का अतिक्रमण नहीं करती अत: उसके द्वारा होने वाली रामणीयक प्रतीति के कारण उसका समावेश अलंकार आदि में कर लेना चाहिए। आनंदवर्धन इस तर्क से भी असहमत हैं। उनका कहना है कि केवल वाच्यवाचकभाव पर आश्रित प्रसिद्ध काव्य-प्रस्थानों (गुणालंकारादि मार्गो) में उस ध्वनि का अंतर्भाव कैसे किया जा सकता है जो व्यंग्य व्यंजक भाव के आश्रय से व्यवस्थित होती है। वस्तुत: गुण और अलंकार तो वाच्यवाचक की चारुता में हेतु मात्र होते हैं जिन्हें ध्वनि का अंगमात्र कहा जा सकता है जबकि ध्वनि की स्थिति अंगी रूप में हैं। इस विषय में निम्नलिखित परिकर श्लोक सुप्रसिद्ध है—

व्यंग्यव्यंजकसम्बन्धनिबंधनतया ध्वने:।
वाच्यवाचकचारुत्वहेत्वंत: पातिता कुत:।।

अलंकारों में ध्वनि का अंतर्भाव सम्भव नहीं है

ध्वन्यालोक के प्रथम उद्योत में इस विषय का अत्यंत तर्कसंगत और विशद विवेचन किया गया है कि तथाकथित सुप्रसिद्ध अलंकारों में ध्वनि का अंतर्भाव नहीं किया जा सकता। आनंदवर्धन की कारिकाओं और अभिनव गुप्त की 'लोचन नाम' की टीका में यह विषय शास्त्रीय पद्धति से व्यक्त हुआ है। जिन प्रमुख अलंकारों के परिवेश में ध्वनि की स्वतंत्र और अलंकारभिन्न सत्ता और विशेषता सिद्ध की गई है, वे समासोक्ति, आक्षेप, दीपक, अपह्नुति, विशेषोक्ति, पर्यायोक्ति, संकर, अप्रस्तुत प्रशंसा, व्याजस्तुति, और भावालंकार आदि हैं। इन अलंकारों के परम्परागत विश्लेषण तथा विभिन्न आचार्यों के अभिमत पर शास्त्रीय टिप्पणियाँ देते हुए उपर्युक्त आचार्यद्वय ने उनमें ध्वनि के सन्निवेश का निराकरण किया है। इस विवेचन में अधिकांशत: वे ही उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं जो परम्परागत विधि से अलंकारवादी आचार्यों द्वारा सुमान्य रहे हैं। ध्वनिकार ने अपनी ओर से कुछ नये उदाहरण जोड़ कर ध्वनि की निरपेक्ष सत्ता प्रतिष्ठित की है। मूल रूप में यह विवेचन इतना जटिल और संश्लिष्ट बन गया है कि उसे स्वच्छ और सरल राजमार्ग की सुकरता प्रदान नहीं की जा सकती। वह शास्त्रीयता के दुरूह भार से अतिक्रांत हैं जिसके निर्णय और निष्कर्ष निर्विवाद रूप से अंतिम नहीं माने जा सकते। इस विवेचन द्वारा आनंदवर्धन और अभिनवगुप्त की तत्त्वविमर्शिनी प्रज्ञा का प्रबोध होता है। विवेचन के अंतराल में स्थान-स्थान पर ऐसे शास्त्रीय और सैद्धांतिक संकेत भी मिल जाते हैं जिनसे ध्वनि को वर्चस्व अभिव्यक्त होता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि रसध्वनि ही काव्य की आत्मा और सर्वस्व है किन्तु वस्तु ध्वनि और अलंकार ध्वनि में भी उसकी अंशता विद्यमान रहती है। इस तथ्य को अभीष्ट स्वीकृति की भूमिका में जिन अलंकारों की विवेचना की गई है, वे मूल रूप में अलंकार होने पर भी ध्वनि तत्व को गतार्थ नहीं कर सकते। वस्तुत: अलंकार और ध्वनि के क्षेत्र

पृथक्-पृथक् हैं। 'अलंकारध्वनि' पद के प्रयोग का यह अर्थ कदापि नहीं हो सकता कि अलंकार में ध्वनि की सत्ता अंतर्लीन हो जाती है।

अलंकारों में ध्वनि का अंतर्भाव सम्भव नहीं है, इस मान्यता से अनेक गण्यमान आचार्य सहमत हैं। ध्वन्यालोक के द्वितीय उद्योत की पंचम कारिका की लोचन टीका में इसका सप्रमाण विवेचन किया है। अलंकार और अलंकार्य का भेद किसी भी रूप में निरस्त नहीं किया जा सकता। 'कटक और कुण्डल आदि से समावृत होने पर भी शव-शरीर शोभित नहीं होता' इस कथन का मुख्य आशय यही है कि वस्तुत: चेतन आत्मा ही अलंकार्य है।[12] वाच्यवाचक निर्भर अलंकार अंग हैं तो व्यंग्यव्यंजक आश्रित ध्वनि उनका अंगी और अलंकार्य (आत्म पक्ष) है। रुय्यक ने भी 'अलंकारसर्वस्व' नामक काव्य शास्त्रीय ग्रंथ में व्यंग्यार्थ की आत्मरूपता प्रतिपादित की है जिसका समर्थन उसके टीकाकार जयरथ ने किया है। जिस प्रकार एकावली में गुण का अंतर्भाव सम्भव नहीं है, उसी प्रकार अलंकार में भी ध्वनि की अंतर्लीनता नहीं मानी जा सकती। व्यंग्यार्थ की दृष्टि से अलंकार भी दो प्रकार के होते है जिन्हें 'ध्वनि-प्रतीति' तथा 'ध्वन्याभाव' के माध्यम से विवेचित किया गया है। उपमा आदि अलंकारों में व्यंग्यार्थ की विशद प्रतीति नहीं होती अत: उनमें ध्वनि के अंतर्भाव का प्रश्न ही नहीं उठता। समासोक्ति, आक्षेप, विशेषोक्ति और दीपक आदि अलंकारों में प्रतीयमान अर्थ का सद्भाव अवश्य रहता है, किन्तु इसी तथ्य के आधार पर उनमें ध्वनि का अंतर्भाव नहीं किया जा सकता। वस्तुत: अलंकार तो ध्वनि अथवा व्यंग्यार्थ के उपस्कारक भाव हैं जिन्हें प्रधानता देने का अर्थ है अलंकार्य रूप ध्वनि अथवा काव्य के आत्मतत्त्व को गौणता प्रदान करना जो किसी भी रूप में उचित नहीं है। अलंकारों में जहाँ कहीं भी वाच्यार्थ की प्रधानता होती है वहाँ वह व्यंग्यार्थ की अपेक्षा गौण स्थान का अधिकारी होता है जब कि ध्वनि में व्यंयार्थ ही प्रधान होता है, इस तथ्य को ध्यान में रखकर ही व्यंजनामूलक अलंकारों तथा ध्वनिकाव्य का अंतर समझा जाना चाहिए। यहाँ यह बात भी उल्लेखनीय है कि अलंकारों में आने वाला व्यंग्यार्थ गुणीभूत व्यंग्य होता है जिसका अनुप्रवेश ध्वनिकाव्य में सम्भव नहीं है।

ध्वनि और अलंकारों की प्रकृति में वैभिन्नय है

ध्वनि और अलंकार की प्रकृति तथा क्षेत्र सीमा भिन्न-भिन्न है। वाच्य प्रधान अलंकारों में व्यंग्य प्रधान ध्वनि का अंतर्भाव करना किसी भी रूप में युक्ति संगत नहीं है। वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थता की प्रधानता से ही अलंकार तथा ध्वनि की प्रकृति का निर्णय किया जाना चाहिए। उदाहरणार्थ **समासोक्ति** आदि अलंकार व्यंग्यानुगत वाच्यार्थ की प्रतीति कराते है तो **आक्षेप** अलंकार में वाच्यार्थ द्वारा व्यंग्यार्थ विशेष का आक्षेप होने पर भी उसकी वाच्यार्थगत चारुता ही प्रधान होती है **दीपक** और **अपह्नुति** अलंकारों की प्रकृति भी मूलत: वाच्यार्थ प्रधानता है। उनमें प्रयुक्त किया जाने वाला व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ का अलंकरणमात्र करता हैं और सर्वथा गौण स्थान का ही अधिकारी होता है। पर्यायोक्ति में भी ध्वनि का अंतर्भाव नहीं किया जा सकता क्योंकि ध्वनि

का विषय अत्यंत व्यापक है। ध्वनि तथा अलंकार का निर्णय वाक्य तथा व्यंग्य की प्राधान्य विवक्षा से ही किया जाता है। इस विषय में ध्वन्यालोकलोचन का निम्नलिखित वक्तव्य उल्लेखनीय है जिसमें ध्वनि की महत्ता और व्यापकता निरूपित हुई है—

'ध्वनिर्हि महाविषयः सर्वत्र भावाद्व्यापकः सस्मत प्रतिष्ठास्थान त्वाच्चांगी। न चालंकारो व्यापकोऽन्यालंकारवत्। न चांगी अलंकार्यतंत्रत्वात्। अथ व्यापकांगित्वे तस्योपगम्येते त्यज्यते चालंकारता, तह्ं यस्मन्नय एवायमवलम्ब्यते।'

अर्थात् 'ध्वनि महाविषयवाली होती है, सर्वत्र सत्ता के कारण व्यापक होती है तथा समस्त प्रतिष्ठा का स्थान होने के कारण अंगी होती है। अन्य अलंकारों के समान कोई एक विशेष अलंकार व्यापक नहीं होता। अलंकार्य के अधीन होने के कारण वह अंगी भी नहीं होता। यदि उसकी व्यापकता तथा अंगिता ही स्वीकार की जाती है और अलंकारता छोड़ दी जाती है तो मेरी ही नीति स्वीकार कर ली जाती है।'

ध्वन्यालोककार ने विशेषोक्ति और संकर इत्यादि व्यंजनामूलक अलंकारों में भी ध्वनि का अंतर्भाव स्वीकार नहीं किया है। उनका कहना है कि अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्ति में यद्यपि प्रकरण सामर्थ्यवश केवल व्यंग्य की प्रतीति होती है किन्तु उस प्रतीति से किसी प्रकार की चारुता निष्पन्न नहीं होती अतः उसमें व्यंग्य की प्रधानता स्वीकार नहीं की जा सकती। 'संकर' अलंकार में भी जब एक अलंकार दूसरे अलंकार की छाया ग्रहण करता है तो वहाँ व्यंग्यार्थ का प्राधान्य विवक्षित नहीं होता। वस्तुतः इस अलंकार का नामकरण (संकर) ही उसमें ध्वनि की सम्भावना का निराकरण कर देता है। इन अलंकारों के अतिरिक्त अप्रस्तुत प्रशंसा, व्याजस्तुति और भावालंकार आदि अलंकारों का भी वाच्यत्व विवेचित करते हुए आनंदवर्धन ने इस मान्यता की पुष्टि की है कि काव्यशास्त्र में ध्वनि की स्वतंत्र सत्ता है जिसका कहीं पर भी कोई अंतर्भाव नहीं किया जा सकता। ध्वनि का वर्चस्व और गौरव उन्होंने इस प्रकार व्यक्त किया है—

"तस्मान्न ध्वनेरन्यत्रान्तर्भावः। हतश्च नान्तर्भावः यतः काव्य विशेषोऽङ्गी-ध्वनिरिति कथितः। तस्व पुनरंगानि अलंकारागुण। वृत्तयश्चेति···। न चावयव एव पृथग्भूतोऽवयवीति प्रसिद्धः। अपृथग्भावे तु तदंगत्वं तस्य। न तु तत्त्वमेव। यत्रापि वा तत्त्वं तत्रापि ध्वनेर्महाविषयत्वान्न, तन्निष्ठत्वमेव।

अर्थात् 'इस प्रकार ध्वनि का अंतर्भाव अन्यत्र नही हो सकता। ध्वनि के अन्यत्र अंतर्भाव न हो सकने का एक कारण और है। ध्वनि एक प्रकार का ऐसा काव्य है जो अंगी कहा गया है। अलंकार, गुण और वृत्तियाँ उसके अंग होते हैं। यदि अवयव (अंग) अवयवी (अंगी) से पृथक् हो तो वह अवयवी के नाम से प्रसिद्ध नहीं हो जाता। अपृथग्भाव में वह उसका अवयव ही होगा। उसे कोई भी व्यक्ति अवयवी नहीं कह सकता। यदि कोई ऐसा स्थान संभव भी हो जहाँ अलंकार ही ध्वनि का रूप धारण कर रहे हों तो भी ध्वनि का अंतर्भाव अलंकारों में कभी नहीं हो सकता क्योंकि ध्वनि का क्षेत्र अत्यंत विस्तृत है।'

'ध्वनि' पद की अर्थ विस्तृति और व्यापकता

आचार्य आनंदवर्धन का ध्वनि-सिद्धांत विद्वानों द्वारा अभिहित तथा प्रमाण पुष्ट है। उन्होंने वैयाकरणों को प्रथम कोटि के विद्वान् माना है जिनका व्याकरण शास्त्र सम्पूर्ण विद्याओं का मूल स्रोत कहा जाता है। वैयाकरण श्रूयमाण वर्णों को 'ध्वनि' कहते है जिसे काव्यतत्त्वार्थदर्शी विद्वानों ने चार अर्थों में स्वीकार किया है। वे चार अर्थ इस प्रकार हैं :—

1. वाच्यार्थ 2. वाचक शब्द 3 सम्मिश्र अर्थात् विभाव, अनुभाव इत्यादि के संयोग से होने वाले व्यंग्यार्थ तथा 4. आत्मा रूप में स्थित शब्द व्यापार अथवा व्यंजना-व्यापार। इन चारों के अतिरिक्त 'काव्य' नामक पदार्थ भी 'ध्वनि' है क्योंकि वह उपर्युक्त चारों प्रकारों का एक सम्मिलित रूप होता है।

'ध्वन्यालोक' की लोचन टीका में ध्वनि का यह विषय अधिक व्यापकता से विवेचित हुआ है। उसके अनुसार 'ध्वनि' शब्द का प्रयोग निम्नलिखित रूपों में समझा जा सकता है :—

1. श्रोतशष्कुली में परम्पराप्रवाह से आये हुए अंतिम शब्द सुनाई पड़ते हैं जिनकी घष्टानुरणनरूपता ही ध्वनि कही जाती है।
2. संयोग और वियोग का सहारा लेकर जिह्वाग्रभाग इत्यादि करण जिसे उत्पन्न करते हैं, उसे स्फोट कहते है। दूसरे लोग उन्हीं शब्दज शब्दों को ध्वनि कहते हैं।
3. घण्टानिर्ह्राद के समान अनुरणित तथा आत्मा से उपलक्षित व्यंग्य अर्थ भी ध्वनि का रूप है।
4. नादशब्दवाच्य श्रूयमाण वर्ण जब अन्त्य बुद्धि द्वारा किये जाने वाले स्फोट के अभिव्यंजक होते है तो उन्हें भी ध्वनि कहा जाता है।
5. व्यंजक शब्द और अर्थ भी ध्वनि है।
6. अभिधा, तात्पर्य और लक्षणा रुप से प्रसिद्ध शब्द व्यापारों के अतिरिक्त व्यापार भी ध्वनि कहलाता है।

उपर्युक्त सभी रूप 'ध्वनि' के है जिनमें चारों प्रकारों के अर्थ तथा उनका समन्वित स्वरूप 'काव्य विशेष भी समाहित है। वाच्य, वाचकता तथा दोनों की व्यंजकता भी 'ध्वनि' कहलाती है। शब्द व्यापार तो ध्वनन व्यापार है ही; उसे अभिधारुप न मान कर आत्मस्थानीय समझना चाहिए। काव्यार्थ भी ध्वनि का ही रूप है क्योंकि ध्वनि के उपर्युक्त चारों पक्ष उसमें सम्मिलित रहते हैं। इन सभी पक्षों में व्यंग्य-व्यंजक भाव सामान्य रूप में साधारण होता है।

यहाँ यह बात ध्यातव्य है कि आनंदवर्धन के अनुसार ध्वनि का क्षेत्र और उसके भेद-प्रभेदों का परिसर अत्यंत महान् और व्यापक है। उसका प्रकाशन विशेष प्रकार के अप्रसिद्ध अलंकारों के प्रकाशन के समान नहीं हो सकता। अतएव जिनके हृदय में ध्वनि

के प्रति ईर्ष्याजन्य दुर्भावना भरी हुई है, उनके प्रति हमें अपनी बुद्धि कलुषित नहीं करनी चाहिए।

वाणी के अनंत विकल्पों में ध्वनि का तिरोधान सम्भव नहीं है

अभाववादियों ने वाणी के अनंत विकल्पों का उल्लेख करते हुए ध्वनि-तत्त्व को उनके अंतर्गत तिरोहित करने का जो उपक्रम किया है, वह ध्वनिवादी आचार्यों को अमान्य है। उन्होंने उन विकल्पों की अनंतता के विरोध में ध्वनि के मुख्य दो भेद माने हैं जिन्हें अविवक्षित वाच्य तथा विवक्षितान्यपरवाच्य कहा जाता है। अविवक्षितवाच्य के दो प्रकार हैं—1. अर्थांतर संक्रमित वाच्य तथा 2. अत्यंततिरस्कृत वाच्य। विवक्षितांयप वाच्य को असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य नामक दो उपभेदों में विभक्त किया गया है। इन सब के अनेक अवांतर भेद भी होते है जिनसे ध्वनि की व्यापकता प्रमाणित होती है। उस व्यापकता के कारण केवल विशेष अलंकारों की परिधि में ही ध्वनि का अंतर्भाव नहीं किया जा सकता। वस्तुतः अलंकार तो ध्वनि के शोभाहेतु ही होते है जिन्हें काव्य का अंगी पक्ष मानता उचित नहीं है। अभिप्राय यह है कि आचार्य अभिनव गुप्त ने ध्वनि के त्रिविध प्रख्यात भेदों (वस्तु, अलंकार और रस) की परम्परा के प्रति आस्था रखते हुए भी उसके जो नये नाम दिये है, उनकी संगति उन्होंने प्रमाण पुष्ट तर्कों से सिद्ध की है। उनका यह विवेचन काव्य के व्यावहारिक धरातल पर प्रतिष्ठित है। काव्यशास्त्र में प्रसिद्ध काव्योदाहरणों द्वारा उन्होंने यही सिद्ध किया है कि अभाववादी और लक्षणावादी आचार्य उन उदाहरणों की विवेचना भले ही अपनी विचारप्रणाली के परिप्रेक्ष्य में करें किन्तु तत्त्व दृष्टि तो यही है कि उन्हें ध्वनिमार्ग की मान्यताओं के अनुरूप ही सही समझा जाय। इस विवेचन के अंतर्गत अभिधा, लक्षणा, तात्पर्य और व्यंजना वृत्ति के साथ-साथ ध्वनन व्यापार आदि से सम्बन्धित अनेक पक्ष उद्‌घाटित हुए है जिनका आलोड़न-विलोड़न करने के पश्चात् लोचनकार अभिनव गुप्त ने भी ध्वनि की काव्यशास्त्र गत विशिष्ट स्थिति तथा काव्यात्मरूपता का पक्ष अत्यंत प्रबल शब्दों और तर्कमयी प्रतिपत्तियों से प्रतिष्ठित किया है।

भक्ति (लक्षणा) और ध्वनि एकरूप नहीं है

आनंदवर्धन ने भक्ति (लक्षणा) और ध्वनि की भेदरूपता के आधार पर इस मान्यता का समर्थन किया है कि भक्ति और ध्वनि कदापि एकरूप नहीं हो सकती। जहाँ वाच्यवाचक द्वारा वाच्य व्यक्तिरिक्त अर्थ का प्रकाशन तात्पर्य वृत्ति द्वारा किया जाय, वहाँ व्यंग्यार्थ की प्रधानता में ध्वनि होती है जब कि भक्ति (लक्षणा) तो केवल उपचार अथवा गुणवृत्ति रूप है। ध्वनि को लक्षणागम्य कहना उसके गौरव तथा स्वतंत्र अस्तित्व को समाप्त करना है। ऐसा मानने पर कई प्रकार के विकल्प हमारे सामने आते हैं। जैसे ध्वनि और भक्ति तद्रूप अथवा पर्याय है, भक्ति या लक्षणा ध्वनि का लक्षण है तथा 'भक्ति' अपने अस्तित्वमात्र से ध्वनि का उपलक्षण होती है। उपर्युक्त संदर्भों की

विवेचना करने पर जो निष्कर्ष निकल सकते हैं वे निम्नलिखित हैं :—

1. भक्ति ध्वनि के साथ एकरूपता धारण नहीं कर सकती ।
2. ध्वनि शब्द का व्यवहार वाचक शब्द, वाच्चार्थ, व्यंजना व्यापार, व्यंग्यार्थ और इन सब के समुदाय रूप अर्थों में होता है ।
3. जहाँ शब्द और अर्थ किसी दूसरे वाच्य व्यतिरिक्त अर्थ को तात्पर्यवृत्ति द्वारा प्रकट करते हैं और जिसमें इसी व्यंग्यार्थ की प्रधानता होती है, उसे ध्वनि कहते हैं । उपर्युक्त वाच्य में तात्पर्यवृत्ति के प्रयोग का अर्थ यह है कि वक्ता के अभिप्राय की विश्रांति व्यंग्यार्थ में ही होती है । अतः विश्रांति का स्थान होने के कारण व्यंग्यार्थ ही प्रयोजन रूप में अभिव्यक्त होता है ।
4. उपचार या गुणवृत्ति का नाम 'भक्ति' है । केवल 'उपचार में ही लक्षणा होती है' इस वाक्य में प्रयुक्त 'केवल' शब्द का आशय यह है कि लक्षणा में ही यह बात देखी जाती है कि जिस अर्थ में कोई शब्द प्रचलित न हो, उस अर्थ में उसका प्रयोग किया जाय ।
5. लक्षणा ऐसे स्थान पर भी हो सकती है जहाँ प्रयोजन की अभिव्यक्ति के लिए व्यंजना का आश्रय लिया जाता है । साथ ही साथ वह ऐसे स्थान पर भी हो सकती है जहाँ उसकी कोई आवश्यकता नहीं रहती ।
6. लक्षणा के अभाव में व्यंजना और व्यंजना के प्रभाव में लक्षणा सम्भव है, अतः दोनों को एक रूप नहीं माना जा सकता ।

'भक्ति' ध्वनि का लक्षण नहीं हो सकती

'भक्ति' ध्वनि का लक्षण नहीं हो सकती क्योंकि ऐसा मानने पर उसमें अति-व्याप्ति' और 'अव्याप्ति' नामक दोष आ जाते हैं । वह ध्वनि का व्यावर्तक धर्म भी नहीं है । ध्वनि से भिन्न विषय में भी लक्षणा सम्भव है 'यह मान्यता उसमें अतिव्याप्ति दोष लाने वाली है । वस्तुतः व्यंजनामात्र भी ध्वनि नहीं कही जा सकती क्योंकि उसमें जब तक कोई विशेष सुन्दरता अपना निगूढ़ता नहीं होती तब तक उसमें 'ध्वनि' के धर्म नहीं आते । यदि यह कहा जाय कि जहाँ ध्वनि होती है वहाँ लक्षणा हो सकती है तो लक्षणा होने से उन प्रसिद्ध स्थानों पर भी ध्वनि का लक्षण घटित हो जायगा जहाँ उसे नहीं होना चाहिए । अलक्ष्य में लक्षण का घटित होना ही अतिव्याप्ति दोष कहलाता है । व्यंजना में अधिक सुन्दरता नहीं होती इस वाक्य में प्रयुक्त 'अधिक' शब्द का यही तात्पर्य है कि ऐसे स्थान पर व्यंजना गुणीभूत व्यंग्य बन कर अलंकार का रूप धारण कर लेती है । ध्वनि का विषय वही हो सकता है जो ऐसी चारुता प्रकट करे जिसका प्रकटीकरण किसी अन्य उक्ति से सम्भव नहीं है ।

भक्ति और ध्वनि में युगपद् सम्बन्ध नहीं है

जहाँ-जहाँ भक्ति (लक्षण) हो, वहाँ-वहाँ सर्वत्र ध्वनि हो ऐसा कोई निश्चित

नियम नहीं है। यदि भक्ति लक्षणा को ही ध्वनि का लक्षण मान लिया जाए तो भक्ति की सन्निधि (निकटता) में सर्वत्र ध्वनि का ही व्यवहार होने लगेगा। ऐसा मानने पर उसमें 'अतिव्याप्ति' दोष हो जाएगा। लक्षणा में सर्वत्र ध्वनि की स्थिति नहीं मानी जा सकती क्योंकि दोनों शब्दशक्तियों के व्यापार-विषय भिन्न-भिन्न होते हैं। लक्षणा का व्यापार अमुख्यार्थ विषयक होता है जबकि ध्वननव्यापार प्रयोजन-विषयक। उदाहरणार्थ 'गंगायां घोष:' में लक्षणा का विषय है अमुख्य अर्थ 'गंगातट' जबकि ध्वनि (व्यंजना) का विषय है 'गंगायां घोष:' में शैत्य तथा पावनत्व इत्यादि। इस प्रकार दोनों में विषयभेद होने के कारण न तो उनमें लक्षणालक्ष्य भाव बन सकता है और न धर्मधर्मीभाव की ही संगति होती है। इससे स्पष्ट है कि जहाँ-जहाँ लक्षण हो, वहाँ-वहाँ सर्वत्र ध्वनि होती है, ऐसा कोई निश्चित नियम नहीं है। यही तथ्य ध्वन्यालोक में निम्नलिखित रूप में प्रकट हुआ है—

यत्रयत्र भक्तिस्तत्र तत्र ध्वनिरीति तावन्नास्ति। तेन यदि ध्वनेर्भक्ति लक्षणं तदा भक्ति सन्निधौ सर्वत्र ध्वनिव्यवहार: स्यादित्यतिव्यप्ति:।

लक्षणा अभिधा पुच्छभूता है

लक्षणा अभिधापुच्छभूता होती है। वह अभिधा की पूँछ पकड़कर ही आगे बढ़ती है जिसके कारण उसे अभिधाव्यापार अथवा वाचकत्व के आश्रित माना जाता है। लक्षणा का उत्थान अभिधा को बाँध कर होता है। वह अभिधेय अर्थ के बोध के पश्चात् आती है। वह गुणवृत्ति है जिसे गौणी लक्षणा का रूप कहा जा सकता है। विषयभिन्नता के कारण वह व्यंजनात्मक ध्वनि का लक्षण नहीं हो सकती। वह सदैव सापेक्ष सम्बन्ध द्वारा अभिधा से जुड़ी रहती है। ध्वनि की स्थिति उससे भिन्न है। उसमें लक्षणा की भाँति न तो मुख्यार्थ बाध की अपेक्षा होती है और न मुख्यार्थ सम्बन्ध की आवश्यकता ही रहती है। अनेक स्थानों पर तो ध्वनि अथवा व्यंग्यार्थ से किसी प्रकार का सम्बन्ध ही नहीं होता। यही कारण है कि लक्षणा को ध्वनि का लक्षण नहीं माना जा सकता। 'लक्षणा ही ध्वनि का लक्षण है' इस कथन में अतिव्याप्ति लक्षण-दोष है। यदि ध्वनि का कोई ऐसा लक्षण बनाया जाए जो ध्वनि के कुछ भेद-प्रभेदों में घटित न हो तो वह 'अव्याप्ति' दोष माना जाएगा। अतिव्याप्ति और अव्याप्ति के कारण ही गुणवृत्ति अथवा 'लक्षणा' ध्वनि का लक्षण नहीं मानी जा सकती। इन्हीं तथ्यों को ध्यान में रखकर आचार्य आनंदवर्धन ने लिखा है कि "गुणवृत्ति (गौणीवृत्ति अथवा लक्षणा) वाचकता का आश्रय लेकर ही व्यवस्थित होती है। वह भला ध्वनि का लक्षण कैसे हो सकती है क्योंकि ध्वनि का एकमात्र मूल तो उसकी व्यंजकता ही है।" उनकी यह मान्यता निम्नलिखित कारिका में समाहित है—

वाचकत्वाश्रयेणैव गुणवृत्तिर्व्यवस्थिता।
व्यंजकत्वैकमूलस्य ध्वने: स्याल्लक्षणं कथम्।[13]

'लक्षणा' ध्वनि का उपलक्षण भी नहीं है

आचार्य आनंदवर्धन ने लक्षणा को सभी प्रकार के ध्वनिभेदों का उपलक्षण

मानना भी उचित नहीं समझा है। उनका मत है कि ध्वनि के जितने भी भेद हो सकते हैं, सबमें उनका उपलक्षण घटित नहीं हो सकता। उपलक्षणवादी आचार्यों के मतानुसार 'जहाँ ध्वनि होती है वहाँ भक्ति (लक्षणा) भी हो सकती है' जिसका मुख्य आशय यह है कि ध्वनि भक्ति से उपलक्षित होती है। उनकी धारणा है कि ध्वनि और भक्ति भले ही एकरूप न हों अथवा ध्वनि भक्ति का लक्षण न हो, किन्तु उसे उसका उपलक्षण तो माना ही जा सकता है। इस विषय में आनंदवर्धन उनसे भिन्न दृष्टिकोण रखते हैं। उनका कथन है कि यदि सम्पूर्ण ध्वनि उपलक्षण के रूप में गुणवृत्ति द्वारा ही लक्षित हो जाएगी तो अभिधा-व्यापार द्वारा उससे भिन्न समस्त अलंकारवर्ग भी उससे लक्षित होने में पीछे नहीं रहेगा। उस स्थिति में प्रत्येक अलंकार का पृथक्-पृथक् लक्षण बनाना व्यर्थ हो जाएगा। अभिप्राय यह है कि ध्वन्यालोक तथा उसकी लोचनटीका के अनुसार लक्षणा सभी ध्वनिभेदों का उपलक्षण नहीं हो सकती।

ध्वनि-विवेचन शक्य और वक्तव्य है

ध्वनिवादियों के मतानुसार ध्वनि का निरूपण कोई नवीन विषय नहीं है। पुराने आचार्यों ने जब उसका उन्मीलन कर ही दिया है तो उस विवेचन के आयाम स्वतः ही विस्तृत और व्यापक हो जाते हैं। लक्षणा की उपलक्षणपरक व्याख्या में उसका लक्षण स्वतः समाहित है। अभाववादी और भक्तिवादी मान्यताओं का खण्डन ध्वनि-तत्त्व की स्वतंत्र स्थिति का सुदृढ़ मेरुदण्ड है। अशक्यवक्तव्यत्ववाद का दृष्टिकोण तो ध्वनि-विरोध का दुर्बल पक्षमात्र है अतः उसके खण्डन की विशेष आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। ध्वन्यालोक में ध्वनि के सामान्य तथा विशेष लक्षणों के विवेचन के साथ-साथ उसके भेदोपभेदों का जो व्याख्यान किया गया है वह स्वतः ही इस बात का प्रमाण है कि ध्वनि-विवेचन 'अशक्यवक्तव्य' नहीं है। 'ध्वनि का लक्षण रहीं बनाया जा सकता' इस कथन को केवल अतिशयोक्ति के रूप में ही ग्रहण करना चाहिए। यदि ध्वनि-तत्त्व अविवेच्य होता तो उसके समर्थक काव्याचार्य अपने लक्षण ग्रंथों में उसका अंतर्भाष्य करते हुए उसे व्यापक और गम्भीर नहीं बना पाते।

ध्वनि के प्रमुख भेद

रसध्वनि

आनंदवर्धन ने ध्वन्यालोक के प्रथम उद्योत में अविवक्षितवाच्य तथा विवक्षितान्यपरवाच्य नामक दो ध्वनि-भेद माने है जिन्हें क्रमशः लक्षणामूलक और अभिधामूलक भी कहा जाता है। अविवक्षितवाच्य ध्वनि का वाच्य दो प्रकार का होता है--(1) अर्थान्तरसंक्रमित और (2) अत्यंततिरस्कृत। इन दोनों वाच्य-भेदों से व्यंग्य की ही विशेषता सिद्ध होती है जिसका तात्पर्य यह है कि वाच्यार्थ भी व्यंजक होता है जिसकी विशेषता से व्यंग्यार्थ की विशेषता बोधित की जाती है।

आनंदवर्धन ने विवक्षितवाच्य ध्वनि की आत्मा के दो प्रकार माने हैं—1. असंलक्ष्य-क्रमव्यंग्य विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि, तथा 2. संलक्ष्यक्रमव्यंग्य विवक्षितवाच्य ध्वनि। प्रथम प्रकार में ध्वनि के उद्योतन (व्यंजन) व्यापार का क्रम लक्षित नहीं होता। जबकि दूसरे प्रकार में उसका द्योतनक्रम लक्षित किया जा सकता है। वस्तुत: प्रकाशमान व्यंग्यार्थ ही ध्वनि की आत्मा है जो वाच्यार्थ की दृष्टि से कहीं तो अलक्ष्यक्रम से प्रकाशित होता है और कहीं लक्षित क्रम से उसे पहिचाना जाता है। रस और भाव का सम्बन्ध मूलत: असंलक्ष्य क्रम व्यंग्य ध्वनि से है जो लक्षित अक्रम से व्यक्त होते हैं तथा प्रधान रूप में स्थित रहते हैं। रसाभास, भावाभास तथा भावशांति आदि ध्वनियाँ भी उनसे सम्बन्धित होती हैं। जिन्हें ध्वनि की आत्मा के रूप में व्यवस्थित किया जाता है।

भावध्वनि

प्रश्न होता है कि क्या रस इत्यादि अर्थ सर्वदा ध्वनि के ही प्रकार होते हैं। आनंदवर्धन ने इसका उत्तर निषेध रूप में दिया है। उनका कहना है कि जब रस इत्यादि अर्थ अंगी रूप में अवभासित होते हैं, तभी उन्हें ध्वनि कहा जाता है। रस ध्वनि सदैव व्यवस्थित होती है क्योंकि उसके बिना उत्तम काव्य की कल्पना की ही नहीं जा सकती। यद्यपि काव्य का आत्मतत्त्व रस है तथापि वह सर्वत्र एक घन चमत्कार स्वरूप में व्यक्त नहीं होता। कहीं-कहीं उसमें व्यभिचारी भावों का चमत्कार इतना अधिक बढ़ जाता है जिसके सम्मुख रस की स्थिति गौण हो जाती है। उस स्थिति में वहाँ रसध्वनि न होकर 'भावध्वनि' होती है। व्यभिचारी भावों का वह संचरण उनके उदय, स्थिति और अपाय आदि धर्मों में रहता है। उदाहरणार्थ यदि कहीं काव्य के किसी विशेष स्थल में विप्रलम्भ शृंगार का वर्णन हो और उस वर्णन में वितर्क आदि व्यभिचारी भाव अपने चमत्कार द्वारा उत्पन्द आस्वाद में अतिशयता से प्रयुक्त किये जाए तो वहाँ 'भावध्वनि' ही मानी जायगी। ध्वन्यालोक में व्यभिचारी भावों के उदय, स्थिति, प्रथम, संधि और शबलता आदि धर्मों की प्रयोजकता से जिन काव्य-छंदों की व्याख्या की गई है, वे सब भाव ध्वनि के ही उदाहरण हैं।

'भावध्वनि' की अवधारणा के अनुसार कुछ विद्वान विभाव-ध्वनि तथा अनुभाव-ध्वनि की भी परिकल्पना करते हैं जो आनंदवर्धन को स्वीकार नहीं है। उनका कहना है कि विभाव और अनुभाव तो स्व शब्द वाच्य होते हैं जिनकी चर्वणा चित्तवृत्तियों में ही पर्यवसित हो जाती है अत: उन्हें रस और भाव की भाँति अधिक चर्वणा योग्य नहीं माना जाता और न उनके नाम पृयक् ध्वनियां ही मानी जा सकती है। यदि विभाव और अनुभाव भी व्यंग्य मान लिए जाएँ तो फिर वस्तु ध्वनि का अस्तित्व कहाँ रहेगा, यह भी एक विचारणीय प्रश्न है।

रसाभास

रसाभास की विवेचना भी ध्वनि-सिद्धांत से जुड़ी हुई है। उसका स्पष्टीकरण

करने के लिए विभावाभास, रत्याभास, और चर्वणाभास आदि शब्दों का अभिज्ञान और अर्थ प्रयोग जानना आवश्यक है। जब रत्यादि भाव किसी ऐसे व्यक्ति के प्रति व्यक्त किये जाएं जो उन भावों के विभावगत औचित्य का अधिकारी नहीं है तो वे रत्यादि भाव रत्याभास आदि कहे जाते हैं। विभावाभास के कारण ही रत्याभास की उत्पत्ति होती है। विभावों और भावों का अनौचित्य ही विभावाभास और रत्याभास है जिनके कारण रसचर्वणा में व्याघात पहुंचता है। चर्वणा का व्याधाती रूप ही चर्वणाभास है जिसे रसाभास भी कहते हैं। आनंदवर्धन ने रसाभास का स्पष्टीकरण करने के लिए 'रावण-काव्य' का एक उदाहरण प्रस्तुत किया है जिसमें सीता के प्रति रावण का प्रेम प्रदर्शन अनुचित होने के कारण वह रसाभास अथवा 'श्रृंगाराभास' का ही व्यंजक है क्योंकि उसमें भाव और विभावगत अनौचित्य के लिए पूरी गुंजाइश है। कामजन्य तृष्णा ने रावण को इतना अधिक मोहांध बना दिया था कि वह सीता के प्रति अपनी एकनिष्ठ रति को ही उचित मान बैठा जबकि वह अपने अनौचित्य के कारण रत्याभासमात्र थी। वह रत्याभास शुक्ति में रजत के आभास के दृष्टांत द्वारा स्पष्ट किया गया है जिसे भरत-मुनि ने 'अनुकृति' कहा है। मुनि प्रयुक्त 'श्रृंगारानुकृति' पद श्रृंगाराभास का ही बोधक है जिसे 'वीराभास' इत्यादि का उपलक्षण भी माना जा सकता है।

ध्वनि के अवांतर रूप

भावध्वनि तथा भावशांति आदि रसध्वनि के ही छोटे प्रवाह अथवा निष्पंद हैं। वे रस के किसी अंश विशेष की प्रधानता को प्रयोजक बनाकर उसी के नाम से पृथक् रूप में ध्वनि की व्यवस्था कर लेते हैं। जिस प्रकार विभिन्न द्रव्यों से तैयार किया गया कोई पेय पदार्थ अनेक द्रव्य-गंधों का सम्मिश्रण होने पर भी किसी विशेष गंध से जाना जाता है, उसी प्रकार श्रृंगार आदि रसों में किसी एक भाव का विशेष रूप से प्राधान्य होने पर उसे भी भावध्वनि के नाम से अभिहित किया जाता है। रसध्वनि की स्थिति उससे भिन्न है। उसमें विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग से स्थायी भाव की प्रतिपत्ति होती है जिसका आस्वादयिता स्थायी भाव के अंश भूत चर्वणाप्रयुक्त आस्वादप्रकर्ष का अनुभव करता है। रस इत्यादि अर्थ अंगी रूप में प्रकाशित होकर असंलक्ष्य क्रम व्यंग्य नामक ध्वनि के भेद कहलाते हैं। वे वाच्य अथवा विभाबादि के साथ इतनी शीघ्रता से अवभासित होते हैं कि उनके क्रम का पता ही नहीं चलता। वस्तुतः वे ही ध्वनि की आत्मा हैं। रसवत् अलंकार आदि की अपेक्षा ध्वनि का विषय भिन्न है। जब रस इत्यादि अभिव्यक्त होकर अलंकाररूपता धारण कर लेते हैं तो उन्हें रसवत्, प्रेयस् ऊर्जस्वित् तथा समाहित अलंकार कहा जाता है। इन अलंकारों में रस इत्यादि का अंगत्व होता है, अतः उनमें रस इत्यादि ध्वनियों का अंतर्भाव नहीं किया जा सकता। रसवत् इत्यादि अलंकारों से असंलक्ष्य क्रम व्यंग्य ध्वनि किस प्रकार भिन्न है, इसका विवेचन करते हुए ध्वनिकार ने लिखा है—

वाच्यवाचकचारुत्वहेतूनां विविधात्मनाम् ।
रसादिपरता यत्र स ध्वनेर्विषयो मतः ।। 2/4

अर्थात् जहाँ पर रस इत्यादि प्रधान हों और विभिन्न प्रकार के वाच्य (अर्थ) वाचक (शब्द) तथा उन दोनों की चारुता में हेतु (गुण और अलंकार) उन रस इत्यादि का ही अनुसरण करने वाले तथा उन्हीं के अधीन हों, वह ध्वनि का विषय माना जाता है।

रसादि का अलंकार्यालंकार रूप

रस, भाव, रसाभास, भावाभास और भावशांति इत्यादि काव्यगत तत्त्व ध्वनि-मत से सम्बन्धित है। उनकी प्रधानता इसी बात में है कि वे शब्द, अर्थ, अलंकार और गुणों को ध्वनि की दृष्टि से ही व्यवस्थित करते चलें। अलंकारशास्त्रियों ने रसवत्, ऊर्जस्वित्, प्रेयान् आदि अलंकारों की विवेचना करते हुए बतलाया है कि इन अलंकारों में रस और भाव आदि की स्थिति उपमा आदि अलंकारों से उत्कृष्ट नहीं होती क्योंकि वे अलंकारों के अंग बन कर आते है।[14] भामह ने चाटु उक्तियों में प्रेय अलंकार मान कर गुरु, देवता, नृप तथा पुत्र विषयक प्रीतिवर्णन में रस का अंगत्व स्वीकार किया है जिसे आनंदवर्धन का भी समर्थन प्राप्त है। उद्भट के अनुसार रसवत् अलंकार का समावेश प्रेय अलंकार के अंतर्गत किया जा सकता है। इसके विपरीत रसवादी आचार्यों का मत है कि रस और भाव आदि सदैव अलंकार्य होते हैं अतः वे अलंकार का रूप कदापि धारण नहीं कर सकते। उनका यह अभिमत एक दृष्टि से एकागी और आतिरेक्यपूर्ण है क्योंकि अलंकारों की स्थिति शब्दार्थगत होते हुए भी वे अपने चमत्कार-चातुर्य के कारण ही सुग्राह्य समझे जाते हैं। चूँकि रस भी चमत्कार प्राण है और उसका व्यंग्य भी शब्दार्थाश्रित होता है अतः उसकी अलंकारता का सर्वथा निषेध नहीं किया जा सकता रस की अलंकाररूपता लक्ष्य और लक्षण ग्रंथों के अनुशीलन तथा अध्ययन से भी सिद्ध होती है। शुद्ध और संकीर्ण की संज्ञा से रसालंकारों का जो विवेचन किया गया है, वह इस मान्यता का प्रमाण है कि अनेक स्थलों पर करुण आदि रस अलंकारों के अंग बनकर उपस्थित होते हैं अतः रसवत् आदि अलंकारों की कल्पना केवल इस आधार पर मिथ्या सिद्ध नहीं की जा सकती कि रस की एकमात्र अलंकार्यता ही रसवत् आदि अलंकारों को अस्तित्वहीन करने के लिए पर्याप्त है। इस विषय में लोचनकार अभिनव गुप्त ने उचित ही कहा है कि जिस प्रकार कोई वस्तु या अन्य रस प्रधान रस द्वारा उपस्कृत होकर शोभनीय बनता है उसी प्रकार यदि कोई रस किसी वस्तु के समान अलंकार रूपता में अभिव्यक्त हो तो इसमें किसी को क्या आपत्ति हो सकती है।[15] कहने का अभिप्राय यह है कि काव्य में अलंकार्य-अलंकार की प्रयोजकता तथा स्थिति का सही रूप समझ कर ही हमें रसों और रसालंकारों का अन्योन्याश्रत सम्बन्ध निर्धारित करना चाहिए क्योंकि वे काव्य के आत्मस्थानीय एवं शरीर स्थानीय पक्षों के साथ नैसगिक रूप में जुड़े हुए हैं।

आचार्य आनंदवर्धन ने रस की अलंकार रूपता के विषय में एक प्रश्न यह उपस्थित किया है कि जहाँ पर रस मुख्यतया वाक्यार्थ के रूप में अवस्थित हो, वहाँ पर वह अलंकार कैसे हो सकता है। वस्तुतः अलंकार तो चारुत्व हेतु के रूप में प्रसिद्ध है अतः वे स्वयं अपनी चारुता में हेतु नहीं हो सकते। अलंकारों की अलंकारता तो इसी बात में सिद्ध है कि वे रस और भाव इत्यादि के तात्पर्य का आश्रय लेकर सन्निविष्ठ होते चलते हैं। अलंकारों में केवल रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वित् तथा उदात्त अलंकार ही नहीं आते अपितु उपमा आदि सभी अलंकार समाविष्ट होते हैं। अलंकारों के लिए कोई-न-कोई अलंकार्य भी अपेक्षित है जो कभी-कभी केवल वस्तु में भी रहता है। उसका पर्यवसान अन्ततः विभाव इत्यादि के रूप में ही होता है। इस प्रकार रस इत्यादि में ही तात्पर्य की विश्रांति होती है अतः सर्वत्र रस ध्वनि ही काव्य की आत्मा के रूप में अवस्थित रहती है। इसी बात को ध्यान में रखकर ध्वन्यालोक की वृत्ति में कहा गया है कि जहाँ पर रस इत्यादि वाक्यार्थ के रूप में अवस्थित हों, वह सब रस इत्यादि अलंकार का विषय नहीं होता। वह ध्वनि का ही एक भेद है जिसके अलंकार उपमा इत्यादि होते हैं। यद्यपि उपमा इत्यादि द्वारा वाच्यार्थ ही अलंकृत किया जाता है तथापि रस के वाच्यार्थ को अलंकृत करने का यही अर्थ है कि वह वाच्यार्थ में व्यंग्यार्थ को अभिव्यक्त करने की शक्ति का आधान कर देता है। इस प्रकार ध्वन्यात्मक रस इत्यादि ही काव्य के अलंकार्य हैं। अलंकार्य और अलंकार के अंतर्सम्बन्ध का स्पष्टीकरण लौकिक आभूषणों के दृष्टान्त द्वारा किया जा सकता है। जिस प्रकार कटल और कुण्डल आदि आभूषणों का शरीर से समवाय सम्बन्ध होता है, अर्थात् शरीर को आभूषित करने के कारण ही आभूषणों को आभूषण कहा जाता है उसी प्रकार काव्य में प्रयुक्त किये जाने वाले अलंकार इत्यादि पदार्थ शब्द तथा वाच्यार्थ रूप काव्य शरीर को अलंकृत करते हुए रस रूप आत्मा को ही अलंकृत करने वाले होते हैं।

आचार्य अभिनवगुप्त ने भी अलंकार्य और अलंकार में देही और देह, शरीरी और शरीर, अंगी और अंग तथा चेतन और जड़ जैसे अंतर्सम्बन्ध स्वीकार करते हुए अंत में यही निष्कर्ष निकाला है कि अलंकार्य के अभाव में अलंकार की वही स्थिति है जो अचेतन और शवशरीर की होती है। कुण्डल इत्यादि से उपेत होकर भी शवशरीर शोभित नही होता क्योंकि वहाँ पर चैतन्यस्वरूप अलंकार्य नहीं है। वस्तुतः लौकिक आभूषणों द्वारा चेतन आत्मा ही अलंकृत किया जाता है क्योंकि आभूषण भी विशेष प्रकार की चित्त वृत्तियों का औचित्य ही सूचित करते हैं। यति का शरीर कटक इत्यादि से युक्त होकर हास्यास्पद ही होता है क्योंकि वहाँ अलंकार्य अनुचित है। देह का कोई अनौचित्य नहीं होता क्योंकि आत्मा ही अलंकार्य होती है। यदि ऐसा नहीं होता तो लोक व्यवहार में भी यह नहीं कहा जाता कि 'मैं अलंकृत किया गया।' 'मैं' शब्द का प्रयोग आत्मचैतन्य के लिए ही किया जाता रहा है। उपर्युक्त मंतव्य अभिनवगुप्त द्वारा निम्नलिखित शब्दों में प्रकट किया गया है—

अचेतनं शवशरीरं कुण्डलाद्युपेतमपि न भाति, अलंकार्यस्याभावात्। यदि शरीरं

कटकादियुक्तं हास्यावहं भवति, अलंकार्यस्यानौचित्यात् । नहि देहस्य किंचिदनौचित्यमिति वस्तुत आत्मैवाऽलंकार्यं अहमलंकृत इत्यभिमानात् ।

अभिप्राय, यह है अलंकार्य और अलंकार का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध पहिचान कर ही काव्य-समीक्षा में रस और अलंकार की स्थिति का परिज्ञान करना चाहिए। जहाँ रस इत्यादि वाक्यार्थीभूत होते हैं, वहाँ वे अलंकार के विषय न होकर ध्वनि के प्रभेद होते हैं जिनके अंग उपमा इत्यादि अलंकार हो सकते हैं; किन्तु जहाँ पर प्रधान रूप से अर्थान्तर के वाक्यार्थ होने पर रस इत्यादि द्वारा चारुत्व की निष्पत्ति की जाती है, वहाँ वे अलंकार के विषय बन जाते हैं। आचार्यों ने उपर्युक्त आधार पर ही ध्वनि उपमा और रसवत् अलंकार आदि का विषय-विभाग किया है ।

गुणालंकारों की स्थिति

रूप विश्लेषण

आचार्य आनंदवर्धन ने रसतत्त्व की प्रधानता का पूर्ण ध्यान रखते हुए गुणों और अलंकारों का काव्यगत स्थान निरूपित किया है। उनके मतानुसार 'काव्य' में विद्यमान रहने वाले रस इत्यादि रूप अंगी अर्थ का जो आश्रय लेते हैं, वे गुण कहलाते हैं। आत्म-स्थानीय रस में गुणों की स्थिति शौर्यादिवत् मानी गई है। रसरूपी अंगी अर्थ में अलंकार अंगाश्रित होते है जिन्हें वाच्यवाचक लक्षणों द्वारा विवेचित किया जाता है। उन्हें कटक कुण्डल आदि शरीर स्थानीय आभूषणों से भी उपमित किया गया है। इस विषय में निम्न लिखित कारिका प्रसिद्ध है —

तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः ।
अंगाश्रितास्त्वलंकाराः विज्ञेयाः कटकादिवत् ।। 2/6 ।।

रस, गुण और अलंकारों में पारस्परिक अंतर्सम्बन्ध है। रस और गुणालंकारों का भेद अलंकार्य तथा अलंकार के अनुसार समझा जाना चाहिए। यदि रस अंगी है तो गुण और अलंकार उसके उत्कर्ष विधायक अंग तथा अंगाश्रित अलंकरण कहे जा सकते हैं। जिस प्रकार शौर्य, सौजन्य और शालीन्य आदि गुण आत्मा में विद्यमान रहते हुए उसे उत्कर्ष प्रदान करते हैं, उसी प्रकार माधुर्य, ओज तथा प्रसाद आदि काव्य-गुण काव्य के आत्मभूत रस में स्थित रहकर उसका उत्कर्ष बढ़ाते हैं। अलंकारों की स्थिति कटक-कुण्डलवत् है। वे काव्य के शरीर स्थानीय शब्दार्थों का अलंकरण करते हुए उन्हें रसाभिमुख बनाते हैं। जिस प्रकार गुणी की विद्यमानता में ही गुण का अस्तित्व है उसी प्रकार अंगी (रस) की विद्यमानता में ही अंगों (गुणालंकार) की सत्ता है।

शृंगार रस और माधुर्यगुण

शृंगार सर्वाधिक मधुर और परम आह्लादजनक रस है। उसका स्थायीभाव 'रति' है जिसका अनंत प्रसार सृष्टि के कण-कण में प्रोद्भासित है। शृंगारपरक काव्य

का आश्रय लेकर माधुर्यगुण अवस्थित होता है। शब्द और अर्थ माधुर्य गुण तथा श्रृंगार रस के प्रकाशक हैं। उनकी अभिव्यंजक शक्ति द्वारा काव्य में मधुरता और सरसता का संचार होता है। माधुर्य और श्रृंगार का अटूट सम्बन्ध है। जीवन में मधुरा 'रति' से बढ़ कर अन्य कौन-सी ऐसी स्थायी संवेदना हो सकती है जो देव तिर्यक् और मनुष्य जाति के लिए सर्वाधिक काम्य और वांछनीय हो। प्रणयभाव में हृदयसंवाद कराने की अद्भुत शक्ति है। जिस प्रकार शर्करा इत्यादि मधुर पदार्थों से निर्मित पानकरस विवेकी अविवेकी, स्वस्थ और आतुर आदि सभी वर्गों के व्यक्तियों की रचना पर निपतित होते ही उन्हें मधुर आस्वादन प्रदान करता है उसी प्रकार माधुर्यगुण से आवेष्टित रसराज श्रृंगार रस भी सभी सहृदयजनों के लिए परम आह्लादजनक होता हैं। शब्दार्थमय काव्य शरीर में वह माधुर्यादि गुणों से शोभातिशायी बन कर प्रकट होता है। मधुर गुण के अभि-व्यंजक शब्दों और अर्थों की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि वे अत्यन्त श्रवणीय एवं दीर्घ समासविहीन पदावली से परिपूर्ण रहते हैं जिसके कारण उनका 'श्रव्य नाति समस्तार्थ शब्दं मधुरमिष्यते' लक्षण सर्वथा सार्थक सिद्ध होता है।

यों तो माधुर्यगुण श्रृंगारमात्र के लिए उत्कर्ष हेतु है किन्तु विप्रलम्भ श्रृंगार तथा करुण रस में वह उत्तरोत्तर प्रकर्ष प्राप्त करता है। इसका मूल कारण यह है कि विप्रलम्भ श्रृंगार तथा करुण रस का अनन्य सम्बन्ध हमारी चित्तवृत्ति की आर्द्रता से विशेष रूप से होता है जो माधुर्य गुण से ही प्रस्फुरित होती है।

ओज और माधुर्य गुण का समावेश-वैचित्र्य

काव्य में रहने वाले रौद्र इत्यादि रस दीप्ति नामक चित्तवृत्ति द्वारा पहिचाने जाते हैं। वह वृत्ति ओज गुण से सम्बन्धित है। उसकी अभिव्यक्ति में शब्द और अर्थ का का अत्यधिक सहयोग रहता है। वीर और अद्भुत रस भी ओजगुण की दीप्ति के प्रकाशक हैं। दीप्ति के कारण हमारी चित्तवृत्ति में विकास, विस्तार और प्रज्वलन का सम्मिश्रण होता है। ओजस्विता उसका आभ्यंतरिक धर्म है। दीप्ति व्यंजक शब्दों और अर्थों की वाक्ययोजना दीर्घ समास रचना से अलंकृत होती है जिसके कारण ओजगुण व्यवस्थित होता है।

माधुर्य और ओजगुण क्रमशः द्रुति और दीप्तिव्यंजक गुण हैं। उनका पारस्परिक विरोध श्रृंगार और रौद्र आदि रसों में प्रदर्शित होता है। उनका समावेश-वैचित्र्य हास्य, भयानक, वीभत्स और शांतरस में भी मिलता है। श्रृंगार के अंगभूत होने पर रस हास्य में माधुर्य गुण प्रकृष्ट होता है तो रौद्र रस में उसकी विकास धर्मिता के कारण ओज गुण भी प्रकृष्ट मात्रा में रह सकते हैं। इस प्रकार इन दोनों रसों में उपर्युक्त गुणों का विचित्र साम्य है। भय नामक स्थायी भाव की प्रकृति से निष्पन्न होने वाले भयानक रस में विभाव के दीप्त होने से ओज की प्रकर्षता तथा माधुर्य की अल्पता होती है। वीभत्स रस की भी यही स्थिति है। विभाव की विचित्रता के कारण शांत रस में कहीं ओज का प्राकर्ष्य होता

है तो वहीं माधुर्य का। इस प्रकार माधुर्य ओर ओज गुण की न्यूनाधिक मात्रा के आधार पर उपर्युक्त रसों की विवेचना की जाती है।

प्रसाद गुण की व्यापकता

प्रसादगुण काव्य का सर्वव्यापक तथा सर्वसाधारण रूप है। उसे सब रसों के प्रति काव्य का एक 'समर्पकत्व गुण' माना गया है। उसकी क्रिया सर्वसाधारण होती है। उसकी क्रिया सर्वसाधारण होती है। ध्वन्यालोक में प्रसाद का अर्थ शब्द और अर्थ की स्वच्छता किया गया है। इस गुण की स्थिति सामान्यतया सभी काव्य रचनाओं में रहती है। इसे मुख्य रूप से व्यंग्यार्थ की अपेक्षा से ही स्थित होने वाला समझना चाहिए। आनंदवर्धन ने प्रसाद गुण में जिस समर्पकत्व का उल्लेख किया है उसे स्पष्ट करते हुए लोचनकार अभिनवगुप्त ने लिखा है कि समर्पकत्व का अर्थ है सम्यक् रूप से अर्पण करना अर्थात् सूखे काठ में अग्नि के दृष्टांत से प्रतिपत्ताओं के प्रति हृदय संवाद के माध्यम से अपने आवेश द्वारा शीघ्र ही क्रियाशील हो जाना। अकलुषित जल के दृष्टांत से अकालुष्य अथवा प्रसन्नता को सभी रसों का गुण माना गया है। उपचार से तो उस प्रकार के व्यंग्यार्थ में शब्द और अर्थ का जो समर्पकत्व होता है, वह भी प्रसाद गुण है। यहाँ यह प्रश्न होता है कि जब गुण रसाश्रित होते हैं तो उनके लिए शब्द और अर्थ की स्वच्छता किस रूप में प्रयोज्य है। इसका उत्तर देते हुए आचार्य अभिनव गुप्त लिखते हैं कि यों तो प्रसाद गुण सर्वरससाधारण है किन्तु शब्दगत और अर्थगत तथा समस्त और असमस्त रचनाओं से भिन्न होकर नहीं रहता। रस को व्यंग्य कहने का अभिप्राय भी यही है कि वह शब्दशक्तियों से व्यंजित होता है अतः उसके गुण शब्दार्थ व्यंजना से पृथक् कैसे रह सकते हैं ? वस्तुतः अर्थ का समर्पकत्व तो व्यंग्य के ही प्रति होता है, किसी अन्य के प्रति नहीं। शब्द का अपने वाच्य के प्रति समर्पकत्व भी अलौकिक ही होता है। भामह आदि आचार्यों ने भी माधुर्य, ओज एवम् प्रसाद गुण इसी अभिप्राय से उत्पन्न माने हैं। 'वे प्रतिपत्ता अथवा सहृदय के लिए आस्वादमय होते हैं, इस कथन का मुख्य तात्पर्य यही हैं कि सभी गुण अपने आस्वाद्य रस की भाँति उसके व्यंजक शब्दों और अर्थों में भी उपचरित होते रहते हैं।

श्रुति दुष्टादिदोष व्यवहार

ध्वन्यालोक में दोषों की विवेचना ध्वनिमुख से की गई है। अन्य आचार्यों की भाँति आनंदवर्धन ने भी दोषों का नित्यानित्य विभाग स्वीकार किया है और बतलाया है कि श्रुतिदुष्ट आदि अनित्य दोष ध्वन्यात्मक श्रृंगार रस में ही हेय समझे जाने चाहिए। अन्यथा उनकी अनित्यता सर्वत्र त्याज्य नहीं मानी जाती। आचार्य भामह ने वाणी के श्रुति दुष्ट, अर्थदुष्ट, कल्पनादुष्ट तथा श्रुतिकष्ट नामक चार दोष माने थे जिन्हें क्रमशः असभ्य अर्थ का स्मरण कराने वाले वाक्यार्थ केवल पर अश्लील अर्थ की प्रतिपत्ति कराने वाले, दो पदों की योजना द्वारा उल्टी-सीधी कल्पना कराने वाले तथा कर्णकटु

वर्णों के प्रयोग द्वारा रसापकर्षकारी माना गया है। श्रुतिदुष्ट दोष केवल वहीं होते हैं जहाँ शृंगार रस अंगी हो। वे केवल वाच्यार्थ में ही नहीं होते और न शृंगार से व्यतिरिक्त किसी अन्य व्यंग्यार्थ में ही होते हैं। वे ऐसे शृंगार में भी नहीं होते जो ध्वनि की आत्मा के रूप में स्थित न हो। वस्तुतः ध्वन्यात्मक शृंगार में ही उनका प्रयोग वर्ज्य माना गया है। ध्वन्यालोक की वृत्ति के अनुसार शृंगार शब्द उपलक्षण मात्र है। इसमें वीर, शांत और अद्‌भुत रसों का भी समावेश हो जाता है जिनमें श्रुतिदुष्ट आदि परित्याज्य समझे जाने चाहिए।

अंगीरस के भेद-प्रभेद

अंगी रूप में अवस्थित रस सदैव व्यंग्य होता है। उसे असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि का आत्मतत्व माना गया है। वाचक शब्दों के और वाच्यार्थों के अनुसार उसके अंगभूत अनेक अलंकार भी होते हैं जिनके असंख्य अवांतर भेद हैं। स्वगत भेद की दृष्टि से रस के आत्मगत पक्ष में अनेक अवांतर भेद विवेचित किये जाते हैं जैसे शृंगार रस के संभोग और विप्रलम्भ संज्ञक दो भेद जिनके भी अनेक अवांतर प्रकार हैं। रसमीमांसा तथा वात्स्यायन के कामसूत्रों में उनका वैशद्यपूर्वक विवेचन किया गया है। रस के आत्मीयगत पक्ष में विभाव आदि का विवेचन और विश्लेषण होता है। छंद-प्रस्तार की भाँति यदि इस रस के अंगांगिभावों का विस्तार किया जाय तो उनकी गणना नहीं की जा सकती। रस, भाव, रसाभास, भावाभास और भावप्रशम आदि भेद विभाव,अनुभाव और व्यभिचारी भावों के साथ प्रतिपादित किये जाने पर असंख्य और अनंत हो जाते हैं। आश्रय की अपेक्षा अथवा नायक-नायिकाओं की प्रकृति एवम् उसकी औचित्य चर्चा की दृष्टि से भी उनके अपरिमित प्रकार होते हैं। उनकी विशेषताएँ असीम और अपरिकल्पनीय हैं। जब एक ही रस के भेदोपभेदों की संख्या नियत नहीं है तो सभी रसों का परिसंख्यान करना तो और भी अधिक दुःसाध्य कार्य है।

भारतीय काव्यशास्त्र में एक ही रस के अनेक भेदोपभेदों की परिकल्पना करते हुए उनकी संगति सिद्ध करने के लिए बहुविध प्रयास किये गये हैं जिनका स्पष्टीकरण शृंगार रस की विवेचना द्वारा किया जा सकता है। शृंगार के संभोग पक्ष में नायक-नायिका के परस्पर प्रेमदर्शन तथा सुरतविहरण की क्रियाएँ सम्मिलित रहती हैं। प्रेम-दर्शन में सम्भाषण इत्यादि का भी ग्रहण हो जाता है। कामसूत्रों में सुरतविहरण चौंसठ प्रकार निरूपित किये गये हैं। मैथुन की चेष्टाएँ और क्रियाएँ भी संभोग शृंगार के ही आभ्यंतरिक पक्ष हैं। आलिंगन, चुम्बन, नखच्छेद्य, दशनच्छेद्य, संवेशन, सीत्कृत, पुरुषायित और औपरिष्टक संज्ञक भेदों तथा प्रभेदों में सुरत की चेष्टाओं का विवेचन किया गया है। उद्यानविहार, जलक्रीड़ा, पानक रसपान, आलम्बन की चेष्टाएँ तथा प्रकृतिगत उद्दीपन आदि उपकरण संभोग शृंगार के विभाव आदि है। अभिलाष, ईर्ष्या, विरह और प्रवास आदि दशाओं के रूप में विप्रलम्भ शृंगार भी कई प्रकार का होता है। विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों की भेद दृष्टि से भी उसके अनेक अवांतर भेद हैं। देश,

काल, आश्रय और अवस्था के अनुसार भी उनका विभाजन किया गया है। इस प्रकार जब एक ही श्रृंगार रस की उपर्युक्त अनेक अवस्थाएँ हो सकती हैं तो अन्य रसों की भेद-संख्या का अनुमान लगाना कठिन नहीं है।

अलंकारों की रसांगता

रसों और अलंकारों में अंगी-अंग-भाव का सम्बन्ध है। रसों की प्रकृति तथा अंतर्ध्वनि के अनुसार की गई अलंकार योजना उन्हें चमत्कृति और चारुता प्रदान करती है। श्रृंगार रस प्रधान काव्य में यदि कोई कवि अनुप्रास आदि अलंकारों का अनुबंध केवल अलंकार निर्वाह के लिए करे तो वह उसका प्रकाशक अथवा व्यंजक नहीं हो सकता। इसी प्रकार ध्वनि का आतमा के रूप में स्थित श्रृंगार रस की व्यंजना में यमक इत्यादि अलंकार का निबंधन भी प्रमाद मात्र है क्योंकि वे वाच्यवाचक भाव द्वारा ही प्रकाशित होते हैं। यही स्थिति सभंग शब्द श्लेष आदि अलंकारों की है जिनका निबंधन चाहे कितना ही सशक्त क्यों न हो, वे रस और अलंकार के व्यंग्यव्यंजक भाव की दशा प्राप्त नहीं कर सकते। विप्रलम्भ श्रृंगार में तो इस बात का और भी विशेष ध्यान रखना पड़ता है क्योंकि उसमें सौन्दर्य और सौकुमार्य की अतिशयता रहती है जिसकी व्यंजना में अनुप्रास और यमक इत्यादि अलंकारों का प्रयोग केवल विशेष नियमों के अधीन रहकर ही किया जा सकता है।[16]

यहाँ पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि अनुप्रास और यमक आदि अलंकार श्रृंगार रस के व्यंजक क्यों नहीं होते? इसका उत्तर देते हुए आनंदवर्धन ने लिखा है कि ध्वनि में वही अलंकारबंध ग्राह्य है जिसका आक्षेप रस द्वारा किया जाना सम्भव हो तथा जिसके लिए कवि को पृथक् प्रयत्न न करना पड़े।[17] अलंकारों की अलंकृति में भी रसांगता का भाव सन्निहित रहता है जो किसी न किसी रूप में असंलक्ष्यक्रम-व्यंग्यध्वनि से जुड़ा हुआ होता है। उनका प्रयोग करते समय इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि काव्यप्रयुक्त अलंकार योजनारस व्यंजना में सहायक अथवा अंगमात्र बनकर उपस्थित हो ताकि रस चर्वण में व्याधात न पहुँचे। साधारणतया अनुप्रास और यमक आदि अलकारों में शब्द-चमत्कार अथवा वाच्यवाचक भाव प्रधान रहता है, अतः आनदवर्धन ने उनकी व्यंजकता के प्रति संदेह प्रकट करने के लिए अपना मत प्रस्तुत किया है अन्यथा ऐसा कोई अकाट्य नियम नहीं है जिसके अनुसार अनुप्रास और यमक आदि अलंकार सर्वत्र रसविघातक ही माने जायँ। काव्य में ऐसे अनेक उदाहरण भी मिलते हैं जहाँ स्वाभाविक गति से प्रयुक्त अनुप्रास और यमक आदि अलंकार रसचर्वणा में सहायक ही सिद्ध हुए हैं। इन अलंकारों की प्रयोजकता वीर और अद्भुत रसों में भी उपलक्षित मानी गई है जिसे केवल श्रृंगार रस तक ही अनुबंधित करना उचित नहीं है। अलंकारों की रसांगता तथा केवल अलंकारों के लिए अलंकारों का प्रयोग किन रूपों में ग्राह्य तथा त्याज्य है, उसका निरूपण करते हुए ध्वन्यालोककार ने लिखा है —

रसांगत्वे च तस्य लक्षणमपृथग्यत्ननिर्वर्त्यत्वमिति यो रसं बंधुमध्यवसितस्य

कवेरलंकारस्तां वासनामत्यूह्य यत्नान्तरमास्थितस्य निष्पद्यते स न रसांगमिति। यमके च प्रबंधेन बुद्धिपूर्वक क्रियमाणे नियमेनैव यत्नान्तरपरिग्रह आपतति शब्द विशेषान्वेषण-रूपः।

अर्थात् अलंकार का रस के अंग होने का लक्षण यह है कि अलंकार योजना के लिए कवि को कोई पृथक् प्रयत्न न करना पड़े। रसबंध के अध्यवसाय में प्रवृत्त कवि की रस भावना का अतिक्रमण करते हुए अन्य प्रयत्न का आश्रय लेने पर जो अलंकार निष्पन्न होता है, वह अलंकार रस का अंग नहीं होता। जब अविच्छिन्न रूप से यमक लाने की बुद्धिपूर्वक चेष्टा की जाती है तो नियमतः दूसरे प्रयत्न का सहारा लेना ही पड़ता है और वह प्रयत्न विशेष प्रकार के शब्दों का अन्वेषण रूप होता है।

आनंदवर्धन ने यमक और अनुप्रास अलंकारों की रसांगता तथा व्यंजकता के प्रति अपना विरोधी दृष्टिकोण व्यक्त किया है जो अन्य अलंकारों पर घटित नहीं होता। उनके मतानुसार जब कोई रससिद्ध प्रतिभाशाली कवि अपनी काव्य रचना में तल्लीनता-पूर्वक प्रवृत्त होता है तो उसकी कृतियों में अलंकारों की संघटना स्वाभाविक रूप में नियोजित होती चलती है उसके लिए उसे पृथक् प्रयास नहीं करना पड़ता। उनका समायोजन अहंपूर्विका वृत्ति से होता है। कादम्बरी में कादम्बरी के दर्शन के अवसर प्रयुक्त किये गये अलंकारों की योजना अथवा सेतुबंध काव्य में मायानिर्मित राम के शिरोदर्शन के अवसर पर सीता देवी की विह्वलता में प्रयुक्त अलंकारों की शृंखला के अभिनिवेश को आनन्दवर्धन ने रससिद्धि में सहायक माना है क्योंकि उनके द्वारा रसों का आक्षेप विशेष प्रकार के वाच्य द्वारा किया गया है। ऐसे अलंकार मूलतः-वाच्य होने पर भी रसाभिव्यक्ति के अंतरंग बनकर ही उपस्थित हुए हैं जबकि यमक और अनुप्रास आदि में उनकी बहिरंगता ही रहती है। इसका कारण यह है कि यमकादि की योजना में कवि को विशेष प्रयत्न करना पड़ता है। इसी बात को ध्यान में रखकर आनंदवर्धन ने अंगी रस की व्यंजकता में उनकी उपयोगिता नहीं मानी है। रसाभास में यमकादि का प्रयोग उसके अंगरूप में किया जा सकता है, क्योंकि वहाँ की स्थिति अंगी रस के व्यंग्य से भिन्नकोटि की होती है।

अंगी रस में अलंकारों की रसांगता तथा उनके प्रयोगगत औचित्य तथा अनौ-चित्य के सम्बन्ध में कुछ संग्रहश्लोकों का उल्लेख ध्वन्यालोक में हुआ है जिनसे उनकी सही स्थिति का अभिज्ञान किया जा सकता है। वे संग्रहश्लोक निम्नलिखित हैं :—

रसवंति हि वस्तूनि सालंकाराणिकानिचित्।
एकेनैव प्रयत्नेन निर्वर्त्यन्ते महाकवेः ॥1॥
यमकादिनिबन्धे तु पृथग्यत्नोऽस्य जायते।
शक्तस्यापि रसेङ्गत्वं तस्मादेषां न विद्यते ॥2॥
रसाभासाङ्गभावस्तु यमकादेर्न वार्यते।
ध्वन्यात्मभूते शृंगारे त्वङ्गता नोपपद्यते ॥3॥

अर्थात् कतिपय रसमय वस्तुओं में अलंकारों का समावेश स्वतः हो जाता है।

वहाँ पर महाकवि के एक ही प्रयत्न द्वारा रस और अलंकार की निष्पत्ति सम्भव है। ।।1।।

यमक आदि की रचना में कवि को पृथक् प्रयत्न करना पड़ता है। अतः— सक्षम कवि की रसमयी रचना में यमक इत्यादि अंग नहीं हो सकते ।।2।।

यमक आदि का रसाभास का अँग होना निषिद्ध नहीं है किन्तु ध्वनि की आत्मा के रूप में अवस्थित शृंगार में यमक इत्यादि किसी भी रूप में उसके अंग नहीं हो सकते। ।।3।।

ध्वन्यालोक में उन परिस्थितियों और अनुबंधों का सोदाहरण विवेचन तथा उल्लेख किया गया है जिनमें काव्यगत अलंकार ध्वन्यात्मभूत शृंगार में उपयोगी सिद्ध होते हैं। उनका संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है:—

1. ध्वन्यात्मभूत शृंगार में समीक्षापूर्वक सन्निविष्ट किया गया रूपक इत्यादि अलंकारवर्ग वास्तविक अलंकारता को प्राप्त होता है।
2. रूपक इत्यादि अलंकार वर्ग निम्नलिखित स्थितियों में ही रस का अंग हेतु अथवा पोषक बनकर उपस्थित हो सकता है—
   (अ) जिसकी विवक्षा रस परक हो।
   (आ) जिसे अंगी रूप में निबंध न किया जाय।
   (इ) जिसका ग्रहण और त्याग अवसर के अनुकूल हो।
   (ई) जिसके निर्वहण की अत्यंत उत्कण्ठा न हो।
   (उ) निर्वहण के होते हुए भी जिसे अंग बनाने की चेष्टा की जाय।
3. सामान्यतया स्वभावोक्ति अलंकार रस के गुणों के अनुकूल होता है।
4. कभी-कभी रसादि के तात्पर्य से विवक्षित पर्यायोक्त अलंकार अंगी रूप में कथन के लिए अभीष्ट दृष्टिगोचर होता है।
5. वही अलंकार रस का परिपोष कर सकता है जो उसके अंग रूप में विवक्षित भी हो तथा जिसका उपादान अवसर के प्रतिकूल न रहकर उसके अनुकूल रहे।
6. अवसर तथा आवश्यकता के अनुकूल किसी अलंकार को त्याग देना भी रस का पोषक होता है।
7. जिस अलंकार के निर्वहण के लिए कवि सचेष्ट नहीं होता अथवा जहाँ वह संयोगवश आये हुए अलंकारों की परिसमाप्ति के लिए अधिक प्रयास नहीं करता, वे अलंकार भी रस के परिपोषक होते हैं।
8. निर्वहण होते हुए भी जिस अलंकार की अंग रूप में प्रयत्नपूर्वक अपेक्षा की जाती है, वह अलंकार भी रस का परिपोषक होता है।

उपर्युक्त प्रकारों में अलंकारों की रसांगपरक निबंधना के जो रूप निर्दिष्ट किये गये हैं, वे रस की अभिव्यक्ति में चारुत्व हेतु बनकर प्रकट होते हैं। इनके प्रतिकूल की गई अलंकार योजना रस भंग का कारण बनती है। महाकवियों के प्रबंधों में ऐसे अनेक

उदाहरण मिलते हैं जिनमें अलंकारों का अनुचित प्रयोग रस के व्याघात में कारण बनकर उपस्थित हुआ है। इन सब बातों का विचार कर काव्य में अलंकार योजना की आवश्यकता उपयोगिता तथा चारुचमत्कृति का औचित्य समझकर ही उन्हें प्रयुक्त किया जाना शोभनीय एवम् युक्ति संगत है।

अंगी रस का औचित्य

यों तो महाकाव्यों तथा नाटकों में अनेक प्रकार के रसों का निबंधन किया जाता है किन्तु उनका सही उत्कर्ष तभी सम्भव है जब उनमें किसी एक अंगीरस की प्रतिष्ठा की जाय। यहाँ यह शंका की जा सकती है कि प्रबंध काव्य में बहुत से रसान्तरों का परिपोष प्राप्त होने पर किसी एक रस का अंगी भाव (प्रधान रूप) कैसे सम्भव है जबकि परितोष प्राप्त रस का अंगत्व तथा अपरिपुष्ट भाव का रसत्त्व परस्पर विरोधमूलक बातें हैं। इसका समाधान यह है कि समस्त इतिवृत्त में व्याप्त रहने वाले प्रधान रस का अंगित्व इस दृष्टि से मान्य है कि कथाखण्डों में व्याप्त रहने वाले अन्य रस उसकी भाँति स्थायी रूप से अवभासित नहीं होते। वस्तुतः प्रबंध काव्यों का प्रधान रस ही स्थायी रस है जो पुनः पुनः अनुसंधीयमान होने के कारण सम्पूर्ण रचना में व्याप्त रहता है तथा उसके अन्तरालवर्ती अन्य रस उसका अंगित्व खंडित नहीं कर पाते। जिस प्रकार प्रासंगिक कार्यान्तरों से उपकृत होता हुआ एक ही अधिकारिक कार्य-व्यापार समस्त प्रबंध में व्याप्त रहता है जिसके पीछे चलने वाली नायक की चित्तवृत्तियाँ कार्यों के अंगांगिभाव का द्योतन करती हैं, उसी प्रकार प्रबेधगत रसों में भी उनकी व्यापकता तथा अस्थिरता के अनुसार ही उनका अंगागिभाव निश्चित किया जाता है।

प्रबंध काव्य का अंगीरस उसके प्रधान कार्य की व्यापकता के दृष्टिकोण से भी सिद्ध किया जा सकता है। जिस प्रकार नाटक अथवा प्रबंध काव्य की कथावस्तु पंचविधि अर्थकृतियों तथा संधियों के क्रम से विकसित होती हुई फलागम तथा कार्यरूप में परिणत होती है, उसी प्रकार प्रबंध शरीर का आत्मभूत अंगीरस भी अन्य रसों की सहकारिता से सम्पूर्ण कथाबंध में व्याप्त होता हुआ अपनी पराकोटि तक पहुँचता है। प्रबंध काव्य में व्याप्त एक अनुयायी व्यापक कार्य जिस क्रम से विकसित होकर अन्य कार्यों से संकीर्ण नहीं होता और यदि वह संकीर्ण हो भी जाता है तो उसका प्राधान्य क्षरित नहीं होता, उसी क्रम से प्रबंध शरीर के अन्तर्गत अंगी रस का सन्निवेश स्वीकार्य समझा जाना चाहिए। अंगी रस की उपयोगिता तथा महत्ता इस प्रमाण से भी सिद्ध की जा सकती है कि उसकी सम्यक् योजना के कारण प्रबंध काव्य का अनुशीलन अनुसंधानशील सहृदयों और विवेकी जनों के चित्त में लोकोत्तर आह्लाद का संचार करता है।

रसों का अंगांगिभाव और रस परिपोष

यहाँ एक प्रश्न यह भी उपस्थित होता है कि वीर और शृंगार, शृंगार और हास्य, रौद्र और शृंगार, वीर और अद्भुत, वीर और रौद्र, रौद्र और करुण तथा शृंगार

और अद्भुत रसों में विरोध न होने के कारण उनका अंगांगिभाव तो सम्भव है किन्तु जिन रसों में परस्पर बाध्य बाधक भाव होता है, उनका अंगांगिभाव कैसे हो सकता है ? श्रृंगार और वीभत्स, वीर और भयानक, शांत और रौद्र तथा शांत और श्रृंगार रस में बाध्यबाधक भाव होने के कारण वे परस्पर अविरोधी नहीं माने जा सकते। आनन्दवर्धन ने उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर देते हुये लिखा है कि जहाँ श्रृंगार आदि रस अंगी होते हैं, वहाँ उनके अविरोधी अथवा विरोधी रसों को परिपोष तक नहीं पहुँचाना चाहिए। ऐसा करने से उनमें विरोधिता नहीं रहेगी।[18] जहाँ अंगी रस की अपेक्षा उसके अविरोधी रस में आधिक्य नहीं होता, वहाँ स्वत: ही उसके परिपोष का परिहार हो जाता है। यदि दोनों के उत्कर्ष में भी साम्य नहीं होता तो भी उन दोनों में विरोध रहना सम्भव नहीं है।

रस-परिपोष का दूसरा परिहार यह है कि या तो अंगी रस के विरुद्ध व्यभिचारी भावों का अधिकता से निवेश न किया जाय अथवा यदि उनका निवेश करना भी पड़े तो अंगी रस के व्यभिचारी भावों की शीघ्र ही अनुवृत्ति (अनुसंधान) कर ली जाय। परिपोष तक पहुँचाये गये अंगभूत-रस की अंग रूप में बार-बार प्रत्येवक्षा करना परिपोष-परिहार का तीसरा उपाय है। परिपोष-परिहार में अन्य प्रकार भी उत्प्रेक्षणीय है जैसे अंगीरस की अपेक्षा विरोधी रस की न्यूनता सम्पादित करना आदि। शांति रस के अंगित्व में श्रृंगार तथा श्रृंगार के अंगित्व में शांत रस की अंगता परिपोष-परिहार का एक उदाहरण कहा जा सकता है। सच तो यह है कि अंगी रस के परितोष की तुलना में अंगभूत रस का वजन हमेशा कम रहना चाहिए। ऐसा करने से ही प्रबंध काव्यों में रसों का अंगांगिभाव समायोजित किया जा सकता है।

रसों के अंगांगिभाव के विषय में और भी कई बातें विचारणीय हैं। उनमें पहली बात तो यह है कि प्रबंध-काव्यों में रस-परिपोष के न तो निश्चित नियम ही बनाये जा सकते हैं और न उनका रचयिता किन्हीं विशेष नियमों के प्रतिबद्ध ही होता है। अनेक बार ऐसा भी देखा जाता है कि कथाबंध में रसों का परिपोष कवि-प्रतिभा के नैसर्गिक स्फुरण द्वारा होता है जिनका अंगांगिभाव केवल शास्त्र-मर्यादा से ही विवेचित नहीं किया जा सकता। बंधवृत्त में रसों का अंगांगिभाव स्वीकार न करने वाले विचारक भी यह तो मानते ही हैं कि विशालकाय प्रबंधों में रस-संचार का बाहुल्य स्वाभाविक है अत: उनमें किसी न किसी रस का आपेक्षित प्रकर्ष तो रहेगा ही। यह आपेक्षिक प्रकर्ष घूम-फिर कर रसों का अंगांगिभाव ही सिद्ध करता है, अत: विरोधी और अविरोधी रसों का अंगांगिभाव से किया जाने वाला प्रबंधगत अभिनिवेश विरोधमूलक नहीं है। वस्तुत: अंगी रस में अंगभूत रसान्तर व्यभिचारी मात्र होता है जिन्हें उपचारलक्षणा द्वारा 'रस' ही कहा जाता है अत: उनके स्थायित्त्व तथा व्यभिचारत्त्व को ध्यान में रखकर उनका अंगांगिभाव बोधगम्य कर लेना चाहिए। इस विषय में निम्नलिखित श्लोक उल्लेखनीय है—

बहूनां समवेतानां रूपं यस्य भवेद्बहु
स मंतव्यो रसस्थायी शेषा: संचारिणो मता: ।।

अर्थात् बहुत से समवेत भावों में जिस भाव का रूप व्यापक हो, उस स्थायी भाव

को रस मानना चाहिए; शेष संचारी भाव माने जाते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि आधिकारिक इतिवृत्त में व्याप्त रहने वाली चित्तवृत्ति स्थायी रूप से प्रतीत होती है जब कि प्रासंगिक वृत्तांतगमिनी चित्तवृत्ति व्यभिचारी रूप में रहती है जिनकी प्रतीतियों के अनुसार रसस्वाद के समय उनमें कोई विरोध नहीं होता। उन चित्तवृत्तियों के अनुरूप रसों का भी स्थायित्त्व और संचारित्त्व होता है। जो एक प्रकार से उनके अंगांगिभाव का ही समर्थन है।

अंगी रस के साथ अविरोधी रसों का अंगांगिभाव तो सुकर है किन्तु विरोधी रसों का सामंजस्य भी उसके साथ किया जा सकता है। विरोधी रस कहीं तो ऐकाधिकरण्य विरोधी होता है और कहीं नैरंतर्य विरोधी। एकाश्रय रूप में विरोधी रहने वाले वीर और भयानक रसों को यदि विभिन्नाश्रय कर दिया जाय तो उनका परिपोप होने पर भी दोष नहीं रहता। ऐसा करते समय वीर रस के आश्रय कथानायक के विपक्षी प्रतिनायक में भयानक रस का सन्निवेश कर देना चाहिए ताकि विरोधी का परिपोष निर्दोष हो जाय क्योंकि विपक्षी के भयातिशय का वर्णन नायक के नय और पराक्रम का वैभववर्द्धक ही होता है। मेधावी कवि नैरंतर्य विरोध का परिहार रसांतर के व्यवधान द्वारा प्रबंध करने में सक्षम हैं जैसा कि नागानंद नाटक में शांत और शृंगार रस के प्रबंध निवेशन द्वारा किया गया है।

शांत रस का वैलक्षण्य

रस विरोध तथा रसपरिपोष की विवेचना के प्रसंग में शांत रस की स्थिति काभ स्पष्टीकरण अत्यंत आवश्यक है क्योंकि उसके नाट्य काव्यगत अस्तित्त्व का निर्णय काव्य-शास्त्र का अत्यन्त रुचिकर विषय रहा है। उसके विषय से तर्क-वितर्क का उपक्रम 'नाट्य-शास्त्र' के रचनाकाल से ही होने लगा था। भरतमुनि विरचित नाट्यशास्त्र की प्रामाणिक प्रतियों में उसकी स्थायी वृत्ति का कहीं पर भी उल्लेख न होने के कारण अनेक परवर्ती आचार्यों ने उसका अस्तित्त्व ही स्वीकार नहीं किया है। जबकि आचार्य आनंदवर्धन ने उसकी सत्ता मानी है। ध्वन्यावलोक में शांतश्च तृष्णाक्षयसुखस्य यः परितोषस्तल्लक्षणो रसः प्रतीयत एव" की शब्दावली में उसकी प्रतिष्ठा की गई है जिसका समर्थन आचार्य अभिनव गुप्त ने भी किया है। सच तो यह है कि संसार में विषयाभिलाष रूपी तृष्णाओं के क्षय से बढ़कर अन्य कोई सुख नहीं है जिसके आधार पर सर्वनिवृत्ति रूप 'निर्वेद' का स्थायीभावत्त्व प्रमाणित किया जा सकता है। वस्तुतः निर्वेद ही शांत रस का स्थायी भाव है जिसका रस्यमानताकृत परिपोष ही शांत रस कहलाता है। तृष्णा नाशजन्य सुख के सम्मुख न तो विषयवासनाजन्य कामसुख ही ठहर सकते हैं और न अन्य दिव्य महत् सुख ही अपने पैर जमा सकते हैं। निर्वेद की सत्ता अन्य स्थायी भावों से विलक्षण और सर्वो-परि है। निर्वेद का ही दूसरा नाम प्रशम है जिसमें तदेतर सम्पूर्ण चित्तवृत्तियाँ उपशमित हो जाती हैं। अतः यह मान्यता सर्वथा युक्तिसंगत प्रतीत होती है कि "भाव अपना-अपना

निमित्त पाकर शांत से प्रवृत्त होता है, परन्तु निमित्त के समाप्त होने पर पुनः शांत में ही प्रलीन हो जाता है।"[19]

अभिनव गुप्त का दृष्टिकोण

आचार्य अभिनवगुप्त शांत रस के सबसे बड़े समर्थक हैं। उन्होंने नाट्य-शास्त्र विवृत्ति (अभिनव भारती) तथा ध्वन्यावलोक लोचन में उसे सर्वोपरि रस सिद्ध किया है। उनका तो विश्वास है कि नाट्य की दृष्टि से भरतमुनि ने शांत रस तथा उसकी स्थायी वृत्ति का भले ही उल्लेख न किया हो किन्तु नाट्यशास्त्र में ऐसे अनेक स्थल विद्यमान हैं जहाँ निर्वेद और शम संज्ञक चित्तवृत्तियों के साथ-साथ शांत रस को सत्ता के संकेत उपलब्ध होते हैं। वस्तुतः शांत रस को सभी रसों के सामान्य स्वरूप का अभाव मात्र मानना किसी भी रूप में उचित नहीं है। उसकी स्थायी वृत्ति हमारी आत्मविषयक प्रतीति के साथ निसर्गतः जुड़ी हुई है। यदि शांत रस को अभाव रूप ही माना जाय तो भी उसकी संगति प्रध्वंसाभाव में संभव है। 'तृष्णाक्षयसुख' तृष्णाओं के प्रध्वंसक रूप का ही व्यंजक है जो एक प्रकार से प्रध्वंसाभाव का ही पर्यवसान है। उस रस के विरोध में "वीतरागजन्मादर्शनात्' का तर्क भी तत्त्वसंगत प्रतीत नहीं होता क्योंकि संसार में वीतराग पुरुषों का सर्वथा अभाव अथवा अजन्म किसी भी रूप में सिद्ध नहीं होता। यदि उसकी प्रतीति असम्भव होती तो नाट्यशास्त्रकार भरतमुनि 'क्वचिच्छमः' जैसे पद प्रयुक्त नहीं करते। उसके विषय में यह तर्क भी विसंगत है कि उसकी पर्यन्त अवस्था अवर्णनीय होती है जिसमें अनुभावजन्य सभी चेष्टाओं का उपरम हो जाता है। यह स्थिति तो सुरत-क्रीड़ाओं की फलभूमि अथवा चरम परिणति में भी सम्भव है फिर रतिजन्य श्रृंगार की स्थिति वर्णनातीत क्यों नहीं मानी जाती? 'तस्य प्रशांतवाहिता संस्कारात्' तथा 'तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः' इन दोनों सूत्रों द्वारा यही सिद्ध होता है कि यद्यपि चित्त-वृत्तियों के विरोध के कारण हमारा चित्त विक्षेपरहित होकर प्रशांतवाही हो जाता है किन्तु समाधिस्थ योगी के छिद्रों (अंतराल) से प्रत्यान्तर भी उत्पन्न होते रहते हैं जिनमें यमनियम आदि की आश्चर्य कारिणी चेष्टाएँ परिलक्षित होती हैं। वे चेष्टाएँ एक प्रकार से शांत रस के अनुभावों और संचारी भावों के ही अवांतर रूप हैं।

कुछ विद्वानों ने शांत रस के विभागों के अस्तित्व के प्रति अपनी शंका व्यक्त की है। उनका कहना है कि जब शांत रस के विभाव ही नहीं होते तो उसकी प्रतीति कैसे की जा सकती है। इसका उत्तर देते हुए आचार्य अभिनव गुप्त लिखते हैं कि प्राक्तन सत्कर्मो का विपाक, परमेश्वर का अनुग्रह आध्यात्मिक शास्त्रों का अनुशीलन और वीतराग पुरुषों की संगति आदि विषय शांत रस के विभाव होते हैं जिनसे उसकी प्रतीति सहज सम्भव है। जो विद्वान शांतरस में हृदय संवाद कराने का सामर्थ्य न पाकर उसकी रस्यमानता स्वीकार नहीं करते, वे प्रमाद ग्रस्त है क्योंकि यदि ऐसा होता तो यह कभी नहीं कहा जाता कि शांत रस प्रतीत होता है। यदि यह कहा जाय कि वह प्रतीत तो होता है किन्तु सब की प्रशंसा का पात्र नहीं होता तो भी इस तर्क से उसका अभाव रूप

सिद्ध नहीं होता जब वीत राग पुरुषों की दृष्टि में श्रृंगार भी श्लाघ्य नहीं है तो क्या वह अपने रसत्व से च्युत हो जाता है। सच पूछा जाय तो शांत रस की स्थिति सबसे विलक्षण और लोकोत्तर है। उसे धर्म प्रधान वीर रस कहना भी अनुचित है क्योंकि वीर रस का स्थायी भाव उत्साह अभिमान रूप और ईहात्मक होता है जब कि शांत रस में प्रशम और निर्वेद का प्राधान्य है। शांत रस और वीर रस में प्रभेद की परिकल्पना करने पर तो वीर और रौद्र में भी भेद नहीं माना जा सकेगा क्योंकि उन दोनों में धर्म अर्थ और काम के अर्जन की उपयोगिता समान रूपिणी है। जो विद्वान दया वीर की विशिष्ट चित्त वृत्ति अहंकार आदि का अभाव देखकर उसे शांत रस में अंतर्मुक्त करना चाहते हैं, वे भी प्रकारांतर से शांत रस का अस्तित्व स्वीकार करते हैं। संसार से विरक्ति अथवा विषय जुगुप्सा को शांत रस की स्थायी वृत्ति के साथ जोड़कर बीभत्स रस में उसका अंतर्भाव करना भी युक्ति संगत नहीं है क्योंकि जुगुप्सा शांत रस का स्थायी भाव न होकर व्यभि-चारी भाव है जो पर्यन्त तक निर्वाह की स्थिति में न रहकर मूल में ही विच्छिन्न हो जाता है। इन सब बातों का विचार करते हुए आचार्य अभिनव गुप्त ने शांत रस को मोक्ष फल-दायक तथा परम पुरुषार्थनिष्ठ प्रधानतम रस माना है। अपने मत की पुष्टि में उन्होंने अपने उपाध्याय आचार्य भट्ट तोत के 'काव्य कौतुक' का उल्लेख किया है जिन्होंने शांत रस की लोकोत्तर स्थिति स्वीकार की है।

रसविरोध और विरोध शमन

नागानंद नाटक में श्रृंगार और शांत रस की निर्विरोधिता के प्रसंग में शांत रस का विश्लेषण साभिप्राय और सप्रयोजन है। आचार्य आनंद वर्धन ने इन दोनों के अति-रिक्त अन्य रसों के अन्तवर्ती विरोध प्रशमन के और भी उपाय निर्दिष्ट किये हैं। उनका कथन है कि एक ही वाक्य में स्थित रहने वाले दो रसों के बीच किसी अन्य रस का समावेश कर देने से भी उनके विरोध की निवृत्ति हो जाती है। श्रृंगार और बीभत्स के बीच वीर रस का समायोजन उनके विरोध परिहार का कारण बन सकता है। यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि यों तो श्रृंगारेतर विरोधी रसों में अंगागिभाव का संचार किसी-न-किसी उपाय से सुगमतापूर्वक किया जा सकता है किन्तु उनमें श्रृंगार रस की स्थिति सबसे अधिक नाजुक है। इसका कारण यह है कि अन्य रसों की अपेक्षा श्रृंगार रस अधिक सुकुमार है जिसकी स्थायी वृत्ति (रति) के परिपोष में किंचित्मात्र भी व्यवधान आ जाय तो वह विरोधी भावों का समावेश सहन नहीं कर सकती। श्रृंगार के परिपोष में प्रतिशय-अवधान वांछनीय हैं क्योंकि तद्गत प्रमाद शीघ्रमेव परित्यक्षित हो जाता है। वस्तुतः श्रृंगार सर्वसंवादी रस है जिसका शांत आदि रसों के साथ प्रकृत विरोध है। यदि उन रसों में श्रृंगार के अंगों का सुसंगत स्पर्श कर दिया जाय तो उनका विरोध-परिहार सुसम्भव है। काव्य शास्त्रियों ने काव्य प्रयोजन के अंतर्गत जिस कांतासम्मित उपदेश की योजना की है, वह एक प्रकार से श्रृंगार रस की कमनीयता की ही व्यंजक है तभी तो आचार्य आनंदवर्धन ने लिखा है कि शिष्यों को उन्मुख करने के लिए काव्यशोभा-

वर्द्धक श्रृंगार रस के अंगों का स्पर्श विरोधी रसों में दूषित नहीं होगा—

विनेयानुन्मुखीकर्तुम् काव्यशोभार्थमेव वा।
तद्विरुद्धरस स्पर्शस्तदंगानां न दुष्यति।[20]

शांत और श्रृंगार रस के विरोध-परिहार के अनेक उदाहरण काव्य रचनाओं और दार्शनिक ग्रन्थों में भरे पड़े हैं। मधुर भक्ति की आत्मचेतना तो श्रृंगार रस के उदात्तीकरण से ही प्रादुर्भूत हुई है। अनेक भक्ति कवियों ने श्रृंगार, शांत और भक्ति रस का संगम करते हुए उन्हें जिस त्रिवेणी रूप में प्रवाहित किया है, वह विदग्ध जनों के ताप परिशमन-हेतु अमृतोपम शीतल अनुलेख से किसी भी रूप में कम नहीं हैं। श्रृंगार रस सांसारिक प्राणियों के लिए नियमतः अनुभव का विषय होने के कारण रसों से कमनीय और प्रधानभूत है। नाटकाभिनय और काव्य गोष्ठियों द्वारा चिन्तानुरंजन के साथ-साथ सदाचार-शिक्षण के आयोजन किन्हें रस संवेद्य नहीं लगते? श्रृंगार के माध्यम से निर्वेदपरक शांत रस का अभिव्यंजन करते हुए निम्नलिखित श्लोक में जीवन की क्षणभंगुरता को कामिनीकटाक्ष की चंचलता से उपमित किया गया है जो दोनों रसों के विरोध-परिहार का उत्कृष्ट उदाहरण है—

सत्यं मनोरमा रामा—सत्यं रम्या विभूतयः।
किन्तु मत्तांगनापांग भंगलोलं हि जीवितम्॥

आचार्य आनंदवर्धन का अभिमत है कि रस भाव, रसाभास और भावाभास आदि के अविरोध तथा विरोध तत्वबोध करने के पश्चात् जो कवि अपने प्रतिभा प्राकर्ष्य द्वारा काव्य-रचना करता है, वह कहीं पर भी भ्रमित नहीं होता। रसादि को मुख्य रूप से काव्य का अर्थ बनाकर उनकी व्यंजना के अनुरूप शब्दों और अर्थों का उपनिबंधन करना शक्ति प्रतिभाशाली कवियों के लिए सहज सम्भव है। कवियों का कर्तव्य है कि वे वाच्य और वाचकों के रसादिविषयक औचित्य का संयोजन करने में कोई कमी न आने दे ताकि उनकी रचना सभी दृष्टियों से हृदय संवेद्य बन सके।

काव्य वृत्तियाँ और शाब्द व्यापार

आनन्दवर्धन ने ध्वनि-तत्त्व की विवेचना के प्रसंग में काव्य-वृतियों का भी विश्लेषण किया है। 'वृत्ति' का सामान्य अर्थ व्यवहार है। काव्य के शब्दार्थों में रसादि के अनुरूप-औचित्यपूर्ण व्यवहार का नाम वृत्ति है जो अपने वाच्याश्रित रूप में कैशिकी तथा वाचकाश्रित रूप में उपनागरिका आदि नामों से अभिहित की जाती है। इन वृत्तियों के उचित सन्निवेश के कारण नाट्य और काव्य का शोभोत्कर्ष होता है। उनके लिए रसादि जीवभूत और इतिवृत्त आदि शरीर भूत हैं।

काव्यवृत्तियाँ और रसतत्त्व

उपनागरिका और कैशिकी आदि काव्य-वृत्तियाँ रस और वस्तु-तत्त्व के साथ स्वभावतः जुड़ी हुई हैं। उनका व्यवहार गुणगुणि व्यवहार के रूप में भी विवेचित किया

जाता है। कुछ विद्वान वाच्य और रस में भी एक प्रतीति मानते हैं और उनका सम्बन्ध शरीर और उसके गौरत्व द्वारा विवेचित करते हैं। रस का वाच्यार्थ रूप किसी भी दृष्टि में ग्राह्य नहीं है क्योंकि यह सदैव व्यंग्यरूप ही होता है जिसकी प्रतीति वाच्यवाचक भाव की प्रतीति के उत्तर काल से होती है। वाच्य अर्थ शब्द का साक्षात् सम्बन्धी है जब कि व्यंग्य अर्थ अभिधेय के सामर्थ्य से आक्षिप्त होकर सम्बन्धी का सम्बन्धी सिद्ध होता है। व्यंग्य के प्रतीयमान होने पर वाच्य की बुद्धि दूर नहीं होती क्योंकि उसका प्रकाशन वाच्य के साथ अविनाभाव से होता है। उन दोनों में घट दीपक न्याय संघटित होता है जिसका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार दीपक द्वारा घट की प्रतीति होने पर प्रदीप का प्रकाश निवृत्त नहीं होता उसी प्रकार व्यंग्य की प्रतीति में भी वाच्य का अवभास रहता है। काव्य का व्यंग्य में तात्पर्य होने पर भी व्यंग्य का अभिधेयत्व न होकर व्यंग्यत्व ही होता है। वाचकत्व और व्यंग्यत्व भिन्न-भिन्न है क्योंकि वाचकत्व तो एकमात्र शब्द के आश्रित है जबकि व्यंजकत्व शब्द और अर्थ दोनों के आश्रित है। व्यंजकत्व और गुण वृत्ति में भी अन्तर है। दोनों अपने स्वरूप और विषय में भिन्न होते हैं। गुण वृत्ति शब्द का अमुख्य व्यापार है तो व्यंजना-व्यापार में अर्थान्तर का प्रकाशन होता है। गुण वृत्ति (लक्षणा) और व्यंजना का विषयभेद स्पष्ट हैं। रसादि अलंकार-विशेष और व्यंग्यरूप से अवच्छिन्न वस्तु व्यंजकत्व के विषय है जिनके क्षेत्र में गुणवृत्ति (लक्षणा) की उतनी पहुँच नहीं है।

विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि में व्यंजकत्व वाचकत्व के आश्रित रहता है तो अविवक्षितवाच्य ध्वनि में वह गुणवृत्ति के आश्रय से व्यक्त होता है। दोनों पर आश्रित होने के कारण वह उनके साथ एक रूप नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः शब्द व्यापार के मुख्य तीन प्रकार हैं—वाचकत्व, गुणवृत्ति और व्यंजकत्व। व्यंजकत्व में जब व्यंग्य का प्राधान्य होता है तब ध्वनि होती है। ध्वनि ही काव्य की आत्मा है। उसे उत्तम श्रेणी का काव्य माना गया है। उससे अवर श्रेणी गुणीभूतव्यंग्य काव्य की है जिसमें व्यंग्य का सम्बन्ध होने पर भी वाच्य का चारुत्व प्रकृष्ट होता है। गुणीभूतव्यंग्य काव्य रसभाव-आदि के तात्पर्य के पर्यालोचन करने पर पुनः ध्वनि रूप हो जाता है।

ध्वनिकाव्य शीर्षस्थानीय है

व्यंग्यार्थ की प्रधानता के कारण ध्वनि काव्य शीर्षस्थान का अधिकारी है। उसके पश्चात् गुणीभूतव्यंग्य काव्य का स्थान है। चित्र काव्य मुख्य काव्य न होकर काव्य का अनुकरण मात्र है। आचार्य आनन्दवर्धन ने चित्र काव्य को आलेख्यप्रख्य माना है क्योंकि उसमें रसादि तात्पर्य विहीन वाच्य-वाचक मात्र का आश्रयण तथा व्यंग्यार्थ विशेष प्रकाशन शक्ति का शून्यत्व रहता है। ऐसा काव्य या तो दुष्कर यमक आदि शब्द चित्रों का संग्रहालय अथवा व्यंग्यर्थस्पर्शशून्य वाच्यार्थों का समुदाय होता है जिसमें रसादि-तात्पर्यविहीन उत्प्रेक्षा आदि अलंकार वाच्यचित्र मात्र होते हैं। चित्र काव्य में प्रतीयमान-अर्थ का संस्पर्श तक नहीं होता। उसमें न तो वस्तुध्वनि तथा-अलंकार ध्वनि के लिए अवकाश है और न वह रसादि की व्यंजना ही कर सकता है।

ध्वनिवादी आचार्यों ने चित्रकाव्य की परिकल्पना अवश्य की है किन्तु ध्वन्यात्मकता के अभाव में वे उसे काव्यपंक्ति में रखना उचित नहीं समझते। उनका तो स्पष्ट कहना है कि जिस काव्य में रसादि का विषयत्व नहीं होता, वह काव्य का कोई प्रकार हो ही नहीं सकता। काव्य में वस्तुतत्व का सर्वथा-प्रभाव-असम्भव है और सभी वस्तुएँ किसी न किसी रूप में रस अथवा भाव का अंग बन कर विभाजित होती हैं। रसादि भी चित्रवृत्तिविशेष हैं। वह कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो चित्रवृत्तिविशेष को उत्पन्न नहीं करती। यदि वह उसे उत्पन्न न करे तो वह कवि का विषय ही नहीं होगी। ऐसी स्थिति में रसभावादिशून्य चित्रकाव्य कुछ विशेष कवियों का ही रचना कौशल माना जा सकता है।

आनन्दवर्धन के मतानुसार ध्वनि से व्यतिरिक्त काव्य का प्रकार ही नहीं होता। सभी काव्य-प्रकार ध्वनिधर्मता का अतिक्रमण नहीं करते। रसादि की अपेक्षा में गुणीभूतव्यंग्यरूप काव्य प्रकार उसका अंगरूप होता है। देवस्तुतियों अथवा चाटूक्तियों में भी रसादि की अंगरूपता रहती है। उनमें यदि कहीं व्यंग्य विशिष्ट वाच्य प्रधान होता है तो भी वह गुणीभूतव्यंग्य ध्वनि का ही निस्पंद माना जाता है। चित्रकाव्य तो एक प्रकार से आभ्यासिक कवियों का काव्य व्यवहार मात्र है—अतः आनन्दवर्धन के शब्दों में ध्वनिरेव काव्यमिति स्थितमेतत्' अर्थात् ध्वनि ही काव्य है, यह निश्चित है। इस विषय में निम्नलिखित संग्रह-श्लोक प्रसिद्ध हैं—

यस्मिन् रसो वा भावो का तात्पर्येण प्रकाशते।
संवृत्त्याभिहितौ वस्तु यत्रालंकार एव वा।
काव्याध्वनि ध्वनिर्व्यंग्य प्राधान्यैक निबंधन।
सर्वत्र तत्र विषयी ज्ञेयः सहृदयैर्जनैः।

अर्थात् जिस काव्य-मार्ग में रस अथवा भाव तात्पर्यरूप से प्रकाशित हों, जहाँ वस्तु अथवा अलंकार गोपन-प्रकार से अभिहित हों, वहाँ सर्वत्र व्यंग्य के प्राधान्य में एकमात्र ध्वनि को ही सहृदयजनों द्वारा विषयी समझा जाना चाहिए।

ध्वनिवादी आचार्यों ने ध्वनि-काव्य को सर्वोपरि महत्ता प्रदान की है। उन्होंने उसके अनेक प्रकार के भेद-प्रभेद माने हैं। वह काव्य गुणीभूतव्यंग्यों और अलंकारों के भेद प्रभेदों के साथ संकर और संसृष्टि द्वारा अनेक रूपों में प्रकाशित होता है। उसके भेद-प्रभेदों की गणना असम्भव है। सत्काव्य के स्रष्टा तथा काव्यशास्त्र मनीषी ध्वनि-प्रबोध द्वारा काव्य विषय में परम प्रकर्ष पदवी प्राप्त करते हैं। जिन लोगों में ध्वनि बोध की पराशक्ति नहीं होती अथवा जो व्यक्ति काव्य का स्फुट स्फुरण नहीं समझ पाते, वे वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली आदि रीतियों के माध्यम से काव्यात्म बोध करने की दिशा में उन्मुख होते हैं। काव्य की उपर्युक्त रीतियाँ कहीं शब्दतत्वाश्रित होती है और कहीं अर्थतत्व सम्बद्ध मानी जाती हैं। काव्यतत्वमर्मज्ञ सहृदयजन ही काव्यकृतियों के पूर्ण रसज्ञ हैं जिन्हें रत्नतत्त्वविद् वैकटिको (रत्न-परीक्षकों) से उपमित किया गया है।

संलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि का स्वरूप

1. शब्दशक्ति मूलक ध्वनि

विवक्षितान्यपर वाच्य ध्वनि का दूसरा भेद संलक्ष्यक्रमव्यंग्य है जिसका प्रतिभास अनुस्वान अथवा अनुरणन-प्रक्रिया की क्रमबद्ध प्रतीति के रूप में होता है। जिस प्रकार घण्टा का अनुरणन अभिघातज शब्द की अपेक्षा से क्रमपूर्वक प्रतिभासित होता है, उसी प्रकार संलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि में भी पहले शब्द का प्रयोग, तदनन्तर अभिधेयार्थ की प्रतीति और अंततोगत्वा व्यंग्यार्थ का बोध होता है। चूँकि इस प्रकार के पौर्वापर्यक्रम की स्पष्ट प्रतीति संलक्षित होती रहती है, अतः इसे संलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि कहा जाता है। शब्दशक्तिमूलक और अर्थशक्तिमूलक संज्ञक इसके दो प्रमुख भेद हैं। शब्दशक्तिमूलक अथवा शब्दशक्त्युद्भवध्वनि उसे कहते हैं जिसमें शब्द द्वारा न कहा हुआ किन्तु शब्द-शक्ति द्वारा आक्षिप्त किया हुआ अलंकार प्रकाशित होता है।[21] इस ध्वनि में किसी शब्द के बल पर केवल वस्तु की ही व्यंजना नहीं होती अपितु अलंकार की भी व्यंजना होती है। यदि शब्दशक्ति में दो वस्तुपरक अर्थ प्रकाशित हों तो वहाँ पर श्लेष होता है। यों तो शब्दशक्तिमूलक ध्वनि तथा श्लेष अलंकार में शब्द के बल पर ही अर्थ की प्रतीति होती है किन्तु श्लेष में दोनों अर्थवस्तुपरक होते हैं जबकि शब्दशक्तिमूलक ध्वनि में दूसरा अर्थ अलंकारपरक अथवा अलंकार मिश्रित वस्तुपरक होता है। आनंदवर्धन ने शब्दशक्तिमूलक ध्वनि के लक्षण में 'अक्षिप्त' शब्द का प्रयोग सप्रयोजन किया है। उसका आशय यह है कि जहाँ पर शब्दशक्ति द्वारा दूसरा अलंकार साक्षात् वाच्य होकर प्रकाशित हो रहा हो, वह सब श्लेष का विषय होता है। इसके प्रतिकूल जहाँ शब्दशक्ति के सामर्थ्य से दूसरे अलंकार का आक्षेप कर लिया जाए और वह वाच्य न होकर व्यंग्य ही हो, वहाँ पर शब्दशक्ति-मूलक ध्वनि होती है।

आचार्य आनंदवर्धन और अभिनव गुप्त ने केवल अलंकार ध्वनि को ही शब्द-शक्तिमूलक ध्वनि माना है जबकि आचार्य मम्मट और विश्वनाथ उसके दो भेद मानते हैं—1. अलंकार ध्वनि, और 2. वस्तुध्वनि। रुय्यक ने अपनी 'काव्यप्रकाशसंकेत' नाम की टीका में मम्मट की मान्यता का प्रत्याख्यान किया है किन्तु अपने 'अलंकार सर्वस्व' में वे भी वस्तुध्वनि की स्थापना करते चले हैं। जयरथ ने वस्तुध्वनि को उभय शक्तिमूलक कहकर उसकी व्याख्या की है। रसगंगाधरकार पण्डितराज ने अलंकार ध्वनि के साथ-साथ शब्दशक्तिमूलक वस्तुध्वनि की भी स्थिति स्वीकार की है। उनके मतानुसार दो अर्थों के आच्छाद्य-आच्छादक भाव में शब्दशक्तिमूलक वस्तुध्वनि होती है जिसका अभि-प्राय यह है कि जहाँ अपने अभिप्राय को छिपाकर कहना अभीष्ट होता है वहाँ वस्तुध्वनि की सत्ता असंदिग्ध है। अप्पय दीक्षित इन सबसे भिन्न दृष्टिकोण लेकर चले हैं किन्तु घूम-फिरकर वे भी आनंदवर्धन की मान्यता का ही समर्थन करते हुए प्रतीत होते हैं।

शब्दशक्तिमूलक ध्वनि अलंकार योजना और वस्तुविधान से सम्बन्धित है। उसे

उभयविध रूपों (अलंकार-ध्वनि और वस्तुध्वनि) में स्वीकार करना ही समुचित है। जहाँ काव्य का चमत्कारविधान साम्य पर आधारित रहता है वहाँ अलंकार ध्वनि होती है किन्तु जब उस चमत्कार का आधार द्वयर्थक शब्दों का प्रयोग होता है तो वहाँ श्लेष अलंकार मात्र माना जाता है। वस्तुध्वनि का आधार शब्द के बल पर निकलने वाला दूसरा अर्थ होता है जिसका आक्षेप सहृदयजनों की चित्तविश्रांति का कारण बनता है। इस प्रकार शब्दशक्तिमूलक ध्वनि अलंकार और वस्तु तत्त्व से सहजभाव से जुड़ी रहती है। उसके कतिपय विचारणीय पक्ष निम्नलिखित हैं—

1. श्लेष अलंकार की वाच्यता में शब्दशक्तिमूलक ध्वनि नहीं होती।
2. वाच्य तथा व्यंग्य अर्थों में जहाँ सादृश्य आदि सम्बन्ध व्यंग्य होते हैं, वहाँ शब्दशक्तिमूलक ध्वनि होती है।
3. शब्दशक्तिमूलक अलंकार ध्वनि का विषय ऐसा स्थान होता है जहाँ श्लेष से दो या अधिक अर्थ निकलें। उनमें से पहले अर्थ में प्रकरण आदि द्वारा अभिधा शक्ति नियंत्रित होती है, दूसरे अर्थ के लिए व्यंजना का आश्रय लेना पड़ता है तीसरी स्थितियों में वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थों के सम्बन्ध का निर्वाह भी व्यंजना द्वारा ही होता है।
4. केवल आक्षिप्त अलंकार ही ध्वनि का विषय होता है, आक्षिप्ताभास नहीं। जहाँ कोई अलंकार आक्षिप्त होते हुए भी किसी अन्य शब्द द्वारा अभिहित हो, वहाँ ध्वनि न होकर वाच्यश्लेष होता है।
5. शब्दशक्तिमूलक ध्वनि के विरोध तथा व्यतिरेक अलंकार आदि के सम्बन्ध से अनेक प्रकार हैं जिनका अनुसरण काव्य-कृतियों की शास्त्रीय विवेचना द्वारा किया जा सकता है।

अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि

संलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि का दूसरा भेद अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि है। इसमें वह अर्थ प्रकाशित होता है जो अपने तात्पर्य द्वारा एक ऐसे अन्य अर्थ की अभिव्यक्ति करे जिसका अभिधान वाक्य में किसी शब्द द्वारा नहीं किया गया हो।[22] यहाँ अन्य अर्थ की अभिव्यक्ति का अभिप्राय ध्वननव्यापार से है तथा 'तात्पर्य' का अर्थ वह तात्पर्य वृत्ति नहीं है जो वाच्यार्थप्रतीति में ही उपक्षीण हो जाती है। इस ध्वनि में अर्थ अपने सामर्थ्य द्वारा शब्द व्यापार के बिना ही अर्थान्तर को अभिव्यक्त कर देता है। उदाहरणार्थ—

एवंवादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती॥

अर्थात् जिस समय देवर्षि नारद इस प्रकार (पार्वती के विवाह के विषय में) बातचीत कर रहे थे उस समय पिता के पास बैठी हुई पार्वती अपना मुख नीचे किए हुए लीलाकमलपत्रों को गिन रही थी।

उपर्युक्त उदाहरण में लीलाकमलपत्रों की गणना गौण होकर बिना किसी दूसरी

शब्द वृत्ति की अपेक्षा किये हुए पार्वती के लज्जा रूप एक दूसरे अर्थ की अभिव्यक्ति कर देती है। यह लज्जा एक व्यभिचारी भाव है। व्यभिचारी भावों की ध्वनि असंलक्ष्यक्रम-व्यंग्य ध्वनि का विषय है किन्तु 'ध्वन्यालोक' में इसे संलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि के दूसरे भेद अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के उदाहरण रूप में विवेचित किया गया है। आनंदवर्धन के शब्दों में 'इह तु सामर्थ्याक्षिप्त व्यभिचारिमुखेन रस प्रतीतिः। तस्मादयंमन्यो ध्वनेः प्रकारः' अर्थात् यहाँ पर सामर्थ्य से आक्षिप्त व्यभिचारी भावों द्वारा रस की प्रतीति होती है अतः यह ध्वनि का दूसरा प्रकार (संलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि) है।

3. शब्दार्थशक्तिमूलक ध्वनि

आचार्यों ने शब्दार्थशक्तिमूलक ध्वनि के नाम से उसका एक तीसरा प्रकार भी माना है जिसमें प्रयुक्त 'शब्दार्थ पद का विग्रह एकशेष द्वन्द्व द्वारा 'शब्द' अर्थ और शब्दार्थ' किया जा सकता है। उसकी परिभाषा करते हुए आनंदवर्धन ने लिखा है कि "शब्दार्थ-शक्ति से आक्षिप्त होता हुआ भी व्यंग्य अर्थ जहाँ कवि द्वारा पुनः अपनी उक्ति के निमित्त से आविष्कृत कर दिया जाता है, वह ध्वनि से भिन्न अन्य ही (वस्तु) अलंकार होता है।"[23] इस परिभाषा में जिस व्यंग्यार्थ की बात कही गई है, वह शब्दशक्ति, अर्थ-शक्ति तथा शब्दार्थ शक्ति इन तीनों से आक्षिप्त माना गया है। वह ध्वनि से भिन्न अन्य अलंकार भी हो सकता है अथवा उसका अलंकारत्व द्वयर्थक शब्दों के बल पर संघटित होने वाला व्यंग्यार्थ भी हो सकता है। यद्यपि वह व्यंग्यार्थ अलंकार होता है तथापि वाच्यालंकारों की अपेक्षा उसकी स्थिति भिन्न रहती है क्योंकि उसमें लोकोत्तर चमत्कार का प्राधान्य होता है।

अर्थशक्तिमूलक ध्वनि के व्यंजक अर्थ

अर्थशक्त्युद्भव अनुरणनरूप व्यंग्य ध्वनि का व्यंजक अर्थ दो प्रकार का होता है— 1. कविप्रौढोक्तिनिष्पन्न और स्वतः सम्भवी। इन दोनों के अतिरिक्त कविनिबद्ध-वस्तु प्रौढोक्तिसिद्ध संज्ञक तृतीय व्यंजक अर्थ भी माना जाता है। आनंदवर्धन ने प्रौढोक्ति सिद्ध अर्थ के अंतर्गत प्रथम और तृतीय अर्थ का समाहार कर दिया है। यद्यपि उन्होंने दोनों की विवेचना पृथक्-पृथक् उदाहरणों द्वारा की है। रसगंगाधर में उपर्युक्त उभय अर्थों को प्रतिभाजन्य कहकर दोनों को एकरूप माना गया है। इस विषय में मम्मट, अभिनवगुप्त, हेमचंद्र और और नागेश भट्ट आदि आचार्य भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण रखते हैं किन्तु सबको कवि प्रौढोक्तिसिद्ध अर्थ की सत्ता स्वीकार है। स्वतः सम्भवी व्यंजक अर्थ भी किसी न किसी रूप में कविप्रौढोक्ति से जुड़ा रहता है। इन सभी अर्थों की व्यंजकता में लोकोत्तर चमत्कार का प्रस्फुरण अंतर्निहित है।

कवि प्रौढोक्ति निष्पन्न अर्थ में कवि की प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास संज्ञक त्रिविध काव्यहेतुओं का संयोग यथा प्रसंग रहता है। अपनी प्रौढोक्ति में कवि लोकविश्रुत तथा कल्पनाप्रसूत अर्थों का संयोजन करता हुआ उसे चमत्कारप्राण बनाता है। उसकी

निजी प्रौढोक्ति सन्दर्भ-विशेषों से जुड़ी हुई न होकर निरपेक्ष रूप में व्यक्त होती है जिसमें मुक्तक काव्य की छटा निखरती है। कविनिबद्धवस्तु प्रौढोक्ति का रूप उसमें भिन्न है। वह कवि के मानस से जुड़ी हुई होने पर भी काव्यवस्तु से निबद्ध प्रासंगिकता तथा पात्रों की मन: स्थिति से भी संलग्न रहती है। देशकाल और परिस्थितियों का औचित्य भी उसके लिए वांछनीय है। इस प्रकार की प्रौढोक्तियों के अवसर प्रबंध काव्यों के वस्तुविन्यास में अधिक रहते हैं। उदाहरणार्थ एक ही राम कथा आदि कवि वाल्मीकि मध्यकालीन कवि तुलसी और केशव तथा आधुनिक कवि मैथिलीशरण गुप्त और रामचरित उपाध्याय द्वारा अनुबंधित की जाने पर भी अपनी वस्तु योजना और पात्र-सृष्टि में कुछ न कुछ पार्थक्य अथवा वैशिष्ट्य रखती ही है जिसकी पृष्ठभूमि में कविनिबद्ध वस्तु प्रौढोक्ति की छाया का प्रभाव भी अभिव्यंजित है। रामभक्त तुलसीदास रावण के व्यक्तित्व और चरित्र के विषय में अपनी ओर से टीका-टिप्पणी करने में स्वतंत्र है, किन्तु जब वे अपनी रामकथा के पात्र हनुमान अथवा अंगद द्वारा उसकी राज सभा में जो वक्तव्य दिलाते हैं, वह पात्रनिष्ठ बनकर ही प्रस्तुत होता है। संभव है, अन्य राम कथाकार कवि इस प्रसंग को पृथक रूप में चित्रित करना पसंद करें। उनकी अर्थव्यंजना सभी सहृदयजनों को समान रूप में ही सुग्राह्य प्रतीत हो, यह भी कोई आवश्यक नियम नहीं है।

आनंदवर्धन ने स्वत: सम्भवी अर्थ उसे माना है जिसकी सद्भावना (सत्ता) की सम्भावना औचित्यपूर्वक बाहर भी की जा सके तथा जिसका कलेवर केवल कवि की उक्ति के बल पर ही निष्पन्न न हुआ हो।[24] उसके उक्तिवैचित्र्य के द्वारा जहाँ लोकसम्भव वस्तु-व्यंजना होती है, उसका व्यंजक लोकसम्भाव्य चित्रण ही होता है। व्यंजक अर्थ की दृष्टि से अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के जो भेद किये गए हैं वे वस्तुध्वनि तथा अलंकारध्वनि से सम्बन्धित हैं। अर्थशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि का एक अन्य प्रकार वह भी है जिसमें अर्थशक्ति द्वारा एक अन्य अलंकार भी प्रतीतिगोचर होता है जो वाच्यालंकार से भिन्न होता है। इस प्रकार अर्थ शक्ति से भी अलंकार की प्रतीति होती है। सब मिलकर अर्थशक्ति-मूलक ध्वनि के चार प्रमुख भेद होते हैं जो स्वत: संभव व्यंजक, कविकल्पित व्यंजक तथा कविनिबद्ध वस्तु कल्पित व्यंजक के प्रकार भेदों से बारह प्रकार के माने गये हैं। काव्य प्रकाश चतुर्थ उल्लास में आचार्य मम्मट ने उनका विशद विवेचन किया है।

अर्थशक्ति और अलंकार ध्वनि

आनंदवर्धन ने ध्वन्यालोक के द्वितीय उद्योत की 26वीं कारिका में इस प्रश्न का उत्तर देने का भी प्रयास किया है कि अर्थशक्ति द्वारा अलंकार ध्वनि की सम्भावना कैसे की जाती है। उन्होंने बतलाया है कि रूपक इत्यादि अलंकार वाच्य तो होते ही हैं, किन्तु वे प्रतीयमानता के कारण व्यंग्य भी हो सकते हैं।[25] एक अलंकार में दूसरा अलंकार प्राय: व्यंग्य होता है। सादृश्य मूलक अलंकारों में उपमा अलंकार सर्वाधिक व्यंग्य हो सकता है। अप्पय दीक्षित ने तो उसे एक ऐसी नदी के समान माना है जो रूपक आदि के

रूप में विचित्र प्रकार की भूमिकाओं के भेदों को प्राप्त कर काव्य-मंच पर नृत्य करती हुई रसज्ञ जनों का चित्तानुरंजन करती है। भामह ने वक्रोक्ति को समस्त अलंकारों का बीज मानकर उसकी व्यंग्यता स्वीकार की है तो दण्डी ने अतिशयोक्ति को सभी अलंकारों में व्यंग्य माना है। भट्टोद्भट ने एक अलंकार की वाच्यता में दूसरे अलंकार की व्यंग्यता सिद्ध की है। जैसे संदेह अलंकार के वाच्य होने पर उपमा, रूपक और अतिशयोक्ति प्राय: व्यंग्य होते हैं। अर्थशक्ति से होने वाले अलंकारों की वाच्यता और तद्संभूत व्यंग्यता का क्षेत्र इतना अधिक व्यापक है कि उसे किसी भी रूप में सीमित नहीं किया जा सकता।

अलंकार व्यंजना के रूप

ध्वनि-सिद्धांत के अनुसार अलंकार व्यंजना के दो रूप हैं—1. वस्तु से अलंकार व्यंजना तथा 2 अलंकार से अलंकार व्यंजना। जब एक अलंकार से दूसरे अलंकार की व्यंजना सम्भव है तो वस्तु से अलंकार व्यंजना का कार्य तो और भी अधिक सुकर और सरल हो जाता है। अर्थशक्ति मूलक ध्वनि में वस्तु के समान अलंकार भी व्यंग्य होते हैं अर्थात् वे ध्वनि के अंग बनकर व्यंजक और व्यंग्य रूप में बहुत बड़ी छाया धारण करते हैं। वस्तुत: अलंकारों की ध्वन्यंगता व्यंग्य के रूप में ही माननी चाहिए। 'अलंकारान्तरस्य अलंकारान्तरे व्यंग्यम्' का अभिप्राय भी यही है कि एक अलंकार की व्यंजना में दूसरा अलंकार निमित होता है। अर्थशक्ति में वस्तु और अलंकार दोनों सम्मिलित हैं, इस बात को ध्यान में रखकर यही मानना युक्तिसंगत है कि अर्थशक्ति द्वारा अलंकार उपगत होता है। यहाँ यह अभिमत उल्लेखनीय है कि काव्य के जिन अंशों में वाच्यालंकार से भिन्न व्यंग्य अलंकार की प्रतीति तो हो रही हो किन्तु वह वाच्यालंकार व्यंग्य अलंकार परक न हो तो वह ध्वनि-मार्ग नहीं माना जाता। ध्वनि तो ध्यंग्य की प्रधानता तथा वाच्य अर्थ से व्यंग्य की सौन्दर्यातिशयता में ही होती है। जब अलंकार की अनुरणनात्मक व्यंजना व्यंग्य प्रतिपादन का हेतु नहीं बन पाती तथा वह वाच्य मात्र बनकर ही रह जाती है तो वह ध्वनिकाव्य का विषय नहीं होता। उदाहरणार्थ दीपक अलंकार में उपमा की व्यंजना तो रहती है किन्तु जब वह उपमा काव्य सौन्दर्य की व्यवस्था का कारण नहीं होती तो उसे ध्वनि नहीं कहा जा सकता। ध्वनि काव्य के लिए व्यंग्यालंकार की प्रधानता आवश्यक है जिसका तात्पर्य यह है कि वाच्यालंकार उसके अधीन रहते हैं। वाच्यालंकारों द्वारा कभी-कभी दूसरा व्यंग्यालंकार प्रतीतिगोचर होता है तो कहीं-कहीं वे अपना अस्तित्व रखते हुए भी व्यंजना प्रक्रिया में सहायक नहीं होते। काव्य में ऐसे स्थल भी मिलते हैं जहाँ वाच्य अलंकारों का सर्वथा अभाव रहता है फिर भी व्यंग्य अलंकारों की अभिव्यक्ति तो हो ही जाती है।

वाच्यालंकारों की व्यंग्यपरकता

अलंकारध्वनि में वाच्यालंकार व्यंग्यपरक होते हैं। ध्वनिकाव्य में रूपक, व्यति-

रेक, अपह्नुति, तुल्ययोगिता, भ्रांतिमान्, प्रतिवस्तूपमा, संदेह, उपमा, अतिशयोक्ति, दीपक, आक्षेप, यथासंख्य, अर्थान्तरन्यास, अप्रस्तुत प्रशंसा, उत्प्रेक्षा, श्लेष, विभावना आदि अलंकार किस प्रकार अपनी वाच्यता छोड़कर व्यंग्यपरक बनते हैं, इसके अनेक उदाहरण प्रस्तुत करते हुए आचार्य आनंदवर्धन और अभिनवगुप्त ने उनकी व्यंग्यार्थता सिद्ध की है। वस्तुतः वाच्यार्थ की पूर्णतया पूर्ति होने के पश्चात् सहृदयजनों के चित्त में जो चमत्कारपूर्ण प्रतीयमान अर्थ प्रस्फुरित होने लगता है, वही ध्वनि-काव्य का विषय है। वह प्रधानीभूत काव्यार्थ केवल शब्दानुशासन और अर्थानुशासन से ही नहीं जाना जाता अपितु उसकी चर्वणा तो काव्यार्थवेत्ता मनीषी ही कर सकते हैं। वह चर्वणा व्यंग्यगर्भित है जिसे केवल व्यंजना व्यापार की प्रक्रिया से ही बोधगम्य किया जा सकता है। उसे मीमांसकों तथा तर्कशास्त्रियों के अनुमान, श्रुतार्थापत्ति तथा अर्थापत्ति के अंतर्गत समाविष्ट करना किसी भी रूप में युक्तिसंगत नहीं है।

कुछ अलंकारों को छोड़कर प्रायः सभी अलंकारों की ध्वनिगत प्रयोजनीयता स्वीकार की गई है। अवसर और औचित्य के अनुसार उनका तात्पर्य और प्रयोग समझ लेना चाहिए। आचार्य आनन्दवर्धन ने लिखा है कि 'वाच्यत्व की दशा में जिन अलंकारों का शरीरीकरण व्यवस्थित नहीं है, वे अलंकार ध्वनि के अंग बनकर बहुत बड़ी छाया प्राप्त करते हैं।[26] अलंकारों की ध्वन्यंगता, व्यंजकता और व्यंग्यता इन दोनों रूपों में होती है। काव्य का वाच्यार्थ शरीर स्थानीय होता है जबकि अलंकारों का वाच्यत्व के रूप में शरीरीकरण शरीर स्थानीय प्रस्तुत अर्थ से भिन्न है। वे वाच्य होते हुए भी काव्य शरीर से उसी प्रकार भिन्न है जिस प्रकार शरीर से पृथाभूत कटककुण्डल इत्यादि शरीर से भिन्न होते हैं। आनंदवर्धन ने इसी विषय का स्पष्टीकरण प्रकारांतर से करते हुए लिखा है —

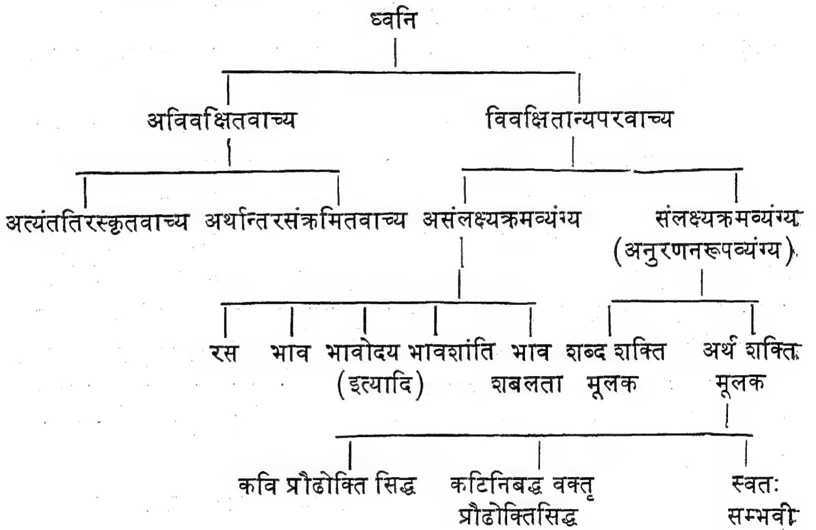
'सुकवि विदग्धतुरंध्रीवद्भूषणं यद्यपि श्लिष्टं योजयति तथापि शरीरता प्रपत्तिरेवास्य कष्टसम्पाद्या कुंकुमपीतिकाया इव। आत्मतायास्तु का सम्भावनापि। एवम्भूता चेयं व्यंग्यता या अप्रधानभूताथि वाच्यमात्रालंकारेभ्य उत्कर्षमलंकाराणां वितरति। बालक्रीडायामपि राजत्वमिवेति।[27]

अर्थात् सुकवि यद्यपि विदग्ध सभी के समान अलंकार को अत्यन्त श्लिष्टता से जोड़ता है तथापि कुंकुम की पीतिमा के समान उसे शरीरता प्रदान करना कष्ट सम्पाद्य है। आत्मरूपता प्रदान करने की तो सम्भावना ही कैसे की जा सकती है? वह व्यंग्यता अप्रधान होते हुए भी वाच्यमात्र अलंकारों से व्यंग्य अलंकारों को उत्कर्ष प्रदान करती है। उदाहरणार्थ बालक्रीड़ा में भी राजत्व उत्कर्ष देने वाला होता है।

अलंकार ध्वनि तथा ध्वनि के भेदोपभेद

अलंकारध्वनि का अंग दो रूपों में हो सकता है—1 व्यंजक रूप में और 2 व्यंग्य रूप में। अलंकार के व्यंग्य होने पर जहाँ उसकी प्रधानता होगी वही उसकी प्रधानता 'ध्वनि' के अंतर्गत मानी जायगी अन्यथा अपनी अप्रधानता के कारण व्यंग्य अलंकार उसे

'गुणीभूत व्यंग्य' बना देगा। जहाँ वस्तुमात्र से अलंकार की व्यंजना होती है वहाँ काव्य का प्रवृत्ति-निमित्त वही अलंकार होता है। साधारण वस्तु की अपेक्षा अलंकार सर्वदा अधिक महत्वपूर्ण होते हैं। यदि वे ही अलंकार दूसरे अलंकारों द्वारा व्यक्त होकर उनके चारुत्व हेतु बनने के साथ-साथ अपनी व्यंग्य प्रधानता लक्षित करते हैं तो वे अलंकार ध्वनि के अंग बन जाते हैं। व्यंग्य और व्यंजक रुप में अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि चार प्रकार की होती है—1 वस्तु से वस्तुध्वनि 2 वस्तु से अलंकार ध्वनि 3 अलंकार से वस्तुध्वनि और 4 अलंकार से अलंकार ध्वनि। ध्वनि के भेदोपभेदों का सामान्य रूप निम्नलिखित तालिका से समझा जा सकता है—



ध्वनि के भेदोपभेदों के विषय में आचार्यों के भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण हैं। आनंद वर्धन ने उसके प्रमुख पैंतीस भेद गिनाये हैं तो मम्मट के अनुसार ध्वनि 51 प्रकार की होती है। काव्यशास्त्र के अन्य आचार्य भी अपनी अपनी मान्यताओं के अनुसार उनका निरूपण करते चले हैं। ध्वनि-सिद्धाँत रस सिद्धांत से सबसे अधिक जुड़ा हुआ है अतः उसके भेद-प्रभेदों में रस ध्वनि के अंग और उपकरण स्वतः ही प्रतिध्वनित होकर विवेचित हुए हैं। इस दिशा में काव्य प्रकाशकार मम्मट के विचार अत्यंत प्रामाणिक माने जाते हैं जिन्हें ध्वनि प्रतिष्ठापक आचार्य के रूप में अभिनंदित किया गया है।

ध्वनि का पूर्ण लक्षण क्या है ?

आनंदवर्धन ने उस स्थान में ध्वनि नहीं मानी है जहाँ प्रतीयमान अर्थ या तो मलिनता के साथ भासित हो अथवा वह वाच्य का अंग बनकर उपस्थित हो। प्रतीयमान अर्थ के दो प्रकार हैं—1. स्फुट और 2. अस्फुट। जो स्फुट प्रतीयमान अर्थ शब्द

शक्ति और अर्थशक्ति से प्रकाशित होता है, वही ध्वनि का विषय होता है। यदि वह अभिधेय के अंगरूप में अवभासित हो तो वह ध्वनि के क्षेत्र में नहीं आता। जिस काव्य में वाच्यार्थ के कारण चारुता (सुन्दरता) का उन्मेष हो तथा उसी की पूर्ति के लिए व्यंग्यार्थ का उपयोग किया जाय, वहाँ ध्वनि काव्य नहीं होता। वाच्यार्थ की प्रधानता तथा व्यंग्यार्थ की गौणता में भी ध्वनि काव्य की सत्ता नहीं मानी जाती। सच तो यह है कि ध्वनि के सभी प्रकार के अवांतर भेदों में अंगीभूत व्यंग्य का स्फुट रूप में अवभासित होना ही ध्वनि का पूर्ण लक्षण है। यदि इस लक्षण की शर्तों में कहीं कुछ भी न्यूनता रहती है तो वह ध्वनि न होकर ध्वन्याभास हो जाता है। ध्वन्यालोककार आचार्य आनंदवर्धन ने ध्वनि के रूप-प्रकार तथा उसकी निबंधना के विविध पक्षों की विवेचना करने के पश्चात् ध्वनि का पूर्ण लक्षण निम्नलिखित रूप में निरूपित किया है—

सर्वेष्वेव प्रभेदेषु स्फुटत्वेनावभासनम्।
यद्व्यंग्यस्यांगिभूतस्य तत्पूर्वं ध्वनिलक्षणम्॥ 2।33॥

व्यंजकमुख से ध्वनि के भेद-प्रभेद

वर्ण पद और वाक्य-व्यंजना

आचार्य आनंदवर्धन ने व्यंग्यमुख द्वारा ध्वनि के भेद-प्रभेदों का विवेचन करने के पश्चात् व्यंजकमुख से भी उनका विश्लेषण किया है। व्यंजक शब्दों के प्रकार से ध्वनि के जो भेद किये जाते हैं उनमें वर्ण पदांश, पद, वाक्य, संघटना और महाकाव्य आदि परिगणित होते हैं। वस्तु, अलंकार और रस आदि ध्वनियों का जो विश्लेषण व्यग्यमुख की दृष्टि से किया जाता है। अविवक्षितवाच्य व्यंजक शब्द पद-प्रकाश और वाक्य-प्रकाश नाम से दो प्रकार का होता है। पद प्रकाश में पदों की व्यंजकता रहती है जो कहीं तो संक्रमितवाच्य रूप में और कहीं अर्थान्तर संक्रमित वाच्य रूप में व्यंजित होती है। अविवक्षित वाच्य का एक भेद तिरस्कृतवाच्य है जिसमें वाक्य प्रकाशता की व्यंजकता प्रयोजनीय है। कहीं-कहीं कवि प्रोढोक्तिमात्र से निष्पन्न अर्थशक्त्युद्भव में भी पद प्रकाशता रहती है तो कहीं स्वतः सम्भवी अर्थ शक्ति के उद्भव में भी उसका सद्भाव विद्यमान होता है। व्यंजक शब्दों की पदवाक्यप्रकाशता के अनेक उदाहरण प्रस्तुत कर आचार्य आनंदवर्धन ने उनका पृथक्-पृथक् विश्लेषण किया है जिनका सम्यक् प्रबोध ध्वन्यालोक-लोचन तृतीय उद्योत के अध्ययन और मनन द्वारा किया जा सकता है। यहाँ पर एक प्रश्न उपस्थित होता है कि जब ध्वनि 'काव्य विशेष' है तो उसकी पद प्रकाशता कैसे सम्भव है? इसका उत्तर देते हुए आनंदवर्धन लिखते हैं कि विशिष्ट अर्थ की प्रतिपत्ति का हेतु शब्दसंदर्भ विशेष काव्यविशेष है जिसका भाव पदप्रकाशता मात्र से ही उत्पन्न नहीं होता क्योंकि स्मारकत्व के कारण कई स्थलों पर तो पद अवाचक ही होते हैं। यदि ध्वनि के व्यवहार में वाचकतत्त्व ही प्रयोजक होता तो इस कथन में दोष की सम्भावना हो सकती थी जबकि वस्तुस्थिति इससे भिन्न है। तत्त्वसंगति तो यह है कि काव्यों की चारुत्व प्रतीति

हमारे शरीरों की भाँति संस्थान विशेष रूप समुदाय साध्य होने पर भी अन्वय व्यतिरेक से भागों में मानी जाती है अत: पदों का व्यंजकत्व ध्वनि-व्यवहार का विरोधी नही है। पदों के स्मारक होने पर भी पदमात्र से प्रतीत होने वाले ध्वनि के सभी भेदों में रम्यता रह सकती है। इस विषय में आचार्य आनंदवर्धन ने परिकर श्लोकों के उद्धरण द्वारा उचित ही लिखा है कि जिस प्रकार कोई कामिनी विशेष शोभा वाले किसी एक ही आभूषण विशेष से शोभित होती है, उसी प्रकार सुकवि की वाणी पदविशेष से द्योतित होने वाली ध्वनि से शोभनीय बनती हैं।[28] वर्ण और पद में दीप्त होने वाला असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य संघटना और प्रबंध में भी दीप्त होता है जो वाक्य प्रकाशता का व्यंजक पक्ष है।

वर्णव्यंजकता के विषय में आचार्य एकमत नहीं है। एक पूर्वपक्षी विचारक की मान्यता है कि जब वर्ण अनर्थक होते हैं तो उनसे द्योतन व्यापार किस प्रकार सम्भव है? इसका उत्तर देते हुए आनंदवर्धन लिखते हैं कि 'जब श, ष के साथ रेफ का संयोग तथा ढकार का बाहुल्य श्रृंगार रस में विरोधी तथा वीभत्स आदि रसों में दीप्तिकर सिद्ध होते हैं तो वर्णों की अनर्थकता तथा रसच्युति स्वीकार नहीं की जा सकती।[29] सच तो यह है कि अन्वय व्यतिरेक द्वारा वर्णों का द्योतकत्व प्रदर्शित होता है अत: काव्य विशेष में वर्ण व्यंजकता सभी दृष्टियों से वांछनीय है।

वर्णों की भाँति पदों और पदांशों में भी असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य का द्योतन सम्भव है। उनका सन्दर्भगत रसानुकूल प्रयोग अपनी व्यंजकता के कारण सहृदय जनों को रस प्रतीति कराने में सर्वथैव सक्षम हैं। वाक्यरूपअलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि 'शुद्ध' और 'अलंकार संकीर्ण' नाम से दो प्रकार की मानी गई है। उनकी विशुद्ध व्यंजना तथा अलंकृति सभी दृष्टियों से रस व्यंजक होती है।

संघटना और गुणाश्रयण

ध्वनि का असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य संघटना में भी भासित होता है। संघटना के प्रमुख तीन प्रकार है—असमासा, मध्यमसमासा तथा दीर्घसमासा। यह संघटना माधुर्य आदि गुणों के आश्रित रहकर रसों को व्यक्त करती है।[30] यहाँ एक विकल्प उपस्थित होता है कि गुणों और संघटना में ऐक्य (अभेद) है अथवा व्यतिरेक (भेद) व्यतिरेक की भी द्विविध स्थिति है जिसके अनुसार यह बात विचारणीय है कि क्या संघटना गुणाश्रित है अथवा गुण संघटना के आश्रित हैं? अभेद अथवा ऐक्य पक्ष का यह अर्थ है कि आत्मभूत अथवा आधेयभूत गुणों का आश्रय लेकर ही संघटना रसादि को अभिव्यक्त करती है। विचारणीय विषय यह है कि जब हम भेदपक्ष में संघटना को गुणाश्रित मानते हैं तो उससे उसकी गुणपरतत्र प्रकृति सिद्ध होती है न कि वह गुणरूप कही जा सकती है। इस प्रकार के विकल्पों की स्थिति देखते हुए यदि गुण और संघटना को एक ही तत्त्व माना जाय अथवा यह कहा जाय कि गुण संघटना के आश्रित होते हैं तो संघटना की भाँति गुणों में भी अनियतता आ जायगी। गुणों का माधुर्य प्रसाद प्रकर्ष तो करुण और विप्रलम्भ श्रृंगार में ही होता है जबकि ओज गुण के विषय रौद्र और अद्भुत आदि रस होते हैं।

माधुर्य और प्रसाद गुण रस, भाव और भावाभास के विषय बनते हैं जिनके नियम व्यवस्थित हैं परन्तु संघटना में यह नियम घटित नहीं होता क्योंकि शृंगार में भी दीर्घ समासा और रौद्र रस में भी असमासा संघटना प्रदर्शित होती है जिससे सिद्ध होता है कि गुण न तो संघटनास्वरूप हैं और न वे संघटना के आश्रित हैं। यदि संघटना गुणों का आश्रय नहीं है तो उनका आलम्बन किसे माना जाय, यह भी एक विचारणीय प्रश्न है। आचार्य आनंदवर्धन ने गुणों को अंगी रस रूप अर्थ का अवलम्बन माना है और अलंकारों को अंगों के आश्रित रहने वाले कटक कुण्डल आदि के तुल्य कहा है। यदि गुण शब्दाश्रित माने जायँ तो उनकी स्थिति अनुप्रास आदि के समान हो जायगी और वे अपने शौर्य धर्मों का त्याग कर शब्द शरीर के धर्म बन जायेंगे। उस स्थिति में वे उन्हें संघटना-रूप अथवा संघटनाश्रित मानना पड़ेगा। वस्तुतः रस आदि को वाक्य व्यंग्य मान लेने पर कोई भी नियत संघटना गुणों का आश्रय नहीं होती अतः जिनकी संघटना नियत नही है, ऐसे शब्द ही व्यंग्य विशेष से अनुगत होकर गुणों के आश्रय होते हैं।

यहाँ पर एक शंका यह की जाती है कि माधुर्य आदि गुण तो अनियत संघटना रूप भी हो सकते हैं किन्तु असमासा संघटना कदापि ओजगुण का आश्रय नहीं बन सकती। इसका सीधा उत्तर यही है कि असमासा संघटना भी ओजस् का आश्रय होती है जिसके अनेक उदाहरण काव्यग्रंथों में मिलते हैं। ओजगुण प्रकाशक रौद्र आदि रसों में भी असमस्त रचनाएँ होती हैं जिनमें किसी प्रकार की अचारुता की शंका करना व्यर्थ है। गुणों को चक्षु आदि की भाँति अपने-अपने विषयनियमित स्वरूप मानना कदापि व्यभिचार नहीं है अतः गुण और संघटना पृथक्-पृथक् हैं। गुण संघटना के आश्रित नहीं है अथवा गुण संघटनारूप ही हैं—यह मान्यता पर्याप्त अंश में युक्तिसंगत प्रतीत होती है।

संघटना की भाँति गुणों में भी अनियत विषयत्व होता है, यह मान्यता भी युक्ति संगत नहीं कही जा सकती यदि उनके लक्ष्य में व्यभिचार देखा जाता है तो उसका कारण कवित्वशक्ति का तिरोभाव है। काव्य में दोषोद्भावना के दो ही कारण हो सकते हैं जिन्हें कवि की 'अव्युत्पत्ति' तथा 'अशक्ति' कहा जाता है। अव्युत्पत्तिजनित दोष 'शक्ति' द्वारा तिरस्कृत हो जाने के कारण लक्षित नहीं होते जबकि अशक्तिकृत दोषों का झटिति प्रत्यय संभव है। इस विषय में एक परिकरश्लोक प्रसिद्ध है जिसमें कहा गया है कि कवि का अव्युत्पत्तिकृत दोष उसकी कवित्व शक्ति द्वारा ढक दिया जाता है किन्तु अशक्तिजन्य दोष तो झट से प्रतीत होने लगता है।[31] शक्ति द्वारा तिरस्कृतत्व अन्वयव्यतिरेक द्वारा निश्चित होता है। महाकवि कालिदास ने 'कुमारसम्भव' में शिवपार्वती का संभोगवर्णन करने में जो अनौचित्य प्रदर्शित किया है, वह कवि-शक्ति से तिरस्कृत होने के कारण ग्राम्यत्व अथवा अश्लीलत्व दोष का प्रतिभासक नहीं है। यदि शक्तिविहीन कवि उपर्युक्त विषय में उपनिबध्यमान संभोग शृंगार का वर्णन करता तो वह दोषरूप में ही प्रतीत होता। ऐसी स्थिति में गुण से व्यतिरिक्त होने तथा गुणरूप होने में संघटना का कोई

अन्य नियमन हेतु होना चाहिए जिसका उत्तर देते हुए आनंदवर्धन ने लिखा है कि वक्ता और वाच्य का औचित्य ही उसका नियमन-हेतु है।[32]

संघटना का औचित्य

आचार्य आनन्दवर्द्धन ने काव्यगत संघटना का विश्लेषण औचित्य विचार की प्रासंगिकता में भी किया है। उन्होंने 'वक्ता' पद की विवेचना करते हुए उसके अनेक विकल्प कल्पित किए हैं। वक्ता कवि अथवा कवि निबद्ध भी हो सकता है; कविनिबद्ध वक्ता रसभावरहित अथवा रसभावसमन्वित भी हो सकता है; रस कथानायक आश्रित अथवा विपक्षाश्रित भी हो सकता है और कथानायक धीरो आदि भेदों से भिन्न पूर्व अथवा तदनंतर रूप का भी हो सकता है। इसी प्रकार वाच्य भी ध्वनि रूप रस का अंग, रसाभास का अंग, अभिनेयार्थ अथवा अनभिनेयार्थ, उत्तम प्रकृति के आश्रित अथवा इतर प्रकृति के आश्रित अनेक प्रकार का हो सकता है। जब कवि रसभाव रहित वक्ता हो तो उसे रचना विषयक स्वतंत्रता है; कविनिबद्ध वक्ता की स्थिति भी वही रहती है किन्तु जब कवि अथवा कविनिबद्ध वक्ता रसभावसमन्वित हो और प्रधान रस के आश्रित होने के कारण ध्वनिरूप हो चुका हो तो वहाँ पर नियमत: असमासा अथवा मध्यमसमासा संघटनाएँ ही होंगी। करुण और विप्रलम्भ श्रृंगार में असमासा संघटना होती है; इसका उल्लेख किया जा चुका है। रौद्र आदि रसों के प्रतिपादन में मध्यमसमासा अथवा दीर्घ-समासा संघटनाएँ अनुकूल रहती हैं क्योंकि धीरोद्धत आदि नायकों के सम्बन्ध या व्यापार उपर्युक्त संघटनाओं द्वारा ही रसानुरूप सिद्ध होते हैं। सभी संघटनाओं में प्रसादगुण तो सर्वत्र व्यापक ही रहता है अत: उसे सर्वसाधारण तथा सर्वसंघटनासाधारण गुण भी कहा जाता है। उसके बिना असमासा संघटना करुण और विप्रलम्भ श्रृंगार रस को व्यक्त नहीं कर पाती और न मध्यमा संघटना ही प्रकाशित होती है। अत: प्रसादगुण का अनुसरण सर्वत्र वांछनीय हैं। ओजस् में भी प्रसादगुण की सत्ता विद्यमान रहती है। उसके कारण अभिप्रेत रस के अभिव्यंजन में चारुचमत्कृति आती है। इससे स्पष्ट है कि गुण से व्यतिरिक्त होने अथवा न होने में संघटना के औचित्य के कारण विषयनियम हैं अत: उसका भी रस व्यंजकत्त्व स्वत: सिद्ध है। इसकी अभिव्यक्ति में निमित्तभूत संघटना का नियमहेतु ही गुणों का नियत विषय है अत: गुणाश्रित रूप से संघटना की व्यवस्था में किसी भी प्रकार का विरोध नहीं है।

संघटना और काव्य भेद

वक्तृगत और वाच्यगत औचित्य के होने पर भी विषय के आश्रित दूसरा औचित्य संघटना का नियमन करता है। संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश में काव्य के जो अनेक भेद-प्रभेद परिकल्पित किए गए हैं, उनके आश्रय से भी संघटना विशेष प्रकार की होती है।[33] मुक्तक काव्यों में रसबंध में अभिनिवेश रखने वाले कवि रसाश्रित संघटना का औचित्य निर्वाह करने के प्रति सजग रहते हैं। मुक्तकों की भांति प्रबंध काव्य की रसनिबंधना भी

उपयुक्त संघटना की अपेक्षा रखती है। अमरुक कवि का मुक्तकपरक श्रृंगार रस वर्णन किस प्रबंध काव्य के रसबंध से कम है। उसकी संघटना सभी दृष्टियों से रसचर्वणीय है। संदानितक काव्य के विकट निबंधन में मध्यमसमासा और दीर्घसमासा संघटनाएँ औचित्य पूर्ण मानी गई हैं। प्रबंधाश्रित काव्यों में संघटना का प्रयोग प्रबंधौचित्य की अनुरूपता में ही किया जाता है। पर्यायबंध में असमासा और मध्यमसमासा संघटनाएँ रहती हैं। अर्थौचित्य के आश्रय से दीर्घसमासा संघटन में परुषा और ग्राम्यवृत्ति का परित्याग वांछनीय है। परिकथा में केवल इतिवृत्त निर्वाह होने से रसबंध का अभिनिवेश नहीं होता, अत: उसमें संघटनाविषयक स्वतन्त्रता है। प्राकृत में प्रसिद्ध खण्डकथा और संकलकथा में कुलक आदि के निबंधनाधिक्य के कारण दीर्घसमासा संघटना प्रयुक्त की जाती है। सर्गबंध काव्यों में रसौचित्य का ध्यान रखते हुए संघटना का प्रयोग करना शोभनीय समझा गया है। अभिनेयार्थ में रसोचित निबंधना के अनुसार संघटना का अभिनिवेश किया जाता है। आख्यायिका और कथा में गद्य निबंधना का प्राचुर्य रहता है अंत: वहाँ गद्यबंध के औचित्य के अनुरूप ही संघटना प्रयुक्त होती है।

गद्य-रचनाओं में छन्द विषयक नियमों का प्रतिबंध नहीं होता, अत: वहाँ विषयगत औचित्य ही नियामक तत्त्व होता है।[34] ऐसी रचनाओं में रसभाव रहित कवि अथवा कविनिबद्ध वक्ता संघटना के विषय में स्वतंत्र होता है किन्तु जब उसे रसभावसमन्वित रचना करना अभीष्ट हो तो उस पर संघटना के नियम घटित हो जाते हैं। आख्यायिका में अधिकांशत: मध्यमसमासा और दीर्घसमासा संघटनायें प्रयुक्त की जाती हैं क्योंकि विकट रचना के कारण ही गद्य बंध उत्कृष्ट और रमणीय बनता है। उसमें भी रसबंधोक्त औचित्यसंश्रित रचनाएँ ही शोभनीय होती हैं। यदि आख्यायिका अथवा गद्य करुण और विप्रलम्भ श्रृंगार के व्यंजक हों तो उनमें भी दीर्घसमासा संघटना का प्रयोग अवांछनीय है। नाटक आदि में असमस्त संघटना सुग्राह्य है जबकि रौद्र और वीर रस के वर्णन में समास बाहुल्य रहता है। विषयगत औचित्य अपने प्रमाण के अनुसार घटता-बढ़ता रहता है। अत: नाटक और आख्यायिका आदि काव्यभेदों में प्रयुक्त संघटना सापेक्ष सिद्धांत पर निर्भर है।

प्रबंध काव्यों की रसाभिव्यंजकता

प्रबंध काव्य भी रसादि का व्यंजक होता है जिसकी व्यंजकता का पहला हेतु तो यह है कि विभाव, स्थायीभाव, अनुभाव और संचारी भावों के औचित्य से ऐतिहासिक अथवा उत्प्रेक्षित (कल्पित) सुन्दर कथावृत्त का निर्माण किया जाय।[35] कथा निर्माण के क्रम में कथा की परीक्षा, उसका फलपर्यन्त आनयन रस के प्रति जागरण तथा कथोचित विभावादि के वर्णन में अलंकार आदि का औचित्य उसका विचारणीय पक्ष है। विभाव का औचित्य इस बात में है कि श्रृंगार-वर्णन के इच्छुक कवि ऐसी कथा का आश्रयण करे जिसमें ऋतुमाल्य आदि विभाव, लीला आदि अनुभाव और हर्ष, धृति आदि संचारी भाव स्पष्ट रूप से भावित हों। भाव का औचित्य प्रकृति के औचित्य से जुड़ा हुआ है। प्रकृति के

अंतर्गत उत्तम, मध्यम और अधम श्रेणियाँ तथा दिव्य और मानुष आदि चरित्र परिगणित होते हैं। उनका औचित्य तभी संघटित होता है जब पात्रों की प्रकृति और क्षमता के अनुरूप अत्यन्त ही स्वाभाविक क्रम से स्थायीभाव का औचित्य उपक्रमित किया जाता है। मनुष्य के आश्रय से दिव्य तथा दिव्य के आश्रय से मानवीय उत्साह आदि स्थायी भाव उपनिबध्यमान होकर अनुचित ही लगते हैं। उनका वर्णन करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि उनकी संघटना द्वारा विनेयजनों की प्रतीति कहीं खण्डित न हो जाय। किसी सामान्य राजा का एक ही छलांग में सातों समुद्र पार करना जैसे दिव्य कार्य व्यापार सौष्ठवयुक्त होने पर भी नियमतः नीरस ही होते हैं जिसका मूल हेतु उनका अनौचित्य है। यदि राम आदि अवतारी पुरुषों के चरित्र में असम्भाव्यमान घटनाएँ उपनिबद्ध की जाती हैं तो वे अपनी पूर्व प्रसिद्ध परम्परा से उपचित विश्वास द्वारा उपारूढ़ होने के कारण असत्य और अनुचित प्रतीत नहीं होती। यदि यह कहा जाय कि जब सातवाहन प्रभृति राजाओं के नागलोकगमन आदि कार्य जनश्रुति के रूप में प्रसिद्ध हैं तो फिर समस्त पृथिवी का भरण-पोषण करने में समर्थ राजाओं के अलोकसामान्य अतिशय प्रभाव के वर्णन में कौन-सा अनौचित्य है? आचार्य आनन्दवर्धन ने इस प्रकार की शंका का समाधान करते हुए लिखा है कि 'हम यह नहीं कहते कि राजाओं के अतिशय प्रभाव का वर्णन करना अनुचित है किन्तु केवल मनुष्य के आश्रय से जो उत्पाद्य (कल्पित) कथावस्तु रची जाती है, उसमें दिव्य औचित्य की योजना नहीं करनी चाहिए। पाण्डु जैसे दिव्यमानुष की कथा में उभय प्रकार के औचित्य का अभियोजन बुरा नहीं समझा जाता किन्तु जब सातवाहन आदि राजाओं के जनश्रुतिगत पूर्व वृत्तांत का अतिक्रमण करते हुए उन्हें और भी अधिक दिव्य और अत्युक्तिपूर्ण बना दिया जाता है तो वह वर्णन अनौचित्य युक्त हो जाता है। वस्तुतः अनौचित्य से बढ़कर रसभंग का अन्य कोई कारण नहीं है। तथा प्रसिद्ध औचित्य का अभियोजन रस की परा उपनिषद् है, जिसे विचारगत करके ही आचार्य आन्दवर्धन ने लिखा है—

अनौचित्यादृते नान्यद्रसभंगस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा ॥

औचित्य का सम्बन्ध नायक आदि पात्रों की चरित्र सृष्टि तथा उसके सम्यक् निर्वाह से भी है। नाट्यशास्त्र प्रणेता भरतमुनि तथा उनकी परम्परा में परिगणित होने वाले साहित्य दर्पणकार विश्वनाथ आदि आचार्यों ने नाटक के प्रख्यातवस्तुविषयत्त्व तथा प्रख्यात उदात्तनायकत्त्व आदि का जो अवश्य कर्त्तव्यरूप उपन्यस्त किया है उसका मूल प्रयोजन यही है कि उनके कारण कवि नायक के औचित्य-अनौचित्य के विषय में व्यामोह प्राप्त नहीं करता। उत्पाद्य कथावस्तुपरक नाटक आदि में अप्रसिद्ध तथा अनुचित नायकस्वभाव का वर्णन प्रमादपूर्ण ही होता है। क्योंकि वहाँ अनौचित्य की पर्याप्त सम्भावनाएँ विद्यमान हैं।

यहाँ एक शंका यह उत्पन्न होती है कि उत्साह आदि भावों के वर्णन में दिव्य, मानुष्य आदि औचित्य की परीक्षा भले ही की जाय किन्तु रत्यादि में उससे क्या प्रयोजन

है। भारतवर्ष में तो दिव्य रति आदि का वर्णन भी व्यवहार्य ही रहा है। इस शंका का समाधान करते हुए आनन्दवर्धन ने लिखा है कि औचित्य का अतिक्रमण तो सभी परिस्थितियों में दोष ही होता है। यदि अधम प्रकृति को औचित्य से उत्तम प्रकृति के श्रृंगार का उपनिबंधन किया जाय तो क्या वह उपहास्यास्पद न होगा ? भारत में श्रृंगार विषयक प्रकृत्यौचित्य तीन प्रकारों में प्रसिद्ध रहा है। जिसमें दिव्य औचित्य उपकारक नहीं माना गया है। इसका यह अभिप्राय नहीं कि हम श्रृंगार के विषय में दिव्य औचित्य को 'किंचित् अन्यत्' कहते हैं। सच तो यह है कि हमारे देश की सांस्कृतिक परम्परा के अनुसार राजा आदि उत्तम नायकों में श्रृंगार का उपनिबंधन दिव्याश्रित होकर ही शोभनीय माना गया है किन्तु यदि उनमें ग्राम्य श्रृंगार आदि का उपनिबंधन किया जाय तो वह परिहर्तव्य ही समझा जाना चाहिए। नाटक आदि दृश्य काव्य अभिनेयार्थ होते हैं अत: उनके अभिनय में यदि संभोग श्रृंगार आदि विषय प्रयुक्त किए जायँ तो वे असभ्यतावश अनौचित्यपूर्ण ही माने जाएँगे। वास्तविकता तो यह है कि दृश्य अथवा श्रव्य काव्यों में उत्तम प्रकृति वाले राजाओं का उत्तम प्रकृति वाली नायिकाओं के साथ ग्राम्य संभोग का वर्णन उसी प्रकार अनुचित, असभ्य और अशोभनीय है जिस प्रकार माता-पिता अथवा देवता आदि का संभोग वर्णन करना कदर्थनीय समझा जाता है। संभोग श्रृंग.र के वर्णन से सम्बन्धित सुरतक्रियाएँ भी अनेक प्रकार की होती हैं जिनके परस्पर प्रेम-प्रदर्शन के अनेक रूप हैं। उत्तम प्रकृति के विषय में उन सबका समायोजन कई स्थलों पर अश्लीलता का व्यंजक हो सकता है। यही बात उत्साह और विस्मय आदि स्थायी भावों के उपनिबंधन की है। महाकवियों की एतद्विषयक असमीक्ष्यकारिता दोषपूर्ण हीं मानी जाती है क्योंकि उसमें अनौचित्य का समावेश रहता है। कुमारसम्भव में कालिदासकृत संभोग-वर्णन शक्तितिरस्कृत होने के कारण भले ही अश्लील और अनुचित न माना जाय किंतु अशक्त कवियों का इस प्रकार का अनौचित्यपूर्ण साहस कदापि सुग्राह्य नहीं सिद्ध होता।

काव्यबंध के विशिष्ट नियम

प्राय: सभी काव्यशास्त्रियों ने भरतमुनि द्वारा प्रतिपादित काव्यबंध के नियमों के प्रति आस्था व्यक्त करते हुए उनका अनुगमन करना ही शोभनीय समझा है। उनका तो स्पष्ट मत है कि महाकवियों के प्रबंधों का पर्यालोचन तथा निजी प्रतिभा का सही उपयोग उसी बात में है कि उत्तरवर्ती कवि अपनी कृतियों में विभाव आदि के औचित्य-निर्वाह का पूर्ण ध्यान रखें। ऐतिहासिक अथवा कल्पित कथावस्तु औचित्य-विधान के माध्यम से ही सुष्ठु और समीचीन कही जाती है। यदि उसमें किसी प्रकार का स्खलन होता है तो वह कवि की अव्युत्पत्ति का ही निदर्शन माना जाता है। यदि कथा-मार्ग में किंचिन्मात्र भी अतिक्रमण होता है अथवा सिद्ध रस रूप में प्रख्यात रामायण आदि में रस के प्रतिकूल स्वेच्छाचारिता से काम लिया जाता है तो उसका कथाबंध अनुचित और विकृत हो सकता है। इस विषय में निम्नलिखित परिकर-श्लोक प्रसिद्ध है जिसमें कथा शरीर की समुचित रस-व्यवस्था पर विशेष बल दिया गया है—

कथाशरीरमुत्पाद्यवस्तु कार्यं तथा तथा।
यथा रसमयं सर्वमेव तत्प्रतिभासते।।

शास्त्रमर्यादावादी आचार्य 'निरंकुशाः कवयः' की उक्ति एक सीमा तक ही स्वीकार्य समझते हैं। वे प्रगतिशील होकर भी परम्परा के अनुगामी हैं। उनकी रुचि और प्रवृत्ति में यह बात जम ही नहीं पाती कि राम आदि धीरोदात्त नायक धीरललित रूप में प्रस्तुत किये जाएँ। ऐसा करना उन्हें रसभंग का हेतु प्रतीत होता है। ध्वन्यालोक की लोचन टीका में तो अभिनवगुप्त ने यहाँ तक लिखा है कि कालिदासकृत 'रघुवंश' में अज आदि राजाओं के विवाह आदि का वर्णन, सर्वसेनविरचित 'हरिविजय' में प्रियतमा के अनुनयन के अंग रूप में पारिजात का हरण तथा उनके द्वारा निर्मित अर्जुनचरित' में अर्जुन का पाताल विजय आदि प्रसंग इतिहास सम्मत नहीं हैं अतः उनकी कवि कृत योजना रस निष्पत्ति के मार्ग में बाधक ही समझी जानी चाहिए। वस्तुतः काव्य-सर्जना सभी दृष्टियों से रस परतंत्र है जिसकी सिद्धि के लिए यदि कवि को कहीं उत्प्रेक्षित कथा में परिवर्तन, संशोधन अथवा परिवर्द्धन करना अभीष्ट हो तो भी उसे रस के अंगी पक्ष की कदापि उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।

संधियों का समायोजन

प्रबंध काव्य की रसाभिव्यंजकता में मुख, प्रतिमुख, गर्भ, अवमर्श तथा निर्वहण संधियों तथा उपक्षेण आदि अंगों की संघटना भी हेतुरूप हैं। उनका सम्यक् अभिनिवेश रसाभिव्यक्ति में सहायक होता है। उनका समायोजन शास्त्र मर्यादा के परिपालन मात्र से न किया जाकर रसाभिव्यक्ति की अपेक्षा से किया जाना चाहिए। यों तो काव्य रचना और शास्त्र विवेचना का युगपद् सम्बन्ध है और वे पारस्परिक रूप में एक-दूसरे के प्रति उपस्कारक होते हैं किन्तु दोनों के हेतुरूप में कावयित्री और भावयित्री प्रतिभा का जो कार्यकारण भाव सन्निहित रहता है, वह अपनी प्रकृति की सीमा में भिन्न-भिन्न है। शास्त्रकवि और काव्य कवि की मनःस्थिति कदापि एक नहीं हो सकती। आदि कवि का करुणाविगलित आत्मसंवित् जिस श्लोक की रचना कर सका, वह अपनी परवर्ती भूमिका में ही शास्त्र विवेचना का विषय बना। व्याकरण और काव्यशास्त्र तो क्रमशः शब्दानुशासन और काव्यशंसन की दृष्टि से विरचित हैं जिसका अभिप्राय यह है कि भाषा तथा काव्यकृतियों का विशुद्ध मानक पक्ष निरूपण करना ही उनका प्रमुख प्रयोजन होता है। इस दृष्टि से प्रबंध काव्य की रसाभिव्यंजकता का विवेचन करते समय हमें इस बात का अवधानपूर्वक विचार रखना चाहिए कि काव्य अथवा नाटक में जिन संधियों और संयोगों की योजना मिलती है वह कितने अंश में तो रसाभिव्यंजना में उत्कर्षविधायिनी है और किन अंशों में वह शास्त्र स्थिति सम्पादन की इच्छा मात्र से अनुप्रेरित है। आचार्य आनंदवर्धन ने वेणीसंहार नाटक में प्रयुक्त प्रतिमुख सधि के 'विलास' संज्ञक एक अंग विशेष का उदाहरण देकर यही बात सिद्ध की है कि उसका

संघटन प्रकृत रस की निबंधना में उतना अनुकूल प्रतीत नहीं होता जितना वह भरतमुनि के शास्त्रीय अनुसरण के परम्परा पालन मात्र का संसूचक है।

अंगी रस का अनुसंधान

प्रबंध काव्य की रस व्यंजना में इस बात का ध्यान रखना भी आवश्यक है कि उसकी सुदीर्घ श्रृंखला में यथा प्रसंग रस की उद्दीप्ति तथा उसका प्रशमन भले ही होता चले किन्तु अंगी रस का अनुसंधान कहीं भी खण्डित न हो। जो कवि अपने रचनाबंध की रस योजना से विमुख होकर केवल अलंकार योजना की दिशा में विशेषोन्मुख हो जाते हैं वे एक प्रकार से अपनी काव्य शक्ति का दुरुपयोग ही करते हैं।

ध्वनि-द्योतन के इतर उपकरण

असंलक्ष्य क्रम व्यंग्य ध्वनि का क्षेत्र अत्यंत व्यापक है। उसके अंतर्गत सुप् तिङ्, वचन, सम्बन्ध, कारकशक्ति, कृत्, तद्धित और समास भी द्योतक बनकर उपस्थित होते हैं। निपात, उपसर्ग और काल आदि द्वारा भी वह अभिव्यक्त होती है। ध्वन्यालोक में इन सब को पृथक्-पृथक् तथा समुदाय रूप में उदाहृत करते हुए आचार्य आनंदवर्धन ने उनकी ध्वन्यात्मकता विवेचित की है। काव्यशास्त्रीय ग्रंथों में 'न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरय: छंद भिन्न-भिन्न प्रकरणों में व्याख्यात किया गया है जिसे ध्वनि मार्ग में संयोजित करते हुए आचार्य आनंदवर्धन ने सुप्, सम्बन्ध, वचन, तद्धित, निपात, तिङ्, कारक शक्ति, कृत्, तद्धित, समास, उपसर्ग और निपात आदि व्यंजकों द्वारा ध्वनि-मार्ग का परम शोभाशाली उदाहरण सिद्ध किया है। उपर्युक्त छन्द में व्यंग्य के अवभासक अनेक पदों का समवाय विद्यमान है जिसमें 'रावण' पद में अर्थान्तर संक्रमित वाच्य द्वारा व्यंजक पदों का उद्भासन हुआ है। इस प्रकार की ध्वनिगर्भित रचनाएं विरल मात्रा में ही उपलब्ध होती है। पूर्ण छंद निम्नलिखित है—

न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयस्तत्राप्यसौ तापसः
सोऽप्यत्रैव निहंति राक्षसकुलं जीवत्यहो रावणः।
धिग्धिग्छक्रजितं प्रबोधितवता किं कुम्भकर्णेन वा
स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनवृथोच्छूनैः किमेभिर्भुजैः ॥

उपर्युक्त छंद का ध्वनिद्योत्य निम्न लिखित रूपों में व्यक्त हुआ है—

मे यदरयः—सुप्, सम्बन्ध और वचक का अभिव्यंजकत्व।
तत्राप्यसौ तापसः—तद्धित् और निपात का अभिव्यंजकत्व।
सोऽप्य···रावणः—तिङ् कारक और शक्ति का अभिव्यंजकत्व।
धिग्धिक्शक्रजितः—कृत्, तद्धित, समास और उपसर्ग का ॥

अभिप्राय यह है कि वर्ण से लेकर प्रबन्ध पर्यन्त जिस ध्वनि-मार्ग का प्रसार और विस्तार परिलक्षित होता है। वह काव्य के आत्मतत्त्व के रूप में अभिव्यक्त होकर सहृदय जनों का चित्तानुरंजन करता है। वस्तुतः रसतता ही सहृदयता है जिसके द्वारा

संवेद्य शब्दों का रसादिसमर्पण सामर्थ्य उनकी चारुकता का व्यंजक सिद्ध होता है।[36]

रसविरोध के हेतु-तत्त्व

वर्ण से लेकर प्रबन्ध पर्यन्त रसादि के व्यंजक-स्वरूप का अभिधान करने के पश्चात् आचार्य आनंदवर्धन ने उनके विरोधी रूपों का भी विश्लेषण किया है। उनका कहना है कि जो कवि प्रबंध अथवा मुक्तक काव्य में रस निबंधना करना चाहते हैं उन्हें उनके विरोधिपरिहार का प्रयत्न अवश्य करना चाहिए अन्यथा उनका एक भी श्लोक सम्यक् रूप से रससम्पन्न नहीं हो सकेगा।[37] आनंदवर्धन ने रस-विरोधी पाँच हेतु माने हैं जिनका परिहार करने से ही कोई काव्य सरस और सजीव बन सकता है।

प्रस्तुत रस की अपेक्षा से जो विरोधी रस है, उससे सम्बन्ध रखने वाले विभाव, भाव और अनुभाव का परिग्रह रस-विरोध का प्रथम हेतु है। उदाहरणार्थ शांत और श्रृंगार विरोधी रस माने जाते हैं जिनके विभाव, भाव और अनुभावों का परिग्रह इस प्रकार समझा जा सकता है कि शांत रस के विभावों में उसके विभाव स्वरूप का निरूपण होने के पश्चात् तत्काल ही श्रृंगार आदि के विभावों का वर्णन कर दिया जाए। विरोधी रस के भावों के परिग्रह की स्थिति उस समय उपस्थित होती है जब प्रणय कलह कुपित कामिनियों के सम्मुख वैराग्यमूलक कथाओं द्वारा अनुनय किया जाता है। प्रणयकुपित प्रेयसी के प्रसन्न होने की स्थिति में जब किसी कोपावेशविवश नायक के रौद्र रस परक अनुभावों का वर्णन किया जाता है तो वहाँ विरोधी रस के अनुभाव का परिग्रह उपस्थित होता है।

रसभंग का दूसरा हेतु वह है जहाँ प्रस्तुत रस की अपेक्षा किसी अन्य सम्बद्ध वस्तु का वर्णन विस्तार पूर्वक किया जाता है। यदि कोई कवि विप्रलम्भ श्रृंगार में नायक की मनः स्थिति का वर्णन करते समय उसके मुख्य अंशों की उपेक्षा कर बैठे तथा यमक आदि अलंकारों की निबंधना में ही लीन होकर पर्वत आदि के आलंकारिक वर्णन को ही अपना प्रतिपाद्य विषय बना ले तो वहाँ पर रस विरोधिता का प्रसंग आये बिना नहीं रहता। रस विरोध का तीसरा हेतु असमय में ही रस का विच्छेद तथा असमय में ही रस का प्रकाशन है। असमय में रस का विच्छेद तब होता है जब किसी स्पृहणीय समागम वाली नायिका के साथ श्रृंगार रस का परिपोष होने की स्थिति में नायक द्वारा समागम विरोधी अन्य व्यापारों का वर्णन किया जाता है। ऐसा करने से असमय में ही श्रृंगार रस की विच्छित्ति हो जाती है। असमय में रस प्रकाशन का उदाहरण यह हो सकता है जब किसी प्रलय-काल कल्प संग्राम में विप्रलम्भ श्रृंगार का उपक्रम किये बिना राम जैसे नायक द्वारा अनौचित्य पूर्ण श्रृंगार कथाओं का अवतरण कराया जाय। सच तो यह है कि कवि की प्रवृत्ति का निबंधन प्रधानतया रसबंध में ही होना चाहिए। उसका एक उपाय इति वृत्त वर्णन अवश्य है किन्तु जब काव्य में इतिवृत्तवर्णन का प्राधान्य हो जाता है तो रस भाव की निबंधना क्षरित और स्खलित हो जाती है। आनंदवर्धन ने इसी दृष्टिकोण से रस विरोधिता के तृतीय हेतु का निरूपण किया है।

रस विरोध का चतुर्थ हेतु 'परिपोषप्राप्त रस का बार-बार उद्दीपन है। अपनी भाव सामग्री द्वारा परिपुष्ट एवं उपभुक्त रस का जब पुनः पुनः परामर्श किया जाता है तो उसकी स्थिति परिम्लानकुसुमकल्प हो जाती है। वृत्ति अथवा व्यवहार का अनौचित्य रस भंग का पंचम हेतु है। यदि कोई नायिका शृंगारोचित भावभंगिमा तथा हावभावों का प्रयोग किये बिना उनसे भिन्न अन्य वृत्तियों द्वारा नायक के प्रति अपने संभोग की अभिलाषा व्यक्त करे तो ऐसे वर्णन में रस-विरोधिता का प्रसंग घटित हो जाता है। भरतमुनि द्वारा प्रतिपादित कौशिकी वृत्ति तथा 'काव्या-लंकार' की उपनागरिका आदि वृत्तियों का अनौचित्य (अविषय में निबंधन) भी रस भंग का हेतु है। इस विषय में निम्नलिखित परिकर श्लोक प्रसिद्ध है जिसका मुख्य तात्पर्य यही है कि सुकवियों के व्यापार में मुख्य विषय रसादि है अतः उनके निबंधन में उन्हें सदैव सावधान रहना चाहिए।

मुख्या व्यापारविषयाः सुकवीनां रसादयः।
तेषां निबंधने भाव्ये तैः सदैवाप्रमादिभिः।।

आनंदवर्धन ने नीरस प्रबंध रचना को कवियों के लिए 'अपशब्द मात्र' कहा है अतः उससे दूर रहकर सदैव रससिद्ध कवीश्वरों के वाग्पथ का अनुसरण करना ही शोभनीय है—

नीरसस्तु प्रबंधो यः सोऽपशब्दो महान् कवेः।
सतेनाकविरेव स्यादन्येनास्मृतलक्षणः।।
पूर्वे विशृंखलगिरः कवयः प्राप्तकीर्तयः।
तान्समाश्रित्य न त्याज्या नीतिरेषा मनीषिणा।।
वाल्मीकिव्यासमुख्याश्च ये प्रख्याताः कवीश्वरा।'
तदभिप्रायबाह्योऽयं नास्माभिर्दर्शितो नयः।।

प्रतिभा गुण और काव्यसृष्टि

ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य का प्रपंच-विस्तार करते हुए आचार्य आनंदवर्धन ने उनके भेद-प्रभेदों से सम्बन्धित जिन विषयों का विवेचन किया है, वे शास्त्रज्ञान और प्रतिभा गुण की अनंतता के संसूचक हैं। 'कवि-प्रतिभा का प्राकर्ष्य प्राप्त कर काव्य-रचनाएँ अपना अनंत विस्तार करती हैं, यही बात 'अनेनानंत्यमायाति कवीनां प्रतिभागुणः द्वारा ध्वन्यालोक में प्रकारान्तर से कही गई है। उसका प्रसंगगत अभिप्राय यह है कि 'ध्वन्यालोक' में गुणीभूतव्यंग्यसहित जो ध्वनि-मार्ग प्रदर्शित किया गया है, वह कवियों के प्रतिभागुण के आनन्त्य का ही परिणाम है।[38] आनंदवर्धन ने काव्यनिष्ठ ध्वनि-भेद तथा कविनिष्ठ प्रतिभा की अनंतता के बीच जिस कार्यकारणभाव का समानाधिकरण नियोजित किया है, वह कुछ विचारकों को विसंगत लग सकता है जिसका समाधान करतु हुए उन्होंने लिखा है कि ध्वनि के भेद-प्रभेदों का ज्ञान प्रतिभा के आनन्त्य का कारण है अतः उनके कार्यकारणभाव को इस प्रकार समझ लेना चाहिए कि ध्वनि के

भेद-प्रभेदों के बीच विभूषित होने वाली कवियों की वाणी प्राचीन अर्थों से सम्बद्ध होने पर भी नवीन रूप धारण कर लेती है।[39] वाणी का वह नवनवोन्मेष शाली रूप कवि-प्रतिभा के आनन्त्य का ही प्रतिफल है जिसका अभिप्राय यह है कि वर्णनीय वस्तु का आनन्त्य और प्रतिभा का आनन्त्य पारस्परिक रूप में अनुस्यूत है। काव्य-ग्रंथों के अनुशीलन से पता चलता है कि अविवक्षित वाच्यध्वनि के विभिन्न प्रकारों में प्राचीन अर्थों का अनुगम उनके समाश्रयण से ही अभिनव एवम् मौलिक बनता है। इसका स्पष्टीकरण करते हुए आनंदवर्धन ने लिखा है—

यस्य रसादेराश्रयादयं काव्यमार्गः पुरातनैः कविभिः सहस्रसंख्यैरसख्यैर्वा बहुप्रकारं क्षुण्णत्वान्मितोऽप्यनन्तत‌ामेति । रसभावादीनां हि प्रत्येकं विभावानुभाव व्यभिचारि समाश्रयाद परिमितत्वम् । तेषां चैकेक प्रभेदापेक्षयापि तावज्जगद्वृत्तमुपनिबध्यमानं सुकविभिस्तदिच्छावशादन्यथा स्थितमप्यन्यथैव विवर्तते ।

अर्थात् रसादि के आश्रय से यह काव्यमार्ग सहस्रों अथवा असंख्य प्राचीन कवियों द्वारा अनेक प्रकार से अभ्यस्त होने के कारण परिमित होने पर भी अनंत बन जाता है। उसकी अनंतता विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के समाश्रयण द्वारा सम्भव है। संसार का व्यवहार सुकवियों की इच्छा के अनुसार विचित्र प्रकार से चित्रित होकर कुछ अन्य प्रकार में ही प्रदर्शित होता है।

आनंदवर्धन ने ध्वनि-मार्ग का समाश्रयण करते हुए कवि-प्रतिभा और कवि-वाणी का आनन्त्य सिद्ध किया है। उन्होंने बतलाया है कि शब्दशक्ति से उत्पन्न अनुरणनरूप व्यंग्य के समाश्रयण से विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि का नवत्व उसी प्रकार प्रकट होता है जिस प्रकार मधुमास में वृक्षों का नवीन उद्भव और प्रस्फुरण होता है।[40] कवि-प्रतिभा के बल पर पूर्वदृष्ट काव्यार्थ रस के परिग्रह से नवीन जैसे लगने लगते हैं। जिस प्रकार ध्वनि के व्यंग्य भेद के समाश्रयण से काव्यार्थों में नवीनता उत्पन्न होती है, उसी प्रकार व्यंजक व्यंग्यभाव में अनेक प्रकार की सम्भावनाएँ होने पर भी रसादि रूप अर्थव्यंजना के प्रति अधिक सावधान होकर चले क्योंकि रस, भाव, रसाभास तथा भावाभास रूप व्यंग्य और व्यंजकों में निर्दिष्ट वर्ण, पद, वाक्य, रचना और प्रबंध-विधान कवि की समाधिकल्प मनःस्थिति के कारण ही नवोन्मेषशाली बनते हैं। रामायण और महाभारत आदि प्रबंध काव्यों में संग्राम आदि की पुनःपुनः अनुसंधानात्मक नवीनता उपयुक्त मनःस्थिति का ही परिणाम है। उनका एक ही अंगी रस एक ही रूप में उपनिबंध्यमान होकर उनके अर्थ विशेष की शोभातिशयता का हेतु बना है। रामायण में करुण तथा महाभारत में शांत रस उन काव्यों की विवक्षा के अंगी विषय है जिनका निर्वाह आदि कवि बाल्मीकि तथा महामुनि वेदव्यास ने सफलतापूर्वक किया है। अभिप्राय यह है कि अंगी रस के आश्रय से रचित काव्य ही नवीन अर्थ का सुखद लाभ प्राप्त करते हैं जिनकी बन्धछाया अथवा अनुबंध शोभा रसानुरूप अर्थ विशेष का उपनिबंधन करती हुई अलंकारान्तर के अभाव में भी उत्कर्षशालिनी बनती है। ध्वन्यालोक में यही बात निम्नलिखित रूप में कही गई है:—

अंगिभूतरसाद्याश्रयेण काव्ये क्रियमाणे नवार्थलाभो भवति बन्धच्छाया च महती सम्पद्यते इति। अतएव च रसानुगुणार्थ विशेषोपनिबंधमलंकारान्तरविरहेऽपि छायातिशययोगि लक्ष्ये दृश्यते।

आचार्य आनंदवर्धन कवियों के प्रतिभा गुण के प्रबल प्रशंसक और समर्थक हैं। उन्होंने न केवल ध्वनिभेद के समाश्रयण से ही काव्यार्थों का नवत्व प्रतिपादित किया है अपितु वे गुणीभूत व्यंग्य के त्रिविध व्यंग्यों की अपेक्षा तथा समाश्रयण से भी काव्य-वस्तुओं की नवीनता विवेचित करते चले हैं। उनका तो स्पष्ट मत है कि ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य के समाश्रयण से काव्य के अर्थों का विराम ही नहीं होता क्योंकि उनकी अनंतता में कवियों के प्रतिभा गुण का आनन्त्य विद्यमान रहता है।[41] प्रतिभा गुण के कारण ही कवि जिस प्रकार की काव्यनिबंधना करते हैं, वह चाहे प्राचीन कवियों के प्रबंधों पर समाश्रित हो अथवा कवि की सर्वथा मौलिक उद्भावना का ही परिणाम हो; दोनों ही दृष्टियों से वरेण्य है। वस्तुतः ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य के अनुरूप शब्दों का संनिवेश तथा बंधशोभा का अभियोजन करना अर्थप्रतिभान द्वारा ही सम्भव है अन्यथा शब्दार्थ मात्र की सामान्य योजना में भी काव्यपद का व्यवहार होने लगेगा।

आनंदवर्धन के मतानुसार अर्थ का आनन्त्य केवल व्यंग्य अर्थ की अपेक्षा से ही नहीं होता अपितु वाच्य अर्थ की अपेक्षा से भी होता है। वाच्य का आनन्त्य देश, काल और अवस्था आदि विशेषों से जुड़ा हुआ है जो उनमें स्वभावतः उत्पन्न होते चलते हैं। जिस प्रकार चेतन और अचेतन पदार्थों में अवस्था, देश, काल और स्वरूप के भेदों से अनंतता होती है, उसी प्रकार स्वभावोक्ति से उपनिबंध्यमान वाच्यार्थों में भी काव्यार्थ की असीम अनंतता विद्यमान रहती है। एक ही स्थान पर पुनः पुनः वर्णित प्रसंग किस प्रकार अनुपरुक्त तथा नवनवार्थ निर्भर होते हैं, उन्हें प्रेयसी के हावभावों के साथ उपमित करते हुए विषम बाललीला में उचित ही कहा गया है—

न च तेषाँ घटतेऽवधिः न च ते दृश्यंते कथमपि पुनरुक्ताः
ये विभ्रयाः प्रियाणामर्था वा सुकविवाणीनाम्। (संस्कृत छाया)

अर्थात् प्रियाओं के विभ्रमों (हाव-भावों) तथा सुकवियों की वाणी के अर्थों की अवधि समाप्त नहीं होती; वे किसी भी रूप और प्रकार में पुनरुक्त प्रतीत नहीं होते।

चेतन और अचेतन पदार्थों के देशकाल और अवस्था रूपजन्य भेदों की गणना नहीं की जा सकती जिस प्रकार चेतन प्राणियों की बाल्यादि अवस्थाएँ तथा उन अवस्थाओं के भी अवान्तर अवस्थाभेद अज्ञात यौवना कुमारियों तथा मुग्धा नायिकाओं के मानस में उद्भूत होकर अचेतन वस्तुओं के माध्यम से काव्यार्थों के रूप में चित्रित किये जाते हैं, उसी प्रकार अचेतन वस्तुओं के देशकालकृत भेद उनकी विभिन्न अवस्थाओं में उपनिबंध्यमान होकर वर्णित होते हैं। देश देशान्तर व्याप्त वायु का संचरण, सलिल-कुसुमादि का वैविध्य, ग्रामारण्य आदि विविध क्षेत्रों से संवर्धित मानुषपशुपक्षी आदि जन्तुओं का साहचर्य तथा चेतन-अचेतन पदार्थों का वैशद्यपरक समायोजन प्रतिभा गुण के बल पर ही अनेक रूपों में काव्यार्थनिबद्ध होते चले आ रहे हैं देश, काल, अवस्था और

प्रकृति आदि भेदों से समस्त संसार की वस्तुओं की निबंधना ध्वनिभेदों और प्रतिभा गुणों से सम्पृक्त रहती चली आई है। काव्य-विषयों तथा वस्तु व्यंजनाओं का रूप केवल सामाण्यीकृत ही नहीं होता अपितु विशेषीकृत भी होता है। कवियों ने स्वानुभूत संवेदनाओं के साथ-साथ परानुभूत भावों का अभिव्यंजन करने में भी प्रतिभागुण का आश्रय लिया है। प्रतिभागुण के कारण ही वे अतीत, अनागत और वर्तमान पदार्थों का प्रत्यक्षीकरण करते हुए उन्हें उक्ति वैचित्र्य से अलंकृत करते हैं। कवियों का उक्तिवैचित्र्य एक प्रकार से वाच्यविशेष का प्रतिपादक वचन मात्र है जिसमें वाच्यवाचकभाव की प्रवृत्ति अविनाभाव से होती है। वस्तुतः उक्ति वैचित्र्य ही काव्य की नवीन निबंधना का प्रयोजक तत्व है। उसी के कारण काव्य के अर्थों में आनन्त्य का उन्मेष होता है। उपमा और श्लेष आदि अलंकार वर्ग उक्तिवैचित्र्य से उपनिबद्ध होकर शताधिक रूपों में प्रकाशित होते हैं। कहा जा सकता है कि जिस प्रकार 'मेरा' 'मेरा' की रट लगाते हुए व्यक्ति का समय बीत जाता है और देवाधिदेव जनार्दन उसे दृष्टिगोचर नहीं होते, उसी प्रकार सुधीजन जैसे-जैसे काव्यार्थों का निरूपण करते चलते हैं, उनकी अनंतता भी बढ़ती ही जाती है। वाच्यार्थों की निबंधना का यह विषय अवस्था और देशकाल आदि प्रत्ययों से संलग्न होता हुआ भी रसादि के आश्रय से शोभित होता है जिसका उल्लेख आचार्य आनंदवर्धन ने निम्नलिखित कारिकाओं में किया है:—

अवस्थादि विभिन्नानां वाच्यानां विनिबंधनम्।
भूम्नैव दृश्यते लक्ष्ये तत्तु भाति रसाश्रयात्।
रसभावादिसम्बद्धा यद्यौचित्यानुसारिणी।
अन्वीयते वस्तुगतिर्देशकालादिभेदिनी ॥
वाचस्पति सहस्राणां सहस्रैरपि यत्नतः।
निबद्धा सा क्षयं नैति प्रकृतिर्जगतामिव ॥[42]

उपर्युक्त कारिकाओं का तात्पर्य यही है कि अवस्था आदि विभिन्न वाच्यों का निबंधन रस के आश्रय से ही शोभित होता है। अतः कवियों का कर्त्तव्य है कि वे रस और भावों से सम्बद्ध, औचित्य की अनुगामिनी तथा देशकालादि का भेदन करने वाली वस्तुगति का अनुसरण करें। वह वस्तुगति सहस्राधिक वाचस्पतियों द्वारा यत्नपूर्वक निबद्ध की जाने पर भी प्रकृति की भाँति सदैव अक्षीण ही रहती है।

काव्यार्थसंवाद और अर्थ प्रतिपत्ति

विवेचन के इसी प्रसंग में आचार्य आनंदवर्धन ने 'काव्यार्थसंवाद' का भी निरूपण किया है। उनके शब्दों में 'संवादो हि काव्यार्थस्योच्यते यदन्येन काव्यवस्तुना सादृश्यम्' अर्थात् अन्य काव्यवस्तु के साथ सादृश्य ही काव्यार्थ का संवाद कहलाता है। यह सादृश्य शरीरियों के प्रतिबिम्बवत् आलेख्याकारवत् तथा तुल्यदेहिवत् तीन प्रकार का होता है।[43] उनमें पहला अनन्यात्मरूप, दूसरा तुच्छात्मरूप और तीसरा प्रसिद्धात्मरूप होता है।[44] प्रतिबिम्बतुल्य काव्यवस्तु सुमति के लिए त्याज्य है क्योंकि वह अनन्य-

रूप तात्विक शरीर से शून्य होती है, आलेख्यकल्प काव्यवस्तु अन्य रम्य शरीरान्तर युक्त होती हुई भी अपनी तुच्छात्मरूपता के कारण त्याज्य है। इनमें तृतीय काव्यवस्तु कवि द्वारा त्याज्य नहीं समझी जाती क्योंकि वह विभिन्न प्रकार के कमनीय शरीर के सद्भाव होने पर संवादयुक्त बनती है। शरीरी अन्य शरीर के सदृश होकर भी 'एक ही है' 'ऐसा नहीं कहा जा सकता। अधिकांशतः मेधावी जनों के काव्यार्थसंवाद ही सुग्राह्य माने जाते हैं क्योंकि वे अपनी नई-नई व्युत्पत्तियों द्वारा उनकी योजना करते रहते हैं। आनंदवर्धन ने उसी काव्यार्थसंवाद की प्रशंसा की है जो अन्य आत्मा के सद्भाव में अन्य की पूर्व-स्थिति का अनुकरण करने वाला तथा किसी कृशांगी रमणी के शशिकांतितुल्य मुख की शोभा का साधारणधर्मी होता है। इस विषय में उनकी निम्नलिखित कारिका उल्लेख-नीय है---

आत्मनोऽन्यस्य सद्भावे पूर्वस्थित्यनुयाय्यपि।
वस्तु भातितरां तन्व्याः शशिच्छायमिवाननम्॥[45]

आनंदवर्धन ने उन स्थितियों का भी निरूपण किया है जिनमें पदार्थरूप वस्त्वन्तरसदृश काव्यवस्तुओं में दोष नहीं रहता। उनकी मान्यता है कि अक्षरादि की रचना की भाँति जहाँ पुरातनी वस्तु रचना की जाती है, वह नूतन काव्यवस्तु के स्फुरित होने पर दूषित नही होती।[46] वस्तुतः वाचस्पति भी अपूर्व अक्षरों और पदों की रचना करने में सक्षम नहीं होते, अतः वे भी इस मत का समर्थन करते हैं कि पुरानी काव्य रच-नाएँ भी नवीन काव्यवस्तु की स्फुरणा में हेतु बनती है। श्लेषादिसंभूत अर्थतत्व अपनी नई सूझ बूझ के कारण किस प्रकार प्रकार रम्य और चमत्कार प्राण हो सकते हैं, इसके अनेक उदाहरण उत्कृष्ट काव्य रचनाओं के अर्थसंवादों में भरे पड़े हैं।

आनंदवर्धन ने उन परिस्थितियों का भी निरूपण किया है जिनमें काव्य-रचना करता हुआ कोई श्रेष्ठ कवि निंदा का पात्र नहीं बनता। उन स्थितियों की प्राणचेतना तो नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा में निहित है जो सभी प्रकार से हृदय संवाद कराने के काव्यार्थसाधन जुटाती रहती है। श्रेष्ठ कवि पूर्वछाया से अनुगत वस्तु को भी ऐसी विधि से उपनिबंधित करता है जो विवक्षित व्यंग्य तथा वाच्यार्थ के समर्पण में समर्थ शब्द रचना को शोभातिशायी बनाती है। ऐसे कवियों की विविधार्तमयी वाणी अमृत-तुल्य रस का प्रस्रवण करती हुई उन्हें अक्षय कीर्ति से अलंकृत करती है। महाकवियों का काव्यत्व इसी बात में निहित है कि वे अक्लिष्ट, रसाश्रयोचित् तथा गुणालंकार शोभित रचनाओं में प्रवृत्त हों जिनमें ध्वनिकाव्य का कल्पतरु सदैव सुखसौरभ से आमोदपूर्ण बना रहे। इस विषय में ध्वन्यालोक का निम्नलिखित छंद उल्लेखनीय है:—

प्रतायन्तां वाचो निमितविविधार्थामृतरसा
न सादःकर्तव्यः कविभिरनवद्ये स्वविषये।
परस्वादानेच्छाविरतमनसोवस्तु सुकवेः
सरस्वत्येवैषा घटयति यथेष्टं भगवती।[47]

संदर्भ

1. आनन्दवर्धन : ध्वन्यालोक, प्रथम उद्योत, 1
2. आनंदवर्धन : ध्वन्यालोक, 1-2
3. काव्यस्य हि ललितोचित सन्निवेशचारुण: शरीरस्येवात्मा सारारूपतया स्थित: सहृदयश्लाध्यो योऽर्थस्तस्य वाच्य: प्रतीयमानश्चेति द्वौ विभेदौ।
(ध्वन्यालोकलोचन—1-2)
4. उपमैका शैलूषी सम्प्राप्ता चित्रभूमिकाभेदान्।
रंजयति काव्यरंगे नृत्यन्ती तद्विदां चेत:।
5. प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यभिवांगनासु।।
(ध्वन्यालोक—1-4)
6. मानिषाद प्रतिष्ठां त्वमगम: शाश्वती: समा।
यत्क्रौंच मिथनादेकमवधी: काममोहितम्।।
7. आनंदवर्धन: ध्वन्यालोक, प्रथम उद्योत, कारिका 6।
8. वाग्धेनुर्दुग्ध एतं हि रस यद्बाल तृष्णया।
तेन नास्य सम: सस्याद् दुह्यते योगिभिर्हि स:।।
9. अभिनवगुप्त: ध्वन्यालोकलोचन, 1/10
10. आनंदवर्धन : ध्वन्यालोक, 1/11/12
11. आनंदवर्धन : ध्वन्यालोक: 1/13
12. ध्वन्यालोक की लोचनटीका, 2/5
13. आनंदवर्धन : ध्वन्यालोक : 1/18
14. ध्वन्यालोक 2/5
15. ध्वन्यालोक लोचन, 2/5 की व्याख्या,
16. आनंदवर्धन-ध्वन्यालोक 2/15
17. वही, 2/16
18. आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोक, 3/24
19. स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शांताद्भाव: प्रवर्तते।
पुनर्निमित्तापाये तु शांत एव प्रलीयते।।
20. आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोक 3/30
21. ध्वन्यालोक, 2/21
22. ध्वन्यालोक द्वितीय उद्योत, 22वीं कारिका
23. वही, 23वीं कारिका
24. ध्वन्यालोक द्वितीय उद्योत, 24वीं कारिका की वृत्ति

25. ध्वन्यालोक, 2/26
26. आनंदवर्धन : ध्वन्यालोक, 2/28
27. वही, कारिका-वृत्ति ।
28. विच्छित्तिशोभिनैकेन भूषणेनेव कामिनी ।
पदद्योत्येन सुकवेर्ध्वनिना भाति भारती ।। ध्वन्यालोक, 3/1 परिकर श्लोक
29. आनंदवर्धन : ध्वन्यालोक, तृतीय उद्योत, कारिका 3/4
30. वही, 5-6
31. अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कविः ।
यस्त्व शक्तिकृतस्तस्य स झटित्यवभासते ।।
32. आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोक, तृतीय उद्योत, षष्ठ कारिका
33. आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोक, तृतीय उद्योत, सप्तम कारिका
34. वही, 3/8
35. आनंदवर्धन, ध्वन्यालोक: 3/10
36. रसज्ञतैव सहृदयत्वमिति । तथाविधैः सहृदयैः संवेद्यो रसादिसमर्पणसामर्थ्यमेव नैसर्गिकं शब्दानां विशेष इति व्यंजकत्वाश्रय्येव तेषां मुख्यं चारुत्वं ।
(ध्वन्यालोक 3/16 की व्याख्या)
37. आनंदवर्धन: ध्वन्यालोक, 3-17
38. आनंदवर्धन:ध्वन्यालोक, 4/1
39. वही, 4/2
40. आनंदवर्धन:ध्वन्यालोक, चतुर्थ उद्योत, चतुर्थ कारिका
41. आनंदवर्धन:ध्वन्यालोका 4/6
42. आनंदवर्धन:ध्वन्यालोक, चतुर्थ उद्योत कारिका 8/10
43. आनंदवर्धन:ध्वन्यालोक, 4/12
44. वही, 4/13
45. वही, 4/14
46. वही, 4/15
47. वही, 4/16

मम्मट : 'काव्यप्रकाश'

कवि-सृष्टि का लोकोत्तर वैशिष्ट्य

आचार्य मम्मट ने अपने काव्यप्रकाश के प्रारम्भिक मंगलाचरण में जिस कवि-भारती का जय जयकार किया है, वह अपने दिव्य गुणों के कारण सर्वोत्कर्षशालिनी और अद्वितीय है। उसके लिए निर्दिष्ट विशेषण कवि-सृष्टि के लोकोत्तर वैशिष्ट्य तथा वैचित्र्य का अभिव्यंजन करते हैं। मम्मट ने सर्वप्रथम उसे नियतिकृतनियमों से रहित माना है जिसका यह अभिप्राय है कि वह पद्मत्व आदि असाधारण धर्मों अथवा अदृष्ट या धर्माधर्मादिरूप लक्षणों से सम्पृक्त रहती है। उनके द्वारा प्रयुक्त 'नियति' शब्द दो अर्थों का व्यंजक है। प्रथम अर्थ 'नियम्यन्ते सौरभादयो धर्मा अन या इति नियति रसाधारणो धर्म : 'पद्मत्वादि रूप:' शब्दावली में व्यक्त किया जा सकता है जिसके अनुसार नियति शब्द उस पद्मत्वादि रूप असाधारण धर्म का वाचक है जिसके द्वारा सौरभ आदि धर्मों का नियंत्रण किया जाता है। नियतिकृत नियम ब्रह्म की सृष्टि में घटित होता है जहाँ 'यत्र पद्मत्वं तत्र सौरभविशेष:' की व्याप्ति रहती है जबकि कवि-सृष्टि में इस प्रकार का कोई नियम नहीं है। यदि काव्य सृष्टि में यह नियम घटित होता तो रमणी के मुख में कमल सौरभ, नेत्रों में पद्मसौन्दर्य तथा शरीर में कंजकांति वर्णित नहीं की जाती। कवि-सृष्टि अतिरंजना में वियोगिनी नायिकाओं के प्रसंग में शुभ्रशीतल ज्योत्स्ना में वह्निज्वाला तथा मन्द्रमेघध्वनि में भयानक गर्जन-तर्जन के जो वर्णन किये जाते हैं, वे कवि-सृष्टि का नियतिकृतनियम राहित्य ही सिद्ध करते हैं।

नियति शब्द का दूसरा अर्थ 'अदृष्ट' या 'धर्माधर्म है। विधाता की सम्पूर्ण सृष्टि 'अदृष्ट' में सिद्धान्त पर स्थित है जिसमें सभी प्राणी अदृष्ट अथवा पूर्वकृत कर्मों के अनुसार सुख-दु:ख भोगते हैं। काव्य-सृष्टि में इस प्रकार का नियम घटित नहीं होता क्योंकि उसका निर्माता कवि अपने प्रजापतित्व में अपनी अभिरुचि के अनुरूप रचना करने में स्वतंत्र और सक्षम है।[1] उनके लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह अपनी कल्पित कथाओं में अदृष्ट अथवा धर्माधर्म के अनुसार ही पात्र योजना करे। महाकवियों ने कहीं तो अपने पात्रों अथवा नायक-नायिकाओं को भयंकर संघर्षों के दलदल में उलझा दिया है तो कहीं वे 'स्वर्ग प्राप्ति-रनेनैव दैहेन वरवर्णिनी' जैसी उक्तियाँ लिखने में भी पीछे नहीं रहे हैं। इस प्रकार की निरपेक्ष स्वतंत्रता तथा स्वायत्तता के कारण ही उनकी सृष्टि

'नियतिकृतनियमरहिता' मानी गई है। मम्मट द्वारा निरूपित कवि-सृष्टि का यह अनियतिचक्र इतना अधिक प्रबल और वेगशील है जिसकी व्यावहारिकता और यथार्थता का परीक्षण काव्य-रचनाओं के मूल्यांकन द्वारा ही किया जा सकता है।

मम्मट ने कवि-सृष्टि की दूसरी विशेषता उसकी 'आह लादैकमयता' मानी है जो आनन्दवादी रसविवेचकों तथा व्यंजनावादी आचार्यों की मान्यताओं ने अनुरूप है। भारतीय काव्यशास्त्र की रसकल्पना में आनन्दतत्व का समावेश जिस रूप में किया गया है वह काव्य का सकलप्रयोजनमौलिभूत तत्व है। लौकिक मनोभाव सुखदु:खमूलक होते हैं किन्तु वे ज्यों ही काव्यगत विभावानुभावों तथा संचारी भावों का संयोग प्राप्त कर लेते हैं, वे आनन्दमय बनकर रसनिष्पत्ति करा देते हैं। लौकिक जीवन में अनिष्टकारी समझे जाने वाले शोक आदि मनोभाव जब करुण आदि रसों के स्थायी भाव बनकर व्यक्त होते हैं तो उनकी रस चर्वणा आनन्दात्मिका हो जाती है।[2] 'उत्तररामचरित' नाटक के रचयिता महाकवि भवभूति ने 'अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयं[3] की प्रतिज्ञा के साथ-साथ 'एको रसो करुण एव' की अवधारणा में काव्य का 'आह्लादत्व' ही ध्वनित किया है। जब लौकिक दु:खात्मकभाव भी काव्यसंश्रय से लोकोत्तर आह्लादजनक हो जाते हैं तो सुखात्मक भावों की आनन्दयता तो और भी अधिक सुगम और सुकर है। वस्तुतः कवि-सृष्टि की ह्लादमयी प्रकृति कपोलकल्पना न होकर सर्वमान्य सत्य है जिसकी तत्वसंगति काव्यरचनाओं की आस्वादन-प्रक्रिया द्वारा प्रमाणित की जा सकती है।

कवि-सृष्टि की ह्लादमयता में 'एक' शब्द का प्रयोग साभिप्राय और सप्रयोजन है। अमरकोशप्रतिपादित 'संख्याः संख्येये ह्याद्वादशत्रिषु' के अनुसार द्वादशपर्यन्त संख्यावाचक शब्द संख्या के अतिरिक्त संख्येय वस्तु के भी वाचक होते हैं। 'ह्लादैकमयी' पद में 'एक' शब्द संख्येय का वाचक है। उससे 'तत्प्रकृतवचने मयट्' सूत्र के अनुसार मयट् प्रत्यय होकर 'एकं वस्तु प्राचुर्येण प्रस्तुतं यस्यां सा एकमयी पद उपपन्न होता है। ह्लादेन एकमयी इति ह्लादैकमयी' समास के अनुसार उसका अर्थ 'आनन्दमात्र परिच्छिन्न स्वरूपा है जिसका यह तात्पर्य है कि सांख्य मत के अनुसार विधाता की सृष्टि-रचना, सुख, दुख तथा मोह स्वभावमूला है जबकि कवि-सृष्टि एकमात्र आनन्दस्वभावा है। कवि-सृष्टि की यह विचित्रता अनेक कवियों और आचार्यों द्वारा प्रतिपादित की गई है।

मम्मट के अनुसार कवि-सृष्टि की तीसरी विशेषता 'अनन्य परतंत्रता' है। विधाता की सृष्टि प्रकृति अथवा समवायी, असमवायी तथा निमित्त कारणों के अधीन हैं जबकि कवि-सृष्टि के लिए कवि 'प्रतिभा' के अतिरिक्त अन्य किसी हेतु की आवश्यकता नहीं है। अपनी स्वाधीन प्रकृति के कारण ही वह 'अनन्य परतंत्रा' कही जाती है। 'परतंत्र' का अर्थ 'पराधीन' न लेकर केवल 'अधीन' ही लेना चाहिए ताकि अनन्य परतंत्रा का आशय अनन्य अधीना अर्थात् 'स्वाधीना' ग्रहण किया जा सके। यह अर्थ 'निरंकुशाः कवयः' के निकट स्वतः ही प्रस्तुत हो जाता है।

मम्मट ने कविसृष्टि को 'नवरसरुचिरा' भी कहा है जिसका अभिप्राय यह है कि विधाता की सृष्टि में मधुर, अम्ल, लवण, कटु, कषाय और तिक्त नामक षड्रस होते हैं

जबकि कविसृष्टि में शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत और शांत संज्ञक नवरस कल्पित किये गये हैं। कतिपय लौकिक रसों में तो कटुता तथा अप्रियता भी रह सकती है परन्तु काव्य-रसों के विषय में यह कथन अपवादस्वरूप है। अपनी रस्यमानता के कारण ही कवि-सृष्टि रुचिर समझी जाती है। उसकी नवरसरुचिरा प्रकृति को ध्यान में रखकर ही एक हिन्दी कवि ने लिखा है—

विधि तें कवि सब विधि बड़े, यामें संसय नाहिं।
षट रस विधि की सृष्टि में, नवरस कविता मांहि॥

मम्मट ने अपने इष्ट देवता के रूप में जिस कवि भारती का स्मरण, चिंतन और अभिनंदन किया है, वह अखिल वाङ्मय की अधिष्ठात्री देवी है। कवि के अन्तः करण में प्रतिमा रूप में अवस्थित होकर वह उससे जिस प्रकार की काव्यरचना कराती है, वह निश्चय ही ब्रह्मा की सृष्टि से भिन्न प्रकृति वाली है। मम्मट ने उसकी लोकोत्तरता, अनुपमता और विलक्षणता का ध्यान रखकर ही उसके गुणचतुष्ट्य का वैशिष्ट्य निम्न-लिखित आर्याछंद में निरूपित किया है—

नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्य परतंत्राम्।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति॥[4]

काव्य के प्रयोजन

काव्य-प्रयोजनों के प्रकार

काव्य प्रकाशकार मम्मट ने काव्य के जिन प्रयोजनों का निरूपण किया है, वे कविनिष्ठ तथा सहृदयविष्ट होने के साथ-साथ काव्यशास्त्रनिष्ठ भी हैं। काव्यशास्त्र में काव्य के स्वरूप-विश्लेषण से सम्बन्धित गुण, दोष और अलंकार आदि विषय काव्य की रसरूपिणी फलसिद्धि के साधन अथवा कारण माने जाते हैं अतः उनमें तथा काव्य के प्रयोजनों में कोई अन्तर नहीं होता। मम्मट ने उपर्युक्त तथ्य को ध्यान में रखकर ही काव्य प्रयोजनों का निरूपण किया है। उसके मतानुसार यशप्राप्ति, अर्थोपार्जन लोक-व्यवहारबोध, शिवेतर क्षति (अनिष्ट नाश), सद्यः परनिर्वृति तथा कांतासम्मित उपदेश आदि विषय काव्य के प्रयोजन है जिनकी सिद्धि के अनेक उदाहरण काव्यजगत् में प्रख्यात हैं[5] अपनी काव्यरचनाओं द्वारा महाकवि कालिदास ने राजकीय सम्मानपूर्वक यश प्राप्त किया तो महाकवि धावक ने 'रत्नावली' नाटिका लिखकर महाराज श्रीहर्ष के नाम से उनकी प्रसिद्धि की जिसके लिए उन्हें प्रचुर धनराशि मिली। काव्य के पठन-पाठन तथा श्रवण-दर्शन से हमें सांसारिक विषयों का भी व्यावहारिक ज्ञान होता है जिसके लिए काव्य के वर्ण्य विषय में तथा कथानुबंध प्रयोजनीय हैं। सच पूछा जाय तो काव्य हमारे व्यष्टिपरक जीवन के साथ-साथ लोक जीवन की भी सरस अभिव्यक्ति है अतः व्यक्ति और लोक से सम्बन्धित सभी प्रकार के आचार-विचार, जीवन-मूल्य, आदान-प्रदान तथा क्रिया-कलाप उसके अन्तर्गत स्वतः समाविष्ट रहते हैं। लोकव्यवहार के ज्ञान का सरस साधन एकमात्र

काव्य ही है। यदि ऐसा नहीं होता 'काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम्' की लोकोक्ति प्रसिद्ध नहीं होती।

काव्य-रचना और काव्य-भावना कवि तथा सहृदय की तन्मयता और सत्त्वोद्रेकता से जुड़ी हुई है जिनके द्वारा अलौकिक आनन्द की अनुभूति की जाती है। मम्मट ने इसी दृष्टिकोण से 'सद्यः परनिर्वृति' को काव्य का एक विशेष प्रयोजन स्वीकार किया है। यों तो आनन्द-प्राप्ति के अनेक साधन हो सकते हैं किन्तु जितनी शीघ्रता, सहजता और सुगमता के साथ काव्य द्वारा उसकी उपलब्धि सम्भव है; वह अन्य उपायों से सुसाध्य नहीं है। रसवादी आचार्यों ने इसी प्रयोजन की गरिमा से काव्यानंद को अलौकिका वेद्यान्तर स्पर्श शून्य तथा सकलप्रयोजनमौलिभूत कहा है। अनिष्टकारी अमंगलों का निवारण तथा नाश भी काव्य का एक उल्लेखनीय प्रयोजन है जिसे मम्मट ने 'शिवेतर क्षति' के रूप में प्रस्तुत किया है। काव्य द्वारा सभी प्रकार के कल्याण सिद्ध होते हैं जिनमें शारीरिक मान- सिक तथा आध्यात्मिक शिवत्व सम्मिलित हैं। काव्य के वर्चस्व के सम्मुख अनिष्टकारी तत्त्व ठहर ही नहीं सकते। मम्मट ने इसी प्रसंग में मयूर भट्ट का उपाख्यान उल्लिखित किया है जिन्होंने सूर्य की उपासना में 'सूर्यशतक' नामक स्तुतिपरक काव्य लिखकर कुष्ठ रोग से छुटकारा पाया था।

मम्मट के मतानुसार काव्य का अंतिम प्रयोजन 'कांता सम्मित उपदेश है। इसके मूल में काव्य का कर्त्तव्याकर्त्तव्यबोधक आदशर्वादी दृष्टिकोण निहित है। भारतीय जीवन दर्शन में पुरुषार्थचतुष्टय का महत्त्व तथा ऊर्ध्वगामी जीवन की उपयोगिता जिस रूप में विवेचित है, वह इस प्रयोजन के अन्तर्गत स्वतः ही विद्यमान है। यों तो वेदशास्त्र तथा पुराण-इतिहास भी जीवन के कर्त्तव्य बोधों की विवेचना करते हैं किन्तु काव्य की उपदेश-प्रणाली उनसे भिन्न है। वेदशास्त्रों की उपदेश प्रणाली शब्द प्रधान होने के कारण प्रभु-सम्मित कहलाती है क्योंकि उसमें विधिनिषेधों के आदेश राजाज्ञा-तुल्य दिये जाते हैं। इतिहासपुराणों की प्रणाली सुहृद्सम्मित उपदेशतुल्य है जिसमें शब्द की अपेक्षा अर्थ की प्रधानता रहती है तथा उनके द्वारा प्रतिपादित जीवन मूल्यों को हम मित्रतुल्यपरामर्श के रूप में ग्रहण करते हैं। मम्मट द्वारा प्रतिपादित काव्य के प्रयोजनी भूत कांतासम्मित उपदेश में शब्द और अर्थ की गौणता तथा रस की प्रधानता होती है जिसे प्रयोजनगत रखते हुए मम्मट ने उसे कांतासम्मित कहा है। इसका मुख्य आशय यह है कि जिस प्रकार प्रणयभावमिश्रित प्रेयसी के मधुर वचन उसके प्राणप्रिय प्रियतम के लिए सर्वतोभावेन सुग्राह्य और चित्तानुरंजक होते हैं जिनकी अनुपालना में उसे परम आह्लाद की सी उप-लब्धि होती है, उसी प्रकार काव्यवर्णित उपदेश तथा आदर्श उसके सहृदय रसिकों के लिए सितर्शकरावेष्टित औषधितुल्य स्वास्थ्यवर्द्धक तथा प्रीतिप्रद ही समझे जाने चाहिए। रसास्वादन के साथ-साथ कर्त्तव्यबोध की प्रभावान्विति उत्पन्न करना काव्य का एक ऐसा अद्भुत चमत्कार है जिसकी स्वंवेद्यता और हृदयसंवादिता अतुलनीय कही जा सकती है। मम्मट द्वारा प्रतिपादित उपर्युक्त सभी प्रयोजन स्वतंत्र इकाइयों के रूप में वर्णित है किन्तु

इन सबके अंतराल में एकात्मकता का अंतर्सूत्र संग्रथित है जिसके कारण उन्हें पारस्परिक रूप में अविच्छिन्न ही समझना चाहिए।

यहाँ इस बात का उल्लेख करना आवश्यक है कि मम्मट ने जिन षट्विध काव्य प्रयोजनों का प्रतिपादन किया है, वे उनके पूर्ववर्ती तथा परवर्ती आचार्यों को भी किसी न किसी रूप में मान्य रहे हैं। वामन ने कीर्ति तथा प्रीति के रूप में 'काव्यं सद्दृष्टादृष्टार्थं प्रीतिकीर्तिहेतुत्वात्[6] का उल्लेख करते हुए प्रीति को काव्य को दृष्टप्रयोजन तथा कीर्ति को उसका अदृष्टार्थ प्रयोजन माना है जिनकी व्याख्या उन्होंने उसी संदर्भ में की है।[7] आचार्य भामह उनके पूर्व कीर्ति तथा प्रीति का उल्लेख करते हुए उन्हें धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष की विचक्षणता तथा कलाविषयक निपुणता के साथ जोड़ चुके जिनका विशदीकरण उसी क्रम में किया गया है।[8] आचार्य कुंतक द्वारा अभिप्रेत काव्य प्रयोजन धर्मादिसाधनोपायों के रूप में विवेचित हुए है जिनमें व्यवहार परिस्पंदसौन्दर्य तथा चतुर्वर्गफलास्वादातिरेकी का व्यामृतरस का चमत्कार निहित है।[9] इन सभी प्रयोजनों के मूल में भरतमुनि के नाट्यशास्त्र की प्रतिध्वनि शब्दायित है जिन्होंने लोकोपदेश तथा लोकचितानुरंजन की दृष्टि से नाट्यप्रयोजनों की विवेचना की थी।[10] एक वाक्य में कहा जा सकता है कि मम्मट विवेचित काव्य प्रयोजन पूर्ववर्ती आचार्यों की मान्यताओं का विशदीकृत रूप है जो परवर्ती काव्य शास्त्रियों को सुमान्य रहा तथा इन्हीं के परिसर में वे उनकी व्याख्या कर सके। इन प्रयोजनों में उनका कविनिष्ठ तथा सहृदयनिष्ठ स्वरूप परस्पर अनुस्यूत है। जिसका संकेत प्रयोजन विवेचन के प्रारम्भ में ही किया जा चुका है।

काव्य के त्रिविध हेतु

प्रायः सभी काव्यशास्त्रियों ने काव्यशास्त्र के प्रारम्भिक विषयों के अंतर्गत काव्य हेतुओं का विवेचन किया है। काव्य के प्रयोजक हेतुओं में प्रतिभा तत्त्व सर्वोपरि है जिसे मम्मट ने शक्तिस्वरूप कहकर कवित्व का बीजरूप संस्कार विशेष माना है। शक्ति के अभाव में काव्य-प्रसरण सम्भव ही नहीं है। यदि वह किन्हीं अन्य हेतुओं से प्रसृत भी हो जाय तो भी वह तुकबन्दी आदि के रूप में उपहास्य ही समझा जाएगा। मम्मट के मतानुसार प्रतिभा (शक्ति) के पश्चात् लोकशास्त्र तथा काव्यादि का अवेक्षण काव्य का द्वितीय हेतु है। 'लोक' शब्द के अंतर्गत स्थावरजंगम रूप विश्व के सभी व्यवहार सम्मिलित हैं जिनके पारस्परिक संयोजन तथा सद्भावों में सृष्टि चक्र की सम्पूर्ण प्रक्रिया संचालित होती है। 'शास्त्र' शब्द छन्द व्याकरण, अभिधानकोश एवम् भरतमुनि तथा आचार्य कोहल प्रणीत नृत्य गीतवाद्यरूपिणी चौंसठ कलाओं के प्रतिपादक लक्षण ग्रंथों का वाचक जिनका पठन पाठन तथा अवेक्षण काव्य रचनाओं के प्रणयन में प्रयोजक हेतु सिद्ध होता है। इसी प्रसंग मम्मट ने चतुर्वर्गप्रतिपादक ग्रंथों का भी संकेत किया है जिनके अध्ययन तथा अनुशीलन द्वारा काव्यरचना की व्युत्पत्ति अर्जित की जा सकती है। काव्य के वर्ण्य विषयों की अनंतता तथा व्यापकता में न जाने कब और किस ज्ञान की आवश्यकता पड़

जाय; अतः मम्मट ने काव्य हेतु के प्रसंग में लोक और शास्त्र के अतिरिक्त काव्य के लक्ष्य और लक्षण ग्रंथों का पारायण तथा प्रबोध भी अनिवार्य माना है। प्रतिभाशाली कवि अपनी प्रतिभा के परिष्कार तथा निखार में इन सभी विषयों के परिज्ञान का समुचित उपयोग कर सकता है। यद्यपि मम्मट ने लोकशास्त्र और काव्य के अवेक्षण को काव्य के स्वतंत्र हेतु के रूप में विवेचित किया है तथापि उन्हें कवित्व शक्ति के संस्कार विशेष के साथ अंगागिभाव में भी विवेचित किया जा सकता है। 'काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास' काव्य-सर्जना का तृतीय हेतु है जिसका यह अभिप्राय कि महाकविरचित काव्यग्रंथों तथा काव्यशास्त्री आचार्यों के लक्षणग्रंथों के आकलन तथा चिंतनमनन द्वारा यदि कोई कवि अपना सत्त्वोद्रेक उन्नमित करे तो उसके संयोग से काव्य रचना विषयक व्युत्पत्ति परिपक्व की जा सकती है। कवियों और आचार्यों की काव्यशिक्षाएँ तथा उनके रचनापरक उपदेश भी काव्य हेतु के अंग हैं। महाकवियों की सन्निधि तथा रचना विषयक अभ्यास भी उनकी प्रयोजकता सिद्ध करते हैं। मम्मट ने शक्ति, लोकशास्त्रादि का अवेक्षण तथा काव्यशिक्षाभ्यास संज्ञक त्रिविध हेतुओं में काव्यरचना का जो सूत्र अनुसंधित किया है, वह अपने समष्टिरूप में सार्थक और प्रयोजनीय है। मम्मट की निम्नलिखित कारिका में काव्य के हेतुओं अथवा कारणों का उल्लेख हुआ है—

शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञ शिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥[11]

संस्कृत काव्यशास्त्र के प्रारम्भिक काल में आचार्य भामह ने जिन काव्यसाधनों का निरूपण किया था, वे काव्य-हेतुओं के विश्लेषण प्रस्तावनामात्र हैं। उन्होंने शब्द ज्ञान छंद, बोध, अभिधान कोष इतिहासकथा, लोकयुक्ति तथा कला आदि विषयों को काव्य-साधन कहकर उनके अवलोकन तथा निबंधन में ही काव्यक्रिया तथा काव्यरचना की सार्थकता समझी थी।[12] आचार्य वामन के मतानुसार लोक, विद्या तथा प्रकीर्ण संज्ञक काव्यांग ही काव्य रचना के सक्षम साधन है जिनमें लोकवृत्त को 'लोक' नाम से अभिहित करने की परम्परा प्रचलित है।[13] 'विद्या' संज्ञक काव्यांग में शब्द, स्मृति, अभिधानकोश, छन्दोविचित, कलाबोध, कामशास्त्र तथा दण्डनीति आदि की गणना की जाती है।[14] प्रकीर्ण के अन्तर्गत लक्ष्यज्ञत्व अभियोग, वृद्धसेवा, अवेक्षण, प्रतिभाव तथा अवधान तत्त्व समविष्ट हैं।[15] इन सभी काव्यांगों तथा काव्यसाधनों का तत्त्वबोध करने के पश्चात् आचार्य मम्मट ने जिन त्रिविध तत्त्वों में काव्य की कारणरूपता निर्दिष्ट की है, वह अत्यंत परिनिष्ठ तथा प्रामाणिक है। वामन के अष्ट काव्यांग मम्मट के त्रिविध हेतुओं में अंतर्मुक्त हो जाते हैं। उन्होंने वामन विवेचित लोक और विद्या का समावेश 'निपुणता' के अंतर्गत कर दिया है तथा वृद्ध सेवा को 'काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास' का अंग मान लिया है। इस विषय में विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि वामन ने प्रकीर्ण नामक काव्यांग में प्रतिमान अथवा शक्ति को जो अवरता प्रदान की थी, वह मम्मट को मान्य नहीं हुई। अतः उन्होंने काव्य के प्रथम हेतु के रूप में कल्पित करते हुए उसे कवित्व का बीज संस्कार विशेष माना। मम्मट का काव्य हेतु विषयक विवेचन अत्यंत तर्कसम्मत और व्यावहारिक

है जिसका शास्त्रपक्ष प्रमाणपुष्ट कहा जा सकता है। उन्होंने कवित्व बीज के रूप में जिस प्रतिभाशक्ति की प्रतिष्ठा की है वह आचार्य अभिनवगुप्त तथा पंडितराज जगन्नाथ द्वारा विशिष्ट क्रम में विवेचित हुई और उसी के सफल अभिव्यंजना में सम्पूर्ण काव्यव्यापार पराकोटि का समझा गया।

काव्य-लक्षण

निर्दोष लक्षण के लक्षण

किसी भी विषयवस्तु अथवा पदार्थ का सही लक्षण वही हो सकता है जिसमें अति व्याप्ति, अव्याप्ति तथा असम्भव दोष का लेशमात्र भी न हो। लक्षण की इस परि-भाषा के अनुसार सभी पदार्थों का निर्दृष्ट लक्षण निर्धारित करना अत्यंत दुष्कर है। अपनी दृष्टि तथा मान्यता के अनुसार यदि कोई विचारक किसी पदार्थ विशेष का पूर्ण लक्षण निश्चित करने का प्रयास भी करे तो भी उसके प्रतिपक्षी विद्वान् अपनी ओर से छिद्रान्वेषण करते हुए उसमें कुछ न कुछ दोष निकाल ही लेते हैं। ब्रह्म, जीव, जगत्, माया और आत्मा आदि दार्शनिक विषयों में भी इस प्रकार के तर्क वितर्क प्रभूत मात्रा में किये गये हैं। काव्यशास्त्र के अंग प्रत्यंग भी इस प्रकार के ऊहापोहों के अपवाद नहीं हैं। काव्य के स्वरूप-लक्षण के विषय में विभिन्न आचार्यों के भिन्न-भिन्न अभिमत हैं। काव्य लक्षण-निर्धारण की यह परम्परा 'शब्दार्थौ काव्यम्' से प्रारम्भ होकर ध्वनितत्त्व पर्यन्त चली आई है जिसके अंतराल में अलंकार, रीति, वक्रोक्ति तथा रस सिद्धांत विक-सित हुए हैं। इस प्रकार का विकास स्थूल से सूक्ष्म, अनात्म से आत्म तया वस्तुजगत् से आत्मतत्त्व की दिशा में किया गया स्वाभाविक प्रयास है। यद्यपि सभी आचार्यों ने अपनी-अपनी मान्यताओं के अनुरूप काव्य-लक्षण निर्धारित किये हैं किन्तु यदि उनके विचारों को तत्त्वदर्शन की भूमिका में विवेचित किया जाय तो उनके मध्य बहुत बड़ी विभाजक रेखा परिलक्षित नहीं होती। उनके अंतर्विरोध का मूल कारण केवल इतना ही है कि वे अपनी एकपक्षीय मान्यता को अंगी रूप में प्रस्तुत करते चलते हैं जिसके कारण उनके विचार पूर्वाग्रही तथा अपूर्ण बन जाते हैं। अपने अभिमत का मण्डन तथा विपक्षी मत का खण्डन करना ही जब उनका साध्य हो जाता है तो सत्य की पतवार उनके हाथ से छूट जाती है अन्यथा ऐसी कोई बात नहीं है कि उन सबके विचारों में सामंजस्य अथवा सामरस्य का संचार नहीं किया जा सके। कथन का मूल मंतव्य यह है कि काव्य-लक्षण के निरूपण में भी उपर्युक्त धारणाएँ काम करती रही हैं जिसके कारण उनके रूप भिन्न-भिन्न शब्दों में व्याख्यात हुए हैं। यह भी एक विचित्र संयोग की बात है कि काव्य लक्षण विवेचन की यह परम्परा 'शब्दार्थौ' से प्रारम्भ होकर पंडितराज द्वारा पुनः केवल 'शब्द' रूप में ही प्रतिष्ठित की गई जिसकी प्रधानता में रमणीय अर्थ का प्रतिपादन उसका विशेषण बनकर प्रस्तुत हुआ।

काव्य की शब्दार्थमयता

आचार्य मम्मट ने अपनी पूर्ववर्ती काव्यपरम्पराओं और मान्यताओं का सम्यक् विचार करने के पश्चात् काव्यलक्षण निर्धारित किया है।[16] उनके पूर्व अधिकांश आचार्यों ने काव्य लक्षण में 'शब्दार्थौ' पद का प्रयोग अनिवार्यत: किया था जिसकी उपयोगिता और महत्ता समझा कर उन्होंने अपनी काव्यपरिभाषा में उसे प्रतिष्ठित रखना समुचित समझा। काव्य की शब्दार्थमयता भामह, वामन, रुद्रट, वाग्भट, हेमचंद्र, विद्यानाथ तथा विद्याधर आदि आचार्यों को भी स्वीकार्य रही है जिसके प्रति पूर्ण आस्था रखकर मम्मट ने भी उसे अपने काव्य लक्षण में स्थान दिया है। उन्होंने शब्दार्थौ के साथ 'अदोषों' और 'सगुणौ' पद जोड़कर 'अनलंकृती पुन: क्वापि' का भी सिद्धांत स्वीकार किया है जिसके अनुसार निर्दोषता तथा गुणवत्ता तो काव्य के लिए परमवांछनीय हैं किन्तु अलंकारों का प्रस्फुटन सर्वत्र आवश्यक नहीं है। काव्य लक्षण के लिए 'शब्दार्थौ' का प्रयोग करना मम्मट की मौलिक उद्‌भावना नहीं कही जा सकती क्योंकि उनके पूर्ववर्ती तथा अनेक आचार्यों ने काव्यलक्षण के अंतर्गत उसका समावेश किया था। कतिपय प्रमाण और उदाहरण निम्नलिखित हैं—

शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्यं पद्यं च तत् द्विधा।[17]
काव्यशब्दोऽयं गुणालंकार संस्कृतयो: शब्दार्थयोर्वर्तते।[18]
शब्दार्थौ काव्यम्।[19]
अदोषौ सगुणौ सालंकारौ च शब्दार्थौ काव्यम्।[20]
शब्दार्थौ निर्दोषौ सगुणौ प्राय: सालंकारो च काव्यम्।[21]
गुणालंकारसहितौ शब्दार्थौ दौषवर्जितौ।[22]
शब्दार्थौ वपुरस्य तत्र विबुधैरात्माभ्यधायि ध्वनि:।[23]

काव्यलक्षण का तत्त्वबोध

मम्मट के मतानुसार शब्द और अर्थ के समाष्टिभाव का नाम काव्य है। उसकी सिद्धि में दोषों का अभाव और गुणों का सयोजन आवश्यक है। काव्य के लिए अलंकार प्रयोग का विषय वैकल्पिक मात्र है क्योंकि जहाँ व्यंग्य और रसादि की स्थिति विद्यमान रहती है वहाँ स्पष्ट रूप से अलंकारों की सत्ता न होने पर भी काव्यत्व की हानि नहीं होती। साहित्य दर्पणकार विश्वनाथ ने मम्मट के काव्य लक्षण का खण्डन किया है। उन्होंने प्रथम प्रहार काव्यलक्षणप्रयुक्त 'अदौषो' पर करते हुए लिखा है कि यदि काव्य को सर्वथा निर्दोष लक्षण से अभिप्रेत किया जाय तो इस प्रकार का काव्य-सर्जन होना असम्भव सा होगा। एवं काव्यं प्रविरलविषयं निर्विषयं वा स्यात्' लिखकर विश्वनाथ ने ध्वनिकार द्वारा उद्‌धृत, न्यक्कारो ह्ययमेव में यदरय:' छंद में भी 'विधेया विमर्श' नामक ढूँढ़ निकाला है जो उत्तम काव्य को खण्डित करने का प्रमाण माना जाना चाहिए जबकि वास्तविकता तो यह है कि उपर्युक्त उदाहरण सभी दृष्टियों से उत्कृष्ट काव्य है। यदि

यह कहा जाय कि जिस अंश में दोष हो उसे अकाव्य मानकर शेष को उत्तम काव्य समझ लिया जाय तो भी उचित नहीं है क्योंकि एक ही छंद में काव्य और अकाव्य की खिचड़ी पकाना व्यर्थ की दुविधा उत्पन्न करना है। अभिप्राय यह है कि विश्वनाथ के मतानुसार मम्मट द्वारा प्रतिपादित काव्य लक्षण प्रयुक्त अदोषविशेषण सर्वथा विसंगत और व्यर्थ मात्र है।

विश्वनाथ ने 'अदोष' पद पर जो आपत्ति की है; वह उनके अपने पक्ष समर्थन का एक दुर्बल पक्ष है। वस्तुतः इस पद को प्रयोग करते समय मम्मट का मूल मंतव्य केवल इतना ही रहा है कि जहाँ तक बने काव्य में 'च्युतसंस्कृति' आदि नित्य दोषों का परिहार किया जाय क्योंकि उनके कारण काव्य में अनौचित्य तथा अपकर्ष आता है। अनित्य दोषों की स्थिति इससे भिन्न है। दुःश्रव्यत्व आदि दोष करुण तथा शृंगार जैसे कोमल रसों में बाधक हो सकते हैं। किन्तु वीर, भयानक तथा वीर आदि रसों में वे सुग्राह्य भी होते हैं। 'अदोष' पद का प्रयोजन-हेतु केवल इतना ही है कि काव्य को केवल नित्य दोषों से सदैव बचाया जाय क्योंकि अनित्य दोष सभी स्थितियों में काव्य विघटक नहीं होते। स्वयं विश्वनाथ इस बात को स्वीकार करते हैं कि साधारण दोषों की विद्यमानता में भी काव्य अपकाव्य नहीं होता। मम्मट का अभिप्राय भी यही रहा है। अतः 'अदोष'पद की व्याख्या करते समय उसे इतना अधिक तूल देना उचित नहीं है। ईषत् दोष कीटानुबिद्धरत्न तुल्य है जिसका यह अभिप्राय है कि जिस प्रकार कीड़ों से खाया हुआ रत्न रत्न ही कहलाता है उसी प्रकार दुर्बल दोष की स्थिति में भी काव्य काव्य ही कहलायेगा।[24]

विश्वनाथ ने मम्मट प्रतिपादित 'सगुणौ' पद को भी काव्यलक्षण के अन्तर्गत उचित नहीं माना है। उनके मतानुसार 'गुण' शब्द और अर्थ के धर्म न होकर रस के धर्म होते हैं अतः उन्हें शब्दार्थों के साथ जोड़ना कदापि समीचीन नहीं कहा सकता। विश्वनाथ का यह तर्क मम्मट के काव्यलक्षण पर एक निर्मम प्रहार है। सच तो यह है कि मम्मट भी गुणों को रस धर्म मानते थे किन्तु वे गौण रूप से उनका सम्बन्ध शब्द और अर्थ के साथ जोड़ना भी आवश्यक समझते थे। उन्होंने काव्य प्रकाश के अष्टम उल्लास में 'गुणवृत्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता' लिखकर अपनी मान्यता का पुष्टीकरण किया है जिसके अनुसार शब्दार्थमय काव्य के लिए 'रसगुणौ' विशेषण सर्वथा त्याज्य नहीं है।

रसगंगाधरकार पण्डितराज जगन्नाथ ने मम्मट प्रतिपादित काव्यलक्षण का खंडन किया है किन्तु उनका दृष्टिकोण विश्वनाथ से भिन्न है। काव्य को एकमात्र 'शब्द' मानने वाले पंडितराज ने मम्मट के 'शब्दार्थों' पद पर आपत्ति की है। यद्यपि वे शब्द और अर्थ की समष्टि में काव्यलक्षण की असंगति सिद्ध करते हैं किन्तु उन्हें काव्य के विशेषणीभूत 'अदोषौ' और 'सगुणौ' पर आपत्ति नहीं है। इस विषय का विशेष स्पष्टीकरण पण्डितराज के काव्यलक्षण के प्रसंग में किया गया है। यहाँ तो इतना उल्लेख ही पर्याप्त है कि विश्वनाथ की भाँति पण्डितराज भी मम्मट के काव्यलक्षण के प्रति दुर्भावना लेकर चले हैं अन्यथा केवल व्यासज्य वृत्ति धर्म को लेकर शब्द और शब्दार्थों के प्रति इतने अधिक ऊहापोह की कोई आवश्यकता ही नहीं थी। पण्डितराजकृत काव्यलक्षण भले ही शब्द

मात्र हो किन्तु उसके पूर्व 'रमणीयार्थ प्रतिपादक' पद का प्रयोग उसकी अर्थसंपृक्ति का ही सूचक है। यदि शब्द और अर्थ की पृथक् धर्मता में काव्य माना जाय तो एक ही श्लोक वाक्य में शब्द और अर्थ की दृष्टि से द्विविध काव्यव्यवहार मानने पड़ेंगे जो युक्तिसंगत नहीं है। ऐसी स्थिति में मम्मट द्वारा प्रतिपादित काव्यलक्षण की शब्दार्थमयता अमान्य नहीं कही जा सकती। नागेश भट्ट ने भी शब्द और अर्थ की रसास्वादव्यंजकता स्वीकार करते हुए पण्डितराज की युक्तियों का खण्डन तथा मम्मट की मान्यताओं का मण्डन किया है। मम्मट के पूर्ववर्ती आचार्य भामह और दण्डी भी काव्यलक्षण में काव्य की शब्दार्थ-मयता स्वीकार करते चले हैं। तथा उनके परवर्ती आचार्य भी विभिन्न मतों की प्रतिष्ठा करते हुए काव्य की शब्दार्थमयी स्थिति में विश्वास रखकर चले हैं।

काव्य के भेद

मम्मट के मतानुसार काव्य के तीन भेद हैं जिनके नाम ध्वनि-काव्य, गुणीभूत व्यंग्य-काव्य तथा चित्र-काव्य हैं। इनमें ध्वनि काव्य ही उत्तम काव्य है क्योंकि उसमें वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ अधिक चमत्कारपूर्ण होता है।[25] वैयाकरणों ने प्रधानभूत स्फोट रूप व्यंग्य की अभिव्यक्ति कराने में समर्थ शब्द के लिए 'ध्वनि' पद का प्रयोग किया था। जिसके अनुयायी ध्वनिवादी काव्यशास्त्रियों ने भी वाच्यार्थ को गौण बना देने वाले व्यंग्यार्थ की अभिव्यक्ति कराने में समर्थ शब्द तथा अर्थ के लिए 'ध्वनि' पद का प्रयोग करना उचित समझा। इस विषय में आचार्य आनन्दवर्धन का योगदान सर्वाधिक महत्त्व-पूर्ण है जिसका विशद विश्लेषण उसके द्वारा प्रतिपादित ध्वनिमत तथा ध्वनिकाव्य के प्रसंग में किया गया है। उनका ध्वनिमत वैयाकरणों के स्फोटवाद का आधार लेकर चला है जिसमें शब्द की नित्यता प्रतिपादित है। नैयायिक आचार्य शब्द की अनित्यता मानकर चलते हैं जिसके कारण उन्हें स्फोटवाद का सिद्धांत स्वीकार नहीं है। मम्मट ने काव्य-प्रकाश के चतुर्थ उल्लास में ध्वनि तत्त्व अथवा व्यंजना व्यापार का विस्तृत विवेचन किया है जिसके अनुसार स्पष्ट है कि वे ध्वनिकाव्य को ही सर्वोत्कृष्ट उत्तम काव्य मानते थे।

मम्मट द्वारा प्रतिपादित काव्य के द्वितीय भेद का नाम गुणीभूत व्यंग्य है जो मध्यम श्रेणी का काव्य माना गया है। उसमें उसका व्यंग्यार्थ वाच्य की अपेक्षा अधिक चमत्कारी नहीं होता।[26] काव्य-रचना में ऐसे स्थल भी आ सकते हैं जहाँ वाच्य और व्यंग्य की मात्रा में तुल्यधर्मता रहती है। उस तुल्य प्रधानता के कारण ऐसे काव्य का व्यंग्य वाच्यातिशायी नहीं होता अतः दोनों की समान स्थिति होने पर वहाँ गुणीभूत व्यंग्य काव्य ही माना जाता है।

मम्मट ने चित्रकाव्य को अधम काव्य कहा है। ऐसा काव्य व्यंग्यार्थ रहित होता है। उसमें गुण और अलंकार तो रहते हैं किन्तु वे प्रतीयमान अर्थ के व्यंजक नहीं होते। मम्मट ने शब्दचित्र और अर्थचित्र नाम से उसके दो भेद माने हैं जिनके शब्दों से केवल अलंकारजन्य चमत्कार रहता है।[27]

शब्दार्थस्वरूपनिर्णय

शब्द और अर्थ प्रतीति

मम्मट का काव्यशास्त्रीय चिंतन अनुबंध चतुष्ट्य की प्रणाली के अनुरूप है। उन्होंने शब्द और अर्थ के समष्टिरूप में काव्य की सत्ता मान कर उसी क्रम में शब्दार्थ का स्वरूप बोध विवेचित किया है। काव्य प्रकाश का द्वितीय उल्लास 'शब्दार्थस्वरूप-निर्णय' की दिशा में किया गया एक स्तुत्य प्रयास है जिसमें मम्मट ने वाचक, लक्षण और व्यंजक शब्दों के माध्यम से तीन प्रकार की अर्थ प्रतीतियों के लिए अभिधा, लक्षणा और व्यंजना संज्ञक त्रिविध शब्द शक्तियों की विवेचना की है। उन्होंने काव्य में वाचक लाक्षणिक तथा व्यंजक शब्दों से निष्पन्न होने वाले वाच्य, लक्ष्य तथा व्यंग्य अर्थों के अतिरिक्त तात्पर्य अर्थ का भी उल्लेख किया है जिसकी प्रतिष्ठा कुमारिल भट्ट के अनुयायी पार्थसारथिमिश्र आदि अभिहितान्वयवादी मीमांसकों ने की थी।[28] यों तो पदार्थों की रचना और परिज्ञान में आकांक्षा, योग्यता तथा सन्निधि का यथाक्रम सहयोग और समन्वय रहता है किन्तु तात्पर्य अर्थ की संसिद्धि में एक विशेष प्रकार का तात्पर्यार्थरूप वाक्यार्थ होता है, जिसका प्रतिपादन अभिहितान्वयवादी आचार्यों ने किया है। प्रभाकर गुरु आदि अन्विताभिधानवादी आचार्य 'वाच्य एवं वाच्यार्थ:' के सिद्धांत में विश्वास रखते हैं। उनके मतानुसार 'पदों द्वारा अन्वित पदार्थों की ही उपस्थिति होती है अत: पदार्थों का परस्पर सम्बन्धरूप वाक्यार्थ वाच्य ही होता है। उसकी प्रतीति तात्पर्य शक्ति के पश्चात् प्रतीत नहीं होती। मम्मट का कथन है कि उपर्युक्त जिन अर्थों का उल्लेख किया गया है; उनमें से प्राय: सभी अर्थों का व्यंजकत्व काव्यशास्त्र में प्रतिपादित हुआ है।[29] यदि कहीं वाच्यार्थ से व्यंजकता प्रकट होती है तो कहीं व्यंग्यार्थ द्वारा भी व्यंजना ध्वनित होती है। जो शब्द अभिधा शक्ति द्वारा साक्षात् संकेतित अर्थ का बोध कराता है उसे वाचक शब्द कहते हैं।[30] लोक व्यवहार में भी देखा जाता है कि संकेतग्रह के बिना कोई भी शब्द-अर्थ प्रतीति नहीं करा सकता। जिस शब्द का जिस अर्थ में अव्यवधानकृत संकेत ग्रहण होता है, वह शब्द उस अर्थ का वाचक होता है। संकेतित अर्थ के जाति, गुण, क्रिया तथा यदृच्छा नामक चार भेद हैं। मीमांसकों के मतानुसार केवल जाति में ही संकेतित अर्थ रहता है।

संकेत ग्रह के साधन

मम्मट ने लोक व्यवहार को संकेत ग्रह का प्रधान साधन माना है। उसके अतिरिक्त व्याकरण, उपमान, कोश, आप्तवाक्य, व्यवहार, वाक्यशेष विवृत्ति और सिद्ध पद के सान्निध्य से भी संकेत ग्रहण किया जाता है। इन सबमें मुख्य उपाय तो लोक व्यवहार ही है क्योंकि अधिकांश शब्दों का सर्वप्रथम शक्तिग्रह (संकेत ग्रहण) व्यवहार द्वारा ही उत्पन्न होता है।

संकेत ग्रहण अथवा शक्तिग्रह का विषय अत्यन्त व्यापक और विचारणीय है।

मीमांसक जाति में संकेत ग्रह मानते हैं तो अन्य विचारक व्यक्ति में अथवा जातिविशिष्ट व्यक्ति में उसका प्रतिपादन करते हैं। व्यक्ति में संकेत ग्रह मानने पर आनन्त्यदोष होता है और न मानने पर व्यभिचार दोष हो जाता है। महाभाष्यकार ने शब्दों की चतुष्टयी प्रवृत्ति निरूपित करते हुए व्यक्ति में शक्तिग्रह न मानकर व्यक्ति के उपाधिभूत जाति, गुण, क्रिया तथा यदृच्छा रूप धर्मों में संकेतग्रह माना है। मम्मट भी इस मत से सहमत हैं। उन्होंने महाभाष्यकार पतंजलि की 'गौः शुक्लश्चलो डित्थः इत्यादौ चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः' के आधार पर यही सिद्ध किया है कि 'सफेद रंग की चलती हुई डित्थ नाम की गाय' इत्यादि वाक्यों में शब्दों की चारों प्रवृत्तियाँ अथवा प्रवृत्ति-निमित्त उपस्थित है जिसके अनुसार व्यक्ति के उपाधिभूत जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा आदि धर्मों में ही संकेत ग्रह मानना चाहिए। उन्होंने बतलाया है कि शुक्ल आदि गुण तथा पाक आदि क्रियाएँ भिन्न-भिन्न पदार्थों में पृथक्-पृथक् रूपों में दृष्टिगोचर होती हैं जिनमें पारमार्थिक भेद न होकर औपाधिक भेद मात्र है। एक ही मुख समतल, नतोदर, और उन्नतोदर दर्पणों अथवा तेल, पानी और तलवार में भिन्न-भिन्न रूपों में प्रतिबिम्बित होता है जिसका अर्थ यही है कि पारमार्थिक दृष्टि से मुख में कोई भेद नहीं है किन्तु प्रतिबिम्बों की विविधता के कारण वह उपाधिकृत भेदवश भिन्न-भिन्न रूपों में प्रदर्शित होता है। मम्मट के मता-नुसार गुण आदि में प्रतीत होने वाला भेद भी केवल औपाधिक भेद है। अतः गुण आदि में संकेतग्रह मानने पर आनंत्य तथा व्यभिचार दौषों की संभावना नहीं है।

संकेतित अर्थ के पक्ष : अभिधाशक्ति

मम्मट ने 'संकेतितश्चतुर्भेदो जात्यादिर्जातिरेव वा'[31] सूत्र द्वारा संकेतित अर्थ के दो पक्ष 'जात्यादिः' तथा 'जातिरेव वा' रूपों में निर्दिष्ट किये हैं। जात्यादि पक्ष वैयाकरणों तथा उनके अनुयायी अलंकारवादियों का है तो 'जातिरेव वा' पक्ष मीमांसकों का है। मम्मट जात्यादि पक्ष के समर्थक हैं। उन्होंने संकेतग्रहविषयक नैयायिकमत तया बौद्धमत की सामान्य चर्चामात्र की है। नैयायिक केवल व्यक्ति अथवा केवल जाति में संकेतग्रह नहीं मानते। उनके मतानुसार जाति तथा आकृति से विशिष्ट व्यक्ति ही पद का अर्थ होता है जिसका यह अभिप्राय है कि जाति विशिष्ट व्यक्ति में ही संकेतग्रह मानना चाहिए। संकेतग्रह के विषय में बौद्धों का मत सर्वथा भिन्न है। वे 'अपोह' को ही शब्द का अर्थ मानकर उसी में संकेतग्रह स्वीकार करते हैं। 'अपोह' शब्द बौद्ध दर्शन का परिभाषिक शब्द है जिसका अर्थ 'अतद्व्यावृत्ति' अथवा 'तद्भिन्नभिन्नत्वं' है। मम्मट ने ग्रंथविस्तार के भय से इनका संकेतमात्र करते हुए अपना निर्णय महाभाष्यकार पतंजलि तथा उनके अनुयायी काव्याचार्यों के पक्ष में ही दिया है जिनके अनुसार संकेतग्रह व्यक्ति के उपाधि-भूत जाति, गुण, क्रिया तथा यदृच्छा आदि धर्मों में होता है। जिसके अनुसार शब्दों की चतुष्टयी प्रकृति मानी गई है। कहते हैं कि मम्मट ने 'शब्दव्यापारविचारः' नामक एक छोटा-सा प्रकरणग्रंथ भी लिखा था जिसमें मीमांसक आदि अन्य मतों का खण्डन करते हुए वैयाकरण सम्मत और महाभाष्यकार द्वारा अनुमोदित जात्यादि चतुष्टयी में ही

संकेतग्रह का सिद्धांत प्रतिष्ठित किया गया है। 'तत्र मुख्यश्चतुर्भेदो ज्ञेयो जात्यादिभेदत:' कारिका इसका प्रमाण है।

मुख्यार्थ का महत्त्व

संकेतग्रह से ज्ञात होने वाला साक्षात् संकेतित अर्थ मुख्य अर्थ कहलाता है।[32] 'मुखमिव मुख्य:' इस विग्रह में 'शाखादिभ्यो य:' सूत्र से य प्रत्यय होकर मुख्य शब्द सिद्ध होता है जिस प्रकार शरीर के अंग-प्रत्यंगों में मुख सर्वप्रधान है और सर्वप्रथम दृष्टिगोचर होता है, उसी प्रकार वाच्यार्थ लक्ष्य तथा व्यंग्य अर्थों में सर्वप्रथम और सर्वप्रधान स्थिति रखता है अत: उसे मुखतुल्य मानकर ही उसे मुख्यार्थ कहा जाता है। मुख्यार्थ का बोधक शब्द व्यापार अभिधा व्यापार कहलाता है। उसे अभिधा शक्ति भी कहते हैं। इसी शब्द शक्ति द्वारा हमें सर्वप्रथम वाच्यार्थ का बोध होता है। जहाँ कहीं वाक्य के अन्य पदों के अर्थों के साथ मुख्यार्थ का अन्वय होने में बाधा होती है अथवा उससे तात्पर्य की उपपत्ति नहीं होती वहाँ रूढ़ि अथवा प्रयोजन विशेष से जिस शब्दशक्ति द्वारा अन्य अर्थ लक्षित होता है उसे लक्ष्यार्थ और उसकी बोधिका शक्ति को लक्षणा शक्ति कहते हैं। लक्षणा व्यापार के लिए मुख्यार्थबाध, लक्ष्यार्थ का मुख्यार्थ के साथ सम्बन्ध तथा रूढ़ि या प्रयोजन में से अन्यतर कारणों की आवश्यकता होती है।[33]

लक्षणा का भेद-विमर्श

मम्मट ने लक्षणा के प्रमुख छह भेद माने हैं जिनके नाम, लक्षण और उदाहरण निम्नलिखित हैं—

1. उपादानलक्षणा—जहाँ शब्द अपने अन्वय की सिद्धि के लिए अन्य अर्थ का आक्षेप कर लेता है और स्वयं भी बना रहता है, उसे उपादान लक्षणा कहते हैं। इसमें मुख्यार्थ का उपादान या ग्रहण रहता है अत: इसे उपादान लक्षणा कहते हैं। जैसे कुंता: प्रविशन्ति (भाले प्रवेश कर रहे हैं) में कुंता: (भाले) अचेतन अर्थ के वाचक हैं जिनमें प्रवेश क्रिया का अन्वय नहीं होने से मुख्यार्थ में बाधा उपस्थित होती है। अत: कुंता: शब्द अपने अण्वय की सिद्धि के लिए 'पुरुष' पद या पदार्थ का आक्षेप कर लेते हैं और उनका 'कुंतधारी पुरुष' अर्थ हो जाता है जिसके कारण अन्वय की बाधा दूर हो जाती है।

2. लक्षणलक्षणा—जहाँ वाक्य का कोई शब्द वाक्य में प्रयुक्त दूसरे शब्द के अन्वय की सिद्धि के लिए अपने अर्थ का परित्याग कर अन्य अर्थ का बोधक हो जाता है, वहाँ लक्षणलक्षणा होती है। जैसे 'गंगायां घोष:' अर्थात् गंगा में अहीरों की बस्ती। इस में प्रयुक्त घोष उदाहरण के आधेयत्व रूप से अन्वय का उपपादन करने के लिए 'गंगा' शब्द अपने जलप्रवाहरूप मुख्यार्थ का परित्याग कर सामीप्य सम्बन्ध से तट रूप अन्य अर्थ बोधित करता है अत: यहाँ लक्षणलक्षणा है। इसे प्रयोजनवती लक्षणा भी कहते हैं।

लक्षणा के दो अन्य भेद गौणी लक्षणा और शुद्धा लक्षणा हैं जिनमें से प्रत्येक के दो-दो उपभेद (सारोपा और साध्यवसाना) करने से लक्षणा चार प्रकार की होती हैं

उनके साथ पूर्वोक्त दो भेद जोड़ने से लक्षणा छह भेद हो जाते हैं। इन भेदों के नाम तथा नाम उदाहरण निम्नलिखित हैं—

3. **शुद्धा सारोपा लक्षणा**—'आयुर्घतम्' उदाहरण अर्थात् घी आयु है।

4. **शुद्धासाध्यवाना लक्षणा**—'आयुरेवेदम्' अर्थात् यह (घी) आयु ही है।

5. **गौणी सारोपा लक्षणा**—'गौर्वाहीकः' अर्थात् वाहीक देश का निवासी पुरुष गौ है।

6. **गौणी साध्यवसाना लक्षणा**—'गौरयम्' अर्थात् यह गौ है।

लक्षणा से उपर्युक्त भेदों के नाम तथा उदाहरण मम्मट की मान्यताओं के अनुरूप हैं। उन्होंने इनके विवेचन के प्रसंग में मुख्यत. मुकुट भट्ट के उन उदाहरणों का खण्डन किया है जिनमें उन्होंने उपादान लक्षणा प्रतिपादित की थी। पहला उदाहरण 'गौरनुबंध्यः है जिसे मुकुट भट्ट ने मीमांसा ग्रंथों से उद्धत करते हुए उसमें उपादान लक्षणा सिद्ध की है। उसका दूसरा उदाहरण 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुंक्ते' का है। मम्मट का कथन है कि इन दोनों उदाहरणों में लक्षणा नहीं हो सकती। उनके मथानुसार दूसरे उदाहरण में लक्षणा न होकर 'अर्थापत्ति' है क्योंकि देवदत्त मोटा हो रहा है परन्तु दिन में नहीं खाता है, कि सिद्धि में 'रात्रि भोजन' का अवबोध लक्षणा से न होकर श्रुतार्थापत्ति अथवा अर्थार्थापत्ति से होता है। विवेचन के इसी क्रम में मम्मट ने मुकुल भट्ट के ताटस्थ्य सिद्धांत का भी खण्डन किया है। सच तो यह है कि मम्मट ने मुकुल भट्ट की 'अभिधावृत्तिमातृका' की कई मान्यताओं का खण्डन करने के लिए ही 'शब्दव्यापार-विचार' नामक एक प्रकरण ग्रंथ भी लिखा था। वे कुमारिल भट्ट द्वारा प्रतिपादित 'श्लोकवर्तिक' के लक्षणा-विषयक अनेक दृष्टिकोणों से भी सहमत नहीं हैं। वस्तुतः लक्षणा-विवेचन के प्रसंग में वे वैयाकरणों के विचारों के ही अधिक अनुयायी है। यह बात अवश्य है कि बहुत से प्रसंगों में वे मीमांसकों के प्रति कड़ा रुख नहीं अपनाते। इस विषय का अधिक स्पष्टीकरण सम्बद्ध ग्रंथों का सम्यक् अनुशीलन करने पर ही किया जा सकता है।

व्यंजनावृत्ति का विश्लेषण

व्यंजना व्यापार की स्वतंत्र स्थिति

मम्मट ने व्यंजना-वृत्ति की विवेचना में ध्वनिवादी आचार्यो का दृष्टि कोण अपनाया है। उन्होंने मुकुल भट्ट आदि मीसांसकों की इस मान्यता का खण्डन किया है कि व्यंजना नाम की कोई स्वतंत्र वृत्ति होती ही नहीं है। अपने विवेचन की प्रस्तावना के रूप में वे सर्वप्रथम लक्षणामूला व्यंजना की व्याख्या करते चले है जो रूढ़िगत भेदों में व्यंग्य रहित तथा प्रयोजन मूलक भेदों में व्यंग्ययुक्त होती है। उसका व्यंग्य प्रयोजन कहीं गूढ, दुर्ज्ञेय और सहृदयैकगम्य होता है तो कहीं वह अत्यंत स्पष्ट, अगूढ तथा सर्वजन संवेद्य रहता है।[34] व्यंग्य की दृष्टि से लक्षणा के तीन भेद है जिनके नाम रूढिगत व्यंग्यरहित

लक्षण, गूढ़व्यंग्यालक्षण तथा अगूढ व्यंग्या लक्षणा हैं।[35] लक्षणा का आश्रयभूत शब्द लाक्षणिक कहलाता है जिसका व्यंग्यरूप प्रयोजन के विषय में लक्षणा से भिन्न व्यंजनात्मक व्यापार होता है। उन्होंने व्यंजना व्यापार में प्रयोजन की वाच्यता का निराकरण करते हुए लिखा है कि जिस प्रयोजन विशेष की प्रतीति के लिए लक्षणा का आश्रय लिया जाता है, वह व्यंजना के अतिरिक्त शब्द का अन्य कोई व्यापार नहीं हो सकता।[36] उसमें संकेत ग्रह न होने के कारण अभिधावृत्ति प्रयोजनबोधक नहीं मानी जा सकती। उदाहरणार्थ 'गंगायां घोष:' इत्यादि प्रयोगों में पावनतम तथा शीतलता आदि में धर्म तट में प्रतीत होते हैं उनमें गंगा आदि शब्दों का संकेत ग्रह नहीं है अत: अभिधावृत्ति से उनका ज्ञान नहीं किया जा सकता उन्हें प्रयोजन की लक्ष्यता भी स्वीकार्य नहीं लगती क्योंकि उसमें मुख्यार्थ-बाध आदि लक्षणा के प्रयोजक हेतुओं के अभाववश लक्षणा भी प्रयोजन बोधक नहीं मानी जा सकती। मम्मट के अनुसार व्यंजना की स्वतंत्र सत्ता और स्थिति सभी दृष्टियों से सुरक्षित हैं क्योंकि उसमें न तो 'गंगायां घोष:' जैसे वाक्यों में प्रयोगगत लक्ष्यार्थ ही मुख्य अर्थ होता है और न उसका वहाँ कोई बाध ही परिलक्षित रहता है। उसका शैत्य और पावनत्व आदि फलों के साथ सम्बन्ध भी नहीं होता। इतना ही नहीं, इस प्रयोजन को लक्ष्यार्थ मानने में न तो कोई अन्य प्रयोजन ही होता है और न प्रयोजन के विषय में लाक्षणिक शब्द स्खलित गति होता है। ऐसी स्थिति में मुख्यार्थबाध आदि के बिना प्रयोजन के प्रतिपादन में असमर्थ अथवा मुख्यार्थबाध आदि के पश्चात् ही प्रयोजन के प्रतिपादन में समर्थ व्यंजना व्यापार की स्वतंत्र सत्ता स्वत: सिद्ध है।[37]

लक्षणामूला व्यंजना

मम्मट के मतानुसार प्रयोजन को लक्ष्यार्थ मानना किसी रूप में सम्भव नहीं है। यदि व्यंजना विरोधी आचार्य प्रयोजन को लक्ष्यार्थ ही मानना चाहें तथा उसके लिए प्रयोजन में भी किसी अन्य प्रयोजन की सिद्धि का प्रयास करें तो भी उचित नहीं है क्योंकि उस स्थिति में वह दूसरा प्रयोजन भी लक्ष्य होगा जिसके लिए तीसरे प्रयोजन की कल्पना करनी पड़ेगी। इस प्रकार यह क्रम बढ़ते-बढ़ते 'अनवस्था दोष' की स्थिति में पहुँच जायगा। वस्तुत: अनवस्था दोष का मूल ही क्षयकारी होता है अत: अनवस्था के भय से भी प्रयोजन को लक्ष्यार्थ नहीं माना जा सकता।[38]

मम्मट ने प्रयोजनवैशिष्ट्य में लक्षणा का निराकरण करते हुए न्याय दर्शन के 'अनुव्यवसाय सिद्धांत' तथा मीमांसकों के 'ज्ञातता सिद्धांत' का भी उल्लेख किया है। उन्होंने पूर्व पक्ष के रूप में उपर्युक्त दोनों सिद्धांतों का अंतर स्पष्ट करने के पश्चात् अपना निर्णय और निष्कर्ष यही निकाला है कि प्रयोजन सहित शैत्य पावनत्वादि विशिष्ट तीर को लक्षणीय मानना किसी भी दृष्टि से सुसंगत नहीं है।[39] नैयायिकों के अनुव्यवसाय तथा मीमांसकों के ज्ञातता सिद्धांत में 'ज्ञानस्यविषयो ह्यन्य: फलमन्यदुदाहृतम्' द्वारा ज्ञान के विषय (घट आदि) तथा ज्ञान के फल की भिन्नता जिस रूप में मानी गई है, उससे आचार्य मम्मट असहमत हैं। उपर्युक्त मतों में ज्ञान का विषय तो समान है परन्तु

फल के विषय में मतभेद है। प्रत्यक्षजन्य ज्ञान का विषय तो नील आदि हो सकता है किन्तु मीमांसकों के मत में उसका फल ज्ञातता तथा नैयायिकों के मत में उसका फल संवित्ति (अनुव्यवसाय) है। मम्मट का कथन है कि तट आदि लक्षणाजन्य ज्ञान के विषय तथा पुण्यत्व तथा मनोहृत्त्व आदि उसके फल शैत्य तथा पावनत्व की स्थिति से भिन्न हैं अतः दोनों की समकालीन उत्पत्ति नहीं हो सकती। ऐसी स्थिति में प्रयोजन युक्त तट आदि को लक्ष्यार्थ न मान कर व्यंग्यार्थ मानना ही उचित है। वस्तुतः विशिष्ट में लक्षणा नहीं हो सकती जब कि लक्षित अर्थ में विशेष हो सकते हैं।[40] इसका अभिप्राय यह है कि पहले लक्षणा से केवल तट की प्रतीति होने के पश्चात् लक्षणामूला व्यंजना से तटादि रूप लक्ष्यार्थ में शैत्य और पावनत्व आदि प्रयोजनों की प्रतीति हो सकती है, अतः अभिधेयार्थ, लक्ष्यार्थ तथा तात्पर्यार्थ आदि व्यापारों से अगम्यमान व्यंजन, ध्वनन और द्योतन व्यापारों के कारण व्यंजना व्यापार की स्वतंत्र सत्ता असंदिग्ध है।

अभिधामूला व्यंजना

लक्षणामूला व्यंजना का प्रतिपादन करने के पश्चात् आचार्य मम्मट ने अभिधा-मूला व्यंग्य का स्वरूप विवेचित किया है। उन्होंने मीमांसकों के व्यंजना विरोधी मत का खण्डन करते हुए जिस व्यंजना-वृत्ति का सिद्धांत प्रतिपादित किया है, वह शाब्दी व्यंजना तथा आर्थी व्यंजना के नाम से भी व्याख्यायित की जाती है। शाब्दी व्यंजना के दो भेद हैं जिनके नाम अभिधामूला तथा लक्षणामूला हैं। अभिधामूला शाब्दी व्यंजना का लक्षण निर्धारित करते हुए मम्मट ने लिखा है कि जहाँ संयोग आदि द्वारा अनेकार्थवादी शब्दों की वाचकता के नियंत्रित हो जाने पर उससे भिन्न अवाच्य की प्रतीति कराने वाला शब्द व्यापार उपस्थित होता है, वहाँ अभिधामूला व्यंजना होती है।[41] अनेकार्थक शब्दों को एकार्थ में नियंत्रित करने के चतुर्दश कारण हैं, जिन्हें 'भर्तृहरिप्रणीतं वाक्य पदीय' ग्रंथ से उद्धृत करते हुए मम्मट ने उन्हें स्वीकार्य समझा है। ये सभी कारण अभिधामूला व्यंजना के नियामक हैं जिनके नाम संयोग, विप्रयोग, साहचर्य, विरोधिता, अर्थ, प्रकरण, लिंग, अन्य शब्द की सन्निधि, सामर्थ्य, औचित्य, देश, काल, व्यक्ति और स्वरादि हैं। मम्मट ने इन सभी नियामकों के उदाहरण प्रस्तुत करते हुए अभिधामूला व्यंजना का स्पष्टीकरण किया है। शाब्दी व्यंजना में अर्थ की सहकारिता का प्रतिपादन करते हुए मम्मट ने लिखा है—

तद्युतो व्यंजकः शब्दः यत्सोऽर्थान्तरयुक् तथा।
अर्थोऽपि व्यंजकस्तत्र सहकारितया मतः ॥[42]

अर्थात् व्यंजना व्यापारयुक्त शब्द व्यंजक कहलाता है क्योंकि वह दूसरे अर्थ के योग से अपने मुख्यार्थ का बोध कराने के पश्चात् दूसरे अर्थ का व्यंजक होता है अतः उसके साथ सहकारी रूप से अर्थ भी व्यंजक होता है।

आर्थी व्यंजना के भेद-प्रभेद

मम्मट ने काव्यप्रकाश के तृतीय उल्लास में आर्थी व्यंजना के भेद-प्रभेद तथा उनके उदाहरण निरूपित किए हैं अतः उस उल्लास का दूसरा नाम अर्थ व्यंजकता निर्णय भी है। इस उल्लास के प्रारम्भ में पूर्वकथित अर्थों (वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य) का स्मरण करते हुए ग्रंथकार ने आर्थी व्यंजना विवेचित की है। आर्थी व्यंजना के दस प्रकार होते हैं जिनके नाम वक्ता, बोद्धव्य, काकु, वाक्य, वाच्य, अन्यसन्निधि, प्रस्ताव, देश, काल तथा शब्द ग्राह्य चेष्टाओं का वैशिष्ट्य है। इन साधनों द्वारा प्रतिभाशाली सहृदयों के मानस में अन्यार्थ की प्रतीति कराने वाला अर्थ व्यापार ही आर्थी व्यंजना कहलाता है।[43] बोद्धव्य का अर्थ 'प्रतिपाद्य' तथा काकु का अर्थ 'ध्वनि विकार' है। प्रस्ताव को 'प्रकरण' भी कहा जाता है। इन साधनों के वैशिष्ट्य द्वारा अर्थ का व्यंग्यरूप प्रतीत होता है। अतः ये सभी साधन आर्थी व्यंजना के ही विषय हैं। आर्थी व्यंजना में वाच्य अर्थ की व्यंजकता तो होती ही है; साथ ही साथ उसमें वाच्य के समान लक्ष्य और व्यंग्य अर्थ भी व्यंजक हो सकते हैं। शाब्दी व्यंजना में शब्द ही मुख्यरूप से व्यंजक होता है। जिसके साथ अर्थ की सहकारिता रहती है जबकि आर्थी व्यंजना में अर्थ के मुख्य रूप के व्यंजक होने पर उसमें शब्द की सहकारिता वांछनीय है। इसमें मुख्यतः शब्द प्रमाणवेद्य अर्थ ही अर्थान्तर की अभिव्यक्ति करता है अतः उसकी व्यंजकता में शब्द की सहकारिता स्वीकार की गई है। अनुमान आदि प्रमाणों से वेद्य अर्थ व्यंजक नहीं होता। अतः मम्मट ने आर्थी व्यंजना के संदर्भ में उन्हें कुछ भी महत्त्व नहीं दिया है।[44]

ध्वनि भेद और काव्य रूप

काव्य-लक्षण के विशेष्य पद 'शब्दार्थों' की विवेचना करने के पश्चात् आचार्य मम्मट ने उसके विशेषण पदों अर्थात् दोष, गुण और अलंकारों का स्वरूप-कथन न कर मुख्यभूत काव्यभेदों का निरूपण किया है। इस प्रकार के व्यतिक्रम का कारण यह है कि धर्मी (काव्य) का स्वरूप बोध करने पर ही धर्मों (दोष, गुण और अलंकार) की हेयता अथवा उपादेयता का सम्यक् ज्ञान किया जा सकता है। काव्य भेदों में प्रथम स्थान ध्वनि काव्य का है जिसका बोध करने के पूर्व ध्वनि के प्रमुख भेदों की जानकारी आवश्यक है। साधारणतः ध्वनि के दो प्रमुख भेद माने जाते हैं जिनके नाम अविवक्षित-वाच्य ध्वनि तथा विवक्षितवाच्य ध्वनि हैं। प्रथम भेद का दूसरा नाम लक्षणामूला ध्वनि तथा दूसरे भेद का पर्याय अभिधामूला ध्वनि है। लक्षणामूला ध्वनि में वाच्य विवक्षित नहीं होता अतः उसे अविवक्षित वाच्य ध्वनि कहते हैं। उसके दो अवांतर प्रकार हैं— 1. अर्थान्तर संक्रमित वाच्य और 2. अत्यंततिरस्कृत वाच्य। मम्मट ने अविवक्षित वाच्य अथवा लक्षणामूल ध्वनि में वाच्य के अर्थान्तर संक्रमण तथा उसकी अत्यंत तिरस्कृति की दृष्टि से ही उपर्युक्त दोनों भेद स्वीकार किए हैं। विवक्षितवाच्यध्वनि अथवा अभिधा-मूलध्वनि के दो भेद हैं जिनके नाम असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य तथा संलक्ष्यक्रमव्यंग्य हैं।

असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि ही रसादिध्वनि है जिसके अवांतर भेदों की संख्या बहुत अधिक है। संलक्ष्यक्रमव्यंग्य शब्दशक्त्युत्थ, अर्थशक्त्युत्थ तथा उभयशक्त्युत्थ रूपों में तीन प्रकार का माना गया है जिसके दो अवांतर भेद (वस्तु ध्वनि और अलंकार ध्वनि) हैं। अर्थशक्त्युत्थ ध्वनि के बारह तथा उभयशक्त्युत्थ के एक—इस प्रकार कुल मिलाकर पन्द्रह उपभेद संलक्ष्यक्रमव्यंग्य के होते हैं। उनमें असंलक्ष्यक्रम का एक भेद जोड़ने पर अभिधामूल ध्वनि के सोलह भेद हो जाते हैं। लक्षणमूल ध्वनि के दो भेद उल्लिखित हो चुके हैं। कुल मिलाकर ध्वनि के अठारह प्रमुख भेद हैं जिनके अनुसार ध्वनिकाव्य भी अठारह प्रकार का माना गया है।

रसादि ध्वनि का असंलक्ष्यक्रमत्व

अभिधामूलध्वनि के द्विविध भेदों में असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य को रसादि ध्वनि भी कहते हैं। उसे अक्रमव्यंग्य न कहा जाकर असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य कहना युक्तिसंगत है। उसका यह अभिप्राय है कि उस ध्वनि में वाच्य और व्यंग्य की प्रतीति का क्रम तो अवश्य होता है किन्तु शीघ्रता के कारण वह दिखलाई नहीं पड़ता। उसे कमल के सौ पत्तों को एक साथ रखकर उनमें चुभोई जाने वाली सूची के भेदनक्रम से उपमित किया जा सकता है जो सभी पत्तों का भेदन तो एक क्रमविशेष से ही करती है किन्तु ऐसा प्रतीत होता है जैसे एक साथ ही वह पत्तों के पार पहुँच गई है। काव्यप्रकाश में रसादि ध्वनि के सम्बन्ध में यही बात 'न खलु विभावानुभाव व्यभिचारिण एवं रस: अपितु रसस्तैरित्यस्ति क्रम: स तु लाघवन्न लक्ष्यते' की शब्दावली में कही गई है जिसका अर्थ यह है कि विभावादि की प्रतीति ही रस नहीं है अपितु उनकी प्रतीति से रस उत्पन्न होता है। रस की प्रतीति में भी एक क्रम रहता है परन्तु त्वरा अथवा वेग के अतिशय के कारण उसका अनुभव नहीं होता। रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावशांति, भावोदय, भावसंधि और भावशबलता आदि रूप असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि के ही अवांतर भेद हैं जो रसादि की प्रधानता से स्थित होकर अलंकार्य कहलाते हैं। जिन काव्यों में वस्तु या अलंकार आदि रूप वाक्यार्थ के प्रधान होने पर रसादि के अंग होते हैं उनमें यदि गुणीभूत व्यंग्य अर्थात् व्यंग्य गौणता हो जाती है तो वे रसवत्, प्रेय, ऊर्जास्वित् तथा समाहित आदि अलंकार कहलाने लगते हैं।

रस-सूत्र की व्याख्याएँ

इसके स्वरूप के विषय में सभी आचार्यों ने भरत मुनि के रससूत्र को ही अपना उपजीव्य आधार बनाया है। आचार्य मम्मट भी रति आदि रूप स्थायी भावों को रस का मूल उत्स मानते हैं। उनका कथन है लोक में रति आदि स्थायी भावों के जो कारण, कार्य और सहकारी होते हैं, वे यदि नाटक या काव्य में प्रयुक्त किये जाएँ तो उन्हें क्रमश: विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव कहा जाने लगता है। उन विभाव आदि कारण, कार्य तथा सहकारियों के योग से व्यक्त रति आदि स्थायी भाव रस कहलाते हैं।[45]

भरत मुनि के रससूत्र (विभावानुभाव व्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः) की व्याख्या विविध दृष्टियों से की गई है जिनमें आचार्य अभिनवगुप्त की व्याख्या सर्वाधिक सुमान्य और प्रामाणिक समझी जाती है। उसका विशद रूप अभिनवभारती के रस-प्रकरण में निबंधित हुआ है। मम्मट ने उसका संक्षिप्त और सारगर्भित रूप विवेचित करने के पूर्व भट्ट लोल्लट, शंकुक तथा भट्टनायक की तद्विषयक मान्यताएँ निरूपित की हैं। उनका मूल मंतव्य समझने के उपरांत ही मम्मट की रसविषयक धारणाओं का सम्यक् अवबोध किया जा सकता है।

भट्ट लोल्लट का उत्पत्तिवाद

भट्ट लोल्लट का मत उत्पत्तिवाद अथवा आरोपवाद के नाम से प्रसिद्ध है। उसके अनुसार विभाव और अनुभाव आदि के संयोग से राम आदि अनुकार्यों में रस की उत्पत्ति होती है। सीता आदि विभाव मुख्य रूप से रस के उत्पादक होते हैं। अनुभाव उत्पादित रस के बोधक हैं तथा व्यभिचारी भावों से उसका परिपोष होता है। इस प्रकार स्थायी भाव के साथ विभावों का उत्पाद्य उत्पादक सम्बन्ध, अनुभावों का गम्यगमकभाव सम्बन्ध तथा व्यभिचारी भावों का पोष्यपोषकभाव सम्बन्ध है। भट्ट लोल्लट के मतानुसार रस-सूत्रप्रयुक्त 'संयोग' शब्द उपर्युक्त सम्बन्धों अथवा भावों का प्रयोजक है जिन्हें ध्यान में रखकर उन्होंने उनके लिए क्रमशः 'जनित', 'प्रतीति-योग्यकृत' तथा 'उपचित' पदों का प्रयोग किया है। इस मत के अनुसार रस मुख्य रूप से राम आदि अनुकार्यों में रहता है जिनके अनुकर्ता (नट) आदि में भी गौण रूप से उसकी स्थिति मानी जाती है। मम्मट ने भट्ट लोल्लट तथा उनके समर्थक विचारकों के अभिमत का निष्कर्ष निम्नलिखित रूप में व्यक्त किया है[46]—

1. ललना आदि आलम्बन विभावों तथा उद्यान आदि उद्दीपन विभावों से रति आदि स्थायी भाव उत्पन्न होते हैं।
2. कटाक्ष और भुजाक्षेप आदि अनुभावों से वे प्रतीतियोग्य किए जाते हैं।
3. निर्वेद आदि व्यभिचारी भावों से वे पुष्ट होते हैं।
4. मुख्यरूप से वे राम आदि अनुकार्यों में रहते हैं।
5. उनके स्वरूप का अनुकरण करने से वे नट आदि में प्रतीयमान, अर्थात् आरोप्यमाण होते हैं।
6. इस प्रकार जनित, प्रतीतियोग्यकृत तथा उपचित स्थायी भाव ही रस कह-लाता है।

भट्ट लोल्लट की रस विषयक उपर्युक्त मान्यताएँ उत्तरमीमांसा (वेदान्त) के तत्त्वदर्शन पर आधारित हैं। वेदान्त के अनुसार जिस प्रकार जगत् की आध्यासिक प्रतीति होती है, उसी प्रकार अभिनय आदि के समय रामादिगत सीता विषयक अनुरागरूपा रति के विद्यमान न होने पर भी नट में (विद्यमान रूप से) उसकी प्रतीति तथा उसके द्वारा सहृदयों में चमत्कारानुभूति आदि कार्यों की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार की

प्रतीति एक प्रकार से आध्यासिक प्रतीति का ही रूप है। अतएव भट्ट लोल्लट का उत्पत्तिवाद अथवा आरोपवाद वेदांत दर्शन का अनुगामी सिद्धांत कहा जा सकता है। इस सिद्धांत में सबसे बड़ी कमी यह है कि भट्ट लोल्लट ने मुख्य रूप से अनुकार्य तथा गौण रूप से अनुकर्ता में रस की उत्पत्ति, प्रतीति तथा पुष्टि मानी है किन्तु सामाजिक रसानुभूति पक्ष की सर्वथा उपेक्षा-सी कर दी है। वस्तुतः राम आदि अनुकार्यों की वर्तमान अविद्यमानता के कारण न तो उनमें ही रस की उत्पत्ति मानी जा सकती है और न अनुकर्ता ही उसकी उत्पत्ति के अधिकारी हो सकते हैं। इन द्विविध दोषों के कारण उनका आरोपवाद परवर्ती आचार्यों द्वारा सुमान्य नहीं समझा गया और आचार्य शंकुक अपना 'अनुमितिवाद' लेकर उपस्थित हुए।

शंकुक का अनुमितिवाद

शंकुक ने भरत मुनि के रससूत्र की व्याख्या न्यायसिद्धांत के आधार पर की है। जिसमें सामाजिक के साथ रस का सम्बन्ध दिखलाने का सामान्य प्रयत्न किया गया है। उनकी व्याख्या के अनुसार नट आदि अनुकर्ता अनुभाव आदि कार्यों का प्रकाशन कृत्रिम रूप में करते हैं जिनके कला-सौन्दर्य के बल पर सामाजिक को वास्तविक जैसी प्रतीति होने लगती है। नटादि में मूल रूप से अविद्यमान किन्तु कला द्वारा अभिनीत कृत्रिम भावों को देखकर सामाजिक उनमें रस का अनुमान कर लेते हैं और अपनी वासना के वशीभूत होकर उस अनुमीयमान रस का आस्वादन करते हैं मम्मट ने शंकुक[47] की उपर्युक्त मान्यता का निष्कर्ष निम्नलिखित रूप में स्पष्ट किया है—

1. रस की प्रतीति, सम्यक् प्रतीति, मिथ्याप्रतीति, संशयप्रतीति और सादृश्य प्रतीति से भिन्न है क्योंकि उसमें 'यह राम ही है' अथवा 'यह ही राम है' इस प्रकार की सम्यक् प्रतीति नहीं होती। उत्तर काल में बाधित होने वाली 'यह राम है' इस प्रकार की मिथ्या प्रतीति भी नहीं होती। उसे 'यह राम है अथवा नहीं' इस प्रकार की संशय प्रतीति भी नहीं कहा जा सकता। 'यह राम के समान है' इस प्रकार की संशय प्रतीति भी नहीं कहा जा सकता। 'यह राम के समान है' इस प्रकार की सादृश्य प्रतीति का भी उसमें अभाव है।
2. वस्तुतः रसप्रतीति उपर्युक्त चारों प्रतीतियों से भिन्न पाँचवे प्रकार की प्रतीति है जिसे 'चित्रतुरगन्याय' से बोधगम्य किया जा सकता है।
3. काव्यों के अनुशीलन तथा शिक्षा के अभ्यास से सिद्ध किये गये अनुभाव आदि कार्यों के अनुभावन से जब स्थायी भाव नट आदि द्वारा प्रकाशित किये जाते हैं तो वे कृत्रिम होते हुए भी कृत्रिम प्रतीत नहीं होते।
4. वे भाव विभाव आदि शब्दों से व्यवहृत किये जाते हैं जिनका संयोग कारण, कार्य तथा सहकारियों के साथ होता है।
5. वह संयोग गम्यगमक भाव से अनुमीयमान होने पर भी वस्तु के सौन्दर्य के

कारण आस्वाद का विषय होने से अन्य अनुमीयमान अर्थों से विलक्षण होता है।

6. अपनी विलक्षणता के कारण स्थायी रूप से सम्भाव्यमान रति आदि भाव यद्यपि नटादि में वास्तविक रूप में नहीं रहते तथापि सामाजिक के स्वात्मगत संस्कारों से जब आस्वाद्यमान अथवा चर्व्यमाण होते हैं तो उन स्थायी भावों को ही 'रस' कहा जाता है। शंकुक की व्याख्या के अनुसार निष्पत्ति का अर्थ 'अनुमिति' तथा संयोग का अर्थ गम्यगमकभाव संबंध है।

यद्यपि शंकुक ने सामाजिक में रसप्रतीति के प्रतिपादन का प्रयास अवश्य किया है किन्तु वह पूर्णतया संतोषजनक तथा युक्तिसंगत नहीं है। उनकी व्याख्या के अनुसार सामाजिक में जिन कृत्रिम विभावों, अनुभावों और व्यभिचारी भावों के साथ कृत्रिम स्थायी भाव के सम्बन्ध से नट में राम सीता आदि विषयक कृत्रिम रति का जो अनुमान माना गया है वह तत्त्व दृष्टि से स्वीकार्य नहीं है। इस व्याख्या में सामाजिक की रसानुभूति का अधूरा पक्ष ही व्यक्त हुआ है। वस्तुतः सामाजिक को रस चर्वणा की वेला में साक्षात्कारात्मक प्रतीति सी होती है जिसे अनुमान प्रतीति नहीं कहा जा सकता। अनुमानजन्य ज्ञान साक्षात् ज्ञान न होकर परोक्ष ज्ञान होता है। कृत्रिम अनुमिति का पक्ष भी विसंगतिपूर्ण है जिसके कारण शंकुक का अनुमितिवाद एक सीमा तक ही ग्राह्य है। उसकी अपूर्णता को समझकर ही भट्टनायक ने 'भुक्तिवाद' की प्रतिष्ठा की है।

भट्टनायक का भुक्तिवाद

भट्टनायक ने सांख्यमत का अनुगमन करते हुए अपनी व्याख्या प्रस्तुत की है। सांख्यमत के अनुसार सुख और दुःख आदि भाव आत्मा के धर्म न होकर अंतःकरण के धर्म हैं जिनके साथ पुरुष के सम्बन्ध होने से पुरुष में उनकी औपाधिक प्रतीति होती है। इसी प्रकार की सादृश्य प्रतीति की भाँति सामाजिक भी उस रस का भोग करता है जो उसकी आत्मा का विषय न होकर उसके अंतःकरण की वृत्तियों से सम्बन्धित है। भट्टनायक ने रससूत्र प्रयुक्त निष्पत्ति का अर्थ 'भुक्ति' तथा संयोग का अर्थ 'भोज्यभोजकभाव सम्बन्ध' मानकर रस का स्वरूप स्पष्ट किया है। मम्मट के अनुसार उनकी मान्यताओं का निष्कर्ष निम्नलिखित है—

1. रस की प्रतीति तथा उत्पत्ति तटस्थ रूप से नहीं होती क्योंकि यदि नट तथा अनुकार्यगत रूप से उसकी तटस्थ रूपिणी प्रतीति तथा उत्पत्ति मानी जाय तो उस अनुमिति तथा] उत्पत्ति में सामाजिक को रसास्वादन नहीं हो सकता।
2. रस प्रतीति को सामाजिकगत आत्मतत्त्व की अभिव्यक्ति भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि अभिव्यक्ति तो सदैव पूर्व रूप से विद्यमान अर्थ की ही होती है जबकि रस केवल अनुभूति स्वरूप है। अनुभूति से भिन्न काल में उसकी स्थिति सम्भव भी नहीं है। इस मान्यता के अनुसार भट्ट लोल्लट ने रस को

'नोत्पद्यते', 'न प्रतीयते' और 'नाभि व्यज्यते' कहकर क्रमशः भट्ट लोल्लट, शंकुक तथा अभिनवगुप्त के रसविषयक सिद्धांतों का निराकरण कर दिया है।

3. रस निष्पत्ति को समझने के लिए शब्दशक्तिस्वीकृति अभिधा और लक्षणा व्यापार के अतिरिक्त भावकत्व तथा भोजकत्व नामक द्विविध व्यापारों की परिकल्पना करना आवश्यक है।
4. अभिधा अथवा लक्षणा शक्ति द्वारा काव्य का जो अर्थ उपस्थित होता है, उसे शब्द के भावकत्व व्यापार द्वारा जब परिष्कृत कर दिया जाता है तो वह सामाजिक के लिए उपभोग्य हो जाता है। उस उपभोग्यता को ही भोजकत्व कहते हैं।
5. भावकत्व व्यापार के कारण सामाजिक के हृदय का 'साधाकरणीकरण' हो जाता है जिसके प्रभाववश वह व्यक्ति विशिष्ट सम्बन्धों से मुक्त होकर रसोपभोग करने लगता है। उस स्थिति में सामाजिक अपनी रुचि अथवा संस्कारवश स्वयं अनुकार्य जैसीं स्थिति का अनुभव करता है जिसका कारण भावकत्व व्यापार ही है।
6. भावकत्व व्यापार से काव्यार्थों का साधारणीकरण हो जाने के उपरांत शब्द का भोजकत्व व्यापार सामाजिक को रस का साक्षात्कारात्मक भोग कराता है। वस्तुतः वही रस दशा है।

भट्टनायक की मान्यताओं के अनुरूप रस के स्वरूप के विषय में निम्नलिखित तथ्य विशेष महत्त्वपूर्ण हैं—

1. काव्य अथवा नाटक में अभिधा तथा लक्षणा से भिन्न रहने वाला भावकत्व व्यापार जब विभाव आदि के साधारणीकरण द्वारा सीताराम आदि विशिष्ट सम्बन्धों से रहित होकर 'भाव्यमान' होता है तो रत्यादि स्थायी भाव साधारणीकृत हो जाते हैं।
2. साधारणीकृत स्थायी भावों की स्थिति योगाभ्यासजन्य सत्त्वोद्रेकता जैसी होती है।
3. सत्त्वोद्रेक के कारण सामाजिक को ब्रह्मानंद सदृश प्रकाश मिल जाता है जिससे वह वेद्यान्तर स्पर्श शून्य जैसी आनंदमयी अनुभूति करने लगता है। वह अनुभूति ब्रह्म साक्षात्कारजन्य आनंदानुभूति के सदृश है जिसका भोग शब्द के भोजकत्व व्यापार से किया जाता है। इस प्रकार रस 'प्रतीयते, उत्पद्यते, अभिव्यज्यते' आदि क्रियाओं में न कहा कर 'भुज्यते' क्रिया द्वारा ही समझा जाना चाहिए।

भट्टनायक ने यद्यपि भुक्तिवाद के सैद्धांतिक पक्ष द्वारा सामाजिक की रसानुभूति का अच्छा विश्लेषण किया है किन्तु उसमें भी कुछ कमी रह गई है जिसका निराकरण आचार्य अभिनवगुप्त ने किया है। भट्टनायक के सिद्धांत का दुर्बल पक्ष यह है कि उन्होंने

भावकत्व तथा भोजकत्व नामक जिन दो नवीन शब्द व्यापारों की कल्पना की है। वे न तो शास्त्रसम्मत हैं और न अनुभवसिद्ध ही हैं। वे जिस स्थायी भाव के भोग की बात कहते हैं, वह तत्त्व: अनुकार्य, अनुकर्ता तथा सामाजिक के किन-किन पक्षों से किन-किन रूपों में जुड़ा हुआ है, उसका पूर्ण स्पष्टीकरण उनके द्वारा नहीं हो पाता। इन बातों को ध्यान में रखकर ही अभिनवगुप्त ने अभिव्यक्तिवाद का प्रवर्तन और समर्थन किया है।

अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद

अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद ध्वनिवादी आचार्यों की मान्यताओं के अनुरूप है अत: उनका मत अधिकांशत: आलंकारिक मत भी कहा जाता है। उन्होंने नाट्यशास्त्र की 'अभिनव भारती' नामक विकृति में रस निष्पत्ति का विशद विवेचन किया है जिसका केन्द्र बिन्दु सामाजिक अथवा सहृदय ही कहा जा सकता है। उनका मूल मंतव्य यही है कि सहृदय सामाजिकों के हृदय में वासना अथवा संस्कार विशेषों के रूप में रति आदि स्थायी भाव विद्यमान रहते हैं जो साधारणीकृत रूप में उपस्थित होने वाले विभावादि द्वारा अभिव्यक्त अथवा उद्बुद्ध किये जाते हैं। उनकी अनुभूति वेद्यान्तरस्पर्शशून्य तथा ब्रह्मास्वाद सदृश परमानंदमयी होती है जिसका कारण 'तन्मयीभवन' है। यह सम्पूर्ण व्यापार शब्द की व्यंजना वृत्ति पर निर्भर है अत: रस व्यंग्य होने के कारण 'अभिव्यज्यते' क्रिया से ध्वनित होता है। इस मत में भट्टनायक के भावकत्व तथा भोजकत्व व्यापार को अमान्य समझा गया है और उनके स्थान पर 'साधारणीकरण' तथा व्यंजना वृत्ति का प्रयोग किया गया है।

अभिनवगुप्त के मतानुसार शृंगार आदि रसों का अधिगम रस के सामान्य स्वरूप द्वारा बोधगम्य किया जा सकता है जो निम्नलिखित है—

1. रस आस्वादमात्रस्वरूप अथवा चर्व्यमाणतैकप्राण है। वह विभावादि की स्थिति पर्यन्त रहने वाला तत्त्व है जिसकी चर्वणा पानकरसन्याय द्वारा अनुभूत की जा सकती है। यद्यपि वह प्रपाणक की घटक सामग्री (इलायची, काली मिर्च, शक्कर और इमली आदि) की भाँति विभावादि उपकरणों से निष्पन्न होता है किन्तु उसका आस्वाद उससे विलक्षण होता है।
2. रस की प्रतीति साक्षात्कारात्मिका है। वह हृदय में प्रविष्ट होता हुआ समस्त अंगों का आलिंगन-सा कर लेता है।
3. रस की प्रतीति के समय अन्य वृत्तियों का तिरोधान-सा हो जाता है और उसका आस्वादयिता ब्रह्मसाक्षात्कार अथवा ब्रह्मास्वादतुल्य आनन्द का अनुभाव करने लगता है।
4. वह सभी दृष्टियों से अलौकिक और चमत्कारपूर्ण है।
5. यद्यपि उसका आस्वाद आत्मसंवित् के आस्वाद से अभिन्न है तथापि उसे आस्वाद का विषय कहा जाता है क्योंकि जिस प्रकार आत्मसाक्षात्कार में चिद् रूप से अभिन्न आत्मा को भी साक्षात्कार का विषय माना जाता है

उसी प्रकार रसानुभूति में भी अनुभूति से अभिन्न रहने वाले रस को 'विषय' कहा जा सकता है।

6. रसदशा में व्यक्तिगत भावनाओं अथवा व्यक्ति विशेष के सम्बन्धों का लोप हो जाने से प्रमाता का परिमित प्रमातृभाव नष्ट हो जाता है और उसके स्थान पर वेद्यान्तरस्पर्शशून्य अपरिमित प्रमातृभाव का उदय हो जाता है जिसके कारण प्रमाता (सामाजिक) समस्त सामाजिकों के हृदयों के साथ समान रूप से व्यक्तिविशेषविहीनसम्बन्ध वाले साधारणीकरण का अनुभव करने लगता है।
7. रसानुभूति के समय व्यक्तिविशेषसम्बन्धविहीन दशा में प्रतीत होने वाले विभावादि के बल से प्रमाता को इस बात की अनुभूति नहीं होती कि मैं ही रस का आस्वादयिता हूँ और ये विभावादि मेरे ही विभाव हैं। वस्तुतः उस स्थिति में वह व्यक्तिगत भावनाओं से सर्वथा असम्पृक्त हो जाता है।
8. यद्यपि रति आदि स्थायी भाव सामाजिकों के हृदय में वासना रूप में विद्यमान रहते हैं किन्तु वे किसी नियत प्रमाता अथवा विशिष्ट सामाजिक में स्थित होने पर भी साधारणोपाय (व्यक्ति विशेष के सम्बन्ध के बिना प्रतीत होने वाले) हो जाते हैं।
9. लोक में प्रमदा, उद्यान और कटाक्ष आदि विभावों और अनुभावों को देखने से उनमें रहने वाले रति आदि स्थायी भावों का अनुमान करने में निपुण सहृदयों का जब काव्य तथा नाटक में कारण, कार्य तथा सहकारी तत्त्वों को छोड़ कर विभावन व्यापार से सम्बन्ध हो जाता है तो वे विभावादि शब्दों से व्यवहृत होने वाले प्रमदा आदि रूप कारण, कार्य तथा सहकारी सम्बन्ध विशेषों की मान्यता अथवा अमान्यता के नियम का निश्चय नहीं कर पाते।
10. उपर्युक्त स्थिति में ये मेरे ही हैं या शत्रु के ही हैं या तटस्थ के ही हैं अथवा ये न मेरे ही हैं, न शत्रु के ही हैं और न तटस्थ के ही हैं इस प्रकार के सम्बन्ध विशेष का न तो परिहार ही हो पाता है और न उसकी स्वीकृति ही निश्चित की जा सकती है।
11. वस्तुतः रस दशा एक प्रकार से विचित्र लोकोत्तर दशा है जिसमें सहृदय प्रमाता काव्य के माध्यम से अपने आत्मानंद की साक्षात् प्रतीति अथवा अनुभूति करता है।

रस की अलौकिकता

मम्मट ने आचार्य अभिनवगुप्त की मान्यताओं के प्रति पूर्ण आस्था रखते हुए उनके रस विषयक दृष्टिकोण की जो व्याख्या की है, वह उपर्युक्त विचार-बिन्दुओं में समाहित है। इनके अतिरिक्त उन्होंने रस की अलौकिकता के प्रतिपादन में जो प्रमाण उद्धृत किये हैं, वे भी अभिनवगुप्त की मान्यताओं के ही अनुरूप हैं। उन्होंने रस को

'कार्य' नहीं माना है क्योंकि उसे कार्य मानने पर यह भी मानना पड़ेगा कि विभावादि का नाश होने पर भी उसकी स्थिति सम्भव है। वह स्थिति वैसी ही होगी जो कुंभकार की मृत्यु हो जाने पर भी घड़े की विद्यमानता में रहती है। वस्तुतः रस की स्थिति 'विभावादि जीवितावधि' है जिसका यह अभिप्राय है कि वह तभी तक बना रहता है जब तक उसके विभाव आदि विद्यमान रहते हैं। विभावादि का विनाश होते ही वह भी विनष्ट हो जाता है। इस प्रकार उसमें जागतिक कार्यों की संगति न हो पाने के कारण उसे अलौकिक कहा जाता है।

रस को ज्ञाप्य भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि वह पूर्वसिद्ध (अनुभूति के पूर्व विद्यमान) नहीं होता अपितु विभाव आदि से व्यंजित तथा आस्वादयोग्य होता है। उसकी स्थिति आस्वादकाल पर्यन्त ही विद्यमान रहती है। उसे 'ज्ञाप्य' न मानने से भी उसकी अलौकिकता सिद्ध होती है। यदि रस ज्ञाप्य होता तो वह विभावादि से व्यंजित होने के पूर्व तथा पश्चात् भी विद्यमान रहता जैसे दीपक के प्रकाश द्वारा ज्ञाप्य घट पूर्वसिद्ध तथा परसिद्ध स्थिति में भी रहता है। संसार के घट और पट आदि सभी पदार्थ कार्य रूप अथवा ज्ञाप्य रूप हैं जो या तो किसी कारण से उत्पन्न होते हैं अथवा किसी साधन विशेष से उनका ज्ञान कराया जाता है। कारण अथवा साधन के नष्ट होने पर भी वे पदार्थ विद्यमान रहते हैं अतः उन्हें लौकिक कहा जाता है। रस के विषय में यह नियम घटित नहीं होता अतः उसे लौकिक पदार्थों से भिन्न अलौकिक तत्त्व माना गया है। काव्यप्रकाशकार मम्मट ने यही बात निम्नलिखित रूप में व्यक्त की है—

स च न कार्यः 'विभादि विनाशेऽपितस्य सम्भवप्रसंगात्। नापि ज्ञाप्यः, सिद्धस्य तस्यासम्भवात्। अपितु विभावादिभिर्व्यंजितश्चर्वणीयः।[48]

कारकज्ञापकाभ्यामन्यत् क्व दृष्टमिति चेत्? न क्वचित् दृष्टमित्यलौकिकत्व-सिद्धेर्भूषणमेतन्न दूषणम्॥

मम्मट ने रस के स्वरूपबोध के सम्बन्ध में कारक तथा ज्ञापक हेतुओं का निषेध करते हुए उसे लौकिक कार्य-पदार्थ तथा ज्ञाप्य-पदार्थ से भिन्न माना है। उनके मतानुसार रस विभावादि से व्यंजित होकर चर्वणीय होता है जिसके हेतु विलक्षण और अलौकिक हैं। उसकी अलौकिकता उसका दूषण न होकर भूषण ही है। रस को जिस रूप में कार्य कहा जाता है, वह केवल औपचारिक प्रयोग है। यह प्रयोग वैसा ही है जैसे आस्वाद की उत्पत्ति होने से उपचारवश उसकी भी उत्पत्ति कही जाती है। वस्तुतः रस लौकिक प्रत्यक्ष आदि से भिन्न है। वह प्रमाणताटस्थ्य अर्थात् बिना प्रमाणों की सहायता से होने वाले मितयोगिज्ञान से भी विलक्षण माना जाता है। उसे वेद्यांतरस्पर्शशून्य, स्वात्म-साक्षात्कारमात्र में पर्यवसित, परिमितेतर योगियों के संवेदन से पृथक् तथा लोकोत्तर अनुभूति का विषय माना गया है जिसे उपचारवश ज्ञेय भी कहा जाता है। वस्तुतः पारमार्थिक दृष्टि से वह न तो कार्य है और न ज्ञाप्य अपितु अलौकिक अनुभूति का विषय है।

रस की अलौकिकता के विषय में तीसरी युक्ति यह दी जाती है कि उसका ग्रहण न तो सविकलपक ज्ञान से होता है और न निर्विकल्पक ज्ञान से होता है। सविकलपक ज्ञान

में पदार्थ के स्वरूप के अतिरिक्त उसके नाम तथा उसकी जाति का भी आभास होता है जब कि निर्विकल्पक ज्ञान में नाम, जाति तथा विशेषण भाव आदि का आभास न होकर केवल वस्तु मात्र का ही बोध होता है। रसबोध की स्थिति उपर्युक्त द्विविध ज्ञानों से भिन्न है। वह तो केवल स्वसंवेदनरूप तथा अनिर्वचनीय होती है जिसमें नामजाति रूप वस्तुओं अथवा वस्तुमात्र के रूप से कोई प्रयोजन ही नहीं होता। मम्मट ने यही बात निम्नलिखित उदाहरण में कही है जो आचार्य अभिनवगुप्त की मान्यताओं का पूर्ण समर्थन करती है—

तद्ग्राहकं च न निर्विकल्पकं विभावादिपरामर्श प्रधानत्वात्। नापि सविकल्पकं चर्व्यमाणस्यालौकिकानंदस्य स्वसंवेदनसिद्धत्वात्। उभयाभावस्वरूपस्प चोभयात्मकत्वमपि पूर्ववल्लोकोत्तरतामेव गमयति न तु विरोधमिति श्रीमदाचर्याभिनवगुप्तपादाः।[49]

रससूत्र में विभावादि का सम्मिलित निर्देश क्यों ?

मम्मट ने भरत मुनि के रससूत्र के परिप्रेक्ष्य में उसके प्रमुख व्याख्याताओं के अभिमत विवेचित करने के पश्चात् आचार्य अभिनवगुप्त के अभिव्यक्तिवाद को ही सर्वाधिक प्रामाणिक और सुग्राह्य माना है। उनका रसविमर्श अभिनवगुप्त के विचारों का ही अनुगमन है। इस विमर्श के उपरांत उन्होंने जिज्ञासा के रूप में एक छोटा-सा प्रश्न यह उठाया है कि भरतमुनि के रससूत्र में विभावादि का सम्मिलित निर्देश क्यों हुआ है? पूर्वपक्ष द्वारा संभाव्यमान उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर देते हुए उन्होंने लिखा है कि व्याघ्र आदि विभाव भयानक रस की भाँति वीर, अद्भुत तथा रौद्र रस में भी हो सकते हैं ; अश्रुपात आदि अनुभाव शृंगार के अतिरिक्त करुण तथा भयानक रस में भी रहते हैं ; चिन्ता आदि व्यभिचारी भावों का प्रवेश केवल शृंगार रस में ही न होकर वीर तथा भयानक रस में भी होता है अतः उनके पृथक्-पृथक् अनैकांतिक होने से अर्थात् किसी एक ही रस के साथ निश्चित न रहने से उन्हें रससूत्र में सम्मिलित रूप से निर्दिष्ट किया गया है। इसी संदर्भ उन्होंने एक प्रश्न यह भी उठाया है कि जब रससूत्र के अनुसार विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग से ही रस निष्पत्ति होती है तो किसी काव्य विशेष में इन तीनों में से किसी एक अथवा दो कारणों का अभाव होने पर क्या वहाँ रस निष्पत्ति नहीं होगी ? इसका उत्तर देते हुए उन्होंने लिखा है कि उपर्युक्त स्थिति में भी रस निष्पत्ति होने के सभी अवसर विद्यमान हैं। अपने उत्तर को प्रमाणपुष्ट बनाने के लिए उन्होंने तीन छंद उदाहृत किये हैं जिनमें क्रमशः केवल उद्दीपन विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों का ही वर्णन हुआ है। मम्मट का कथन है कि उन छन्दों में भले ही रस निष्पत्ति के सभी उपकरण सम्मिलित रूप विद्यमान न हों किन्तु उनका एकपक्षीय चित्रण भी इतना अधिक असाधारण, सशक्त और प्रभावाभिव्यंजक है कि प्रकृत रति के बोध में अवशिष्ट उपकरणों का आक्षेप स्वतः कर लिया जाता है। उस आक्षेप के कारण ही रससूत्र निरूपित विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग से होने

वाली रस निष्पत्ति के सिद्धांत में किसी प्रकार का व्यभिचार अथवा दोष नहीं समझा जाता।

रसों की संख्या और रस-भेद

मम्मट ने रसों की संख्या निर्धारित करने की दिशा में भरत मुनि के अभिमत का अनुगमन किया है। यहाँ तक कि उन्होंने रस-भेदों का उल्लेख करने में नाट्यशास्त्र की ही कारिका ज्यों की त्यों उद्धृत कर ली है।[50] उस कारिका के अनुसार श्रृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स और अद्भुत संज्ञक आठ रस नाट्य माने जाते हैं। अभिनवगुप्त ने अभिनव भारती में इन आठों रसों को विशेष क्रम से नियोजित करने का प्रयोजन निरूपित किया है। शांत रस की स्थिति, भक्ति रस की रूप प्रतिष्ठा, वात्सल्य रस की परिकल्पना, मूलरस की अन्तर्दृष्टि, एक रसवाद की धारणा तथा रसों की सुखदु:खरूपता आदि ऐसे अनेक विषय हैं जिन पर रसवादी आचार्यों ने विभिन्न दृष्टियों से विचार किया है। मम्मट के रस चिंतन में ये पक्ष जिस रूप में विवेचित हुए हैं, उनका उतना ही विमर्श करना हमें अभीष्ट है अन्यथा कई स्थलों पर पिष्टपेषण की संभावना के अवसर उपस्थित हो सकते हैं।

मम्मट ने सर्वप्रथम श्रृंगार के दो भेदों (संभोग और विप्रलम्भ) का उल्लेख करने के पश्चात् उनके उपभेदों की विवेचना की है। संयोग श्रृंगार परस्पर अवलोकन, आलिंगन, अधरपान और परिचुंबन आदि श्रृंगारिक चेष्टाओं और कार्यों के कारण अनन्त प्रकार का हो सकता है अत: उसके भेदों की गणना सम्भव के होने न कारण मम्मट ने उसे एक ही रूप में स्वीकार किया है। विप्रलम्भ श्रृंगार अभिलाष, विरह, ईर्ष्या, प्रवास तथा शाप संज्ञक पांच प्रकार के हेतुओं से उत्पन्न होने के कारण पाँच प्रकार का होता है। मम्मट ने संयोग के दो तथा विप्रलम्भ के पांच उदाहृण प्रस्तुत कर उनकी संगति सिद्धकी है। तदुपरांत हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स और अद्भुत रसों के एक-एक उदाहरण उद्धृत करते हुए आठों स्थायी भावों तथा तैंतीस व्यभिचारी भावों की नाम-संख्या उल्लिखित हुई है। मम्मट ने 'निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शांतोऽपि नवमोरस:'[51] सूत्र द्वारा शांत रस को नवम रस माना है जिसका स्थायी भाव निर्वेद है। देव[52] आदि विषयक रति और व्यंग्य व्यभिचारी भाव 'भाव' कहलाते हैं। जब भावों और रसों का वर्णन अनौचित्यप्रवर्तित होता है तो उन्हें भावभास तथा रसाभास कहा जाता है। भावों के साथ भावशांति, भावोदय, भावसंधि और भावशबलता संज्ञक चार प्रकार और जुड़े हुए हैं। मम्मट ने उपर्युक्त सभी भेद-प्रभेदों के उदाहरण प्रस्तुत करते हुए उनकी विवेचना की है जिसमें उनके स्वरूप-लक्षण तथा उदाहरण में अभीष्ट समायोजन हो सकता है। अन्त में उन्होंने भावशांति आदि का अंगित्व (प्राधान्य) प्रतिपादित करते हुए लिखा है कि मुख्य रस के विद्यमान होने पर भी वे कहीं-कहीं प्रधानता प्राप्त कर लेते हैं। उनकी यह प्रधानता 'राजानुगतविवाहप्रवृत्तभृत्यवत्' मानी गई है जिसका यह अभिप्राय है कि जिस प्रकार कोई राजा किसी कृपापात्र भृत्य के विवाह में सम्मिलित हो तो उस समय राजा की

प्रधानता न हो कर वररूप भृत्य की ही प्रधानता होती है, उसी प्रकार भावशांति आदि का भी विषय समझ लेना चाहिए ।[53]

संलक्ष्यक्रम के भेद-प्रभेद

मम्मट ने रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावशांति, भावोदय, भावसंधि और भावशबलता का जो विवेचन किया है, वह असंलक्ष्य क्रमव्यंग्य ध्वनि का ही प्रसार है। तदुपरांत उन्होंने संलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि के पन्द्रह भेदों का विवेचन किया है। संलक्ष्य-क्रमव्यंग्य ध्वनि को अनुस्वानाभध्वनि भी कहते हैं। उसके कुल पन्द्रह भेद होते हैं जिनका उल्लेख पहले किया जा चुका है। मम्मट ने उन सभी भेद-प्रभेदों का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए उनका संगतिसिद्ध विवेचन किया है।

संलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि का प्रथम भेद शब्दशक्त्युत्थ ध्वनि है जिसमें शब्द के माध्यम से वस्तु अथवा अलंकार प्रधान रूप से प्रतीत होते हैं अतः उसे वस्तुध्वनि तथा अलंकारध्वनि के नाम अभिहित किया जाता है। वस्तुध्वनि में अलंकार रहित वस्तुमात्र का ग्रहण होता है। अलंकारध्वनि के अनेक प्रकार हैं जिनमें उपमा, विरोधाभास और व्यतिरेक आदि अलंकार ध्वनियां प्रमुख हैं। उनमें अलंकार की व्यंग्यता प्रधान रूप से विवक्षित होती है। यहाँ यह शंका उत्पन्न होती है कि काव्य में व्यंग्यार्थ अथवा ध्वनि की प्रधानता होने से जब प्रधानीभूत तत्त्व ही अलंकार्य होता है तो क्या अलंकार भी अलंकार्य हो सकता है ? इसका समाधान यह है कि अलंकारध्वनि में भले ही अलंकार की प्रधानता हो किन्तु ब्राह्मण श्रमण न्याय से वह अलंकार्य न होकर अलंकार ही रहता है।

अर्थशक्त्युत्थध्वनि के बारह भेद हैं जिनमें स्वतः संभवी, कवि प्रौढ़ोक्तिसिद्ध तथा कविनिबद्धवक्तृ प्रौढोक्तिसिद्ध प्रमुख हैं। उनमें वस्तुध्वनि तथा अलंकारध्वनि के दो उपभेद जोड़ने से उनकी संख्या छह हो जाती है जो व्यंग्य तथा व्यंजक दृष्टि से द्विगुणित होकर बारह की संख्या तक पहुँच जाते हैं। स्वतः सम्भवी केवल कवि के कथनमात्र से ही सिद्ध नहीं होता अपितु उचित रूप से बाह्य संसार में भी पाया जाता है। उसमें वस्तु से वस्तुव्यंग्य, वस्तु से अलंकारव्यंग्य, अलंकार से वस्तुव्यंग्य तथा अलंकार से अलंकार-व्यंग्य आदि अनेक रूप रहते हैं। कविप्रौढोक्तिसिद्ध तथा कविनिबद्धवक्तृ प्रौढोक्तिसिद्ध व्यंग्यों के भी उपर्युक्त चारों रूप होते हैं। जिन्हें कवि या तो अपनी प्रतिभा से निर्मित करता है अथवा वे कविनिबद्ध वक्ता द्वारा प्रतिभामात्र से निर्मित होते हैं। स्वतः सम्भवी व्यंग्य की भाँति वे बाहरी संसार में नहीं होते अपितु प्रतिभाजात होते हैं। इन समस्त व्यंग्य भेदों में व्यंग्यवस्तु तथा व्यंजकवस्तु भी केवल कवि की प्रतिभामात्र से सिद्ध होती है। कविनिबद्धवक्ता की प्रौढोक्ति भी कविप्रौढोक्ति के अंतर्गत ही मानी जा सकती है जिसमें सहृदयजनों को कविप्रौढोक्तिसिद्ध व्यंग्य की अपेक्षा अधिक चमत्कार अनुभूत होता है। उस चमत्कार का कारण कविनिबद्ध वक्ता में संवेदनाओं का आधिक्य अथवा भावावेश का प्राबल्य कहा जा सकता है। उभयशक्त्युत्थ ध्वनि का केवल एक रूप है। इस प्रकार कुल मिलाकर संलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि के पन्द्रह भेद हो जाते हैं जिसमें

शब्दशक्त्युत्थ के दो, अर्थशक्त्युत्थध्वनि के बारह तथा उभयशक्त्युत्थध्वनि का एक भेद सम्मलित है। इन भेदों में असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य का एक भेद जोड़ने पर उनकी संख्या सोलह हो जाती है जिसमें अविवक्षितवाच्य अथवा लक्षणामूल ध्वनि के दो भेद (अर्थान्तर संक्रमितवाच्य तथा अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य) जोड़ने से ध्वनि के कुल मुख्य भेद अठारह हो जाते हैं। जैसा कि शृंगार रस के प्रसंग में पहले संकेत किया जा चुका है रसादि असंलक्ष्य-क्रमव्यंग्य ध्वनि के तो असंख्येय भेद हो सकते हैं किन्तु उनके भेद-विस्तार के प्रपंच में न की पड़ कर उसका केवल एक ही भेद मानना समीचीन है क्योंकि उनके अनन्त भेदों की संख्यागणना असम्भव है।

ध्वनि के जिन प्रमुख अठारह भेदों का उल्लेख किया गया, वे अवांतर भेद-प्रभेदों की दृष्टि से अनेक प्रकार के हो सकते हैं। उन भेदों में उभयशक्त्युत्थ का भेद तो केवल वाक्य में ही रहता है जबकि शेष सत्रह भेद पदगत तथा वाक्यगत भी हो सकते हैं। इस क्रम से उनकी संख्या चौंतीस हो जाती है। अर्थशक्त्युत्थध्वनि के बारह भेदों का उप-विभाजन पदांश, वर्ण, रचना तथा प्रबंध की दृष्टि से करने पर संख्यावृद्धि में कोई कमी नहीं रहती। मम्मट ने इन समस्त भेदों का अनन्त विस्तार करते हुए उनकी संख्या सहस्रों तक पहुँचा दी है। मम्मट का यह ध्वनि-विश्लेषण उनकी सूक्ष्म दृष्टि और अनोखी सूझ-बूझ तथा उपाख्या का ही परिणाम है।

गुणीभूत व्यंग्य के रूप प्रकार

मम्मट ने काव्यप्रकाश के चतुर्थ उल्लास में ध्वनि-काव्य के भेद-प्रभेदों का विस्तारपूर्वक विवेचन करने के पश्चात् पंचम उल्लास में गुणीभूत-व्यंग्य संज्ञक मध्यम काव्य का निरूपण किया है। ध्वनि-काव्य में वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ अधिक चमत्कारी होता है जबकि गुणीभूत व्यंग्य-काव्य में उससे विपरीत स्थिति रहती है। मम्मट ने गुणीभूत व्यंग्य की परिभाषा में यही बात 'अतादृशि गुणीभूत व्यंग्यं व्यंग्ये तु मध्ययं'[54] के कारिकांश द्वारा व्यक्त की है। गुणीभूत व्यंग्य के आठ भेद हैं जिनके नाम निम्नलिखित हैं—

1. अगूढ़ व्यंग्य, 2. अपरांगभूत व्यंग्य, 3. वाक्यसिद्ध्यंग व्यंग्य, 4. अस्फुट व्यंग्य, 5. संदिग्धप्राधान्य व्यंग्य, 6. तुल्यप्राधान्य व्यंग्य, 7. काक्वक्षिप्त व्यंग्य तथा 8. असुंदर व्यंग्य।[55] इन अष्टविध व्यंग्यों में अस्फुट व्यंग्य तथा स्फुट व्यंग्य ही गुणीभूत व्यंग्य काव्य के प्रथम तथा अंतिम छोर हैं। ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य काव्यों का अन्तर सहृदय-जनों की अनुभूति के आधार पर समझा जा सकता है। जो काव्य जितना अधिक सहृदय-मात्रसंवेद्य होता है, वह उतना ही श्रेष्ठ और उत्तम माना जाता है। जिस काव्य का व्यंग्य अगूढ़ होने के साथ-साथ वाच्यार्थतुल्य होता है, वह गुणीभूत व्यंग्य है। अस्फुट व्यंग्य अथवा गूढ व्यंग्य काव्य भी गुणीभूत व्यंग्य का ही प्रभेद है जिसके व्यंग्य की प्रतीति सहृदयजनों को सहज भाव से नहीं होती। मम्मट ने गुणीभूत व्यंग्य के चमत्कार का निरूपण 'कामिनीकुचकलशन्याय' से करते हुए लिखा है कि गूढ़ व्यंग्य महाराष्ट्र की

कामनी के कुचकलश तुल्य चमत्कारजनक होता है जबकि अगूढ व्यंग्य अत्यंत स्पष्ट होने के कारण वाच्यतुल्य प्रतीत होता हुआ आंध्रवासिनी नायिका के पयोधर से उपमित किया जाता है।[56] ये दोनों प्रकार के व्यंग्य गुणीभूत व्यंग्य काव्य में रहते हैं। मम्मट ने अगूढ व्यंग्य के तीन तथा अपरांगरूप गुणीभूत व्यंग्य के आठ उदाहरण देकर उनकी लक्षण-संगति सिद्ध की है। उन्होंने बतलाया है कि अर्थान्तिर-संक्रमितवाच्य ध्वनि के अत्यन्त अगूढ होने से तो गुणीभूत व्यंग्य होता ही है किन्तु अत्यंततिरस्कृतवाच्य ध्वनि भी अगूढ व्यंग्य के लिए प्रयोजनवती हो सकती है। काव्य में ऐसे स्थल भी आते हैं जहाँ अनुरणन-रूप अर्थशक्तिमूल संलक्ष्यक्रमव्यंग्य की अगूढता में भी गुणीभाव रहता है।

अपरांगरूप गुणीभूत व्यंग्य काव्य वह है जहाँ वाक्य का तात्पर्य विषयीभूत प्रधान अर्थ किसी अंगीरस से वाच्य हो तथा दूसरा रस व्यंग्य वस्तु अथवा अलंकार आदि के रूप में उसका अंग हो। उदाहरणार्थ वाक्यार्थीभूत करुण रस की प्रधानता में यदि श्रृंगार रस उसका अंग अथवा गुणीभूत व्यंग्य बनकर उपस्थित होता है तो वहाँ गुणीभूत व्यंग्य काव्य माना जाता है। काव्य में ऐसे स्थल भी आते हैं जहाँ इस भाव का अंग बनकर गुणीभूत होता जाता है। उदाहरणार्थ जहाँ श्रृंगार रस देवविषयक रति भाव का अंग बनकर वर्णित हो, वहाँ अपरांगभूत गुणीभूत व्यंग्य होता है। इस प्रकार का व्यंग्य निम्नलिखित परि-स्थितियों में भी हो सकता—

(अ) जहाँ एक भाव दूसरे भाव का अंग हो। इस प्रकार की स्थिति में यदि कहीं किसी काव्यांश के पूर्वार्द्ध राजविषयक रति भाव प्रधान रूप से वर्णित होता है तथा उत्तरार्द्ध में श्रृंगाराभास तथा भावाभास आदि उसके अंग बनकर उपस्थित होते हैं तो वहाँ पर अपरांगरूप गुणीभूत व्यंग्य ही माना जाता है।

(आ) भावशांति, भावोदय, भावसंधि तथा भावशबलता आदि जहाँ किसी भाव विशेष के अंग बनकर उपस्थित होते हैं, वहाँ पर भी अपरांगरूप गुणीभूत व्यंग्य होता है। मम्मट ने इन सभी भावांगों के पृथक्-पृथक् उदाहरण देकर उनकी संगति सिद्ध की है।

प्राचीन आचार्यों ने गुणीभूत व्यंग्य के पूर्ववर्णित रूपों को रसवदादि अलंकार माना है। उनके शब्दों में 'गुणीभूतो रसो रसवत् भावस्तु प्रेयः, रसाभासभावाभासौ ऊर्जिस्वि, भावशान्तिः समाहितः' के अनुसार रसवत् अलंकारों में उपर्युक्त चारों रूपों को स्थान दिया गया है। भामह तथा महिम भट्ट आदि आचार्य भावोदय, भावसंधि और भावशबलता को रसवदादि अलंकार नहीं मानते। जबकि अन्य आचार्य उन्हें समाहित अलंकार के अन्तर्गत रसवदादि अलंकार ही स्वीकार करते हैं। रसवदादि अलंकारों की भाँति भावशान्ति, भावोदय तथा भावशबलता से भी अन्य भाव का उत्कर्ष होता है अतः लक्षण की समानता के कारण इन्हें भी रसवदादि अलंकार कहा जा सकता है।

गुणीभूत व्यंग्य काव्य का तीसरा भेद वाच्यसिद्धयंग व्यंग्य है। जहाँ सापेक्ष वाच्य अपनी सिद्धि के लिए दूसरे अर्थ की अपेक्षा रखता है तो वहाँ उसकी पूर्ति के लिए जो व्यंग्यार्थ उसका अंग बनता है वहाँ वाच्यसिद्धि का अंग होने से वाच्यसिद्धयंग व्यंग्य कहलाता है। गुणीभूत व्यंग्य के अवशिष्ट भेदों में अस्फुट व्यंग्य का अर्थ बोध करना सहृदय

जनों के लिए भी कष्टसाध्य और क्लिष्ट है क्योंकि उसमें स्पष्टता और प्रासादिकता नहीं होती। संदेहास्पद स्थिति में संदिग्धप्राधान्य व्यंग्य होता है। तुल्यप्राधान्य व्यंग्य में व्यंग्यार्थ तथा वाच्यार्थ में एक-सी प्रधानता रहती है। काकु अथवा विशेष प्रकार की कण्ठध्वनि से आक्षिप्त व्यंग्य काक्वाक्षिप्त व्यंग्य कहलाता है। असुंदर व्यंग्य में वाच्यार्थ ही अधिक चमत्कारजनक होता है। संक्षेप में गुणीभूत व्यंग्य काव्य के अष्टविध भेदों का सामान्य परिचय है।

ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य का अंतर

व्यंग्य की प्रधानता तथा गौणता की दृष्टि से ध्वनि काव्य और गुणीभूत व्यंग्य काव्य का अन्तर समझा जा सकता है। ध्वनि काव्य के भेदोपभेद-निरूपण की पद्धति के अनुसार गुणीभूत व्यंग्य के भी असंख्य भेद संभावित हैं किन्तु कहीं विशेष कारणों से दोनों काव्यों की समान संख्या नहीं हो सकती। वस्तुमात्र से अलंकारों की अभिव्यक्त होती है। मानने की स्थिति में तो निश्चय ही अलंकारों की ध्वन्यंगता अर्थात् ध्वनि-व्यवहार प्रयोजकता सिद्ध होती है जिसके कारण गुणीभूत व्यंग्य की संख्या में अंतर हो जाता है। काव्यलक्षण में अलंकार का समावेश होने के कारण (वस्तु से अलंकार व्यंग्य वाले उदाहरणों में) काव्यपद का व्यवहार अलंकार के आश्रित होता है। जहाँ वस्तु द्वारा अलंकार व्यंजना होती है, वहाँ गुणीभूत व्यंग्य काव्य न होकर ध्वनि काव्य ही होता है। इस प्रकार की विभाजन दृष्टि के अनुसार ध्वनि काव्य की अपेक्षा गुणीभूत व्यंग्य काव्य की संख्या अपेक्षाकृत कम हो जाती है। आचार्य मम्मट ने गुणनप्रक्रिया तथा संकलन-प्रक्रिया के अनुसार ध्वनि तथा गुणीभूत व्यंग्य का भेद-विस्तार करते हुए उसे इतना अधिक पृथुल, सुदीर्घ और श्रमसाध्य बना दिया है कि वे स्वयम् उसकी कोई उल्लेखनीय उपयोगिता नहीं समझते। इस प्रसंग में उनकी निम्नलिखित कारिका वृत्ति ध्यातव्य है—

सालंकारैर्ध्वनैस्तैश्च योगः संसृष्टिसंकरैः।
अन्योन्ययोगादेवं स्याद्भेदसंख्यातिभूयसी ।।[57]

एवमनेन प्रकारेण अवांतरभेदगणनेऽतिप्रभूतसरा गणना। तथा हि—शृंगारस्यैव भेदप्रभेदमणनायामानंत्यम्, का गणना तु सर्वेषाम्।

व्यंजनावृत्ति का वर्चस्व

व्यंजनावृत्ति की अनिवार्यता

आनन्दवर्धन की भाँति मम्मट भी व्यंजनावृत्ति के प्रबल समर्थक हैं। उन्होंने काव्यप्रकाश के चतुर्थ तथा पंचम उल्लास में क्रमशः ध्वनि काव्य तथा गुणीभूत व्यंग्य काव्य के भेद-प्रभेदों का विवेचन करने के पश्चात् व्यंजनावृत्ति की अनिवार्यता प्रतिपादित की है। उनकी सुदृढ़ धारणा है कि ध्वनि के सभी भेदों की प्रतीति केवल व्यंजनावृत्ति द्वारा ही हो सकती है। उन्होंने 'वाच्यतासह' तथा 'वाच्यता असह' नामक

ध्वनि के द्विविध भेद कल्पित करते हुए वाच्यतासह के विचित्र तथा अविचित्र संज्ञक दो उपभेद हुए माने हैं। वाच्यतासह विचित्र ध्वनि अलंकार ध्वनि में तथा अविचित्र ध्वनि वस्तु ध्वनि में अंतर्निहित रहती है। वाच्यता असह ध्वनि को रसादिध्वनि के नाम से भी अभिहित किया जाता है। वाच्यता असह कदापि वाच्य नहीं होता। वह सदैव व्यंग्य ही होता है। जिसके लिए व्यंजनावृत्ति स्वीकार करना अपरिहार्य है। उनका उपर्युक्त अभिमत निम्नलिखित अवतरण में उल्लिखित है—

संकलनेन पुनरस्य ध्वनेस्त्रयो भेदा: व्यंग्यस्यत्रिरूपस्वात्। तथाहि किंचिद्वाच्यतां सहते किंचित्त्वन्यथा। तत्र वाच्यता सहमविचित्रं विचित्रं चेति। अविचित्रं वस्तुमात्रं, विचित्रं त्वलंकार रूपं। यद्यपि प्राधान्येन तदलंकार्यम् तथापि ब्राह्मणश्रमणन्यायेन तथोच्यते।[58]

रसप्रतीति के लिए व्यंजनावृत्ति अनिवार्य है। रसादि रूप अर्थ स्वप्न में भी वाच्य नहीं हो सकता। यदि उसे वाच्य कहा जाए तो वह रसादि अथवा शृंगारादि शब्दों से ही अभिधा शक्ति द्वारा वाच्य रूप में कहा जा सकता है किन्तु ऐसा होता नहीं है। रस अथवा शृंगार आदि शब्दों का प्रयोग होने पर भी जब तक उनके साथ विभाव आदि का प्रयोग अथवा संयोग नहीं होता तब तक रसानुभूति नहीं हो सकती। जहाँ रसादि शब्दों का तो प्रयोग नहीं होता किन्तु विभाव आदि रसावयवों का प्रयोग होता है, वहाँ पर भी अन्वय व्यतिरेक द्वारा ही रसानुभूति का निश्चय किया जाता है। रसादि ध्वनि अथवा अर्थ सभी स्थितियों में सदैव व्यंग्य ही होते हैं, यह बात द्वितीय उल्लास 25वें और 26वें सूत्र में भी उल्लिखित है।[59]

अभिधामूलध्वनि और व्यंजना

मम्मट ने अभिधामूलक ध्वनि के अंतर्गत असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य रूप रस आदि की अर्थप्रतीति के लिए भी व्यंजनावृत्ति की अनिवार्यता प्रतिपादित की है। वे लक्षणामूलक ध्वनि के दोनों भेदों (अर्थान्तर संक्रमितवाच्य तथा अत्यंततिरस्कृत वाच्य) में भी व्यंजना-वृत्ति की आवश्यकता निर्दिष्ट करते हैं। उनका अभिमत है कि उपर्युक्त दोनों भेदों में वस्तुमात्र रूप व्यंग्य के बिना लक्षणा ही नहीं हो सकती।[60] वस्तुत: व्यंग्यप्रयोजन की प्रतीति ही लक्षणा का आधार है अत: यदि वह न हो तो उसमें लक्षणा असम्भावित रहती है। व्यंग्यप्रयोजन का बोध अभिधा द्वारा भी नहीं होता। मम्मट ने यही बात 'नाभिधा समयाभावात् हेत्वभावान्न लक्षणा'[61] सूत्र में प्रतिपादित की है।

अभिधामूलध्वनि का दूसरा भेद संलक्ष्यक्रम व्यंग्य है जिसके शब्दशक्त्युत्थ, अर्थ-शक्त्युत्थ तथा उभयशक्त्युत्थ नामक तीन प्रकार हैं। शब्दशक्त्युत्थ प्रकार में अनेकार्थक शब्द का प्रकरणवश एकार्थ में नियंत्रण हो जाने पर भी जब अन्य अर्थ की प्रतीति होती है तो उसे शाब्दीव्यंजना अथवा शब्दशक्त्युत्थध्वनि कहते हैं। वस्तु और अलंकार रूप में उस व्यंजना के दो भेद हैं। उसमें अभिधा का एकार्थ में नियंत्रण हो जाने से जिस अन्य अर्थ की प्रतीति होती है वह केवल व्यंजनावृत्ति द्वारा ही सम्भव है। इसी प्रकार किसी

प्रसंगविशेष पर प्रतीत होने वाले प्राकरणिक अथवा अप्राकरणिक अर्थों का उपमानोपमेय-भाव भी व्यंजनावृत्ति द्वारा बोधित होता है।[62]

मम्मट ने अर्थशक्त्युत्थ ध्वनि के भेदों में भी व्यंजनावृत्ति की अनिवार्यता स्वीकार की है। इस ध्वनि में व्यंग्यार्थ की प्रतीति के पूर्व वाच्यार्थ की उपस्थिति आवश्यक है। वाच्यार्थ की प्रतीति के पश्चात् ही व्यंग्यार्थ की प्रतीति होने के कारण इसे अर्थशक्त्युत्थ-ध्वनि कहा जाता है। वाक्यार्थ प्रतीति का विषय व्याकरण, न्याय तथा मीमांसा आदि अनेक शास्त्रों में प्रतिपादित हुआ है। पद, प्रमाण तथा वाक्य विचार की प्रधानता से वैयाकरण, नैयायिक तथा मीमांसक क्रमशः 'पद प्रमाणवाक्यज्ञ' कहलाते हैं। मम्मट ने वाक्यार्थज्ञान को मुख्यतः मीमांसकों का क्षेत्र समझकर उन्हीं के द्वारा प्रतिपादित अभिहितान्वयवाद तथा अन्विताभिधानवाद के परिप्रेक्ष्य में अपना विवेचन प्रस्तुत किया है। उनकी तो यह सुदृढ़ धारणा है अर्थशक्त्युत्थ ध्वनि के भेदों में व्यंजना का स्थान अपरिहार्य है। जो मीमांसक वाक्यार्थ की प्रतीति में अभिधा अथवा वाच्यार्थ की भी उपयोगिता नहीं मानते, वे व्यंग्यार्थ की प्रतीति तक कैसे पहुंच सकते हैं? यही बात मम्मट ने निम्नलिखित व्याख्या में निरूपित की है—

"अर्थशक्तिमूलेऽपि विशेषे संकेतःकर्तुम् न युज्यत इति सामान्यरूपाणां पदार्थानामाकांक्षासन्निधियोग्यतावशात्परस्परसंयोगो यत्रापदार्थोऽपि विशेषरूपो वाक्यार्थस्तत्राभिहितान्वयवादे का वार्ता व्यंग्य-स्याभिधेयतायाम्।"[63]

मीमांसकों के अभिमत का खण्डन

कुमारिल भट्ट आदि अभिहितान्वयवादी मीमांसक यह मानकर चलते हैं कि अभिधा शक्ति से पदार्थों की उपस्थिति मात्र होती है, किन्तु परस्पर संसर्ग रूप वाक्यार्थ की प्रतीति के लिए अभिधा ही पर्याप्त नहीं है। वे 'तात्पर्याख्या' शक्ति की कल्पना करते हुए उसके द्वारा शाब्दबोध की प्रतीति स्वीकार करते हैं। प्रभाकर गुरु आदि मीमांसक अन्विताभिधानवाद के समर्थक हैं। उनके मतानुसार यद्यपि अभिधा द्वारा अन्वित पदार्थों की उपस्थिति होती है किन्तु काव्यार्थ बोध के लिए तात्पर्य नामक शक्ति की कोई आवश्यकता नहीं रहती। "विशिष्टाः एव पदार्था : वाक्यार्थ" कहकर वे 'विशिष्टाः' का अर्थ 'अन्विताः' करते हैं। 'अन्वित पदार्थ ही वाक्यार्थ होता है' यही अन्विताभिधान-वाद का मूल विचारसूत्र है।

आचार्य मम्मट ने उपर्युक्त मीमांसकों की मान्यताओं को पूर्व-पक्ष के रूप में प्रतिष्ठित करते हुए प्रकारांतर से व्यंजनावृत्ति की अनिवार्यता सिद्ध की है। उनका कथन है कि तात्पर्य शक्ति को मानने अथवा न मानने से व्यंजनावृत्ति का महत्त्व कम नहीं होता। कुमारिल भट्ट आदि मीमांसक जिस तात्पर्य वृत्ति को स्वीकार करते हैं, वह घूम-फिर कर व्यंजनावृत्ति तक पहुंच ही जाती है। मम्मट ने अन्विताभिधानवाद द्वारा विवेचित 'निश्शेषच्युतचंदनं स्तनतटं' की व्याख्या को अपने पक्ष में मोड़कर यही सिद्ध करने का प्रयास किया है कि उस छंद में निषेध रूप वाच्यार्थ से प्रतीत होने वाले विधि

रूप व्यंग्यार्थ की प्रतीति के लिए व्यंजनावृत्ति मानना अनिवार्य है।

मीमांसावादी आचार्यों का व्यंजनावृत्ति से प्रकृत विरोध है। कुमारिल भट्ट तथा प्रभाकर गुरु के अभिहितान्वयवाद तथा अन्विताभिधानवाद का उल्लेख किया चुका जा है। उन्हीं की श्रेणी में आचार्य मुकुट भट्ट का नाम आता है जिन्होंने 'अभिधावृत्तिमातृका' नामक ग्रंथ में अभिधा तथा लक्षणा का प्रतिपादन किया है और अंत में अभिधा में ही लक्षणा का अंतर्भाव मान लिया है। मीमांसकों में एक अन्य मत 'एकदेशीमत' के नाम से प्रचलित है जो 'नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानिकल्प्यन्ते' के अनुसार यह स्वीकार करता है कि व्यंजनावादी जिस अर्थ को व्यंग्यार्थ कहते हैं, वह भी शब्द से ही प्रतीत होता है, अत: शब्द के अतिरिक्त उसका अन्य कोई निमित्त हो ही नहीं सकता। निमित्त के दो प्रकार हैं जिन्हें कारक तथा ज्ञापक कहा जाता है। शब्द कारक रूप निमित्त न होकर ज्ञापक रूप निमित्त होता है अत: व्यंग्यार्थ के प्रति शब्द का निमित्तत्व ज्ञापक अथवा बोधक रूप में ही मानना चाहिए। शब्द और व्यंग्यार्थ में बोध्यबोधकभाव अथवा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होता है जो केवल अभिधा शक्ति द्वारा ही सुसाध्य है। इस सिद्धांत के अनुसार व्यंग्यार्थ की प्रतीति शब्द के अभिधा-व्यापार से ही होती है अत: व्यंजनावृत्ति की कल्पना व्यर्थ है।[64]

व्यंजनावादियों ने मीमांसकैकदेशी विचारकों द्वारा प्रतिपादित उस सिद्धांत का खण्डन किया है जो यह मानकर चलता है कि नैमित्तिक कार्य के अनुसार निमित्त कारण की कल्पना की जाती है। उनके मतानुसार व्यंग्यार्थ के प्रति शब्द का ज्ञापकत्व रूप निमित्त तभी बन सकता है जब शब्द का उस अर्थ के साथ संकेतग्रह हो। मीमांसकों के अनुसार वह संकेत विशेष में न होकर सामान्य रूप से केवल अन्वितमात्र में ही होता है। उनकी यह मान्यता युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि जब तक शब्दरूप निमित्त का विशेष के साथ संकेत न माना जाएगा तब तक उससे विशेष अर्थ की प्रतीति नहीं हो सकेगी। यह अर्थ प्रतीति तभी संभव है जब निमित्त रूप शब्द का व्यंग्य रूप विशेष अर्थ के साथ निश्चित रूप से सम्बन्ध या संकेतग्रह स्वीकार किया जाए। इस प्रकार व्यंजनावादी आचार्य 'नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानिकल्प्यन्ते' सिद्धांत को अविचारित तथा अग्राह्य कह कर व्यंजनावृत्ति का प्रतिपादन करते हैं।

भट्ट लोल्लट की मान्यता अयुक्त है

भरत मुनि के रससूत्र के व्याख्याता आचार्य भट्ट लोल्लट प्रसिद्ध मीमांसक कुमारिल भट्ट के अनुयायी थे जिन्हें व्यंजनावृत्ति स्वीकार न थी। उनकी मान्यता है कि जिस प्रकार एक ही बार छोड़ा हुआ बाण पहले शत्रु का कवच-भेदन करता है, तदनंतर उसका वक्ष-स्थल विदीर्ण करता है और अंत में उसके प्राण हरता है, उसी प्रकार एक ही बार उच्चारण किया हुआ शब्द एक ही व्यापार से पहले वाच्य, तदनंतर लक्ष्य और अन्त में व्यंग्यार्थ का बोधक होता है। उसके लिए पृथक्-पृथक् शब्द शक्तियाँ मानने की आवश्यकता नहीं है। वस्तुतः व्यंग्य कहे जाने वाले अर्थ की प्रतीति अभिधा द्वारा ही

होती है जो 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' से प्रमाणित होता है ।[65]

व्यंजनावादियों को भट्ट लोल्लट आदि मीमांसकों का उपर्युक्त सिद्धांत स्वीकार नहीं है। उनका कहना है कि व्यंग्यार्थ के बोधन में बाण की कवचछेदन, उरोविदारण तथा प्राणविमोचन रूपिणी क्रियाओं के समान वाच्य लक्ष्य तथा व्यंग्य कहे जाने वाले सभी अर्थों का बोधक दीर्घदीर्घतर अभिधा व्यापार नहीं माना जा सकता। उन्हें मीमांसकों का यह तर्क भी उचित नहीं लगता कि जिस अभिप्राय से शब्द उच्चरित होता है वही उसका अर्थ है। उन्होंने 'निःशेषच्युतचंदनं स्तनतटं' में निषेधरूप से विधिरूप अर्थ की ही वाच्यता मानी है जो व्यंजनावादियों को अग्राह्य प्रतीत हुई है। मम्मट ने भट्ट लोल्लट आदि पूर्वपक्षियों की मान्यता का खण्डन करते हुए लिखा है कि जो लोग 'यत्परः शब्दः सः शब्दार्थः' द्वारा सभी अर्थों में शब्द की वाच्यता मानकर चलते हैं वे ऐसे 'देवानांप्रियः' (मूर्ख) हैं जो 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' जैसी तात्पर्यबोधक युक्ति का तात्पर्य ही नहीं समझते।[66] उनका कहना है कि यदि ऐसा होता तो कुमारिल भट्ट आदि मीमांसक लक्षणावृत्ति नहीं मानते। वस्तुतः तात्पर्यवाचोयुक्ति के आधार पर व्यंग्यार्थ को वाच्यार्थ सिद्ध करना किसी भी रूप में उचित नहीं है।

'उपात्त' शब्द में व्यंजना नहीं होती

व्यंजनावादियों ने उपात्त शब्द के अर्थ में ही 'तात्पर्य' माना है जिसका अभिप्राय यह है वाक्य में उपात्त शब्द के अर्थ में ही वाक्य के अन्य पदों का अर्थ होता है। व्यंग्यार्थ का वाचक कोई भी शब्द वाक्य में उपात्त नहीं होता अतः व्यंजनावृति पर 'यत्परः शब्दः सः शब्दार्थः' का नियम घटित नहीं हो सकता। मीमांसकों ने 'विषंभक्षय, मा चास्य ग्रहे भुंक्थाः' के उदाहरण द्वारा जिस तात्पर्यार्थ का निर्णय किया है; वह व्यंजनावादियों को स्वीकार नहीं है। उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि तात्पर्यवादी आचार्य, जिस अनुपात्त द्वारा उपर्युक्त वाक्य में तात्पर्यार्थसिद्धि करते हैं, वह समुचित नहीं है क्योंकि 'विषंभक्षय मा चास्य गृहे भुंक्थाः' जैसे दो वाक्यों की एक वाक्यता ही स्वीकार्य है जिसके अनुसार 'विषं भक्षय' वाक्य का तात्पर्य उसके उत्तरवर्ती वाक्य के उपात्त शब्द के अर्थ में ही है अर्थात् 'विषं भक्षय' का जो यह तात्पर्य निकलता है कि शत्रु के गृह में भोजन करना विषभक्षण से भी बुरा होता है इसलिए उसके घर में मत खाओ, यह उपात्त शब्द उसके अर्थ में ही निहित है अतः उसे अनुपात्त शब्द के अर्थ में मानना उचित नहीं है। उपर्युक्त वाक्य में तात्पर्य वृत्ति के लिए शब्द की उपात्तता स्वतः सिद्ध है जबकि व्यंजनावृत्ति के लिए शब्द की उपात्तता अनिवार्य नहीं है। मम्मट ने शब्द की उपात्तता तथा अनुपात्तता के आधार पर ही तात्पर्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ का अंतर स्पष्ट किया है।

व्यंजना सर्वथा पृथक् वृत्ति है

व्यंजनावादी आचार्य व्यंग्यार्थबोध के लिए अभिधा तथा लक्षणा से भिन्न वृत्ति मानना परम आवश्यक समझते हैं। उनका कथन है कि शब्दश्रुति के अनंतर जितना भी

अर्थ प्रतीत होता है, उसमें शब्द का केवल अभिधा व्यापार ही कार्य करता है तो 'हे ब्राह्मण, तुम्हारे पुत्र उत्पन्न हुआ है, हे ब्राह्मण, तुम्हारी अविवाहिता कन्या गर्भिणी हो गई है' इत्यादि वाक्यों में उनके सुनने से उत्पन्न होने वाले क्रमशः हर्ष और शोक केवल वाच्य ही क्यों नहीं माने जाते ? उन्हें लक्षणा मानने की भी क्या आवश्यकता है क्योंकि लक्षणीय अर्थ में भी दीर्घदीर्घतर अभिधा व्यापार से ही लक्ष्यार्थ की प्रतीति मानी जा सकती है। व्यंजनावादियों का यह आक्षेप भट्ट लोल्लट आदि मीमांसकों के प्रति है जो लक्षणा तो मानते हैं किन्तु व्यंजना नहीं मानते। उन्होंने उन मीमांसकों से यह प्रश्न किया है कि उनके मीमांसा दर्शन में श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान तथा समाख्या नामक छह प्रकार के प्रमाणों के समवाय में पूर्वपूर्व की बलवत्ता क्यों मानी जाती है ? शब्दश्रवण के पश्चात् सभी अर्थों की प्रतीति केवल अभिधा व्यापार से ही मानने पर न तो लक्षणा की ही आवश्यकता रहती है और न श्रुति आदि प्रमाणों के बलाबल का ही निश्चय हो सकता है अतः अन्विताभिधानवाद में भी 'निःशेषच्युतचंदनं' इत्यादि उदाहरणों में निषेधरूप वाच्यार्थ से प्रतीत होने वाले विधि अर्थ में भी व्यंग्यता (व्यंजनावृत्ति) ही स्वीकार की जानी चाहिए।

दोषव्यवस्था से व्यंजना-सिद्धि

मम्मट ने नित्यानित्य दोषव्यवस्था आदि उपायों से भी व्यंजनावृत्ति सिद्ध की है। उन्होंने काव्यशास्त्र की प्रक्रिया से भी उसे सिद्ध करने का प्रयास किया है। उन्होंने 'कुरु रुचिं पदों को उलट देने से 'रुचिं कुरु' पाठ में अश्लीलता दोष माना है क्योंकि 'चिकु' शब्द का योन्यंकुर अथवा भगनासा अर्थ अन्य पदार्थों के साथ अन्वित नहीं है अतः उसे भी वाच्यार्थ नहीं माना जा सकता। यदि उसे व्यंग्यार्थ न माना जाय तो इस प्रकार के असभ्य तथा अश्लील प्रयोग वाक्य में परित्याज्य नहीं होंगे। इस दृष्टि से भी व्यंजना-वृत्ति की अनिवार्यता सिद्ध होती है।

काव्यशास्त्र के दोष प्रकरण में नित्य और अनित्य दोषों का विभाजन भी व्यंजना-वृत्ति का साधक है क्योंकि व्यंग्य व्यंजक भाव के कारण ही काव्य में असाधुपदव्यंजक-च्युतसंस्कारत्त्व आदि नित्य दोष तथा कष्टत्व (श्रुतिकटुत्व) आदि अनित्य दोष होते हैं। यह दोष-विभाग वाच्य-वाचक भाव से सम्भव नहीं है। सभी काव्यरसिक सहृदय नित्या-नित्य दोषों की सत्ता तथा उनकी काव्यगत स्थिति की अनुभूति करते हैं। नित्य दोषों का रसगत अनौचित्य तथा अनित्य दोषों का कतिपय विशेष रसों में औचित्य व्यंजनावृति द्वारा ही बोधगम्य किया जा सकता है। काव्यार्थों में व्यंग्य-व्यंजक भाव को स्वीकार करने पर ही व्यंग्य के अनेक प्रकार सिद्ध होते हैं जिनके औचित्य तथा अनौचित्य के कारण दोष विभाजन किया जाना संभव है।

गुण व्यवस्था व्यंजनानुरूप होती है

मम्मट ने गुण व्यवस्था द्वारा भी व्यंजनावृत्ति सिद्ध की है। गुण व्यवस्था में

व्यंग्य व्यंजक भाव न मानने पर तो वाचक रूप से सभी शब्दों की समतुल्य स्थिति होने के कारण किसी विशेष पद के प्रयोग में कोई विलक्षण चमत्कार ही नहीं आ सकेगा। महाकवि कालिदास ने कुमारसंभव के निम्नलिखित छंद में भगवान् शंकर के लिए 'पिनाकी' शब्द का प्रयोग न कर जिस 'कपाली' शब्द का प्रयोग किया है वह उनके दारिद्रय तथा वीभत्स भाव का व्यंग्य व्यंजक रूप प्रकट करता है जिसके कारण काव्य-सौन्दर्य में अद्भुत चमत्कार आ सका है—छंद इस प्रकार है—

> द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागम प्रार्थनया कपालिनः।
> कला च सा कांतिमती कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी ॥

संख्या भेद और वाच्यव्यंग्य भेद

व्यंग्य व्यंजक भाव की सिद्धि में और भी अनेक हेतु हैं जिनमें संख्या भेद से बाच्य व्यंग्य का भेद भी सम्मिलित है। यों तो सभी प्रतिपत्ताओं (ज्ञाताओं) के लिए वाच्यार्थ एकरूप तथा सुनिश्चित होता है किन्तु प्रकरण विशेष की भिन्नता के कारण उसके वक्ता और बोद्धा उसके द्वारा भिन्न-भिन्न प्रतीयमान अर्थ ग्रहण करते हैं। 'गतोऽस्तमर्कः' अर्थात् 'सूर्य छिप गया' में यद्यपि वाच्यार्थ कहीं पर भी बदलता नहीं है तथापि इस वाक्य का प्रयोग लुटेरे या योद्धा अपने साथियों के प्रति करें तो उसका अर्थ होगा 'शत्रुओं को लूटने या नष्ट करने का समय आ गया।' यही वाक्य किसी दूती द्वारा भिन्न-भिन्न नायिकाओं के प्रति कहा जाय तो प्रकरण विशेषों की विविधता तथा भिन्नता के कारण उसके भिन्न-भिन्न अर्थ होंगे। इस प्रकार की प्रकरण गत अर्थभिन्नता से भी व्यंजनवृत्ति की स्वतंत्र सत्ता सिद्ध होती है।

वाच्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ की संख्या में भेद होने के कारण व्यंग्यार्थ को वाच्यार्थ से भिन्न मानना अनिवार्य है ही, किन्तु कुछ और भी हेतु है जिनसे व्यंजनावृत्ति की सिद्धि होती है। वाच्य और व्यंग्य के स्वरूप, प्रतीति, काल, आश्रय, निमित्त, कार्य, संख्या तथा विषय भेद से भी वाच्य अर्थ से व्यंग्य अर्थ का भेद सिद्ध होता है। मम्मट ने स्वरूप भेद से वाच्य व्यंग्यभेद के तीन उदाहरण देकर उनकी संगति सिद्ध की है।[67] उन्होंने वाच्य व्यंजक के भेदसाधक कुछ विशेष कारण भी निर्दिष्ट किये हैं जो काल, आश्रय, निमित्त, संज्ञा, कार्य, संख्या और विषय आदि के अवांतर रूपों में प्रकट होते हैं। वाचक शब्दों को अर्थ की अपेक्षा होती है जिसके द्वारा वे केवल संकेतित अर्थ का ही बोध करा सकते हैं जबकि व्यंजक शब्दों को अर्थ की आवश्यकता नहीं होती। वे शब्द संकेतग्रह के बिना किसी भी अर्थ का बोध करा सकते हैं। इससे भी सिद्ध होता है कि वाचकत्व और व्यंजकत्व एक नहीं हैं अपितु उनकी स्थिति पृथक्-पृथक् है।

व्यंजना अतात्पर्यविषयीभूत है

मम्मट ने अतात्पर्यविषयीभूत अर्थ की व्यंग्यता भी विवेचित की है। उसका यह अभिप्राय है कि काव्यार्थों में कहीं-कहीं ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं जिनमें व्यंग्यार्थ

प्रतीति तो होती है किन्तु वह तात्पर्यविषयीभूत अर्थ नहीं होता। उदाहरणार्थ गुणीभूत-व्यंग्य के 'असुन्दर व्यंग्य' नामक भेद में व्यंग्यार्थ की प्रतीति होने पर भी वह वाच्यार्थ से अधिक सुन्दर नहीं होता अतः उसके आस्वाद की विश्रांति व्यंग्य में न होकर वाच्य में ही होती है। व्यंजना को पृथक् वृत्ति मानने पर ही इस प्रकार के अतात्पर्यविषयीभूत अर्थ की प्रतीति की जा सकती है। अभिप्राय यह है कि व्यंजनावादी आचार्यों की भाँति आचार्य मम्मट ने ध्वनि प्रस्थापक आचार्य के रूप में उपर्युक्त युक्तियों द्वारा व्यंजनावृत्ति की स्वतंत्रता, पृथकता तथा अनिवार्यता सिद्ध करने का पूर्ण प्रयास किया है जो संस्कृत काव्यशास्त्र में एक प्रकार का विशिष्ट कीर्तिमान है। उनके द्वारा आचार्य आनंदवर्धन ध्वनि सिद्धान्त अत्यंत परिष्कृत एवं विशद रूप में विकासमान बन सका है, यह निर्विवाद सत्य है।

व्यंजना लक्षणागम्य नहीं है

आचार्य मम्मट ने व्यंग्यार्थ के लक्षणागम्य अंतर्भाव का भी निषेध किया है। उन्होंने लक्षणावादी आचार्यों के उस पूर्वपक्ष का खण्डन किया है जो लक्षणा में ही व्यंग्यार्थ की समस्त विशेषताएँ निरूपित करते हुए उसकी स्वतंत्र सत्ता नहीं मानते। व्यंजना-वादियों का कथन है कि वाच्यार्थ तो नियत रूप से एक ही होता है जबकि व्यंग्यार्थ अनेक हो सकते हैं जिनके कारण अभिधा में उसका अंतर्भाव नहीं हो सकता। इसमें कोई संदेह नहीं कि नियत अर्थवाचक अभिधा शक्ति से भिन्न-भिन्न लक्ष्यार्थ लक्षित होते हैं किन्तु अपनी प्रकृति में व्यंजना व्यापार उससे पृथक् और भिन्न है। कहने के लिए लक्ष्यार्थ भी अर्थान्तर संक्रमितवाच्य तथा अत्यंततिरस्कृत वाच्य के रूप में प्रकट होता है किन्तु वह किसी न किसी रूप में अभिधावृत्ति से जुड़ा रहता है। व्यंजनावृत्ति के विषय में इस प्रकार का नियत प्रतिबंध ग्राह्य नहीं है। उसका व्यंग्यार्थ नियत सम्बन्ध अनियत सम्बन्ध तथा परम्परित सम्बन्ध युक्त भी हो सकता है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि लक्ष्यार्थ की प्रतीति के लिए मुख्यार्थबाध अनिवार्य है जबकि व्यंग्यार्थ की प्रतीति उसके बिना भी हो सकती है। आचार्य मम्मट ने काव्यशास्त्रीय परम्परा में सुप्रसिद्ध छंदों की अर्थ विवेचना करते हुए यही सिद्ध करने का प्रयास किया है कि जिन स्थलों पर लक्षणावादी आचार्य मुख्यार्थबाध की कल्पना करते हैं, वह असंगत है क्योंकि वहाँ किसी प्रकार की मुख्यार्थ-बाधा माने बिना भी अर्थ प्रतीति की जाती है, जिसे व्यंजनावृत्ति का ही चमत्कार मानना चाहिए। निम्नलिखित उदाहरण द्वारा इसका स्पष्टीकरण किया जा सकता है—

> श्वश्रूस्त्र निमज्जति अत्राहं दिवसके प्रलोकय।
> मा पथिक रात्र्यंध शय्यायां मम निमंक्ष्यसि ॥ (संस्कृत छाया)

अर्थात् हे रतौंधी रोगी पथिक, दिन में अच्छी तरह देख लो—यहाँ मेरी सास लेटती है और यहाँ मैं लेटती हूँ। रतौंधी के कारण देख न पाने के कारण रात को कहीं मेरी सास की खाट पर न गिर पड़ना।

उपर्युक्त श्लोक में कोई दुश्चरित्रा स्त्री दिन में किसी पथिक के सम्मुख वाच्यार्थ

रूप में सारी स्थिति का स्पष्टीकरण करती है, जिसका व्यंग्यार्थ एक प्रकार से उसे अपनी खाट पर पहुँचाने का निमंत्रण है ताकि उसकी काम पिपासा शान्त की जा सके। उस व्यंग्यार्थ तक पहुँचने में किसी भी प्रकार का मुख्यार्थबाध अपेक्षित नहीं है। वस्तुतः यह अभिधामूल ध्वनि का उदाहरण है जिसमें लक्षणावादियों ने व्यर्थ में ही मुख्यार्थबाध की कल्पना करते हुए उसे लक्षणागम्य माना है जबकि वास्तविकता तो यह है कि वह सभी दृष्टियों से व्यंजनावृत्ति का ही चमत्कार है।

नागेश भट्ट आदि मीमांसकों ने लक्षणा का बीज अन्वयानुपपत्ति में न मानकर तात्पर्यानुपपत्ति में माना है। उन्होंने बतलाया है कि उपर्युक्त उदाहरण में तात्पर्यानुप-पत्ति के कारण मुख्यार्थबाध माना जा सकता है जिससे दूसरे अर्थ की प्रतीति लक्षणागम्य ही सिद्ध होती है। मम्मट इस मत से सहमत नहीं है। उसका कथन है कि लक्षण में भी फल या प्रयोजन का बोध करने के लिए व्यंजना का आश्रय अवश्य लेना होगा जो 'फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यंजनान्नापरा क्रिया' सूत्र द्वारा सिद्ध होता है। वस्तुत: अभिधा संकेतग्रह की अपेक्षा करती है तो लक्षण भी मुख्यार्थबाध आदि सम्बन्ध विशेषों से अनुबंधित रहती है अतः उसे अभिधा की पुच्छभूतः कहा जाता है। व्यंजना व्यापार उन दोनों से सर्वथा भिन्न है। अतः उसे अभिधा अथवा लक्षणारूप नहीं कहा जा सकता। लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ का भेद निम्नलिखित युक्तियों द्वारा भी सिद्ध होता है—

1. लक्षणा के पश्चात् व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है।
2. लक्षणा के बिना अभिधा के अवलम्बन से भी अभिधामूला व्यंजना सम्भव है।
3. व्यंजना अभिधा तथा लक्षणा की अनुगामिनी नहीं है। क्योंकि अवाचक अथवा निरर्थक वर्णों द्वारा भी व्यंजना दृष्टिगोचर होती है। इसका तात्पर्य यह है कि केवल वर्ण किसी अर्थ के वाचक नहीं होते अपितु पद ही अर्थ के वाचक होते हैं, अतः वर्ण भी किसी अर्थ विशेष के व्यंजक हो सकते हैं।
4. अभिधा और लक्षणा का सम्बन्ध केवल शब्द तक सीमित है किन्तु व्यंजना केवल शब्दानुसारिणी ही नहीं होती। नेत्र प्रांत के अवलोकन अथवा कटाक्ष आदि की अशब्द स्वरूपों से भी अभिप्राय विशेष अभिव्यंजना तो रसिक समाज में सुप्रसिद्ध ही है।

निष्कर्ष यह है कि अभिधा लक्षणा तथा तात्पर्य आदि शाब्द व्यापारों के पश्चात् होने वाला ध्वनन, व्यंजन तथा गमन व्यापार उपर्युक्त तीनों व्यापारों से भिन्न होता है। अतः व्यंजनावृत्ति को किसी भी रूप में अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

वेदांतादि मतों का खंडन

मम्मट ने वेदांतियों, वैयाकरणों और नैयायिकों के मतों का भी खण्डन करते हुए व्यंजनावृत्ति विषयक मान्यता प्रतिष्ठित की है। उन्होंने सर्वप्रथम अखण्डतावाद की चर्चा प्रारम्भ कर वेदांतियों तथा वैयाकरणों को चुनौती दी है। अखण्डतावाद के खण्डन के पूर्व उसका वेदांत प्रतिपादित तत्त्वबोध तथा न्यायसम्मत दृष्टिकोण समझना आवश्यक है

जिन्हें पूर्वपक्ष बनाकर ही व्यंजनावादियों की तद्‌विषयक धारणाएं समझी जा सकती हैं।

अखण्डार्थ वाक्य और व्यंजना

शाब्दबोध की प्रक्रिया में साधारणत: 'पदार्थसंसर्ग बोध' को 'वाक्यार्थ' कहा जाता है। प्रायः सभी वाक्य पदार्थ संसर्गगोचर प्रतीति कराते हैं जिसका यह अभिप्राय है कि वाक्यप्रयुक्त पदों में सर्वप्रथम पदार्थों की प्रतीति और तदनंतर उनका परस्पर सम्बन्ध उपस्थित होता है जिनके द्वारा वाक्यार्थ का बोध होता है।

वेदांतियों ने ऐसे वाक्यों की भी कल्पना की है जो संसर्गविषयक प्रतीति नहीं कराते। उन्हें अखण्डार्थ वाक्य कहते हैं जिनका लक्षण 'संसर्गगोचर प्रमितिजनकत्वं अखंडार्थत्वम्' है। इस प्रकार के वाक्यों की श्रेणी में लक्षण वाक्य आते हैं जिन्हें अखण्डार्थ-वाक्य मानने का मुख्य आधार प्रश्न और प्रतिवचन का सारूप्य-सिद्धांत है। किसी पदार्थ के स्वरूप की जिज्ञासा का उत्तर लक्षण वाक्य द्वारा ही दिया जाता है यदि कोई पूछे कि आकाश में चन्द्रमा कौन-सा है (कतमश्चन्द्रः) तो उसका उत्तर होगा जो सबसे अधिक प्रकाशमान है, वह चन्द्रमा है (प्रकृष्टप्रकाशश्चंद्रः)। यहाँ प्रश्न और उत्तर दोनों स्वरूप मात्र विधायक हैं। इनसे पदार्थ का संसर्गपरक बोध न होकर स्वरूपपरक बोध होता है। अत: इसे अखण्डार्थवाक्य कहा जाता है। 'तत्त्वमसि', "सोऽयं देवदत्तो' आदि वाक्य अखंडार्थ वाक्य कहे जाते हैं।

'अखण्डार्थ वाक्य' की व्याख्या प्रकारांतर से भी की गई है। उसकी सामान्य परिभाषा यह की जाती है कि जिस वाक्य में क्रियाकारकभाव आदि खण्डों में वाक्य अथवा वाक्यार्थ का विभाग न किया जा सके, वह अखण्ड अथवा अखण्डार्थ वाक्य होता है। वेदांत दर्शन के अनुसार 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' का सिद्धांत प्रख्यात सिद्धांत है, जिसमें सम्पूर्ण जगत् तथा उसमें दिखाई देने वाला नानात्व मिथ्या कहा गया है। इस सिद्धांत के अनुसार धर्म धर्मिभाव तथा क्रियाकारक भाव भी मिथ्या है। वस्तुत: पारमार्थिक रूप में अभिधा, लक्षणा और व्यंजना की कोई सत्ता नहीं है। उनका अस्तित्व केवल व्यावहारिक रूप में स्वीकार किया जा सकता है। काव्यशास्त्र में प्रतिपादित उपादान लक्षणा तथा लक्षण लक्षणा को वेदांतियों ने अजहल्लक्षणा तथा जहल्लक्षणा कहा है। इन दोनों के अतिरिक्त 'जहद-हल्लक्षणाज नामक तृतीय लक्षणा भी मानी जाती है जिसे भागत्यागलक्षणा भी कहते हैं। वेदांतियों का अभिमत है कि 'तत्त्वमसि' इत्यादि महाकाव्यों का अर्थ अभिधा के तथा पूर्वोक्ति दो प्रकार की लक्षणाओं से ज्ञात न होकर भागत्यागलक्षणा से होता है। तत्त्व दृष्टि से तो अभिधा, लक्षणा, व्यंजना, सखण्डार्थ वाक्य और अखण्डार्थ वाक्य आदि सभी मिथ्या हैं किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से 'व्यवहारे भट्टनयः' के अनुसार अखण्ड वाक्य अथवा अखण्ड वाक्यार्थ की कल्पना की जाती है।

वेदांतियों ने 'सत्यं ज्ञानमनंतं ब्रह्म', 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन', 'तत् त्वमसि', 'अहंब्रह्मास्मि' आदि वाक्यों में अखण्ड वाक्य की दोनों व्याख्याओं का समावेश करते हुए यही सिद्ध किया है कि उन वाक्यों से अखण्ड बुद्धि उत्पन्न होती है जिसके द्वारा निर्ग्राह्य ब्रह्म ही वाक्यों का अर्थ माना जाता है। वही अर्थ वाक्यों का वाच्यार्थ है

तथा वे ही वाक्य अखण्ड ब्रह्म के वाचक हैं। मम्मट ने यही बात 'अखण्ड बुद्धिनिर्ग्राह्यो वाक्यार्थ एव वाच्यः, वाक्यमेव च वाचकंइत्यादु' द्वारा स्पष्ट की है।[68]

मम्मट ने 'तैरप्यविद्यापदपतितैः पदपदार्थकल्पनाकर्तव्यैव' द्वारा उपर्युक्त मत का खण्डन किया है। उनका आशय यह है कि 'व्यवहारे भट्टनयः' सिद्धांत के अनुसार वेदांती भी व्यवहार दशा में जगत् की दृश्यमानता स्वीकार करते हैं जिसके लिए उन्हें भी पद पदार्थ आदि की कल्पना करनी पड़ती है। उस दिशा में 'निश्शेषच्युतचंदनं' आदि उदाहरणों में निषेधवाक्य से होने वाली विधिरूप अर्थप्रतीति व्यंजनावृत्ति का ही चमत्कार माना जाना चाहिए।

वेदांतियों की भाँति वैयाकरण भी अखण्डार्थतावादी हैं। उन दोनों में मौलिक अंतर इतना ही है कि वेदांतियों के अद्वितीय ब्रह्मतत्व के स्थान पर वैयाकरण एकमात्र स्फोट रूप शब्दबुद्ध की सत्ता स्वीकार करते हैं। 'वैयाकरणभूषण' के अनुसार पद में वर्ण तथा वाक्य में पदों को पृथक्-पृथक् नहीं माना जा सकता।[69] भर्तृहरि ने भी ब्राह्मणकंबल न्याय से अखण्डवाक्यार्थता का सिद्धांत प्रतिपादित किया है। उनका कथन है कि प्रकृति और प्रत्यय आदि का विभाग तो केवल बालकों को शिक्षा देने के लिए किया जाता है। इस विषय में वाक्य पदीय की निम्नलिखित कारिकाएँ उल्लेखनीय हैं—

ब्राह्मणार्थो यथा नास्ति कश्चिद् ब्राह्मणकम्बले।
देवदत्तादयो वाक्ये तथैव स्युरनर्थकाः॥
उपायाः शिक्ष्यमाणानां बालानामुपलालनाः।
असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते॥

अर्थात् जैसे ब्राह्मण का कम्बल 'ब्राह्मणकम्बल' पद में समस्त पद का तो अर्थ है किंतु ब्राह्मण शब्द का कोई पृथक् अर्थ नहीं है। उसी प्रकार किसी भी वाक्य में उसके पृथक्-पृथक् पदों का कोई अर्थ नहीं होता। वस्तुतः वाक्य का अर्थ समष्टि रूप से ही होता है जिससे अखण्डवाक्यार्थता का सिद्धांत प्रतिपादित होता है।

महिमभट्ट की अनुमति का खण्डन

प्रसिद्ध नैयायिक आचार्य महिमभट्ट व्यंजनावृत्ति के कट्टर विरोधी हैं। उन्होंने न्याय-प्रक्रिया का अवलम्बन करते हुए व्यंजनावृत्ति को अनुमान प्रमाण में अंतर्युक्त करने का सिद्धांत प्रतिपादित किया है। उनका यह अभिमत 'व्यक्ति विवेक' नामक ग्रंथ में विवेचित हुआ है। वे प्रारम्भ से ही यह मानकर चले हैं कि ध्वनि सामान्यतः अनुमान में ही अन्तर्युक्त रहती है अतः उसकी कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है। उन्होंने सुप्रसिद्ध उदाहरणों द्वारा यही सिद्ध करने का प्रयास किया है कि जिसे व्यंग्यार्थ कहा जाता है, वह केवल अनुमान का ही विषय है। उनका सम्पूर्ण विवेचन मुख्यतः न्याय की अनुमान प्रक्रिया पर आधारित है इसलिए उनका मत न्यायमत कहा जाता है।

न्यायमत के अनुसार अनुमान का लक्षण त्रिरूपाल्लिंगालिंगिज्ञानं अनुमानम् है। अर्थात् व्याप्ति तथा पक्षधर्मतायुक्त एवं त्रिरूपविशिष्ट लिंग से लिंगी का जो ज्ञान होता

है, वह अनुमान कहलाता है। अनुमानवादियों ने व्यंग्य व्यंजकभाव की प्रतीति भी अनुमान रूपा मानी है क्योंकि उसमें भी व्याप्ति और पक्षधर्मता का समावेश रहता है। काव्य-शास्त्रीय ग्रंथों में गाथासप्तशती का निम्नलिखित छंद अत्यंत उल्लेखनीय रहा है जिसकी व्याख्या करते हुए व्यंजनावादी आचार्यों ने उसे ध्वनितत्त्व के अंतर्गत सिद्ध किया है जब कि अनुमानवादी आचार्य उसमें अनुमान मत स्वीकार करते हैं। तत्त्व बोध की दृष्टि से उसकी व्याख्या वांछनीय है। छंद इस प्रकार है—

भ्रम धार्मिक विश्वस्त: स श्वाद्य मारतिस्तेन।
गोदानदीकच्छकुंजवासिना दृप्तसिंहेन ।।[70]

अर्थात् हे धार्मिक महानुभाव, अब आप निश्शंक होकर भ्रमण करें। गोदावरी के कछार-कुंज में रहने वाले उस दृप्त (अभिमानी) सिंह ने आज उस कुत्ते को मार डाला है जिससे आप भयभीत रहते थे।

उपर्युक्त वाक्योक्ति एक ऐसी नायिका की है जो अपने उपपति से मिलने के लिए सदैव उत्कण्ठित रहती है किन्तु उसके मिलन स्थल में धार्मिक का भ्रमण व्यवधान उपस्थित करता है। वह येन केन प्रकारेण धार्मिक को किसी न किसी बहाने भय दिखाकर उस ओर आने से रोकना चाहती है जिसके लिए उसने सिंह द्वारा कुत्ते को मार डालने की घटना उसके सम्मुख प्रस्तुत की है। उसके कथन का वाच्यार्थ तो यही है कि कुत्ते के मारे जाने से वह गोदावरी के कछार कुंज में निर्भय होकर भ्रमण कर सकता है। किन्तु नायिका का मूल मंतव्य यह नहीं है। वह तो किसी न किसी बहाने धार्मिक को उस ओर आने से रोकना चाहती है जिसके लिए भ्रम धार्मिक पदों का विधि रूप वाच्यार्थ निषेध-रूप व्यंग्यार्थ में पर्यवसित करना पड़ता है। व्यंजनावादी आचार्य इस निषेधरूप अर्थ को व्यंग्यार्थ मानते हैं जबकि नैयायिक आचार्य महिम भट्ट उसे अनुमिति अर्थात् अनुमानजन्य प्रतीति का विषय सिद्ध करते हैं।

आचार्य मम्मट ने उपर्युक्त छंद में प्रतिपादित भ्रमणनिषेध को अनुमिति न मान कर व्यंजनावृत्ति का परिणाम माना है। उन्होंने महिम भट्ट की व्याख्या में 'प्रयुक्त हेतु' को हेत्वाभास कहा है जो अनैकांतिक तथा विरुद्ध रूपों में प्रकट हुआ है। इस छंद में अनु-मिति मानने के विषय में तीसरा दोष यह है कि गोदावरी के किनारे सिंह का होना प्रत्यक्ष तथा अनुमान से निश्चित नहीं हुआ है किंतु अर्थ के साथ वचन का प्रतिबंध न होने से वचन का प्रामाण्य नहीं है। पक्ष में हेतु न होने से यहाँ स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास भी है। इस प्रकार विविध दोषग्रस्त हेतु होने से यहाँ अनुमान द्वारा साध्यसिद्धि नहीं होती अत: यही स्वीकार करना पड़ता है कि व्यंजनावृत्ति द्वारा ही उपर्युक्त छंद का अर्थबोध सहज संभव है। अभिप्राय यह है कि आचार्य मम्मट ने मीमांसक, नैयायिक, वेदांती, वैयाकरण तथा ध्वनिविरोधी काव्यशास्त्रियों के अभिमतों का युक्तिसंगत खण्डन करते हुए जिस ध्वनि सिद्धांत तथा व्यंजनावृत्ति की प्रतिष्ठा की है, वह आनन्दवर्धन द्वारा प्रतिपादित तथा अभिनवगुप्त द्वारा अनुमोदित है। इस क्षेत्र में मम्मट का योगदान अत्यंत वर्चस्वपूर्ण और अप्रतिम है।

व्यंजनावृत्ति का वर्चस्व

काव्यशाला के अंत: विस्तार तथा व्यापक आयामों में व्यंजनावृत्ति की प्रतिष्ठा एक अद्भुत चमत्कार है। आचार्य आनंदवर्धन, मम्मट तथा अभिनवगुप्त ने इस दिशा में अभूतपूर्व विचारोत्तेजक सामग्री प्रस्तुत की है। मीमांसकों, वेदांतियों, नैयायिकों तथा कतिपय वैयाकरणों के व्यंजनाविरोधी अभिमतों का युक्तिसंगत खण्डन करते हुए उन्होंने व्यंजना अथवा ध्वनि को काव्य का आत्मतत्त्व सिद्ध किया है। अभिधावृत्ति तो केवल संकेतग्रह कराने के पश्चात् उपरमित हो जाता है और लक्षणावृत्ति मुख्यार्थबाध आदि त्रिविध कारणों से संयुक्त होकर अभिधापुच्छभूत मात्र ही रह जाती है जबकि व्यंजनावृत्ति के सम्मुख अर्थ व्यापार का अपरिमित क्षेत्र व्याप्त है। व्यंजनावृत्ति के चमत्कार से ही सहृदय समाज रसानुभूति करते हुए काव्यार्थों के साथ अपना हृदयसंवाद करते हैं। व्यंजनावादी आचार्यों ने कवियों की वर्णन शैली की वक्रता तथा व्यंजना की अभिशंसा करते हुए उसे परम प्रकर्षमयी और अद्वितीय माना है जिसके कारण वे 'कविर्मनीषी परिभू : स्वयम्भू' कहे जाते हैं। वेदमंत्रों में भी ईश्वर की स्तुति में परमात्मा को 'कविरूप' ही माना गया है। इस विषय में निम्नलिखित दो छंद उल्लेखनीय हैं—

(1)

व्यंग्य प्रधानाभिनवैव भंगी मुख्यार्थबाध: परमप्रकर्ष:।
वक्रोक्तयो यत्र विभूषणानि सा काचिदन्या सरणि: कवीनां।।

(2)

स्तोतुं प्रवृत्ता श्रुतिरीश्वरं हि न शाब्दिकं प्राह न तार्किकं वा।
ब्रूते तु तावत् कविरित्यभीक्ष्णं काष्ठा तत: साकविता परा न:।।

काव्य-दोष

लक्षण तथा भेद-प्रभेद

मम्मट ने काव्यलक्षण की शब्दार्थमयी स्थिति के प्रथम विशेषण के रूप में 'अदोषौ' पद का प्रयोग किया है जिसका अभिप्राय यह है कि काव्य के लिए निर्दुष्टता वांछनीय है। उनके मतानुसार काव्य-दोष का सामान्य लक्षण निम्नलिखित है—

मुख्यार्थहतिर्दोषो रसश्च मुख्यस्तदाश्रयाद् वाच्य:।
उभयोपयोगिन: स्यु: शब्दाद्यास्तेन तेष्वपि स:।।[71]

उपर्युक्त सूत्र के अनुसार मुख्य अर्थ के अपकर्ष हेतु का नाम दोष है। मम्मट ने 'हति' शब्द का अर्थ विनाश न मानकर अपकर्ष माना है। सूत्र प्रयुक्त 'शब्दाद्या:' पद शब्द के अतिरिक्त वर्ण तथा रचना के भी वाचक हैं। यहाँ मुख्यार्थ पद का अभिप्राय वाच्यार्थ न होकर रस है क्योंकि रस ही काव्य में प्रधान अर्थ होता है। उसका उत्कर्ष तथा सौष्ठव जिन कारणों द्वारा हीन तथा न्यून किया जाता है, उन्हें दोष कहते हैं। रस का सम्बन्ध शब्द और अर्थ की व्यंजकता से है अत: उसकी पूर्ववर्ती स्थिति में काव्य की अभि-

ध्येयता तथा लाक्षणिकता भी किसी न किसी रूप में उससे संयुक्त रहती है। मम्मट ने इसी दृष्टिकोण से रस के आश्रयभूत वाच्य अर्थ को भी मुख्य अर्थ माना है। उनका कथन है कि इसके साथ चमत्कारी वाच्य का अपकर्षकारक हेतु भी दोष कहलाता है। वह रसदोष न होकर अर्थदोष है। रस तथा वाच्यार्थ का बोध कराने में शब्द आदि भी सहायक होते हैं अत: उनमें भी यदि कोई अपकर्षकारी तत्त्व हो तो उसे पद दोष कहते हैं। इस प्रकार काव्यदोषों की व्याप्ति पद और पदांश से लेकर रस पर्यंत है।

मम्मट ने श्रुतिकटु, च्युतसंस्कार, अप्रयुक्त, असमर्थ, निहतार्थ, अनुचितार्थ, निरर्थक, अवाचक, त्रिविध अश्लीलत्व, संदिग्ध, अप्रतीत, ग्राम्य तथा नेयार्थ संज्ञक त्रयोदश दोष पदगत तथा समासगत माने हैं। उनके मतानुसार क्लिष्ट, अविमृष्ट विधेयांश तथा विरुद्धमतिकृत् दोष केवल समास में ही होते हैं।[72] उपर्युक्त सभी दोष दोष के विशेष लक्षण के रूप में अभिहित किए जाते हैं। मम्मट ने पद, पदांश और वाक्य में रहने वाले दोषों के साथ-साथ अर्थ दोषों का भी निरूपण किया है। उनका यह विश्लेषण रसदोषों तथा अलंकार-दोषों तक व्याप्त होकर उनकी नित्यानित्य स्थिति तथा उनके अपवाद तथा परिहार की विवेचना का भी विषय बना है।

शब्ददोष विश्लेषण

कठोर वर्ण रूप रसापकर्षक पद श्रुतिकटु कहलाते हैं। उनकी परुषता कानों को पीड़ा पहुँचाने वाली होती है। 'कृतार्थता' के स्थान पर 'कार्तार्थ्य' पद का प्रयोग श्रुतिकटु है क्योंकि वह सुनने में कर्कश और कर्णबेधक है। व्याकरणलक्षणहीन पद च्युतसंस्कृति पददोष है जो व्याकरणविरुद्ध पदों के प्रयोग में पाया जाता है। उदाहरणार्थ याचना के अर्थ में अनुनाथते' पद का प्रयोग अनुचित है क्योंकि 'नाथ' धातु परस्मैपदी है जिससे बना हुआ 'अनुनाथति' क्रियापद व्याकरण सम्मत होता है। आशिषि नाथ: (2/3/75 सूत्र) से आशी: अर्थ में नाथ् धातु से आत्मने पद का विधान है जिसे याचना अर्थ में प्रयुक्त करना व्याकरणविरुद्ध है।

जिन शब्दों के अर्थ कोश आदि में तो वर्णित हैं किन्तु कवियों द्वारा वे अप्रयुक्त रहे हैं; उनके काव्यगत प्रयोग अप्रयुक्त दोष कहलाते हैं। उदाहरणार्थ 'दैवत' शब्द 'दैवतानि पुंसिवा' सूत्र के अनुसार विकल्प से पुल्लिग होता है तथा वह 'अमरकोश' में आम्नात भी है, किन्तु महाकवियों की रचनाओं में उसे पुल्लिग में प्रयुक्त की परंपरा न होने के कारण उसका पुल्लिगवत् प्रयोग अप्रयुक्त दोष माना जाता है।

जो शब्द उपसंदानोपजीवी रूप में पढ़ा जाता है किन्तु किसी विशेष स्थल पर उपसंदान अर्थात् अन्य किसी की सहायता न होने के कारण उसकी शक्ति किसी विशेष अर्थ में नहीं रहती; वहाँ असमर्थ दोष होता है। उदाहरणार्थ 'हन् हिंसागत्यो:' सूत्र के अनुसार 'हन्' धातु गति अर्थ में भी होता है किन्तु यह गति अर्थ उपसंदानोपजीवी है अर्थात् अन्य उपपदों के योग में ही होता है अत: 'हन्ति' क्रियापद का जहाँ गमनार्थ में प्रयोग किया जाता है, वहाँ असमर्थ दोष होता है।

अप्रयुक्त और असमर्थ दोषों में विशेष बात यह है कि इन दोनों दोषों से सम्बन्धित पदों के अर्थ कोश तथा व्याकरण आदि ग्रंथों में तो उत्पन्न रहते हैं किन्तु उनके काव्य प्रयोग की परंपरा नहीं के बराबर रही है। साथ ही साथ उनमें काव्यार्थबोधन का असामर्थ्य भी माना गया है। इन दोनों स्थितियों में वे अर्थापकर्ष के हेतु समझे जाने के कारण अप्रयुक्त तथा असमर्थ दोष कहलाते हैं।

जो शब्द दो अर्थों का वाचक होने पर भी अपेक्षाकृत अप्रसिद्ध अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है, वहाँ निहतार्थ दोष होता है। जैसे 'शोणित' शब्द अपने सुप्रसिद्ध अर्थ में रुधिर का वाचक है किन्तु जहाँ उसका प्रयोग उज्ज्वलता के अर्थ में किया जाता है, वहाँ उस शब्द की उज्ज्वलता अर्थ में अधिक प्रसिद्धि न होने के कारण उसका तदर्थगत प्रयोग निहतार्थ दोष कहलाता है।

यों तो अनौचित्यमात्र रसभंग का कारण माना गया है किन्तु उसे 'अनुचितार्थ' के रूप में पददोष भी कहा जाता है। उदाहरणार्थ 'पशुपद' वध किये जाने वाले पशु की कातरता का व्यंजक है किन्तु यदि उसका प्रयोग वीरता के वर्णन में किया जाए तो वहाँ अनुचितार्थ दोष होगा। इसका उदाहरण निम्नलिखित छंद है जिसमें पशु पद का प्रयोग अनुचितार्थ का वाचक है—

तपस्विभिर्या सुचिरेण लभ्यते,
प्रयत्नतः सत्रिभिरिष्यते च या।
प्रयांति तामाशुगतिं यशस्विनो।
रणाश्वमेधे पशुतामुपागताः ।।[73]

जहाँ पादपूरणमात्र के प्रयोजन से 'च', 'खलु', 'हि' आदि पद प्रयुक्त किये जाते हैं वहाँ निरर्थक दोष होता है। अवाचक दोष ऐसे पद-प्रयोगों में होता है जो किसी अर्थ के वाचक न हों फिर भी उनका प्रयोग किया जाए। उदाहरणार्थ 'जंतु' पद का प्रयोग 'अदातर्य' अर्थ में करना अवाचकता का सूचक है क्योंकि यह वक्ता का अभिप्रेत अर्थ नहीं है।[74] वस्तुतः उदाहृत छंद में जंतु पद अमर्षशून्य व्यक्ति की तुच्छता का व्यंजक है जिसे अदातर्य अर्थ में अग्राह्य ही समझा जाना चाहिए। इसका दूसरा उदाहरण 'दिन' पद का प्रयोग तामसी के विपरीत 'प्रकाशमय' अर्थ में प्रयोग करना है।[75] मम्मट ने उपर्युक्त दोनों उदाहरण अवाचक दोष के प्रसंग में प्रस्तुत किये हैं किन्तु उन्हें स्वयं इन प्रयोगों से तुष्टि नहीं हुई है अतः उन्होंने अवाचक दोष के लक्षण तथा उदाहरण में यह बात कही है कि अवाचक पद उसे कहते हैं जो उपसर्ग के सम्बन्ध से अन्य अर्थ का बोधक होता है। इसका उदाहरण 'दधत्' क्रियापद है जिसका अर्थ **धारण करते हुए** होता है। यदि इस अर्थ में 'विदधत्' पद प्रयुक्त किया जाए तो वह अवाचक दोष का ही उदाहरण होगा।[76]

अश्लीलपदत्व दोष व्रीड़ा, जुगुप्सा और अमंगलवाचक अर्थों का व्यंजक होता है। उदाहरण के लिए राजा की सेना के लिए राजा का 'साधन' शब्द का प्रयोग प्रकरण विशेष में पुरुष के लिंग का वाचक होकर व्रीडामूलक अश्लीलता द्योतित करता है। काव्य के कुछ स्थलों में 'वायु' शब्द का प्रयोग 'अपान वायु' का वाचक बनकर जुगुप्सा व्यंजक

बनता है तो 'विनाश' शब्द मृत्यु का वाचक होने के कारण अमंगलवाची अश्लीलता का निर्देशक होता है।

संदिग्ध दोष उन पदों में होता है जिनका अर्थ निश्चय करने में संदेह उत्पन्न हो जाता है। जैसे 'वन्द्यां' पद एक ओर तो स्त्री लिंग 'वंदी' शब्द की सप्तमी का एक वचन सिद्ध होता है तो दूसरी ओर उसे स्त्रीलिंग 'वन्द्या' शब्द की द्वितीया का एक वचन भी कहा जा सकता है। प्रश्न यह है कि काव्य-रचनाओं में प्रयुक्त इस शब्द की प्रकरण विशिष्टता में तुल्यार्थ स्थिति होने पर इसे किस अर्थ का वाचक माना जाए, यह स्थिति संदेह उत्पन्न करती है जिसके कारण वहाँ संदिग्ध दोष होता है।

किसी शास्त्र विशेष में प्रसिद्ध पारिभाषिक शब्द का प्रयोग जब साधारण अर्थ (रूप) में किया जाता है तो वहाँ अप्रतीत दोष होता है। उदाहरणार्थ योगशास्त्र में 'आशय' शब्द 'कर्मसंस्कार रूप वासना' अर्थ का वाचक है जबकि लोक-व्यवहार में साधारण रूप से 'आशय' शब्द का अर्थ उससे सर्वथा भिन्न है। ऐसी स्थिति में लोक-व्यवहार में योगशास्त्रीय पारिभाषिक शब्द 'आशय' का प्रयोग अप्रतीतत्व दोष का व्यंजक माना जाएगा।

लोक प्रयुक्त ग्रामीण शब्दों के प्रयोग में ग्राम्यत्व दोष होता है। आभिजात्य वर्ग में 'कटि' शब्द का प्रयोग इस दोष का वाचक है। इस दोष के मूल में शिष्टता अथवा तहजीब की मनोवृत्ति काम करती हुई दृष्टिगोचर होती है जिसका सभ्य वाणी द्वारा निर्वाह न होने के कारण ग्राम्यत्व दोष होता है।

'नेय: रूढ़िप्रयोजनाभावे कविना कल्पितोऽर्थ यत्र' के अनुसार नेयार्थ दोष वहाँ होता है जहाँ रूढ़ि तथा प्रयोजन रूप लक्षणा के हेतुओं के न होने पर भी कवि अपनी इच्छा से लक्षणा द्वारा शब्द का प्रयोग करता है। कुमारिल भट्ट ने 'तन्त्रवार्तिक' में यही बात प्रकारांतर से कही है।[77] उनके अनुसार निषिद्ध लक्षणा युक्त पद ही नेयार्थ है। निम्नलिखित श्लोक में नेयार्थ दोष है जिसमें यह कहा गया है कि किसी कृशांगी का मुख शरद्कालीन चन्द्रमा को चपत लगा रहा है। वस्तुत: चपत लगाने का अर्थ तिरस्कृत करना है और यही अर्थ कवि को अभीष्ट है किन्तु यहाँ लक्षणा के प्रयोजक हेतुओं के अभाव में की गई लक्षणा दूषित है अत: यहाँ नेयार्थ पददोष है। श्लोक इस प्रकार है—

शरत्कालसमुल्लासिपूर्णिमाशर्वरी प्रियम्।
करोति ते मुखं तन्वि चपेटापातनातिथिम्॥[78]

अब तक जिन पददोषों का निरूपण किया गया, वे केवल असमस्तगत तथा समस्तगत पदों में होते हैं। इनके अतिरिक्त क्लिष्ट, अविमृष्टविधेयांश तथा विरुद्धमतिकृत् संज्ञक तीन ऐसे पददोष भी होते हैं जो केवल समासगत, वाक्यगत तथा पदसमुदायगत माने जाते हैं। विश्वनाथ तथा वामन ने इन्हें केवल पदगत तथा वाक्यगत ही माना है।

क्लिष्ट दोष वह है जिससे अर्थ की प्रतीति साक्षात् रूप से न होकर व्यवधान रूप से होती है। उदाहरण के लिए यदि किसी कवि को 'कुमुद' पद कहना अभीष्ट हो

और वह उसे साक्षात् रूप से न कहकर 'अत्रिलोचन सम्भूतज्योतिरुद् गमभासी' कहे तो इस प्रयोग की अर्थ प्रतीति व्यवधानपूर्वक होती है अतः इस प्रकार के प्रयोगों में क्लिष्टत्व दोष होता है। क्लिष्ट दोष प्रसाद गुण का विरोधी है। कूटपद रचनाओं में यह प्रचुर मात्रा में पाया जाता है जिसे शब्दार्थ चमत्कारवादी काव्य पण्डित यदि गुण रूप मानकर चलें तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

जहाँ विधेयांश का विचार नहीं किया जाता, वहाँ अविमृष्टविधेयांश दोष होता है। यह दोष समासगत है। इस दोष का अन्वेषण करने में सतर्कता की आवश्यकता है। विरुद्धमतिकृत् पददोष के अनेक उदाहरण काव्य-ग्रंथों में मिलते हैं। जैसे 'भवानी' शब्द के आगे 'पति' पद जोड़कर 'भवानी पति' पद का प्रयोग विरुद्धमतिकृत् दोष का वाचक होता है। वस्तुतः 'भवानी' शब्द की व्युत्पत्ति 'भवस्य शिवस्य पत्नी भवानी' है जिससे शिव-पार्वती का पति-पत्नी सम्बन्ध स्वतःसिद्ध है। उसके आगे 'पति' पद जोड़ने से 'भवानीपति' पद दूसरे पति की प्रतीति कराता है जो विरुद्धमतिकारी होने के कारण विरुद्धमतिकृत् दोष का व्यंजक है। उपर्युक्त सभी दोष समासगत तथा पदगत होते हैं।

वाक्यगत दोष निरूपण

मम्मट ने श्रुतिकटु आदि दोषों की वाक्यगत स्थिति का भी विश्लेषण किया है। च्युतसंस्कृति, असमर्थ और निरर्थक दोष केवल पदगत होते हैं जबकि इतर दोष वाक्यगत होने के अतिरिक्त पदांशगत भी हो सकते हैं। निम्नलिखित उदाहरण श्रुतिकटु पदों से भरा पड़ा है जिनकी श्रुतिकटुता उसके उच्चारणमात्र से व्यक्त होती है—

सोऽध्यैष्ट वेदांत्रिदशानयष्ट पितॄनताप्र्सीत् सममंस्त बंधून्।
व्यजेष्ट षड्वर्गमरंस्त नीतौ समूलघातं न्यवधीदरींश्च।[79]

वाक्यगत अप्रत्युक्त दोष के उदाहरण 'दुश्च्यवन' तथा 'अनेडमूक' पद हैं जो क्रमशः 'इन्द्र' तथा 'मूकबधिर' अर्थ में अप्रयुक्त माने जाते हैं। इन्हें उपर्युक्त अर्थों में प्रयुक्त करना 'अप्रयुक्त' दोष का उदाहरण है। वाक्यगत निहतार्थ दोष ऐसे पद प्रयोगों में होता है जो प्रसिद्ध अर्थों को छोड़कर अप्रसिद्ध अर्थों में प्रयुक्त किये जाते हैं। सायक, मकरध्वज, क्षमा, अब्ज और श्लोक आदि शब्द क्रमशः बाण, कामदेव, सहनशक्ति, कमल और पद्य आदि अर्थों में सुप्रसिद्ध हैं जिनका यदि वाक्यगत प्रयोग क्रमशः तलवार, समुद्र, पृथिवी, चन्द्रमा तथा यश के पर्याय रूप में किया जाय तो वहाँ वाक्यगत निहतार्थ दोष होता है।

जिस श्लोक वाक्य में 'कुविन्द' आदि शब्दों का प्रयोग किसी स्तूयमान राजा के लिए किया जाता है तो वहाँ अनुचितार्थ दोष होता है। वस्तुतः कुविन्द शब्द 'गुणसूत्र पटयसि परं करोषि' के निरुक्त से जुलाहा अर्थ का वाचक है जिसे 'कुँ 'पृथिवी विन्दति प्राप्नोति' की व्याख्या के अनुसार पृथिवी विजेता राजा के लिए प्रयुक्त करना अनुचितार्थ दोष का व्यंजक है। अवाचकत्व वाक्यदोष प्राभ्रभ्राड्, विष्णुधाम, विषमाश्व, निद्रा और

पर्ण आदि शब्दों को क्रमशः प्रकृष्ट मेघ, आकाश, सप्ताश्व, संकोच तथा दल के अर्थों में प्रयुक्त करने पर होता है क्योंकि वे शब्द इन अर्थों के साक्षात् रूप से वाचक न होकर परम्परित रूप से लक्षणा द्वारा ज्ञात किये जाते हैं।

वाक्यगत अश्लीलत्व दोष भी तीन प्रकार का होता है जिसमें व्रीडा, जुगुप्सा तथा अमंगलसूचक व्यंजना रहती है। शत्रुओं के प्रति वक्रदृष्टि रखनेवाले किसी राजा की सेना का वर्णन करते समय यदि कोई कवि शत्रुओं के प्रकंप आदि का उल्लेख करते हुए उनकी उपसर्पण, प्रहरण और मोहन आदि क्रियाओं का वर्णन करे तो वे सुरत कार्य में संलग्न किसी कम्पनशीला नायिका की कामुक चेष्टाओं की व्यंजक बनकर व्रीडाजनक अश्लीलत्व दोष की भी उद्भाविका हो सकती है। काव्यरचनाओं में वांत, उत्सर्ग तथा प्रवर्त्तन आदि शब्दों के प्रयोग जब 'प्रवर्तनं' 'प्रवृत्तिपुरीषोत्सर्गश्च' जैसे रूपों में किये जाते हैं तो वहाँ जुगुप्सा व्यंजक अश्लीलत्व होता है। पितृगृह (पीहर) के लिए पितृवसित (श्मशान) जैसे वाक्यगत प्रयोग अमंगलजनक अश्लीलत्व के उदाहरण हैं। मम्मट ने वाक्यगत संदिग्ध दोष को निम्नलिखित छंद के रूप में उदाहृत किया है जिसमें यद्यपि राजापरक तथा भिक्षु-परक दो अर्थ ध्वनित होते हैं किन्तु उसमें प्रयुक्त सुरालय, कम्पना, मार्गणप्रवण और भास्वद्भूति शब्दों के अर्थ अनिश्चित होने के कारण वाक्यगत संदिग्धदोष की व्यंजना करते हैं। इन शब्दों से यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि सुरारि (सुर-सुरा, कम्पना-कम्पन, मार्गण और भूति) आदि शब्द क्रमशः देव, सेना, बाण और विभूति के वाचक हैं अथवा मदिरा, मद्यजनक कम्पन, भिक्षावृत्ति तथा राख लगाये हुए भिक्षुक आदि अर्थों का बोध कराने वाले हैं। छंद इस प्रकार है—

सुरालयोल्लासपरः प्राप्तपर्याप्तकम्पनः।
मार्गणप्रवणो भास्वद्भूतिरेष विलोक्यताम्।।[80]

जहाँ किसी वाक्य श्लोक में 'अधिमात्रोपाय', 'तीव्र संवेग', और 'दृढ़भूमि' जैसे योगदर्शन प्रसिद्ध पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग किये जाते हैं जिनकी अर्थव्यंजना से अपरि-चित काव्यास्वादयिता उनका सही परिज्ञान नहीं कर पाते तो ऐसे प्रयोगों में वाक्यगत अप्रतीतत्व दोष होता है। गल्ल भल्ल खादन आदि ग्राम्य शब्दों के प्रयोग वाक्यगत ग्राम्यत्व दोष के व्यंजक हैं जिसके उदाहरण के रूप में मम्मट ने निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है—

ताम्बूलभृतगल्लोऽयं भल्लं जल्पति मानुषः।
करोति खादनं पानं सदैव तु यथा तथा।।[81]

वाक्यगत नेयार्थ दोष के अनेक उदाहरण उन काव्य-रचनाओं में मिलते हैं जिनमें कविगण अपना पांडित्य प्रदर्शित करने के लिए सूर्य की किरणों के लिए 'वरुम-वैदूर्यचरण' तथा पृथिवी के लिए 'निष्कम्प' जैसे प्रयोग करते हैं। वाक्यगत त्व तथा अविमृष्टविधेयांशत्व दोष पदों के दूरान्वय आदि कारणों से उत्पन्न होते हैं। मम्मट ने हनुमन्नाटक के चतुर्दश अंक में प्रयुक्त रावण की दाम्भिकउक्ति (न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयः) में वाक्यगत अविमृष्टविधेयांश दोष माना है जो छंद प्रयुक्त दूरान्वय के

कारण प्रादुर्भूत हुआ है।

पदांशगत काव्यदोष

मम्मट ने उपर्युक्त पदगत तथा वाक्यगत दोषों का विवेचन करने के पश्चात् श्रुतिकटुत्व आदि पद्यांश दोषों का भी निरूपण किया है। प्रकरण विस्तार के भय से (उनकी विशेष उपयोगिता न होने के कारण) इस प्रसंग में इतना उल्लेख करना ही पर्याप्त है कि वे दो दोष पद के किसी अंश विशेष में रहते हैं। मम्मट ने पदांशगत श्रुति-कटुत्व, निहतार्थत्व, निरर्थकत्व, अवाचकत्व, अश्लीलत्व, संदिग्धत्व आदि दोषों का विवेचन करने के पश्चात् उन वाक्यगत दोषों का भी विश्लेषण किया है जो प्रतिकूल-वर्णता, उपहतविसर्गता, विसंधि, हतवृत्तता, न्यूनपदता, अधिकपदता, कथितपदता, पतत्प्रकर्षता तथा समाप्तपुनरात्तता आदि स्थितियों में होते हैं। मम्मट का यह दोष विश्लेषण उनकी सूक्ष्म पर्यवेक्षण शक्ति तथा काव्याद्बोधन की अंतः प्रज्ञा का प्रमाण प्रस्तुत करता है।

अर्थगत काव्यदोष

काव्यप्रकाश का सप्तम उल्लास दोष विवेचन की दिशा में एक अद्भुत उपक्रम है। मम्मट ने काव्यलक्षण के विशेष्य पद के रूप में शब्दार्थों का प्रयोग करते हुए उसे जिस रूप में 'प्रदोषौ' विशेषण से संयुक्त किया है, उसकी बारीकियों का लेखा-जोखा करने में वे पूर्ण सफल हुए हैं। उन्होंने शब्द और अर्थ से सम्बन्धित वर्ण, उपसर्ग, प्रत्यय, निपात और पदांश आदि रूपों से लेकर पद और वाक्यगत शब्दार्थों के प्रयोग में उपस्थित मुख्यार्थहतिरूप दोषों का प्रामाणिक विश्लेषण करते हुए काव्यशास्त्रीय चिंतन को गतिशील बनाया है। उनका अर्थदोष विवेचन भी अत्यन्त विशद और युक्तिसंगत है। उन्होंने अर्थदोषों के अंतर्गत, अपुष्ट, कष्ट, व्याहत, पुनरुक्त, दुष्क्रम, ग्राम्य, संदिग्ध, निर्हेतु, प्रसिद्धिविरुद्ध, विद्याविरुद्ध, पुनवीकृत, नियम में अनियम, अनियम में नियम, विशेष में अविशेष, अविशेष में विशेष रूप परिवृत्त, साकांक्षता, अपदयुक्तता, सहचर-भिन्नता, प्रकाशितविरुद्धता, विध्ययुक्तत्व, अनुवादायुक्तत्व, त्यक्तपुनः स्वीकृत तथा अर्थदुष्ट अश्लीलत्व आदि तेईस अर्थदोषों का निरूपण किया है।[82] हमें यहाँ सभी दोषों का पृथक्-पृथक् विवेचन करना अभीष्ट नहीं है अतः कतिपय उदाहरणों द्वारा ही यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाएगा कि दुष्ट पदों और अर्थों के प्रयोग से काव्यार्थ-प्रतीति तथा रसचर्वणा में किस प्रकार बाधा आती है।

काव्य विश्व शब्दमूर्तिधर विष्णु का अनंत प्रसार है जिसके एक-एक शब्द का माहात्म्य 'एकः शब्दः सम्यक्ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गेलोके च कामधुग्भवति' के रूप में व्याख्यात किया गया है। उसकी अर्थसम्पृक्ति अर्द्धनारीश्वर भगवान् शंकर के शक्ति-समन्वित रूप से उपमित की गई है। रसात्मक वाक्य की अभिधा से प्रसिद्ध काव्य का आत्मतत्त्व रसादिध्वनि है जो किसी भी रूप में बाधित होने पर काव्य के लिए अपकर्ष-

कारी हो जाता है। भावयित्री प्रतिभा सम्पन्न सहृदय ही काव्यरस के तत्त्वज्ञ और आस्वादयिता होते हैं जो काव्यार्थों की अभिधेयता, लाक्षणिकता तथा ध्वन्यात्मकता के सच्चे पारखी होने के कारण रस दशा तक पहुँचते हैं। उनकी अंत:प्रज्ञा का आलोक काव्य-दोषों को ढूँढ़ निकालने में सक्षम है। मम्मट ने उसी प्रज्ञा के चमत्कार से अर्थ-दोषों की छानबीन की है। उदाहरणार्थ शब्दगुणरूप आकाश अनंत विस्तीर्ण है जिसके लिए 'अतिवितत' आदि विशेषणों का प्रयोग अपेक्षणीय नहीं है फिर भी यदि कोई ऐसा करता है तो उससे अपुष्टार्थ दोष ही झलकता है। जिन श्लोकों का अर्थबोध करने में कष्ट अथवा द्राविडी प्राणायाम की आवश्यकता होती है, वे कष्टार्थदोष के उदाहरण हैं। यदि कोई कवि किसी नायिका के रूप वर्णन में पहले तो चन्द्रकला की व्यर्थता सिद्ध करता है और तदुपरांत उसी वर्णन क्रम में उसके रूप पर चन्द्रकला का आरोप करने लगता है सो इन दोनों में परस्पर विरुद्धता होने के कारण व्याहतार्थदोष हो जाता है। 'अर्जुन' के पूर्व उसके वाचक 'किरीटि' पद का प्रयोग पुनरुक्तार्थदोष का व्यंजक है तो किसी याचक द्वारा हाथी के पूर्व अश्व की याचना करना दुष्क्रमार्थदोष निर्दिष्ट करता है। अविदग्ध उक्तियों में ग्राम्यार्थदोष होता है तो अर्थ की संदिग्ध अवस्था संदिग्ध दोष का कारण होती है। प्रसिद्धिविरुद्धता अर्थदोष वहाँ होता है जहां किसी परम्परागत अर्थ प्रसिद्धि के विरुद्ध प्रयोग किया जाय। उदाहरणार्थ कामदेव के लिए 'पुष्पबाण' अथवा 'पुष्पधन्वा' विशेषण प्रसिद्ध है जिनके स्थान पर 'कमलचक्र' का प्रयोग वैसा ही है जैसा सुन्दरियों के पादप्रहार से अशोकवृक्ष में पुष्पोद्गम के स्थान पर अंकुरोद्गम की प्रसिद्धि विरुद्ध कल्पना करना दोषमूलक है। इस दोष के कुछ अपवाद भी हैं जैसे अमूर्त कीर्ति को ज्योत्स्ना के प्रकाश के समान शुभ्र कहना इस दोष का उदाहरण नहीं हो सकता क्योंकि यह कथन लोकविरुद्ध होने पर भी कविसमय अथवा कविप्रौढोक्तिसिद्ध है।

मम्मट ने विघाविरुद्धता दोष की विवेचना धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र और मोक्षशास्त्र के परिप्रेक्ष्य में की है। उनका कथन है कि ग्रहण आदि विशेष कारणों के न होने पर रात्रिस्नान हमारे धर्मशास्त्र के विरुद्ध है।[83] जिसका काव्य रचनाओं में किया गया वर्णन अर्थदोष का व्यंजक माना जाता है। अर्थशास्त्र के सिद्धांत को राजनीति में घटित करना अथवा कामशास्त्र प्रतिपादित क्रीडा व्यापार की अन्यथा सिद्धि करना भी अर्थदोष का सूचक होता है। उदाहरणार्थ कामशास्त्र के अनुसार नखक्षत के स्थान वक्ष, कंठ, पार्श्व, जघन और स्तन आदि हैं जिनका विचार किये बिना यदि कोई कवि बाजूबंद (केयूर) के स्थान पर नखक्षत का वर्णन करे तो वह कामशास्त्र के विरुद्ध होने के कारण विधाविरुद्ध दोष माना जायगा।[84] योगदर्शन के अनुसार प्रकृतिपुरुष के रहस्य का ज्ञान होने से विवेक ख्याति होती है जो क्रमश: सम्प्रज्ञात समाधि तथा असम्प्रज्ञात समाधि के पश्चात् मोक्ष प्राप्ति कराती है। इस ज्ञान प्रक्रिया से अनभिज्ञ कवि यदि विवेक ख्याति को ही मोक्ष मानकर उसका वर्णन करे तो वहाँ पर भी विधाविरुद्ध दोष होता है। इसी प्रकार अन्य शास्त्रों के विपरीत उदाहरणों द्वारा भी विधाविरुद्ध दोष की विवेचना की जाती है।

काव्य रचनाओं में नवनवोन्मेष लाना कवि प्रतिभा का कार्य है। उसके अभाव में अनवीकृत नामक अर्थदोष होता है। काव्यप्रकाशकार ने इस दोष के उपरांत चार प्रकार के परिवृत्त दोष भी माने हैं जो सनियम, अनियम, विशेष तथा अविशेष क्रम से विवेचित किये गये हैं। अनुचित स्थान में अनावश्यक पदों को जोड़ने से अपदयुक्तता दोष होता है। श्रुति आदि उत्कृष्ट पदार्थों के साथ व्यसन और मूर्खता आदि निकृष्ट अर्थों का सहचार सहचरभिन्नता दोष व्यंजित करता है। इनके अतिरिक्त अवशिष्ट दोषों का निरूपण करने के पश्चात् मम्मट ने अश्लीलता नामक अर्थदोष को व्रीडाजनक उदाहरण देकर दोषनिरूपण प्रकरण का उपसंहार किया है। उनके मतानुसार निम्नलिखित श्लोक व्रीडाजनक अश्लीलत्व का व्यंजक है क्योंकि इसमें किसी दुष्ट व्यक्ति की प्रकृति में पुरुष के लिंग की प्रकृति का साम्य निरूपित हुआ है—

हन्तुमेव प्रवृत्तस्य स्तब्धस्य विवरैषिणः ।
यथास्य जायते पातो न तथा पुनरुन्नतिः ॥

अर्थात् दूसरे का नाश करने (मारने) के लिए तत्पर, उद्धृत अभिमानी (खड़े हुए) और दोषों (दूसरे पक्ष में योनिरूप छिद्र) को ढूंढ़ने वाले इस दुष्ट व्यक्ति अथवा लिंग का जितनी जल्दी पतन होता है, उतनी जल्दी पुनः उत्थान नहीं होता।

दोषों की नित्यानित्य स्थिति

मम्मट ने दोषों की नित्यानित्यता तथा उनके परिहार का भी सोदाहरण विवेचन किया है जो अन्य काव्यशास्त्रियों के विचारों से पर्याप्त साम्य रखता है। अनित्य दोष विशेष परिस्थितियों में गुण बने जाते हैं किन्तु च्युतसंस्कार आदि कतिपय दोष सभी दशाओं में नित्य दोष रहते हैं। श्रुतिकटुत्व दोष शृंगार आदि कोमल रसों में रसापकर्षक होते हैं। उन्हें रौद्र, वीर आदि कठोर रसों में दोष नहीं माना जाता। मम्मट ने वामन के 'काव्यालंकार सूत्र' के अनुसार 'कर्णावतंस' जैसे प्रयोगों में दोष नहीं माना है क्योंकि अवतंस का अर्थ भले ही कान का आभूषण हो किन्तु उसका कर्ण के साथ किया गया प्रयोग ध्वनिनिर्मिति के रूप में उसका सन्निधान बोधक होता है।[85] ऐसे प्रयोगों में पुनरुक्ति अथवा अदुष्टार्थ दोष नहीं माना जाता। यही स्थिति 'धनुज्या' जैसे प्रयोगों की है। वस्तुतः 'ज्या' शब्द धनुष की प्रत्यंचा का वाचक है जिसके पूर्व 'धनु' शब्द का प्रयोग व्यर्थ लगता है किन्तु जहाँ वह 'धनु ज्या' पद के रूप में प्रयुक्त होता है, वहाँ 'धनु' शब्द के साथ उसका प्रयोग धनुष पर चढ़ाई हुई प्रत्यंचा का अभिप्राय व्यक्त करता है जब कि केवल 'ज्या' पद से उतारी हुई प्रत्यंचा का बोधमात्र होता है। 'मुक्ताहार' पद की भी यही स्थिति है। विश्वकोष के 'मुक्ताग्रैवेयकं हारं' के अनुसार मोतियों से बना हुआ 'हार' ही 'हार' पद का मुख्यार्थ हैं जिसके पूर्व 'मुक्ता' पद जोड़ने की कोई आवश्यकता नहीं है फिर भी उसके पूर्व यदि 'मुक्ता' पद का प्रयोग किया जाता है तो उसे अन्य रत्नों से अमिश्रित मुक्ताओं के बोधन के लिए ही प्रयुक्त समझा जाना चाहिए। केवल 'माला' शब्द पुष्पों की माला का वाचक है किन्तु 'पुष्पमाला' प्रयोग में उत्कृष्ट पुष्पों के बोधन

का अभिप्राय ध्वनित रहता है। श्रवणकुंडल अथवा कर्णावतंस आदि पद प्रयोग परम्परागत हैं जिनका प्रचलन प्राचीन महाकवियों की रचनाओं से चला आया है अत: उनके प्रति आस्था रखते हुए मम्मट आदि आचार्यों ने उनका समर्थन किया है। जब कि 'जंघन-काँची' जैसे नवीन प्रयोगों को उन्होंने स्वीकार्य नहीं समझा है।[86] मम्मट ने वामन द्वारा उदाहृत 'जगाद मधुरां वाचं' की विवेचना का भी समर्थन नहीं किया है क्योंकि वामन 'मधुरां' पद को 'वाचं' का विशेषण मानते हैं जब कि मम्मट के अनुसार 'मधुरां' पद क्रिया विशेषण के रूप में प्रयुक्त है।

दोष परिहार के विभिन्न रूप

मम्मट का दोष परिहार विश्लेषण अत्यंत विशद और व्यापक है। उन्होंने प्रसिद्ध अर्थ में निर्हेतुता अर्थात् हेतु के अभाव को दोष नहीं माना है।[87] उदाहरणार्थ यदि कोई कवि किसी रमणी के मुख-सौन्दर्य का वर्णन करते समय उसमें कमलों का सौरभ तथा चन्द्रमा की कांति का एक साथ निरूपण करे तो उसके प्रसिद्ध अर्थ में निर्हेतुत्व दोष नहीं माना जाना चाहिए क्योंकि दोनों विरोधी बातें एक साथ मिलकर काव्यानंद की अनुभूति ही कराती हैं। उन्होंने अनुकरण में सब दोषों की अदोषता ही सिद्ध की है[88] जिसका यह अभिप्राय है कि यदि कोई वक्ता दूसरों के दूषित पदों के प्रयोग का अनुकरण करने के प्रयोजन से उनके दोषयुक्त पदों का उच्चारण करता है तो वह दोष का भागी नहीं होता। अनुकरण में श्रुतिकटु आदि दोष किसी भी रूप में दोष नहीं समझे जाते। वस्तुत: दोष निरूपण में वक्ता आदि के औचित्य का विचार करना भी आवश्यक है क्योंकि उसके कारण कहीं दोष भी गुण हो जाता है तो कहीं वह गुण अथवा दोष आदि कुछ भी नहीं रहता।[89] उदाहरणार्थ वैयाकरण के वक्ता अथवा बोद्धा होने पर और रौद्र आदि रसों के व्यंग्य होने पर कष्टार्थत्व आदि दोष गुण बन जाते हैं। जहाँ वीभत्स रस व्यंग्य होता है, वहाँ श्रुतिकटु वर्ण तथा दीर्घसमासमयी कठोर रचनाएँ दोष-युक्त नहीं समझी जातीं अपितु गुणमयी ही मानी जाती हैं। इसी प्रकार नीरस काव्य में क्लिष्ट रचना न तो दोष होती है और न गुण। अपने इस कथन की पुष्टि में मम्मट ने मयूर कवि के सूर्य शतक का छन्द[90] प्रस्तुत करते हुए उसके शिवपरक तथा विष्णुपरक अर्थों का श्लिष्ट योजना में अप्रयुक्तत्व तथा निहतार्थत्व आदि दोष नहीं माने हैं।

काव्यरचना की आलंकारिक परम्परा में श्लिष्ट पदों की योजना द्वारा द्वयर्थक शब्दों के माध्यम से भिन्न-भिन्न प्रसंगों में अश्लीलत्व दोष को ढकने के बहुविध प्रयास किये गये हैं। उदाहरणार्थ 'करिहस्त'[91] पद कामशास्त्र का एक प्रमुख सिद्धांत है जिसके द्वारा रमणियों में कामोत्तेजना द्रवित की जाती है और तदुपरांत पुरुष कामक्रीडा में प्रवृत्त होता है। कामशास्त्रीय 'करिहस्त' की प्रक्रिया का रूप उक्त श्लोक में व्यक्त हुआ है जिसका दूसरा अर्थ हाथी की सूँड (करिहस्त) के पक्ष में भी घटित होता है। काव्यशास्त्रियों ने इस प्रकार के श्लेषपूर्ण छन्दों में व्रीडाजनक दोष नहीं माना है

जबकि वास्तविकता तो यह है कि ऐसी रचनाएँ व्रीडाजनक अश्लीलता की चरम परिणति कही जा सकती हैं। आज के यथार्थवादी दृष्टिकोण तथा नैतिकताविहीन कलावाद में जब काव्यगत श्लीलता और अश्लीलता का प्रश्न ही निरस्त कर दिया गया है तो हम पाठकों के मनोरंजनार्थ उस श्लोक को उद्धृत करना चाहते है जिसका मुख्यार्थ घोर अश्लील है किन्तु जिसका दूसरा अर्थ अपनी श्लिष्ट योजना के कारण उसकी अश्लीलता को गुण रूप में परिवर्तित करने का निमित्त समझा गया है। छन्द इस प्रकार है—

करिहस्तेन सम्बाधे प्रविश्यान्तर्विलोडते।
उपसर्पन् ध्वजः पुंसः साधनान्तर्विराजते ।।[92]

मुख्य अर्थ—संकुचित योनि में तर्जनी, मध्यमा तथा अनामिका अंगुलियों को मिला कर 'करिहस्त' का प्रवेश करने की क्रिया के पश्चात् पुरुष का लिंग (ध्वज) योनि के भीतर आलोडन-विलोडन करता हुआ विराजित होता है।

अन्य अर्थ—हाथी की सूंड द्वारा सेना के भीतर प्रविष्ट होकर वीरपुरुष की ध्वजा शत्रुसेना का आलोडन-विलोडन करती हुई उसके मध्य सुशोभित होती है।

मम्मट ने शमप्रधान वैराग्यमूलक कथाओं के प्रसंग में जुगुप्सा व्यंजक अश्लीलता को गुण माना है।[93] कहीं-कहीं भावी अमंगलसूचक अश्लीलता भी गुण बन जाती है। वाच्य के प्रभाव से नियत अर्थ के प्रतीतिजनक होने के कारण संदिग्धत्व दोष व्याजस्तुतिपर्यवसायी होकर गुण बन जाता है। यों तो योगशास्त्र के 'निर्विकल्प समाधि' और 'आत्मरमण' आदि पारिभाषिक शब्दों के काव्य प्रयोग अप्रतीतत्व दोष के व्यंजक हैं किन्तु जब उनके वक्ता भीम और बोद्धा सहदेव जैसे व्यक्ति (उस विषय के ज्ञाता) होते हैं तो उनके वक्तव्य में अप्रतीतत्व दोष नहीं माना जाता। बोद्धा तथा वक्ता का शास्त्र ज्ञान उसे गुण बना देता है। कहीं-कहीं आत्मचिंतन की स्थिति में भी अप्रतीतत्व दोष गुण हो जाता है। जैसे 'मालतीमाधव' नाटक के पंचम अंक में जहाँ कपालकुंडला, नाडीस्थित 'मणिपूर चक्र', 'शक्तिसंचय' और 'शक्तिनाथ' आदि हठयोगपरक शब्दों का प्रयोग करती है, वहाँ उसके आत्मचिंतन की प्रधानता होने के कारण उपर्युक्त पारिभाषिक शब्द अप्रतीतत्व दोष नहीं माने जाते। नीच प्रकृति पात्रों की उक्तियों में ग्राम्यत्व दोष भी गुण बन जाता है। कहीं न्यूनपदत्व दोष गुण हो जाता है तो कहीं वह गुण तथा दोष कुछ भी नहीं होता। यही स्थिति अधिकपदत्व दोष की मानी जाती है। वक्ता के हर्ष अथवा भय की अतिरेकता में अधिक पदत्व दोष का गुणरूप काव्यवर्णित रहा है। कहीं-कहीं लाटानुप्रास, अर्थान्तर संक्रमितवाच्यध्वनि तथा विहित का अनुवाद करने की स्थिति में कथित पदत्व अथवा पुनरुक्तत्व दोष गुण हो जाते हैं। वस्तुतः लाटानुप्रास में पदों की पुनरुक्ति को दोष नहीं माना जाता। अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि में विधेय रूप से प्रयुक्त पद जब दूसरे वाक्य में उद्देश्य रूप हो जाता है तो वहाँ दोष नहीं रहता। इसी प्रकार गुण प्रकर्ष तथा जनानुराग पदों की आवृति भी गुण मानी जाती है। यदि कहीं पतत्प्रकर्ष दोष गुण हो जाता है तो कहीं समाप्तपुनरात्तत्व न दोष होता है और न गुण रहता है। अपदस्थ समास दोष तथा गर्भित दोष भी गुण रूप में प्रयुक्त हुए हैं। मम्मट ने इन सभी

दोषों की गुणवत्ता का स्पष्टीकरण विविध उदाहरणों की विवेचना के माध्यम से किया है।

रसदोषों का विश्लेषण

मम्मट के मतानुसार 'मुख्यार्थहति' ही दोष का लक्षण है जो शब्द और अर्थ के विभिन्न आयामों में विवेचित किया जा चुका है। उन्होंने 'मुख्यार्थ' पद का सम्बन्ध रस व्यंजना से जोड़ते हुए रसदोषों की भी व्याख्या की है जिनका उल्लेख निम्नलिखित कारिकाओं में हुआ है—

व्यभिचारिरस स्थायिभावानां शब्दवाच्यता।
कष्टकल्पनया व्यक्तिरनुभाव विभावयोः ।।
प्रतिकूल विभावादिग्रहो दीप्तिः पुनः पुनः ।
अकाण्डे प्रथनच्छेदौ अंगस्याप्यतिविस्तृतिः ।।
अंगिनोऽननुसंधानं प्रकृतीनां विपर्ययः ।
अनंगस्याभिधानं च रसे दोषाः स्युरीदृशाः ।।[94]

अर्थात् व्यभिचारी भावों, रसों अथवा स्थायी भावों का अपने वाचक शब्द द्वारा कथन, अनुभावों और विभावों की कष्टकल्पना द्वारा अभिव्यक्ति; रस के प्रतिकूल विभाव आदि का ग्रहण; रस की बार-बार दीप्ति; रस का अनवसर में विस्तार; तथा विच्छेद, अप्रधान रस का अत्यधिक विस्तार; प्रधान (अंगी) रस का त्याग; पात्रों की प्रकृति का विपर्यय तथा अनंग का कथन—इन सभी स्थितियों में रस दोष होते हैं।

प्रायः सभी आचार्यों ने रसादि की स्वशब्दवाच्यता को रसदोष माना है। व्रीडा आदि व्यभिचारी भावों का कथन जब उनके वाचक शब्दों द्वारा किया जाता है तो वहाँ स्वशब्दवाच्यता दोष होता है। रसों तथा स्थायी भावों की स्वशब्दवाच्यता भी रसदोष है। श्रृंगार-रस में 'श्रृंगार' शब्द तथा वीर रस में उत्साह (स्थायी भाव) शब्द का कथन भी स्वशब्द वाच्यता दोष के उदाहरण हैं।

विभावों तथा अनुभावों की कष्टकल्पना को भी रसदोष माना जाता है। यदि किसी श्रृंगाररसपरक काव्यरचना में आलम्बन रूप नायिका तथा उद्दीपन रूप चन्द्रमा का तो वर्णन हो किन्तु नायकनायिका निष्ठ स्वेद और रोमांच आदि अनुभावों का चित्रण न हो तो हमें प्रकरण विशेष के संदर्भ से उनकी कष्टकल्पना करनी पड़ती है जिसके कारण वहाँ अनुभावगत रसदोष होता है। विभाव की कष्टकल्पना में भी रसदोष की स्थिति अनिवार्य है। जिस काव्य में रतिपरिहार आदि अनुभाव तो वर्णित होते हैं किन्तु विभाव आदि का उल्लेख नहीं होता वहाँ इस बात का पता नहीं चलता कि वे अनुभाव श्रृंगाररसपरक हैं अथवा भयानकवीभत्सपरक। उस स्थिति में भी रसदोष की सम्भावना हो जाती है।

किसी रस विशेष के प्रतिकूल विभावों तथा व्यभिचारी भावों का चित्रण भी रसदोष का हेतु होता है। श्रृंगार रस के वर्णन में यदि उसके प्रतिकूल शांत रस के

विभावों तथा निर्वेदरूप व्यभिचारी भावों का प्रतिपादन किया जाय तो वहाँ विभावादिगत रसदोष होता है। प्रतिकूल अनुभावों का ग्रहण होने पर अनुभावगत रसदोष की स्थिति बन जाती है। उदाहरण के लिए यदि कोई नायिका अपने जार (गुप्तपति) से मिलने के लिए इंधन आदि लाने के व्याज से वन में जाना चाहे तो उस चित्रण में श्रृंगार रस के विरोधी शांत रस के अनुभाव आने के कारण प्रकृत रस (विप्रलम्भ श्रृंगार) की प्रतीति में बाधा होती है जो उपर्युक्त रसदोष का हेतु है।

रस की पुनः-पुनः दीप्ति में भी रसदोष होता है। इसका सुप्रसिद्ध उदाहरण 'कुमारसम्भव' से चतुर्थ सर्ग का रतिविलाप है जो करुण रस से प्रारम्भ होकर रस की प्रारम्भिक दीप्ति सूचित करता है किन्तु कुछ ही देर बाद वह 'अथ' और 'पुनः' आदि शब्दों से पुनः दीप्त होने भी स्थिति में आ जाता है जिसके कारण उसकी पुनःपुनः दीप्ति उपभुक्त कुसुम परिमल के समान वैरस्यमूलक हो जाती है जो एक प्रकार का रसदोष है। यही बात आनंदवर्धन ने निम्नलिखित कारिका में प्रकट की है—

परिपोषं गतस्यापि पौनः पुन्येन दीपनम्।
रसस्य स्याद्विरोधाय वृत्त्यनौचित्यमेव च ।।[95]

अकाण्ड प्रथन अथवा अनवसर में प्रतिपादन होना भी रसदोष का हेतु है। इसका उदाहरण वेणीसंहार नाटक के द्वितीय अंक का वह प्रसंग है जिसमें कवि ने भीष्म आदि महारथियों की मृत्युवेला के समय भानुमती के साथ दुर्योधन के सम्भोग श्रृंगार का वर्णन किया है। अनुचित स्थान पर रसभंग कर देने से अकाण्डच्छेदक रसदोष होता है। महावीर चरित नाटक के द्वितीय अंक में जहाँ राम और परशुराम का संवाद रस के चरम उत्कर्ष पर पहुँचता है वहाँ राम का यह कथन कि 'मैं कंकण खोलने जा रहा हूँ' वीर रस में बाधा पहुँचाने के कारण सहृदयों में रसचर्वणा नहीं करा पाता। अंग अर्थात् अप्रधान पात्र अथवा रस का अति विस्तार भी रसदोष का कारण है। भर्तृमेण्ठकवि विरचित 'हयग्रीववध' नामक नाटक में जहाँ प्रतिनायक दैत्य हयग्रीव के वनविहार, मदनोत्सव तथा जलकेलियों का विस्तृत वर्णन हुआ है, वे रसदोष के ही प्रसंग हैं क्योंकि उनके कारण नाटक के नायक (विष्णु) का वर्चस्व खण्डित हो जाता है। अंगी अर्थात् प्रधान नायक-नायिका का विस्मरण भी रसदोष है। इसका उदाहरण रत्नावली नाटिका के चतुर्थ अंक का वह प्रसंग है जहाँ बाभ्रव्य के आगमन पर सागरिका की विस्मृति हो जाती है।

मम्मट ने 'प्रकृतीनां विपर्ययः' कारिकांश द्वारा जिस रसदोष का विवेचन किया है, उसे समझने के पूर्व पात्रों के भेद से उनका प्रकृति-ज्ञान करना आवश्यक है। सामान्यतः दिव्य, अदिव्य और दिव्यादिव्य नामक तीन प्रकृतियाँ मानी गई हैं जिनके नायक क्रमशः इन्द्र, वत्सराज उदयन तथा अवतारधारी,राम और कृष्ण आदि प्रमुख पात्र हैं। ये त्रिविध नायक धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित और धीर प्रशांत भेद से चार प्रकार के माने गये है जो क्रमशः वीर, रौद्र, श्रृंगार तथा शांत रस प्रधान रचनाओं में वर्णित होते हैं। इन सभी नायकों को उत्तम, मध्यम तथा अधम श्रेणियों में भी विभक्त किया गया है। इन

नायकों के लिए अभीष्ट प्रकृति-विषयक औचित्य का परित्याग तथा वैपरीत्य का वर्णन किये जाने पर प्रकृति विपर्यय नामक रसदोष होता है। मम्मट का परामर्श है कि रति, हास, शोक तथा विस्मय नामक स्थायी भावों से निष्पादित शृंगार, हास्य, करुण तथा अद्भुत रसों का वर्णन अदिव्य उत्तम नायकों की भांति दिव्य उत्तम नायकों में भी किया जाना चाहिए। इस विषय में इस बात का ध्यान रखना वांछनीय है कि उत्तम दिव्य नायकों की प्रकृति को देखते हुए उनके (परस्पर अवलोकन को छोड़कर) संभोग शृंगार का अश्लील वर्णन करना माता-पिता के संभोग वर्णन के तुल्य अनुचित और अशोभनीय है। महाकवि कालिदास ने 'कुमारसम्भव' के अंतर्गत शिवपार्वती का जो संभोग शृंगार वर्णन किया है, वह अनौचित्य के कारण रसदोष माना गया है। मम्मट का कथन है कि भ्रकुटिरहित क्रोध, समुद्रलंघन तथा स्वर्ग और पातालगमन आदि कार्यों का उत्साहपूर्ण वर्णन केवल दिव्य प्रकृति वाले नायकों में ही किया जाना चाहिए। अदिव्य अर्थात् मानवीय चरित्रों में यथासम्भव इतिहास प्रसिद्ध वर्णन ही उचित माना जाता है। यदि उन चरित्रों का अत्युक्तिपूर्ण वर्णन किया जाय तो वह अनेक बार अस्वाभाविक और सदोष हो जाता है। औचित्यविरुद्ध प्रकृतिवर्णन सभी दृष्टियों से रसदोष के अंतर्गत समाहित है। सम्बोधन पदों का अनौचित्य भी प्रकृति विपर्यय दोष का ही अंग है। उत्तम, मध्यम तथा अधम प्रकृति के पात्रों के पारस्परिक सम्बन्धों, संलापों तथा सम्बोधनों के लिए कुछ विशिष्ट नियम हैं जिनका परिपालन करने से सम्बोधनगत रसदोष नहीं होता। देश, काल, अवस्था, जाति, वेश तथा व्यवहार आदि का उचित वर्णन करने से प्रकृति विपर्यय नामक रसदोष मिट जाता है। मम्मट के अनुसार अनंग अर्थात् प्रकृति रस के अनुपकारक का वर्णन अंतिम रसदोष है। इसका उदाहरण कर्पूरमंजरी नायिका का वह प्रसंग है जिसमें उसके नायक राजा ने नायिका तथा अपने द्वारा किये गये वसंतवर्णन की उपेक्षा करते हुए बंदियों के वसंत वर्णन की प्रशंसा की है। ये सभी प्रकार के रसदोष अनौचित्यजन्य हैं जिनका उल्लेख ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने भी निम्नलिखित कारिका में किया है। आचार्य मम्मट उनकी उस मान्यता से पूर्ण सहमत हैं। कारिका इस प्रकार है—

अनौचित्यादृते नान्यद् रसभंगस्य कारणम्।
औचित्योपनि बंधस्तु रसस्योपनिषद् परा॥

रसदोषों के अपवाद

मम्मट ने रसदोषों का विवेचन करने के पश्चात् उनके कुछ अपवादों का भी उल्लेख किया है जिनके कारण वे दोष नहीं रहते। उनके मुख्य प्रकार निम्नलिखित हैं—

1. कुछ परिस्थितियों में व्यभिचारी भावों की स्वशब्दवाच्यता दोष नहीं होती।[96]
2. जहाँ अनुभावों द्वारा व्यभिचारी भावों का निश्चित रूप से प्रतिपादन करना सम्भव न हो, वहाँ उनका स्वशब्द से कथन दोष नहीं होता।

3. प्रकृत रस के प्रतिकूल विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव का बाध्य रूप से कथन दोष न होकर प्रकृत रस का परिपोषण गुण कहलाता है।[97]

मम्मट का कथन है कि जो रस आश्रय के ऐक्य में विरोधी हैं उसे भिन्न आश्रय में वर्णित करना चाहिए। इसी प्रकार जो रस नैरंतर्य से विरोधी हैं उसे दूसरे अविरोधी रस से व्यवहित कर देना चाहिए।[98] उदाहरणार्थ वीर तथा भयानक रसों का एकाश्रय में विरोध है। अतः उन दोनों के बीच भयानक रस का वर्णन करना प्रतिपक्ष (प्रतिनायक) रूप से उचित है। ऐसा करने से उनके विरोध का परिहार हो जाता है। इसी प्रकार शान्त तथा शृंगार रस का नैरंतर्य भाव से विरोध है इसलिए इन दोनों के बीच किसी अन्य रस (अद्भुत रस) की योजना करने से वह विरोध नहीं रहता। विरोध परिहार का यह नियम केवल प्रबंध काव्य अथवा नाटक में ही घटित नहीं होता अपितु किसी एक वाक्य अथवा प्रकरण विशेष में भी लागू किया जा सकता है।

मम्मट ने रस विरोध को मिटाने के लिए कुछ अन्य उपाय भी निर्दिष्ट किए हैं। जिनमें तीन मुख्य हैं। उनका कथन है कि विरोधी रस यदि स्मर्यमाण रूप में हो अथवा साम्य से विवक्षित हो तो वहाँ इसका दोष नहीं होता।[99] इसी प्रकार जो दो विरोधी दल किसी तीसरे प्रधान रस में अंगता को प्राप्त हों वे भी परस्पर विरोधी नहीं रहते। मम्मट ने रसों के विरोधाविरोध तथा अंगांगिभाव का विवेचन करने के पश्चात् स्वयं अपनी ओर से यह प्रश्न उठाया है कि जब रस स्वतः वेद्यांतरस्पर्श शून्य है तो दो रसों में विरोधाविरोध तथा अंगांगिभाव कैसे सम्भव है? इसका उत्तर देते हुए उन्होंने लिखा है कि यों तो रसों में विरोध आदि का उपपादन नहीं किया जा सकता। किन्तु जब उनके प्रसंग में विरोधाविरोध की बात कही जाती है तो इस शब्द का अभिप्राय मुख्य रसों के ग्रहण से न होकर केवल स्थायी भावों के ग्रहण से ही समझना चाहिए। 'रस्यते इति रसः' की व्युत्पत्ति के अनुसार यहां रस शब्द स्थायी भाव का ही वाचक सिद्ध होता है। अतः मम्मट के शब्दों में मुख्य रस का दूसरे रस के साथ न तो विरोध ही सम्भव है और न उनमें अंगांगिभाव ही हो सकता है। यह स्थिति तो तभी सम्भव है जब हम रस शब्द के स्थायी भाव का अर्थ ग्रहण करें। अभिप्राय यह है कि आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश के सप्तम उल्लास में दोष दर्शन के समस्त पक्ष विवेचित करने का जो प्रयास किया है, वह उनके व्यापक अध्ययन और गम्भीर चिन्तन का प्रतिफल है। उनके विचार दर्शन पर आचार्य आनन्दवर्धन की मान्यताओं का प्रभूत प्रभाव परिलक्षित होता है।

गुणालंकार निरूपण

मम्मट का दृष्टिकोण

मम्मट ने शब्दार्थमय काव्य-लक्षण में 'अदोषौ' विशेषण के पश्चात् 'सगुणौ' पद का संयोजन करते हुए उनकी गुणवत्ता में काव्यलक्षण की व्याप्ति मानी है। गुणों का अलंकारों के साथ सहज सम्बन्ध है जिनके भेदाभेद के विषय में सभी काव्याचार्य अपनी-अपनी मान्यताओं के अनुरूप विवेचन करते रहे हैं। अलंकार शास्त्र के प्रथम आचार्य

भामह से लेकर मम्मट पर्यन्त यह विवेचन अनेक दृष्टियों से संपुष्ट और विकसित हुआ है। भामह के 'काव्यालंकार' पर लिखित 'भामह विवरण' टीका में भट्टोद्भट्ट ने गुणों और अलंकारों में कोई भेद नहीं माना है। उनके मतानुसार लौकिक गुणों और अलंकारों में भेद हो सकता है किन्तु काव्य में ओज आदि गुण तथा अनुप्रास और उपमा आदि अलंकार समवाय सम्बन्ध से रहते हैं। अतः उनमें भेद मानना गड्डलिकाप्रवाहमात्र (भेड़चाल तुल्य) है। भट्टोद्भट्ट ने यह बात निम्नलिखित रूप से कही है—

"समवायवृत्त्या शौर्यादयः संयोगवृत्या तु हारादयः इत्यस्तु गुणालंकाराणां भेदः, ओजः प्रभृतीनां अनुप्रासोपमादीनां चोभयेषामपि समवायवृत्त्या स्थितिरिति गड्डलिका-प्रवाहेणैवैषां भेदः।"

काव्यालंकारसूत्र के रचयिता आचार्य वामन के गुणों और अलंकारों में भेद माना है। उन्होंने गुणों को 'काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः[100] तथा अलंकारों को 'तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः[101] कहा है। काव्य के स्वरूपाधायक धर्म होने के कारण काव्य में गुणों की स्थिति नित्य और अपरिहार्य है जबकि अलंकार काव्य के उत्कर्ष विधायक धर्म होने के कारण नित्य और अपरिहार्य नहीं माने जाते। मम्मट ने इसी मान्यता के अनुसार काव्य लक्षण में गुणों को अनिवार्य तथा अलंकारों को 'अलंकृती पुनः क्वापि' के शब्दों में व्यक्त किया है। आनन्दवर्धन के अभिमत में गुण सदैव रसाश्रित होते हैं जबकि अलंकार काव्यांगभूत शब्द तथा अर्थ के आश्रित रहते हैं। आचार्य मम्मट ने अपने पूर्व-वर्ती मतों का मंथन करने के पश्चात् यह निष्कर्ष निकाला है कि अंगी रस काव्य का आत्मभूत तत्त्व है, जिसके अपरिहार्य और उत्कर्ष विधायक धर्म गुण कहलाते हैं जिनकी स्थिति आत्म स्थित के शौर्य आदि धर्मों के समान है जब कि अलंकार अंगी रस के अंग-भूत शब्दों और अर्थों के उपकारक हेतु होते हैं जिन्हें 'हारादिवत्' कहा जा सकता है। काव्यप्रकाश की निम्न कारिकाओं में उनका यह मंतव्य इस प्रकार व्यक्त हुआ है—

ये रसस्यांगिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः ॥[102]
उपकुर्वन्ति तं संतं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥[103]

मम्मट के मतानुसार जिस प्रकार शौर्य आदि गुण धर्म शरीर के धर्म न होकर आत्मा के धर्म होते हैं उसी प्रकार माधुर्य आदि गुण वर्णों के धर्म न होकर रस के धर्म होते हैं। शौर्य आदि आत्म गुणों के योग्य शरीर का आकार-प्रकार देखकर ही इसका आकार ही शूर है', इस प्रकार के व्यावहारिक प्रयोग किये जाते हैं। वस्तुतः किसी का लम्बा-चौड़ा आकार-प्रकार ही शूरवीरता का अधिष्ठान नहीं होता, दुबले-पतले व्यक्ति भी शौर्य गुण सम्पन्न हो सकते हैं तथा विशालकाय प्राणी भी कायर कहे जा सकते हैं। सच तो यह है कि शौर्य आदि गुणों का सम्बन्ध शरीर रचना से नहीं होता अपितु वे तो हमारी आत्मचेतना से जुड़े हुए धर्म हैं। मम्मट ने उपर्युक्त दृष्टिकोण से

काव्य गुणों का भी स्वरूप विवेचन किया है ।[104] उन्होंने शरीर, गुण तथा आत्मा के पारस्परिक सम्बन्ध की दृष्टि से सुकुमार वर्णों में माधुर्य आदि गुणों की व्यंजकता को व्यवहारगत मानते हुए यही बतलाया है कि वस्तुतः माधुर्य आदि गुण रस के धर्म हैं किन्तु उनकी अभिव्यक्ति वर्णों के माध्यम अथवा आश्रय से होती है अतः उन्हें वर्णनिष्ठ धर्म कहने की औपचारिक परम्परा बनी हुई है। 'रसोत्कर्षकत्वे सति रसाव्यभिचारित्वं' तथा 'अव्यभिचारेण रसोपकारकत्वं गुणत्वं' के अनुसार गुण रसोत्कर्षक तथा रसनिष्ठ माने जाते हैं। अलंकारों में उपर्युक्त दोनों धर्म नहीं रहते । अतः रस के अभाव में भी शब्दालंकारों की स्थिति होने के कारण उनमें न तो रसाव्यभिचारित्व होता है और न वे अव्यभिचारेण रसोपकारक ही होते हैं। इसी बात को ध्यान में रखते हुए मम्मट ने अलंकारों में गुणों के लक्षण की अति व्याप्ति नहीं मानी है। मम्मट की तो सुदृढ़ धारणा है कि अनुप्रास और उपमा आदि अलंकार काव्य शरीर के शोभाधायक मात्र हैं जिनकी स्थिति हार आदि दैहिक अलंकारों के तुल्य होती है। चूँकि वे शब्दों और अर्थों द्वारा अंगी रस को उपकृत करते हैं अतः उन्हें भी शरीरी (आत्मा) के उत्कर्ष विधायक धर्मों के रूप में मानने की परम्परा बनी हुई है। जिन अलंकारों से रस व्यंजना नहीं होती वे दृष्टिवैचित्र्य के प्रयोजक मात्र ही समझे जाने चाहिए। उनसे किसी भी रूप में सौंदर्य की अभिवृद्धि नहीं होती। अतः वे किसी भी कुरूप स्त्री द्वारा धारण किए हुए अलंकारों के तुल्य ही कहे जाते हैं। उनके अतिरिक्त कुछ ऐसे काव्यालंकार भी होते हैं जिन्हें ग्रामीण अलंकारों से उपमित किया गया है। उन्हें कविता कामिनी के लावण्यमय शरीर पर भार रूप ही माना जाता है।

मम्मट के मतानुसार कहीं वाचक शब्द द्वारा अनुप्रास आदि शब्दालंकार अंगी रस के उत्कर्षाधायक होते हैं तो कहीं वे उपमा आदि के रूप में वाच्यार्थ द्वारा रस को उपकृत करते हैं। जहाँ इसके अभाव में भी अलंकारों की स्थिति होती है; वे उत्तम और मध्यम श्रेणी के काव्य न कहे जाकर अधम (चित्र) काव्य कहलाते हैं। विप्रलम्भ शृंगार में ट वर्ग आदि का बाहुल्य भले ही अनुप्रास अलंकार की छटा विकीर्ण करे किन्तु उससे रस का उत्कर्ष विधान नहीं होता अपितु वाचक शब्द मात्र का ही उपकार होता है। आचार्यों ने तो विप्रलम्भ शृंगार में उपमा आदि अर्थालंकारों के प्रयोग को भी अपकर्षकारी माना है क्योंकि वे प्रकृत रस के प्रतिकूल होने के कारण रस परिपोषक नहीं होते।

मम्मट ने भट्टोद्भट्ट की गुणालंकारवत अभेदता का खण्डन किया है। वस्तुतः गुण इसके उत्कर्षाधायक, अव्यभिचारी तथा रस मात्र निष्ठ धर्म है जबकि अलंकार उनसे भिन्न तत्त्व काव्य हैं जो रस के बिना भी रह सकते हैं तथा उनकी स्थिति रस के लिए सर्वत्र परिपोषक भी नहीं होती। मम्मट काव्यालंकार सूत्रकार वामन की इस मान्यता से भी सहमत नहीं है कि गुण काव्य शोभा के उत्पादक धर्म हैं तथा अलंकार उसके अतिशय हेतु हैं। वामन की उपर्युक्त मान्यता के अनुसार दो विकल्प सम्भव हैं जो इस बात की शंका उत्पन्न करते हैं कि क्या वामन प्रतिपादित दस गुणों के होने से ही काव्य व्यवहार हो सकता है अथवा कुछ गुणों की विद्यमानता से भी वह व्यवहार सम्भव है ? यदि

प्रथम विकल्प के अनुसार समस्त गुणों के होने से ही काव्य व्यवहार माना जाय तब तो उनसे रहित गौडीया अथवा पांचाली रीति काव्य की आत्मा कैसे मानी जा सकेगी ? द्वितीय विकल्प के अनुसार काव्य व्यवहार मानने पर तो रसविहीन काव्य लक्षण रहित वाक्य में ओज आदि कतिपय गुण होने से काव्य व्यवहार माना जा सकेगा जो अभीष्ट नहीं है। वामन ने 'रीतिरात्मा काव्यस्य' सिद्धान्त की प्रतिष्ठा करते समय जिन तीन नीतियों का निरूपण किया था। उनमें वैदर्भी रीति तो समस्त गुणमयी होती है जबकि गौड़ीया रीति में केवल ओज और कांति नामक दो गुण तथा पांचाली में केवल माधुर्य तथा सौकुमार्य संज्ञक गुण होते हैं जिनके अनुसार यदि समस्त गुणों की समष्टि में काव्य व्यवहार माना जाय तो केवल वैदर्भी को ही काव्य की आत्मा मानना पड़ेगा क्योंकि उसी में काव्य के समस्त गुण विद्यमान रहते हैं। गौडीया तथा पांचाली रीतियों को काव्य की आत्मा मानने पर उसमें कतिपय गुणों का संचार मानना पड़ेगा जिससे काव्य लक्षण दूषित हो जायेगा। इस प्रकार मम्मट की विवेचना के अनुसार वामन की वह मान्यता उचित नहीं है जिसमें 'काव्य शोभायाः कर्त्तारो धर्माः गुणाः, तदतिशयहेतवस्त्व-लंकाराः' का सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है। सच तो यह है कि कहीं-कहीं गुणों के होने पर भी काव्य व्यवहार का अभाव पाया जाता है तो कहीं गुणों के अभाव में भी काव्य व्यवहार देखा जाता है अतः अन्वय और व्यतिरेक का व्यभिचार होने से गुणों को काव्य व्यवहार का प्रयोजक नहीं माना जा सकता। मम्मट ने निम्नलिखित उदाहरण में विशेषोक्ति तथा व्यतिरेक अलंकारों को गुणों के बिना ही काव्य व्यवहार का प्रवर्तक माना है जिसमें वर वर्णिनी नारी की प्राप्ति में सदेह स्वर्ग प्राप्ति का सुख निरूपित किया किया गया है—

> स्वर्गप्राप्तिरनेनैव देहेन वरवर्णिनी ।
> अस्या रदच्छदरसो न्यक्करोतिवरां सुधान् ।।[105]

गुण संख्या का निर्धारण

गुण विवेचन के विषय में आचार्य मम्मट ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन से सहमत हैं। उन्होंने 'माधुर्योजः प्रसादाख्यास्त्रयस्ते न पुनर्दश' सूत्र द्वारा वामननिरूपित दस गुणों का खण्डन करते हुए माधुर्य, ओज और प्रसाद संख्यक केवल तीन गुण माने हैं।[106] वामन ने शब्द तथा अर्थ के आधार पर जिन दस-दस गुणों का उल्लेख किया है, वे मम्मट को मान्य नहीं हैं क्योंकि उसके मतानुसार 'गुण' शब्द और अर्थ के धर्म न होकर रस के धर्म होते हैं। जिसके कारण शब्दगुण और अर्थगुण की पृथक्-पृथक् श्रेणियाँ नहीं होतीं। उनके शब्दों में शृंगार में रहने वाला आह्लादकत्व ही माधुर्य गुण कहलाता है। जो चित्त के द्रवीभाव का कारण हैं।[107] मम्मट ने 'आह्लादकत्व' का अर्थ आह्लादजनकता न मानकर आह्लादस्वरूपता माना है जिसका अभिप्राय यह है कि शृंगार रस स्वतः ही आह्लादस्वरूप होता है। शृंगार के सम्भोग पक्ष में चित्त की द्रुति अथवा विगलित अवस्था निसर्गतः सन्निहित है। भामह ने 'श्रव्यं नातिसमस्तार्थं काव्यं मधुरमिष्यते' के

अनुसार जिस 'श्रव्यता' को माधुर्य गुण लक्षण माना है वह ओज तथा प्रसाद गुण में भी रहता है, अतः मम्मट को उनकी तद्विषयक मान्यता स्वीकार नहीं है।

यों तो माधुर्य गुण सामान्यतः संयोग शृंगार में ही रहता है किन्तु करुण, विप्रलम्भ तथा शांत रस में वह उत्तरोत्तर चमत्कारजनक होता चलता है।[108] उसकी अतिशयता का मूल हेतु चित्त की अत्यंत बलवती 'द्रुति' है। चित्त का द्रवीभाव ही माधुर्य गुण का आह्लादस्वरूप है। ओज गुण का आह्लाद वीर रस में प्रकट होता है। जिसमें चित्त बिस्तार का दीप्तत्व ओज गुणजन्य होता है।[109] सामान्यतः ओज वीर रस में रहता है किन्तु वीभत्स तथा रौद्र रसों में क्रमशः उसका विशेष चमत्कारजनक आधिक्य उत्तरोत्तर प्रकट होता है।[110]

प्रसाद गुण का क्षेत्र अन्य गुणों की अपेक्षा अधिक व्यापक और विस्तीर्ण है। वह सभी रसों और रचनाओं में विद्यमान रहता है। मम्मट ने उसे 'शुष्केन्धनाग्निवत्' तथा 'स्वच्छजलवत्' माना है जिसका अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार सूखे हुए ईंधन में सहसा अग्नि व्याप्त हो जाती है अथवा स्वच्छ धुले हुए वस्त्र में जल व्याप्त रहता है उसी प्रकार प्रसाद गुण समस्त रसों और रचनाओं में समाविष्ट होता है।[111] मम्मट के प्रसाद गुण विषयक अग्नि और जल के उदाहरण साभिप्राय और सप्रयोजन है। वीर तथा रौद्र आदि उग्र रसों में प्रसाद गुण की व्याप्ति शुष्केन्धन व्याप्त अग्नि तुल्य है जबकि शृंगार और करुण आदि कोमल रसों में वह स्वच्छ वस्त्र व्याप्त जल तुल्य होता है। यद्यपि मुख्य रूप से गुण रस के धर्म हैं किन्तु गौणी वृत्ति से उनकी स्थिति शब्दार्थगत मानी जाती है। गौणी वृत्ति का अर्थ उपचार से है। इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहा जा सकता है कि जिस प्रकार शरीर के आकार-प्रकार में आत्मा के धर्म, शौर्य आदि गुणों की स्थिति उपचार से मानी जाती है, उसी प्रकार के उपचार से रस के धर्म माधुर्य आदि गुणों की स्थिति भी शब्द और अर्थ में मानी जानी चाहिए। मम्मट का अभिमत है कि वामन ने जिन दस गुणों का निरूपण किया है। उनमें से कुछ तो माधुर्य, ओज तथा प्रसाद गुणों में अंतर्भूत हो जाते हैं, कुछ दोषाभाव रूप होते हैं तथा कुछ कहीं पर गुण न होकर दोष रूप हो जाते हैं जिसके परिणामस्वरूप केवल माधुर्य, ओज तथा प्रसाद संज्ञक तीन गुण ही माने जाने चाहिए।

त्रिगुणवाद का सिद्धांत ही समान्य है

वामन ने दस प्रकार के शब्द गुण माने थे जिसमें से श्लेष, समाधि, उदारता और प्रसाद संज्ञक चार गुण ओज गुण में, अर्थ व्यक्ति गुण प्रसाद गुण में तथा माधुर्य संज्ञक गुण माधुर्य गुण में अंतर्भूत किए जा सकते हैं। समतागुण कहीं-कहीं दोषरूप हो जाता है, अतः वह विशुद्ध गुण नहीं रहता। सौकुमार्य तथा कांतिगुण कष्टत्व तथा ग्राम्यत्व दोष के परिहार रूप होने से गुण नहीं माने जाते। इस प्रकार मम्मट के मतानुसार वामन प्रतिपादित दशविध शब्द गुणों का त्रिविध अंतर्भाव गुणों में हो जाता है।[112]

मम्मट ने वामनोक्त अर्थगुणों की अनुपपत्ति भी सिद्ध की है। उनका कथन है कि

जो प्रौढ़ि' ओज कही जाती है, वह गुण न होकर विचित्रता मात्र है क्योंकि उसके बिना भी काव्य व्यवहार हो सकता है। अर्थवैमल्वरूप 'प्रसाद', उक्तिवैचित्र्यरूप 'माधुर्य', अपारुष्यरूप 'सौकुमार्य:' तथा अग्राम्यत्व रूप 'उदारता' गुण दोषाभाव के अंतर्गत माने जा सकते हैं। वस्तुस्वभाव स्फुट रूप 'अर्थ व्यक्ति' तथा दीप्तरसरूप 'कांति' तथा रचनास्व-रूप 'श्लेष' भी विचित्रतामात्र है। अवैषम्य रूप 'समता' भी गुण न होकर दोषमात्र है। अर्थदृष्टिरूप 'समाधि' को भी गुण नहीं कहा जा सकता क्योंकि अर्थ के दर्शन का नाम 'समाधि' है जो काव्य का गुण न कहा जाकर काव्य के कारणों में गिना जाता है। इस प्रकार वामन द्वारा निरूपित सभी अर्थगुण किसी न किसी रूप में त्रिविध गुणों में अंतर्भूत हो जाते हैं।[113]

आचार्य मम्मट त्रिगुणवाद के समर्थक हैं। उन्होंने माधुर्य आदि गुणों के व्यंजकों का वर्णन करते हुए वर्ण, समास तथा रचना को उनके व्यंजक माना है। उन्होंने बतलाया है कि ट ठ ड ढ को छोड़कर शेष सभी स्पर्श वर्ण माधुर्यगुण के व्यंजक होते हैं। उसकी रचना में या तो समास का अभाव रहता है या मध्यम अथवा अल्प समास हो सकता है। ओज गुण के व्यंजक वर्णों की स्थिति माधुर्य गुण के वर्णों, समासों तथा रचनाओं से सर्वथा विपरीत होती है। प्रसादगुण के वर्णों, पदों, समासों और रचनाओं में ऐसी विशेषता होती है कि उनके श्रवण मात्र से ही अर्थप्रतीति हो जाती है। यह गुण समस्त रसों और रचनाओं का साधारण धर्म होता है।[114]

'रीति' मार्ग और 'संघटना' एकवर्गीय है :

गुण विवेचन के प्रसंग में वामन ने उसके साथ वैदर्भी, गौडीया तथा पांचाली रीतियों का प्रतिपादन करते हुए रीति को ही काव्य की आत्मा माना था। दण्डी तथा कुंतक ने रीति के स्थान पर 'मार्ग' शब्द का प्रयोग किया है तो आनंदवर्धन ने उसे 'संघटना' नाम दिया है। इन आचार्यों की एतद्विषयक विषयक मान्यताओं का विश्लेषण उनकी उपलब्धियों के संदर्भ में किया गया है। अतः यहाँ उनका संकेतमात्र ही पर्याप्त समझा जाना चाहिए। मम्मट ने संघटना आदि को गुणाश्रित मानते हुए इस बात का स्पष्ट उल्लेख किया है कि कहीं-कहीं वक्ता, वाच्यविषय तथा प्रबंध के औचित्य से भी रचना, समास तथा वर्णों का अन्य प्रकार का प्रयोग भी उचित माना जाता है।[115] कुछ ऐसी रचनाएँ भी होती हैं, जहाँ वाच्य तथा प्रबंध की उपेक्षा करते हुए केवल वक्ता के औचित्य का ही ध्यान रखा जाता है। मम्मट का कथन है कि साधारणतः अभिनेय काव्य में यथासम्भव दीर्घसमास पदावली का प्रयोग नहीं किया जाना चाहिए क्योंकि उसके कारण अर्थप्रतीति में बाधा आती है किन्तु यदि कहीं ओज व्यंजक प्रसंग अथवा धीरोद्धत आदि नायकों के कथन वर्णित हों तो वक्ता के औचित्य के विचार से दीर्घसमासयुक्त रचनाएँ भी की जा सकती हैं। प्रबंध के औचित्य के अनुसार जो रचनाएं की जाती हैं उनमें वक्ता वाच्य की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। उदाहरणार्थ आख्यायिका में श्रृंगार रस के वर्णन में भी कोमल वर्ण आदि प्रयुक्त नहीं होते, कथा में रौद्र रस में भी

पुरुष और उद्धृत वर्ण नहीं रखे जाते तथा नाटक आदि के रौद्र रस में भी दीर्घसमास आदि प्रयुक्त नहीं होते। गुणसंश्रित रचनाओं के सफल निर्वाह में इसी प्रकार के अन्य सभी औचित्यों का अनुसरण तथा परिपालन करना नितांत वांछनीय है।

अलंकार निरूपण

अलंकारों की काव्यगत स्थिति

मम्मट ने काव्यलक्षण के अंतर्गत ध्वनि-सिद्धांत के दृष्टिकोण से अलंकारों की स्थिति 'अलंकृति पुनः क्वापि' के रूप में प्रकट की है जिसका यह अभिप्राय है कि साधारणतः काव्य में अलंकारयुक्त शब्दार्थ ही प्रयुक्त होने चाहिए किन्तु जहाँ रसादि की स्पष्ट प्रतीति हो, वहाँ कभी-कभी अलंकार विहीन शब्द और अर्थ भी काव्यत्व में हानि नहीं पहुँचाते। शब्द और अर्थ से सम्बद्ध होने के कारण 'अलंकार' पद शब्दालंकार और अर्थालंकार संज्ञक द्विविध प्रकारों में विभक्त किये जाते हैं जिनका पृथक्-पृथक् विश्लेषण काव्यप्रकाश के नवम् और दशम उल्लास में किया गया है। मम्मट ने काव्यगत अलंकारों का स्थान और महत्त्व 'उपकुर्वन्ति तं संतं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्' [116] शब्दों में प्रकट किया है। वस्तुतः काव्यालंकार शब्दार्थ शरीर काव्य में 'कटककुण्डलवत्' है जिसका आशय यह है कि वे रसरूप अलंकार्य के लिए उत्कर्षविधायक तत्त्व होते हैं। वे रसगुण सम्पन्न काव्य पुरुष के लिए स्थिर और अनिवार्य धर्म नहीं हैं। मम्मट ने इसी दृष्टिकोण से उनके साथ 'जातु चित्' शब्द का प्रयोग किया है। रस सिद्धांतवादी आचार्य विश्वनाथ भी अलंकारों के प्रति इसी प्रकार का दृष्टिकोण रखते हैं।[117] वस्तुतः यह दृष्टिकोण ध्वनिमत की प्रधानता से प्रतिष्ठित हुआ है अन्यथा अलंकारवादी आचार्य तो उनके अभाव में काव्य का अस्तित्व ही स्वीकार नहीं करते। चन्द्रालोककार जयदेव ने काव्यगत अलंकारों की अनिवार्यता घोषित करते हुए यहाँ तक लिख दिया है कि अलंकार-विहीन काव्य की कल्पना वैसी ही है जैसी उष्णताविहीन अग्नि की कल्पना हो सकती है—

अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्याद्दनुष्णमनलंकृती॥

साधारणतः अलंकारों को शब्दालंकार तथा अर्थालंकार की श्रेणियों में विभक्त किया जाता है किन्तु जहाँ उनकी स्थिति उभयगत होती है, वहाँ उभयालंकार माने जाते हैं। गुण और परिमाण की दृष्टि से अर्थालंकारों का क्षेत्र अधिक व्यापक और विस्तृत है। तदुपरांत शब्दालंकारों और उभयालंकारों का सीमाविस्तार आता है।

अलंकार-संख्या और शब्दालंकार

अलंकारों की संख्या के विषयों में आचार्यों के भिन्न-भिन्न मत हैं। वामन ने शब्दालंकारों के अंतर्गत मुख्यतः 'अनुप्रास' और 'यमक' अलंकार माने हैं जबकि मम्मट ने उनके साथ वक्रोक्ति, श्लेष, चित्र और पुनरुक्तवदाभास जोड़ कर उन्हें छह प्रकारों

में विभक्त कर दिया है। अलंकार सर्वस्वकार रुय्यक ने पुनरुक्तवदाभास को अर्थालंकार माना है। विश्वनाथ और शोभाकर मिश्र उसे शब्दालंकार ही मानते हैं। श्लेष अलंकार की स्थिति उभयगत है। सभंगश्लेष शब्दालंकार तथा अभंगश्लेष अर्थालंकार माना गया है। अप्पय दीक्षित उभयविध श्लेषों को अर्थालंकार मानते हैं तो रुय्यक के अनुसार सभंगश्लेष शब्दालंकार तथा अभंगश्लेष अर्थालंकार है। मम्मट ने दोनों श्लेषों को शब्दालंकार मानने के साथ-साथ एक विशिष्ट प्रकार का अर्थश्लेष भी माना है जो उन दोनों से भिन्न है। उसमें शब्दों का परिवर्तन कर देने पर भी द्वितीय अर्थ की प्रतीति होती है जिसे 'एकवृंतगतफलद्वय न्याय' से 'एक शब्द में दो अर्थों का श्लेष' भी कहा जा सकता है। शब्दालंकाररूप श्लेष का स्पष्टीकरण जतुकाष्ठ न्याय से किया गया है।

मम्मट ने श्लेष तथा काकुध्वनि के आधार पर वक्रोक्ति को दो रूपों में स्वीकार किया है।[118] उनके शब्दों में 'वर्णों की समानता अथवा आवृत्ति अनुप्रास है' जो स्वरों में भेद होने पर भी व्यंजनसाम्य से ग्राह्य समझा जाता है।[119] इस अलंकार में वर्णों का साम्य अथवा सन्निवेश रसादि के अनुरूप करने से ही काव्य में चमत्कार आता है। छेक और वृत्ति (उपनागरिका, परुषा और कोमला) के अनुसार उसके दो प्रमुख भेद हैं। छेक शब्द चतुर व्यक्ति का वाचक है तो वृत्ति में गुण और रीति आदि का भी समन्वय रहता है। लाटानुप्रास एक प्रकार से पदानुप्रास है जिसमें पदों की आवृत्ति ऐसे रूप में होती है कि उनके उद्देश्यविधेय में अंत आने पर उनका तात्पर्य भिन्न हो जाता है।[120] मम्मट ने लाटानुप्रास को पाँच प्रकारों में निरूपित किया है।

मम्मट का यमकालंकार विवेचन अत्यंत स्पष्ट और विशद है। उन्होंने यमक के लक्षण में 'अर्थे सति अर्थभिन्नानां' का उल्लेख किया है जिसका यह अभिप्राय है कि यमक स्थल में यह आवश्यक नहीं है कि आवृत्त वर्ण दोनों स्थलों पर सार्थक ही हों। 'अर्थ होने पर भिन्नार्थक वर्णों की उस क्रम से पुनः श्रुति अथवा पुनरावृत्ति' यमक अलंकार का लक्षण है।[121] पादावृत्ति तथा पादाभागावृत्ति के आधार पर उसके ग्यारह भेद किये जाते हैं जिनके पृथक्-पृथक् लक्षण तथा उदाहरण देते हुए मम्मट ने उनका भेद निरूपण किया है।[122] मम्मट के मतानुसार 'अर्थ का भेद होने से भिन्न-भिन्न शब्द एक साथ उच्चारण के कारण जब परस्पर मिल कर एक हो जाते हैं तो वहाँ शब्दश्लेष होता है।'[123] अक्षर आदि के भेद से वह आठ प्रकार का होता है जिसमें वर्ण, पद, लिंग, भाषा, प्रकृति, प्रत्यय, विभक्ति और वचन उनके भेद निरूपण के आधार बनते हैं।[124] आचार्य रुद्रट ने भी उपर्युक्त अष्टविध श्लेषों का वर्णन काव्यालंकार में किया है। श्लेष का एक विशिष्ट प्रकार अभंगश्लेष है जिसे श्लेष भेदों के साथ जोड़ने से श्लेष के नौ भेद हो जाते हैं। अलंकारशास्त्रियों ने भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों के आधार पर शब्द श्लेष और अर्थश्लेष का अंतर स्पष्ट किया है। इस विषय में प्रतीहारेन्द्रराजविरचित 'उद्भटालंकार सार-संग्रहलघुवृत्ति' तथा रुय्यकरचित 'अलंकार सर्वस्व' ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं जिनमें श्लेषालंकार का विश्लेषण अत्यंत सूक्ष्म दृष्टि से किया गया है। आचार्य मम्मट ने उपर्युक्त आचार्यों के अभिमतों का युक्तिसंगत विवेचन करते हुए जिस रूप में श्लेष अलंकार की

स्वतंत्र स्थिति का निरूपण किया है, वह अत्यंत गुरु गम्भीर और विचारणीय है।

'चित्र' अलंकार शब्दालंकार का एक विशिष्ट प्रकार है जिसके बंध में वर्णों की रचना खंग आदि की आकृति का हेतु होती है। इस अलंकार में विशेष प्रकार के विन्यास से लिपिबद्ध किये गये वर्ण खंग, मुरज, कमल आदि के आकार प्रकट करते हैं जिनके कारण इस प्रकार के अलंकार युक्त काव्य को 'चित्र काव्य' कहा जाता है।[125] ऐसे काव्य को क्लिष्ट तथा अधम काव्य मानते हुए मम्मट ने उसका दिग्दर्शन मात्र कराना ही पर्याप्त समझा है।

पुनरुक्तवदाभास अलंकार का क्षेत्र शब्दगत और अर्थगत होने के कारण वह शब्दालंकार तथा अर्थालंकार रूपों में विवेचित किया जाता है। विभिन्न स्वरूप के शब्दों में रहने वाली समानार्थक प्रतीति में पुनरुक्तवदाभास अलंकार होता है। यह प्रतीति शब्दों के समानार्थक न होने पर भी होती है। भिन्न रूप से सार्थक तथा अनर्थक शब्दों में जो समानार्थक प्रतीति होती है, वह शब्दगत और अर्थगत होने के कारण ही इस अलंकार के द्विविध रूप निर्धारित करती है। इस प्रकार यह अलंकार काव्य के शब्द और अर्थ रूपों में दो प्रकार का होता है। संक्षेप में मम्मट का शब्दालंकार निरूपण यहीं समाप्त हो जाता है।

अर्थालंकार निरूपण

शब्दालंकारों की विवेचना के पश्चात् आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश के दशम उल्लास में 61 प्रकार के अर्थालंकारों का विश्लेषण किया है। उन अलंकारों में अधिकांश अलंकार वे ही हैं जो अन्य अलंकारियों द्वारा समान्य रहे हैं। इसी सन्दर्भ में शब्दालंकारों और अर्थालंकारों का मूलभूत अंतर स्पष्ट किया गया है जिसके अनुसार शब्दालंकार शब्द परिवृत्त्यसह होते हैं जिनकी स्थिति किन्हीं विशेष शब्दों के रहने पर ही सम्भव है। उन शब्दों के स्थान पर यदि उनके पर्यायवाची शब्द रख दिये जायं तो उनकी अलंकृति नष्ट हो जाती है। अर्थालंकारों की स्थिति उनसे भिन्न है क्योंकि वे अलंकार मूलतः अर्थाश्रित होते हैं। उनमें प्रयुक्त शब्दों के स्थान पर यदि उनके समानार्थक अन्य शब्द रख भी दिये जायें तो भी उनकी अलंकारता नष्ट नहीं होती। मम्मट के पूर्व भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में उपमा, रूपक, दीपक तथा यमक नामक चार अलंकारों का वर्णन हुआ था जो बढ़ते-बढ़ते वामन द्वारा तैंतीस, दण्डी द्वारा पैंतीस, भामह द्वारा उन्तालीस और उद्भट द्वारा चालीस की संख्या तक पहुंचा दिया गया। रुद्रट के काव्यालंकार में बावन, काव्यप्रकाश में सड़सठ, चन्द्रालोक में एक सौ तथा कुवलयानंद में एक सौ चौबीस अलंकारों के भेद वर्णित हैं। रुय्यक ने सड़सठ अलंकारों को आठ प्रमुख भागों में विभक्त करते हुए उनका रचना शैली गत विवेचन किया है। मम्मट के 'काव्यप्रकाश' में जिन इकसठ अर्थालंकारों का निरूपण-हुआ है, वे रुय्यकविरचित 'अलंकार सर्वस्व' की प्रणाली पर आधारित हैं। परिणाम, उल्लेख, परिकरांकुर, विचित्र, अर्थापत्ति और विकल्प नामक छह अलंकार काव्यप्रकाश में वर्णित नहीं हुए हैं।

मम्मट ने उनतीस प्रकार के सादृश्यमूलक अलंकारों का विवेचन किया है जिनमें उपमालंकार का स्थान सर्वोपरि है। शेष अलंकारों में उपमेयोपमा, अनन्वय, रूपक, स्मरण, संदेह, भ्रांतिमान्, अपह्नुति, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, तुल्ययोगिता, दीपक, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टांत, निदर्शना, व्यतिरेक, सहोक्ति और समासोक्ति आदि प्रमुख हैं। इन समस्त अलंकारों का विवेचन अलंकारशास्त्र के स्वतंत्र ग्रंथ के रूप में अपेक्षणीय है अतः हमारे मूल विषय के साथ उनका उल्लेख मात्र ही पर्याप्त समझा गया है।

मम्मट मूलतः ध्वनिवादी आचार्य थे अतः उन्हें अलंकारों की काव्यगत स्थिति ध्वनिमुख से ही स्वीकार थी। उन्होंने व्यंग्य विहीन काव्य को अधम श्रेणी प्रदान की है। अलकारों की शोभा और सफलता इसी बात में है कि वे किसी न किसी प्रकार का व्यंग्य अथवा प्रतीयमान अर्थ लेकर अवश्य चलें। व्यंग्य के बिना उक्ति में चमत्कार अथवा वैचित्र्य आ ही नहीं सकता। अलंकार भी एक प्रकार से उक्ति वैचित्र्य ही होते हैं अतः यदि उनमें व्यंग्य का स्पर्श न हो तो वे अलंकार ही नहीं कहे जा सकते। यह बात अवश्य है कि ध्वनिकाव्य में व्यंग्य का प्राधान्य होता है जब कि गुणीभूत व्यंग्य अथवा अलंकार प्रधान काव्य में उसकी गौणता रहती है। उपमा आदि अलंकारों में यद्यपि उपमा वाचक पदों अथवा वाच्यार्थ के वैचित्र्य से चारुता की प्रतीति होती है। फिर भी उनमें व्यंग्य का संस्पर्श तो रहता ही है। ऐसी स्थिति में यही मान कर चलना उचित है कि सभी अलंकारों में रस आदि व्यंग्यार्थ तथा अन्य अलंकार किसी न किसी रूप में अवश्यमेव विद्यमान होते हैं अतः व्यंग्य विहीन काव्य की कल्पना की ही नहीं जा सकती। मम्मट ने यही बात निम्नलिखित रूप में कही है—

"प्रतीयमानेन विना यद्यपि नोक्तेर्वैचित्र्यं, वैचित्र्यं चालंकारः, तथापि न ध्वनि-गुणीभूतव्यंग्यव्यवहारः। न खलु व्यंग्यसंस्पर्शपरामर्शादत्र चारुताप्रतीतिः अपितु वाच्यवैचित्र्य प्रतिभासादेव। रसादिस्तु व्यंग्योऽर्थोऽलकारातरं च सर्वत्रा व्यभिचारीति अगणयित्वैव तदलंकाराः उदाहृताः।"[126]

मम्मट विवेचित अलंकार निरूपण पूर्ववर्ती आचार्यों की मान्यताओं से युक्ति संगत तथा प्रमाणपुष्ट है। उन्होंने प्रमुख अलंकारों के भेद-प्रभेदों का विश्लेषण करने में भी अपनी मेधाशक्ति का परिचय दिया है। कहते हैं कि वे परिकर अलंकारपर्यन्त केवल छत्तीस अलंकारों का ही निरूपण कर सके थे। उनके निधन के उपरांत काव्यप्रकाश का अवशिष्ट भाग अल्लट सूरि द्वारा पूर्ण किया गया जिसका प्रमाण 'कृतः श्री मम्मटाचार्य-वर्यैः परिकरावधिः। प्रबंधः पूरितः शेषो विधायाल्लट सूरिणा' श्लोक द्वारा दिया जाता है। अल्लट सूरि ने व्याजोक्ति अलंकार से लेकर संकर अलंकारपर्यन्त अवशिष्ट पैंतीस अलंकारों की सोदाहरण विवेचना की है। उनका विवेचन मम्मट की प्रतिपादन शैली तथा विचारधारा के अनुरूप है। विवेचन के संदर्भ में उन्होंने अपने निजी दृष्टिकोण का भी अभिव्यंजन किया है। उनका संसृष्टि और संकर अलंकार-निरूपण विचारणीय है जिसमें उन्होंने दोनों की निरपेक्ष स्थिति मानी है। उनके मतानुसार शब्दालंकार तथा अर्थालंकार की संसृष्टि सम्भव है जब कि अनेक अलंकारों की सापेक्ष स्थिति में संकर

अलंकार होता है। अंगांगिभाव, संदेह तथा एकाश्रयानुप्रवेश के रूप में संकर अलंकार के तीन भेद होते हैं जिनका पृथक् विवेचन करते हुए अल्लट सूरि ने अलंकार-प्रकरण समाप्त किया है।

अलंकार व्यवस्था का आधार

अलंकारों के भेद-प्रभेद की सम्पूर्ण व्यवस्था शब्द, अर्थ तथा शब्दार्थगत स्थितियों पर निर्भर है। उनमें काव्य शोभा का अतिशयहेतुत्व समान रहने पर भी उन्हें जिस आधार पर शब्दालंकार, अर्थालंकार तथा उपमालंकार कहा जाता है उसका निरूपण करते हुए अल्लत सूरि ने लिखा है कि काव्य में गुण, दोष तथा अलंकारों की शब्दनिष्ठता, अर्थनिष्ठता तथा उभयनिष्ठता की व्यवस्था में अन्य कोई निमित्त न होने से अन्वय, व्यतिरेक ही नियामक होते हैं। जो अलंकार शब्द और अर्थ में से जिसके अन्वयव्यतिरेक का अनुसरण करता है, वह उसका अलंकार माना जाता है।[127] अलंकार विवेचन के प्रारम्भ में ही इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि शब्द विशेष पर आश्रित अलंकार शब्दालंकार होता है तो अर्थ विशेष पर आश्रित अलंकार अर्थालंकार कहलाता है। दोनों में अन्वयव्यतिरेक का अनुसरण रहता है। उभयालंकार के विषय में भी यही नियम घटित होता है। अल्लट सूरि ने अलंकार सर्वस्वकार रुय्यक की उस मान्यता का खण्डन किया है। जिसमें उन्होंने अन्वयव्यतिरेक के स्थान पर आश्रयाश्रयिभाव को अलंकारों की शब्दनिष्ठता तथा अर्थनिष्ठता का नियामक माना है। सूरि का कथन है कि अन्वय व्यतिरेक का आश्रय लिये बिना किन्हीं दो विशिष्ट पदार्थों का आश्रयाश्रयिभाव बन ही नहीं सकता।[128]

अलंकार दोषों का औचित्य

काव्यप्रकाश के सप्तम उल्लास में जिन दोषों की विस्तृत विवेचना की गई है, उनसे भिन्न अन्य दोष हो ही नहीं सकते अतः मम्मट ने अलंकार निरूपण के अंतर्गत अलंकार दोषों की पृथक् विवेचना अनुपयुक्त मानी है। वामन ने जिन अलंकार दोषों का निरूपण किया है। उनका अंतर्भाव काव्यप्रकाश के दोष प्रकरण में स्वतः हो जाता है।[129] वामन प्रतिपादित प्रसिद्ध्यभाव, वैफल्य तथा वृति विरोध संज्ञक अलंकार दोषों का अंतर्भाव प्रसिद्धिविरुद्धत्व, अपुष्टार्थत्व तथा प्रतिकूलवर्णत्व दोषों में सम्भव है तो यमक दोष का अंतर्भाव अप्रयुक्तत्व दोष में हो जाता है। उपमा दोष यदि अनुचितार्थत्व रूप है तो उत्प्रेक्षा दोष असामर्थ्य तथा अवाचकत्व दोषों में समाविष्ट किये जा सकते हैं। वस्तुतः उपमा, उत्प्रेक्षा और अर्थान्तरन्यास अलंकारों के दोष परस्पर सम्बद्ध रहते हैं अतः उन सबका अंतर्भाव अनुचितार्थ तथा अवाचकत्व दोषों में करना युक्तिसंगत है। समासोक्ति तथा अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार के दोषों का अंतर्भाव अपुष्टार्थत्व तथा पुनरुक्ति दोष में किया जा सकता है। इस प्रकार वामन तथा उद्भट आदि आचार्यों द्वारा विवेचित सभी अलंकार दोषों का अंतर्भाव काव्यप्रकाश के दोष प्रकरण में समा-

विष्ट होने के कारण उनका पृथक् विवेचन उचित नहीं समझा गया है।

निष्कर्ष और निर्णय

आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश के प्रारम्भ में 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि' सूत्र द्वारा जो काव्यलक्षण निरूपित किया था, उसके अनुबंध चतुष्टय का सम्यक् निर्वाह करते हुए उन्होंने अपना ग्रंथ समाप्त किया है जो भारतीय काव्यशास्त्र का अक्षय कीर्तिमान आलोक स्तम्भ है। ग्रंथ के अंत में उन्होंने इस बात का स्पष्ट उल्लेख किया है कि वे अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के काव्य सिद्धांतों का विवेचन, विश्लेषण तथा मंथन करने के पश्चात् जिस समन्वयात्मक दृष्टिकोण का प्रतिष्ठान कर सके हैं, वह कोई अनूठी और विचित्र उपलब्धि नहीं है। इस विषय में उनका मंतव्य निम्नलिखित रूप में व्यक्त हुआ है—

इत्येष मार्गो विदुषां विभिन्नोऽप्यभिन्नरूपः प्रतिभासतेयत्।
न तद्विचित्रं यदमुत्र सम्यग्विनिर्मिता संघटनैव हेतुः॥

सन्दर्भ टिप्पणी

1. अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते॥
(आनन्दवर्धन ध्वन्यालोक)
2. करुणादावपि रसे जायते यत् परं सुखम्।
सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम्॥ (काव्यप्रकाश, 8/347)
3. भवभूति : उत्तररामचरित, 1/28
4. मम्मट : काव्यप्रकाश, 1/1
5. मम्मट : काव्य प्रकाश, 1/2
6. वामन : काव्यालंकारसूत्र, 1/1/5
7. वही,
8. भामह : काव्यालंकार, 1/2
9. कुंतक : वक्रोक्तिजीवित, 1/3-5
10. भरत मुनि : नाट्यशास्त्र, 1/113-15
11. मम्मट : काव्यप्रकाश, 1/3
12. भामह : काव्यालंकार, 1/9-10
13. वामन, काव्यालंकारसूत्र, 1/3/1-2
14. वही, 1/3/3
15. वही, 1/3/11

16. तददोषौ शब्दार्थौं सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि (काव्यप्रकाश प्रथम उल्लास, सूत्र 1)
17. भामह : काव्यालंकार, 1/16
18. वामन : काव्यालंकारसूत्र, 1/1
19. रुद्रट : काव्यालंकार, 2/1
20. हेमचंद्र : काव्यानुशासन, पृष्ठ 16
21. वाग्भट :
22. विद्यानाथ : प्रतापरुद्र
23. विद्याधर : एकावली
24. कीटानुबिद्धरत्नादि साधारण्येन काव्यता।
दुष्टेष्वपि मता यत्र रसाद्यनुगमः स्फुटः ।। (साहित्यदर्पण)
25. मम्मट : काव्यप्रकाश, प्रथम उल्लास, का० 4 सूत्र 2
26. वही, 5/3
27. वही, 5/4
28. वाच्यादयस्तदर्थाः स्युः तात्पर्यार्थोऽपिकेषुचित् । (काव्यप्रकाश, 2/6/6-7)
29. सर्वेषां प्रायशोऽर्थानां व्यंजक त्वमपीष्यते। (वही, 2/7/8)
30. साक्षात्संकेतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः। (वही, 2/7/9)
31. मम्मट : काव्यप्रकाश, 2/8/10
32. वही, 2/8/11
33. वही, 2/912
34. वही, 2/13/18-19
35. वही, 2/14/20
36. वही, 2/23/14
37. वही, 2/26/16
38. वही, 2/17/27
39. वही, 2/17/28
40. वही, 2/18/29-31
41. वही, 2/19/32
42. वही, 2/20/33-34
43. वही, 2/22/37
44. वही, 2/33/38
45. वही, 4/27-28/43
46. वही, 4/27-28/43 की व्याख्या।
47. वही, 4/27-28/43 की व्याख्या।
48. वही, 4/27-28/43 व्याख्या भाग।

49. मम्मट : काव्य प्रकाश 4/27-28/43 व्याख्या भाग
50. भरतमुनि : नाट्यशास्त्र, 6/16
51. मम्मट : काव्यप्रकाश, 4/35/47
52. वही, 4/35/48
53. वही, 4/37/51 व्याख्या भाग ।
54. वही, 1/5/3
55. वही, 5/45-46/66-67
56. वही, 5/45/66 व्याख्या भाग
57. वही, 5/47/68-69
58. वही, 5/47/69
59. हेत्वभावान्न लक्षणा । मुख्यार्थबाधादि त्रयंहेतु: । (काव्यप्रकाश 2/15/25)
लक्ष्यं न मुख्यं जाप्यत्र बाधो योग: फलेन नो ।
न प्रयोजन मेतस्मिन् न च शब्द: स्खलतद्गति: । (वही, 2/15/26)
60. अर्थान्तरसंक्रमितात्यंततिरस्कृतवाच्ययोर्वस्तुमात्ररूपं व्यंग्यं विनालक्षणैव न भवति (काव्यप्रकाश, 5/47/69 व्याख्या भाग) ।
61. मम्मट : काव्य प्रकाश, 2/15/24-25
62. शब्दशक्तिमूले तु अभिधाया नियंत्रणेनानभिधेयस्यार्थान्तरस्य तेन सहोपमादे-रलंकारस्य च निर्विवादं व्यंग्यत्वम् । (काव्यप्रकाश, 5/47/59 व्याख्या भाग)
63. मम्मट : काव्यप्रकाश, 5/47/69 व्याख्या भाग ।
64. वही, 5/47/69 व्याख्या भाग ।
65. ये त्वभिदधति सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरो व्यापार: इति 'यत्पर: शब्द: स शब्दार्थ:' इति विधिरेवात्रवाच्य इति (काव्यप्रकाश : 5/47/69 व्याख्या भाग) ।
66. तेऽप्यतात्पर्यज्ञास्तात्पर्यवाचोयुक्तेर्देवानां प्रिया: । (वही : व्याख्या भाग) ।
67. वही, 5/47/69/133-5
68. वही, 5/47/69 व्याख्या भाग
69. पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च ।
वाक्यात् पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन ॥
70. गाथासप्तशती, द्वितीय शतक, छंद 75
71. मम्मट : काव्यप्रकाश, 7/49/71
72. वही, 7/50-51/72
73. वही, 5/51/72/146
74. वही, 5/51/72/148
75. वही, 5/51/72/149
76. वही, 5/51/72/ 150

77. निरूढा लक्षणाः काश्चित् सामर्थ्यादभिधानवत् ।
क्रियन्ते साम्प्रतं काश्चित् काश्चिन्नैव त्वशक्तितः ।
78. मम्मट : काव्यप्रकाश, 7/50-51/72/158
79. वही, 7/52/73/170
80. वही, 7/52/73/178
81. वही, 7/52/73/180
82. वही, 7/55-57/75
83. रात्रौ स्नानं न कुर्वीत राहोरन्यत्र दर्शनात् ।
84. नखक्षतस्य स्थानानि कक्षो वक्षस्तथा गलः ।
पार्श्वो जघनमूरू च स्तनगण्डललटिका ।
85. मम्मट : काव्यप्रकाश : 7/58/76
86. वही, 7/58/77
87. वही, 7/59/78
88. वही, 7/59/79
89. वही, 7/59/80
90. वही, 7/59/80/303
91. तर्जन्यामिके युक्ते मध्यमा स्याद् बहिष्कृता ।
करिहस्तः समुछिष्ट, कामशास्त्र विशारदैः ॥
92. मम्मटः काव्यप्रकाश, 7/59/80/304
93. इसका उदाहरण निम्नलिखित है—
उत्तानोच्छूनमण्डूक पाटितोदरसन्निभे ।
क्ले दिनि स्त्रीव्रणे सवितरकृमेः कस्य जायते । वही, (7/59/80/305)
अर्थात् ऊपर पेट करके पड़े हुए, किसी रोग के कारण सूजी हुई, मेढ़क के फाडे हुए पेट के समान मवाद (मदनजल युक्त) बहाती हुई स्त्री की योनि में कीड़ों के अतिरिक्त और किसकी आसक्ति हो सकती है ?
94. वही, 7/60-62 /81
95. आनंदवर्धन : ध्वन्यालोक, 3/19
96. मम्मटः काव्यप्रकाश, 7/63/82
97. वही, 7/63/83
98. वही, 7/64/84
99. वही, 7/65/85
100. वामन : काव्यालंकार 3/1/1
101. वही, 3/1/2
102. मम्मट : काव्यप्रकाश, 8/66/86
103. वही, 8/67/87

104. वही, 8/67/87 व्याख्या भाग
105. वरवर्णिनी नारी का लक्षण निम्नलिखित रूप में निर्धारित किया गया है—

शीते सुखोष्णसर्वांगी, ग्रीष्मे च सुखशीतला ।
भर्तुभक्ता च या नारी, विज्ञेया वरवर्णिनी ।।

106. मम्मट : काव्यप्रकाश, 8/68/88
107. वही, 8/68/89
108. वही, 8/69/90
109. वही, 8/69/91
110. वही, 8/70/92
111. वही, 7/70-71/93-94
112. वही, 8/72/95 व्याख्या भाग
113. वही, 8/72/95 व्याख्या भाग
114. वही, 8/73-76/97-100
115. वही, 8/77/101
116. वही, 8/67/87
117. शब्दार्थयोरास्थिरा: ये धर्माशोभातिशायिन: ।
रसादीनुयकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽङ्गदादिवत् ।। (साहित्य दर्पण 10/1)
118. मम्मट : काव्य प्रकाश, 9/78/102
119. वही, 9/79/103
120. वही, 9/81/111
121. वही, 9/83/116
122. वही, 9/83/117
123. वही, 9/84/118
124. वही, 9/85/120
125. वही, 9/86/121
126. वही, 10/87/126 वृत्ति भाग
127. वही, 10/141/210 वृत्ति भाग
128. वही, 10/141/210 वृत्ति भाग
129. वही, 10/142/211

विश्वनाथ : 'साहित्यदर्पण'

कुन्तक : 'वक्रोक्तिजीवित'

क्षेमेन्द्र : 'औचित्यविचारचर्चा'

जगन्नाथ : 'रसगंगाधर'

विश्वनाथ 'साहित्यदर्पण'

काव्य के प्रयोजन

काव्यशास्त्रीय चिंतन में कविराज विश्वनाथ प्रणीत 'साहित्यदर्पण' का स्थान विशिष्ट कोटि का है। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के काव्यलक्षण की विसंगतियों तथा अपूर्णताओं पर गम्भीर विचार करते हुए 'अंततः वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' ही काव्य का सर्वाधिक सही लक्षण निर्धारित किया है। अन्य काव्यशास्त्रियों की भाँति वे भी प्रयोजनमनुद्दिश्य न मंदोऽपि प्रवर्तते' के सिद्धांत में विश्वास रखते थे, अतः उन्होंने काव्य-लक्षण-निर्धारण के पूर्व अपने ग्रंथ का प्रयोजन तथा फल रघुवंश आदि काव्य ग्रंथों की भाँति चतुर्वर्ग फल प्राप्ति रूप ही माना है क्योंकि यह ग्रंथ भी काव्यांगों का अंगभूत होने से उन्हीं के समान अपनी फलवत्ता रखता है। काव्य द्वारा अल्पमति भी सुखपूर्वक धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप फल की प्राप्ति कर लेते हैं जब कि शास्त्र ज्ञान के माध्यम से सद्विषयक उपलब्धि में कठिनाई भी हो सकती है।[1] सत्काव्यों का अनुशीलन हमें प्रवृति रूप कर्त्तव्यों तथा निवृत्ति रूप अकर्त्तव्यों का बोध कराता है जिससे हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि 'रामादिवत्प्रवर्तितव्यं न रावण दिवत्' का आचरण ही हमारे लिए शुभ और श्रेयस्कर है। विश्वनाथ के पूर्व आचार्य भामह ने भी काव्य प्रयोजनों की विवेचना करते हुए लिखा था कि साधुकाव्य का निषेवण धर्मार्थकाममोक्षरूप चतुर्वर्ग की प्राप्ति के साथ-साथ कलाओं में विचक्षणता, कीर्ति तथा प्रीति उत्पन्न करता है।[2] धर्मप्राप्ति के लिए भक्तिपरक काव्य स्तोत्रों से बढ़कर अन्य सरस और सुगम उपाय क्या हो सकता है? उनके एक-एक शब्द में लोक और परलोक साधक प्रेय तथा श्रेय की मनवांछित फल-प्रदात्री शक्ति अंतर्निहित है। अर्थ प्राप्ति के अनेक उदाहरण महाकवि बाणभट्ट तथा धावक आदि कवियों की रचनाओं में अनुबंधित रहे हैं। मयूर कवि का 'सूर्य शतक' प्रणयन उनके कुष्ठरोग निवारण का शुद्ध अमोघ उपाय सिद्ध हुआ था जिसका उपाख्यान तो सुप्रसिद्ध ही है। उसे काव्य से स्वास्थ लाभ रूप प्रयोजनसिद्धि का प्रमाण कहा जा सकता है। अर्थ द्वारा काम अथवा विषयभोग प्राप्ति सहज संभव है। धर्म प्राप्ति तथा मोक्ष प्राप्ति में नैसर्गिक सम्बन्ध है। काव्यनिबद्ध मोक्षोपयोगी वाक्य हमें निष्काम कर्म-प्रवृत्ति की प्रेरणा देते हैं। इस प्रकार विश्वनाथ के मतानुसार काव्य चतुर्वर्गफल प्राप्ति का सुखकर प्रयोजन और साधन सिद्ध होता है।

भारतीय जीवन-दर्शन का परम साध्य चतुर्वर्ग प्राप्ति रहा है जो वेदशास्त्रों के अध्ययन और अनुशीलन द्वारा भी प्राप्त किया जा सकता है किन्तु उनमें काव्य की भाँति सरसता तथा आह्लादकारिता नहीं होती। परिपक्व बुद्धिसम्पन्न सुधीजन भले ही उनकी नीरसता तथा कृच्छ्रसाध्यता से प्रभावित न हों किन्तु सुकुमारमति राजकुमारों तथा मंदबुद्धि व्यक्तियों के लिए तो उनकी कठोरता अरुचिकर तथा भयावह ही होती है। ऐसी स्थिति में एकमात्र काव्य ही उनके लिए परमानंदसंदोहजनक तथा प्रकृति साध्य प्रयोजन सिद्ध हो सकता है। वेदशास्त्रनिष्णात विद्वान् भी काव्य रस के लिए लालायित और उत्कण्ठित रहते हैं क्योंकि उसका अनुसेवन सितशर्करावेष्टित औषधि तुल्य आस्वाद्य और रसनीय होता है। उसके मधुर आस्वादन द्वारा जब हमारी आधिव्याधियाँ तथा मानसिक यंत्रणाएँ नष्ट की जा सकती हैं तो फिर कटु औषधिवत् शास्त्रग्रंथों की ओर किसकी अभिरुचि तथा प्रवृत्ति होगी? काव्य की उपादेयता और आनंदमयता सभी के लिए स्वीकार्य रही है जिसकी उत्कृष्टता का विचार करते हुए कवित्व शक्ति को सर्वोपरि महत्त्व दिया गया है। अग्निपुराण में तो कवित्व शक्ति सर्वाधिक दुर्लभ मानी गई है।[3] इस विषय में विष्णुपुराण की वह उक्ति उल्लेखनीय है जिसमें सम्पूर्ण काव्यालापों तथा अखिल संगीतकलापों को शब्दमूर्तिधर विष्णु के अंशरूप में उपमित किया गया है।[4] इसी दृष्टि से वाग्देवता वीणापणि अनादिकाल से साहित्य और संगीत की आराध्या तथा अखिलवाङ्मय की अधिष्ठात्री देवी मानी गई है।

काव्य का लक्षण

मम्मट का खण्डन

विश्वनाथ ने काव्य का माहात्म्य और गौरव निरूपित करने के पश्चात् उसके लक्षण-निर्धारण का उपक्रम किया है। वे सर्वप्रथम मम्मट के काव्यलक्षण का खण्डन करना आवश्यक समझते हैं क्योंकि उन्हें मम्मट प्रतिपादित शब्दार्थस्वरूप काव्य की अदोषता, सगुणता तथा कहीं-कहीं अनलंकृति स्वीकार नहीं है। उनके मतानुसार सर्वथा निर्दोष काव्य की निरपेक्ष कल्पना ही नहीं की जा सकती। हनुमन्नाटक का 'न्यक्कारो ह्यमेव मे यदरय:' जिन कारणों से उत्तमोत्तम ध्वनि काव्य का आदर्श उदाहरण समझा जाता है, वह भी उद्देश्य विधेयपद के पौर्वापर्यक्रम से विहीन होने के कारण विधेया-विमर्ष दोष से आविल है अत: उसके निकष पर भी काव्य की पूर्ण अदोषता स्वीकार नहीं की जा सकती। वस्तुत: उत्तम काव्य के लिए तो रस तत्त्व ही प्रयोजनीय है अत: अदुष्टता को काव्य लक्षण में अनिवार्यता प्रदान करना उसके लक्षण में अव्याप्ति दोष ही माना जाएगा।

'अदोष' विशेषण की असंगति

काव्यलक्षण के अंतर्गत मम्मट द्वारा निरूपित 'अदोष' विशेषण विसंगत और चिन्त्य है। उसके कारण अनेक प्रकार की उलझनें तथा शंकाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। उसके अनुसार यदि यह कहा जाए कि उपर्युक्त उदाहरण में जहाँ दोष है वहाँ 'अकाव्य'

तथा जिन अंशों में दोष नहीं है, उनमें 'काव्य' मानने से काव्यलक्षण की संगति हो जाती है तो भी उचित नहीं है। इस खींचातानी में तो इस प्रकार के छंद काव्य अथवा अकाव्य कुछ भी नहीं रहते। बात यह है कि श्रुतिदुष्ट आदि दोष काव्य के किसी अंशमात्र को ही दूषित नहीं करते अपितु सम्पूर्ण काव्य को दूषित करते हैं। आनन्दवर्धन ने इसी दृष्टि से उन्हें ध्वन्यात्मक शृंगार में त्याज्य कहा है।[5] यदि उन दोषों को काव्यात्मभूत रस का अपकर्षकारी न माना जाय तो नित्यानित्य दोषों की व्यवस्था भी नहीं हो सकती। काव्य-लक्षण में 'अदोषौ' पद का पूर्ण सन्निवेश काव्य को अत्यन्त विरल अथवा निर्विष्य बना सकता है। इन्हीं तर्कों के आधार पर विश्वनाथ ने मम्मट द्वारा काव्यलक्षण प्रयुक्त 'अदोषौ' विशेषण को अनुचित और चिन्त्य सिद्ध किया है।

काव्य के स्वरूप लक्षण में 'अदोष' के स्थान पर 'ईषद्दोष' विशेषण का प्रयोग करते हुए यदि यह कहा जाय कि 'ईषद्दोषौ शब्दार्थौ काव्यम्' काव्य का लक्षण हो सकता है तो भी यह लक्षण उपयुक्त नहीं है। ऐसा मानने पर तो दोषरहित शब्द तथा अर्थ में काव्य का लक्षण घटित ही न होगा। सच तो यह है कि रसमुख से निर्धारित काव्यलक्षण ही युक्तिसंगत कहा जा सकता है। अंगी रस ही काव्य का आत्मतत्त्व है जिसके सम्मुख दोष आदि की स्थिति आनुषंगिकमात्र है। जिस प्रकार कीटानुबिद्ध रत्न दूषित होते हुए भी रत्न ही कहलाता है उसी प्रकार शब्दार्थमयी दोषता के विद्यमान रहने पर भी रसात्मक वाक्य ही काव्य कहा जा सकता है। जिस प्रकार रत्नादि के लक्षण में कीटानु-वेध आदि परिहार्य होते हैं, उसी प्रकार काव्यलक्षण में भी दोष की स्थिति भी परिहार्य रहती है। कीड़ों से काटे गये रत्न रत्न होते भी अपना तारतम्यपूर्ण उत्कर्षापकर्षत्व रखते हैं उसी प्रकार श्रुतिदुष्टादि दोषदंशित काव्य भी अपना न्यूनाधिक तारतम्य सिद्ध करते हैं। वस्तुतः रत्नादि में रत्नत्व तथा काव्य में काव्यत्व उनकी चमक-दमक तथा रसप्रतीति से ही निर्णीत होते हैं अतः कीटदंशित रत्न आदि की भाँति दोषयुक्त शब्द तथा अर्थ में भी काव्यत्व का निर्धारण किया जाना चाहिए।

'सगुणौ' पद भी उचित नहीं है

विश्वनाथ को शब्दार्थमय काव्य के लिए प्रयुक्त 'सगुणौ' विशेषण पद भी स्वीकार नहीं है। उन्होंने काव्यप्रकाशकार मम्मट द्वारा निरूपित 'ये रसस्यांगिनो धर्मा-शौर्यादय इवात्मनः' के अनुसार गुणों को रसधर्म माना है जिन्हें आचार्य मम्मट परम्परा सम्बन्ध के कारण शब्द और अर्थ के साथ जोड़ना अनुचित नहीं समझते हैं। विश्वनाथ ने इस मान्यता पर आपत्ति प्रकट की है। उनका तर्क है कि जब मम्मट के काव्यलक्षण के अनुसार शब्द और अर्थ में रस नहीं होता तो उनमें गुणों की स्थिति किस प्रकार संभव है। वस्तुतः अन्वयव्यतिरेक के सहचार से रस में ही गुण रहते हैं जिसे ध्यान में रखते हुए मम्मट ने 'सरसौ' के स्थान पर 'सगुणौ' पद का प्रयोग करना उचित समझा है। शौर्य आदि गुण प्राणियों में ही रहते हैं तो भी लोग 'प्राणिमान्' देश के स्थान पर 'शौर्यादिमान् देश' पद का प्रयोग नहीं करते। यही स्थिति काव्यगत रसों और गुणों की है। माधुर्य

आदि गुण रसों के अंगभूत धर्म हैं जिनका अभिव्यंजन शब्दों तथा अर्थों के माध्यम से होने पर भी उन्हें शब्दों और अर्थों के स्वरूप धर्म नहीं कहा जा सकता। वे काव्य में स्वरूपलक्षण का आधान नहीं करते अपितु उसके उत्कर्ष के आधायक तत्त्व होते हैं अतः उनका काव्यलक्षणगत प्रयोग अनुचित है। विश्वनाथ ने शब्द और अर्थ को काव्य का शरीर, रसादि को आत्मा, गुणों को शौर्यादिवत्, दोषों को काणत्वादिवत्, रीतियों को अवयव-संस्थान विशेषतुल्य तथा अलंकारों को कटककुण्डलादिवत् मानते हुए यही सिद्ध किया है कि शब्दार्थ सम्पृक्त काव्य शरीर में माधुर्य आदि गुणों की स्थिति शौर्य आदि गुणों के समान है जो किसी भी रूप में 'शब्दार्थौ' काव्यपद के स्वरूपलक्षण के साथ संयुक्त नहीं किए जा सकते क्योंकि उनका सम्बन्ध काव्य के स्वरूपविधान के साथ न होकर उत्कर्ष विधान के साथ होता है।

गुणालंकारों में स्वरूपाधान नहीं होता

विश्वनाथ ने माधुर्य आदि गुणों तथा उपमा आदि अलंकारों में काव्य का स्वरूप आधायकत्वं नहीं माना है क्योंकि वे शौर्य आदि गुणों तथा कटककुण्डल आदि अलंकारों की भांति काव्य का उत्कर्षमात्र ही करते हैं। उन्हें काव्यलक्षण के साथ संघटित करना किसी भी रूप में उचित नहीं है। मम्मट ने काव्यलक्षण के अंतर्गत 'अनलंकृती पुनः क्वापि' का जो प्रयोग किया है, वह चिन्त्य है क्योंकि ऐसी शब्दार्थमयी रचनाएँ भी काव्य कही जाती हैं जिनमें अलंकारों का सर्वत्र पूर्ण प्रस्फुटन होता है। उनके लिए 'अनलंकृती पुनः क्वापि' पदों का प्रयोग काव्यलक्षण का दोष ही माना जायगा। काव्य में अलंकारों की अस्फुटता तथा स्फुटता के दोनों विकल्प विद्यमान रहते हैं जिनके कारण मम्मट का काव्यलक्षण काव्य के स्वरूपाधान के विषय में खरा नहीं उतरता।

'वक्रोक्ति' और 'अनलंकृती' का खण्डन

विश्वनाथ ने वक्रोक्ति को अलंकार रूप मानते हुए कुंतक के 'वक्रोक्तिः काव्य-जीवितम्' सिद्धांत का भी खण्डन किया है क्योंकि वक्रोक्ति भी काव्य का स्वरूपविधायक-तत्त्व नहीं मानी जा सकती। वह तो एक प्रकार की वैचित्र्यभंगीभणिति है जिससे काव्य का उत्कर्षमात्र प्रदर्शित होता है। उसमें काव्यलक्षण का सन्निवेश करना युक्तिसंगत नहीं है। मम्मट ने काव्यप्रकाश के प्रथम उल्लास के अंतर्गत 'यः कौमारहरः स एव हि वरः' छंद में अलंकारों की अस्फुटता निर्दिष्ट करते हुए उसे जिस रूप में 'अनलंकृती पुनः क्वापि' का उदाहरण सिद्ध किया है, वह विश्वनाथ को अमान्य है। उनका तो स्पष्ट निर्णय है कि उस उदाहरण में विभावना और विशेषोक्ति मूलक संदेह संकर अलंकार है जिसके कारण उसका काव्यत्व सिद्ध होता है। विश्वनाथ के मतानुसार 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि' काव्यलक्षण किसी भी रूप में संग्राह्य नहीं है। उन्होंने अपनी मान्यता के अनुरूप उस विचारधारा का भी खंडन किया है जिसके अनुसार 'दोषरहित, गुणयुक्त तथा अलंकारों से अलंकृत काव्य रचना करने वाला कवि कीर्ति तथा प्रीति प्राप्त

करता है।[6]

ध्वनिमत के दोष

विश्वनाथ के मतानुसार ध्वनिकार आनंदवर्धन का वह काव्यलक्षण भी युक्ति-संगत नहीं है जिसमें 'काव्यस्यात्माध्वनिः' के दृष्टिकोण से ध्वनि को काव्य की आत्मा माना गया है। विश्वनाथ का प्रश्न है कि जिस ध्वनि को काव्य की आत्मा कहा जाता है वह क्या रसादि ध्वनिमात्र है अथवा उसमें वस्तुध्वनि तथा अलंकार ध्वनि भी सम्मिलित है? यदि तीनों ध्वनियों को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित किया जाता है तो प्रहेलिका आदि वस्तुरूप ध्वनि में अतिव्याप्ति हो जाती है। रसादि ध्वनि को काव्य मानने के सिद्धांत से विश्वनाथ सहमत हैं। उन्होंने निम्नलिखित छंद[7] के वस्तुमात्र-व्यंग्य में रसाभास की स्थिति मानते हुए उसे काव्यव्यवहारोचित सिद्ध किया है क्योंकि स्वयंदूती नायिका की उपनायक रूप पथिक में रति होने से यह शृंगाराभास है जो आस्वाद का विषय होने के कारण काव्यकोटि में ही परिगणित किया जाता है। अभिप्राय यह है कि रसगर्भित व्यंग्य ही काव्य का लक्षण हो सकता है। ऐसा न मानने पर तो 'देवदत्त गाँव जाता है' जैसे वाक्य भी उसके भृत्य के अनुसरण रूप व्यंग्यार्थ में काव्य मान लिए जाएँगे।

'वाक्यं रसात्मकं काव्यं' का औचित्य

विश्वनाथ ने रसात्मक वाक्य को ही काव्य माना है। उन्होंने प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रतिपादित काव्य-प्रयोजनों के परिप्रेक्ष्य में काव्य की रस प्रकृति स्वीकार की है। अग्नि-पुराण में 'वाग्वैदग्धप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्' द्वारा रस को काव्य का जीवन स्वीकार किया गया है तो व्यक्ति-विवेककार महिम भट्ट ने 'काव्यस्यात्मनि संज्ञिनि, रसादिरूपे न कस्यचिद्विमतिः' द्वारा काव्य के रससंज्ञक आत्मस्वरूप में किसी का भी विरोध नहीं माना है। ध्वनिकार ने तो स्पष्ट लिखा है कि 'इतिवृत्तमात्र के निर्वाह से कवि आत्मपद की प्राप्ति नहीं कर सकता क्योंकि चरित्रमात्र की सिद्धि तो इतिहास पुराण आदि से ही हो जाती है।'[8] उपर्युक्त सभी उद्धरण काव्य की रसात्मकता सिद्ध करते हैं। विश्वनाथ का कथन है कि श्रेष्ठ काव्य की रसमयता स्वतः सिद्ध है। किसी प्रबन्ध काव्य के कुछ स्थल नीरस पद्यतुल्य होने पर भी उसके अंगीरस के संसर्ग से सरस और आस्वाद्य बन जाते हैं। नीरस वाक्यों में गुणाभिव्यंजक वर्णों का समुचित प्रयोग, दोषों का अभाव तथा अलंकारों का सद्भाव उन्हें जिस रूप में काव्य व्यवहार प्रदान करता है, उसे रसविशिष्ट काव्य-प्रबंध के सादृश्य से लाक्षणिक प्रयोग ही समझना चाहिए।

'रीति' भी काव्य की आत्मा नहीं है

विश्वनाथ ने वामन प्रतिपादित 'रीतिरात्मा काव्यस्य' सिद्धांत का विरोध किया है। उनका कथन है कि विशिष्ट पदरचना रूप रीति काव्य की आत्मा नहीं मानी जा

सकती क्योंकि वह अवयवसंस्थानरूपा होती है। वे आनंदवर्धन के उस सिद्धांत से भी सहमत नहीं हैं जिसमें उन्होंने सहृदयश्लाघ्य अर्थ को काव्य के आत्मतत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित करते हुए उसे वाच्य और प्रतीयमान भेदों में विभक्त किया था। विश्वनाथ का कथन है कि जब वाच्य अर्थ को भी काव्य की आत्मा मान लिया जाता है तो उनका पूर्वकथित 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' सिद्धांत उनके स्ववचनविरोध द्वारा खण्डित हो जाता है। इस प्रकार विश्वनाथ ने अपने दृष्टिकोण से मम्मट, आनंदवर्धन, कुंतक और वामन आदि आचार्यों के काव्यलक्षणों का खण्डन करते हुए अंत में 'वाक्यं रसात्मकं काव्यं' को ही काव्य का उपयुक्त लक्षण माना है।

विश्वनाथ के मतानुसार रस ही काव्य का आत्मतत्त्व और सारस्वरूप है। उसी के कारण काव्य में जीवन का आधान होता है। रस के बिना वाक्य में काव्य की आत्मचेतना पनप ही नहीं सकती। 'रस्यते इति रसः' अर्थात् जिसका आस्वादन किया जाता है, वह रस है, इस व्युत्पत्ति के अनुसार इस क्षेत्र में भाव, भावाभास और रसाभास आदि सभी रस परिकर समाहित रहते हैं। विश्वनाथ ने संभोग श्रृंगार, भगवद्विषयक रतिभाव तथा संभोग श्रृंगार के तिर्यग्विषयक रसाभास के उदाहरण देते हुए उनकी रसपरकता सिद्ध की है। उनके मतानुसार इनसे सम्बद्ध सभी छंद रसात्मक वाक्य के ही निदर्शन हैं जिनकी रसात्मकता उन्हें काव्य पदवी प्रदान करती है।

'दोष' रस के अपकर्षकारी हैं

विश्वनाथ ने 'दोषास्तस्यापकर्षकाः' द्वारा दोषों का काव्यगत स्थान निरूपित किया है। उनका कथन है कि जिस प्रकार काणत्व और खंजत्व आदि दोष शरीर द्वारा शरीरी (आत्मा) को अपकृष्ट करते हैं उसी प्रकार श्रुतिदुष्ट तथा अपुष्टार्थत्व आदि दोष शब्द और अर्थ द्वारा काव्य के आत्मभूत रसतत्त्व को दूषित करते हैं। मूर्खत्व आदि दोषों से जिस प्रकार हमारी आत्मा अपकृष्ट होती है, उसी प्रकार निर्वेद और आवेग आदि व्यभिचारी भाव अपनी स्वशब्दवाच्यता से काव्यात्मभूत रस के लिए अपकर्षकारी होते हैं।

गुणालंकारों का उत्कर्षहेतुत्व

विश्वनाथ ने गुणों, अलंकारों और रीतियों को काव्य के उत्कर्ष हेतु माना है। उन्होंने गुणों को शौर्यादिवत्, अलंकारों को कटककुण्डलादिवत् तथा रीतियों को अवयवसंस्थान विशेषवत् कहा है। उनका कथन है कि जिस प्रकार शौर्यादिगुणों, कटककुण्डल आदि अलंकारों तथा हस्तचरण आदि अवयवों की स्थिति देह द्वारा देही को उत्कृष्ट बनाती है, उसी प्रकार माधुर्य आदि गुण, यमक और उपमा आदि अलंकार एवं वैदर्भी आदि रीतियाँ शब्द और अर्थ द्वारा काव्य के आत्मभूत रसतत्त्व को उत्कृष्ट बनाने में हेतु होते हैं। यों तो गुण रस के धर्म हैं, किन्तु लाक्षणिक प्रयोग में वे शब्द और अर्थ द्वारा अभिव्यंजित होते हैं। विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण के सप्तम परिच्छेद में काव्य दोषों

तथा अष्टम परिच्छेद में काव्य गुणों का निरूपण विस्तारपूर्वक किया है।

काव्यप्रयुक्त वाक्यपद विवेचन

वाक्य के लक्षण

विश्वनाथ ने काव्य का लक्षण 'वाक्यं रसात्मकं काव्यं' माना है। इस लक्षण में 'वाक्य और रस' पद व्याख्येय है। वाक्य उस पदसमूह का नाम है जो योग्यता, आकांक्षा तथा आसत्ति युक्त होता है।[9] पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध में प्रतिबंध के अभाव को योग्यता कहते हैं। उसके न होने पर 'वह्निना सिंचति' जैसे पदसमूह भी वाक्य कहे जाने जाने लगेंगे। वह्नि में सेचन क्रिया की करणता नहीं होती अतः इस प्रकार के प्रयोगों में योग्यता का अभाव होने से इन्हें वाक्य कहना उचित नहीं है।

विश्वनाथ ने प्रतीतिपर्यवसान विरह को आकांक्षा माना है जिसे श्रोता का जिज्ञासारूप भी कहा जा सकता है। पदसमूह के श्रवणोपरांत हमारे मन में जो जिज्ञासा उत्पन्न होती है, उसे आकांक्षा कहते हैं। यदि निराकांक्ष पदसमूह वाक्य कहा जाने लगे तब तो गाय, घोड़ा, हाथी और पुरुष जैसे पदों का समूह भी वाक्य माना जा सकेगा। उपर्युक्त पदोच्चय में आकांक्षा का अभाव है अतः उसे वाक्य नहीं कहा जा सकता।

पदार्थों की उपस्थिति में अव्यवधान न होना 'आसत्ति' है। यदि बुद्धिविच्छेद होने पर भी पदों का समूह वाक्यरूप का प्रतिपादक हो, तो आज के उच्चारित 'देवदत्त' शब्द की संगति दूसरे दिन उच्चारित 'जाता है' पद के साथ हो सकेगी। वस्तुतः वाक्यसिद्धि में उपर्युक्त तीनों गुण आवश्यक हैं, अतः विश्वनाथ ने इन तीनों के समुच्चय में ही वाक्य की सार्थकता मानी है। आकांक्षा और योग्यता को क्रमशः आत्मा तथा पदार्थों का धर्म भी कहा जा सकता है जिन्हें परम्परा सम्बन्ध से पदोच्चय धर्म कहने की परिपाटी भी प्रचलित रही है।

वाक्य के भेद

वाक्य के दो भेद हैं—1. वाक्य और 2. महावाक्य। यदि पदोच्चय का नाम वाक्य है तो वाक्योच्चय का नाम महावाक्य। महावाक्यों में रामायण, महाभारत और रघुवंश आदि महाकाव्यों की गणना की जाती है। इस विषय में तंत्रवार्तिक में स्पष्ट उल्लेख है कि अपने-अपने अर्थों का बोध कराने के पश्चात् वाक्यों का अंगांगिभाव सम्बन्ध से सम्मिलन एक वाक्यता अथवा महावाक्यत्व का द्योतक है।[10]

वर्ण, पद, अर्थ और वृत्तियाँ

विश्वनाथ ने उन वर्णों को पद कहा है जो प्रयोग योग्य, अनन्वित तथा एकार्थ-बोधक हों।[11] उदाहरणार्थ 'घट' शब्द 'पद' है क्योंकि वह प्रयोगार्ह है। प्रयोगार्ह कहने से प्रातिपदिक और भू वा प्रभृति धातुओं की, अनन्वित कहने से वाक्य और महावाक्य की;

एक कहने से साकांक्ष, अनेक पद और अनेक वाक्यों की ओर अर्थबोधक कहने से 'क च ट त प' वर्णों की व्यावृत्ति होती है। 'वर्णा:' का प्रयोग बहुवचन विवक्षित नहीं है क्योंकि एक वर्ण वाले तथा अनेक वर्णों वाले शब्द भी पद होते हैं।

अर्थ के वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य संज्ञक तीन भेद हैं। अभिधा से वाच्यार्थ, लक्षणा से लक्ष्यार्थ और व्यंजना से व्यंग्यार्थ का बोध होता है। ये तीनों अर्थ शब्द शक्तियों से बोधित होते हैं।[12] संकेतित (मुख्य) अर्थ का बोध कराने वाली शक्ति अथवा वृत्ति का नाम 'अभिधा' है जिसके शक्तिग्रह का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण साधन 'व्यवहार' है। कहीं पर प्रसिद्ध अर्थ वाले पद के समीप उच्चारण से तथा कहीं आप्त के उपदेश से भी शक्ति-ग्रह होता है। संकेतित अर्थ का बोध कराने वाली अभिधा वृत्ति किसी अन्य वृत्ति (शक्ति) से व्यवधान शून्य होती है। उसमें जाति, गुण, द्रव्य और क्रिया का ग्रहण किया जाता है जिसके अनुसार शब्द भी चार प्रकार के होते हैं जिनके नाम जातिवाचक, गुणवाचक, द्रव्यवाचक और क्रियावाचक पद हैं।[13] 'गौ' आदि व्यक्ति में रहने वाले गोत्व आदि धर्म 'जाति' कहलाते हैं। विशेष अर्थ के आधान हेतु भूतसिद्ध वस्तुधर्म को गुण कहते हैं, जो शुक्ल, नील, श्वेत और कृष्ण आदि वस्तु-सिद्ध धर्म से सजातीय व्यक्तियों को एक-दूसरे से पृथक् करते हैं। एक व्यक्ति के वाचक 'हरि', 'हर', 'राम', 'डित्थ' आदि द्रव्य शब्द हैं जिनसे एक ही व्यक्ति का बोध होता है। साध्यरूप पाक आदि वस्तुधर्मों को 'क्रिया' कहते हैं जिसमें अधिश्रयण और अवश्रयण आदि पूर्वापरीभूत व्यापार कलाप 'पाक' आदि शब्दों से वाच्य होते हैं। व्यक्ति की उपर्युक्त चारों उपाधियों में संकेत (शक्ति) ग्रहण होता है न कि केवल व्यक्ति में। सकल व्यक्तियों में संकेतग्रह मानने से आनन्त्य दोष होता है। इसी प्रकार किसी व्यक्ति विशेष में ही संकेतग्रह मानने पर अन्य व्यक्तियों में अप्रसक्ति हो जाती है जिसके कारण वहाँ 'व्यभिचार' दोष होता है।

लक्षणा और उसके भेद

अभिधा शक्ति से निरूपित मुख्य अर्थ का बाध होने पर रूढ़ि (प्रसिद्धि) अथवा प्रयोजन के उद्देश्य से जिस वृत्ति द्वारा अन्य अर्थ की प्रतीति होती है उसे लक्षणा कहते हैं।[14] प्राचीन आचार्यों ने मुख्यार्थबाध को अन्वय की अनुपपत्ति तथा नवीन आचार्यों ने तात्पर्य की अनुनपत्ति कहा है। यह वृत्ति स्वाभाविक वृत्ति से भिन्न है अर्थात् ईश्वरोद्-भावित नहीं है। उदाहरणार्थ 'कलिंग साहसी है' वाक्य लिया जा सकता है जिसमें कलिंग शब्द देश विशेष आदि रूप मुख्य अर्थ में अनुपपन्न होकर संयोग सम्बन्ध से पुरुष अथवा कलिंग देशवासी अर्थ की प्रतीति कराता है, अत: यहाँ रूढ़िलक्षणा है। इसी प्रकार गंगायां घोष: अर्थात् गंगा में अहीरों की बस्ती वाक्यांश 'गंगा में' जलमय आदि प्रवाह रूप अर्थ का वाचक होने से अन्वय में अनुपपन्न होकर सामीप्य सम्बन्ध से 'तट' आदि का बोध कराता है अत: शब्द की यह अर्पिता शक्ति लक्षणा कहलाती है। 'कलिंग: साह-सिक:' में रूढ़ि अथवा प्रसिद्धि उसका हेतु है जबकि 'गंगायां घोष:' में तटवर्ती शीतलता तथा पवित्रता के आधिक्य का बोध कराना उसका प्रयोजन है। हेतु के अभाव में जिस

किसी भी सम्बन्ध से लक्षणा की जाती है। उसमें अव्याप्ति दोष होता है अतः विश्वनाथ ने उसके लक्षण में 'रूढ़ेः प्रयोजनाद्वाऽसौ' कारिकांश का प्रयोग किया है। मम्मट ने 'कर्माणि कुशलः' में रूढ़िलक्षणा मानी है जिसका यह अभिप्राय है कि व्युत्पत्ति से कुशल पद का कुशग्राहक अर्थ होने पर भी उसका 'दक्ष' अर्थ ग्रहण किया जाता है जो साधर्म्य सम्बन्ध से बोधित होता है।

लक्षणा के दो भेद हैं—1. उपादान लक्षणा और 2. लक्षण लक्षणा। वाक्यार्थ में मुख्य अर्थ की अन्वय सिद्धि के लिए जहाँ अन्य अर्थ का आक्षेप होता है, वहाँ मुख्य अर्थ का भी ग्रहण होने से उपादान लक्षणा होती है।[15] रूढ़ि उपादान लक्षणा का उदाहरण 'श्वेतो धावति' (सफेद दौड़ रहा है) है तो प्रयोजनवती उपादान-लक्षणा का उदाहरण 'कुंताः प्रविशंति' (कुंत प्रवेश कर रहे हैं) कहा जा सकता है। इन दोनों उदाहरणों में अन्वय की सिद्धि के लिए श्वेत वर्ण वाले अश्व तथा कुंतधारी पुरुष आदि का आक्षेप करना पड़ता है। प्रथम उदाहरण में प्रयोजन न होने से रूढ़िमती लक्षणा है जबकि द्वितीय उदाहरण में कुंतों की अतिगहनता प्रयोजनीय है। दोनों उदाहरणों में मुख्यार्थ का भी ग्रहण होता है अतः ये उपादान लक्षणा के उदाहरण माने जाते हैं।

जहाँ वाक्यार्थ में पर अर्थात् मुख्य अर्थ से भिन्न अर्थ की अन्वयसिद्धि के लिए मुख्य अर्थ का समर्पण होता है वहाँ लक्षणलक्षणा होती है।[16] रूढ़ि और प्रयोजन के प्रयोग से इसके भी दो भेद हैं। 'कलिंग साहसिक है' वाक्य में रूढ़ि लक्षणलक्षणा तथा 'गंगा में अहीरों की बस्ती (गंगायां घोषः) में प्रयोजनवती लक्षणलक्षणा मानी जाती है। इन दोनों वाक्यों में क्रमशः वाक्यार्थ में 'पुरुष' और 'तट' की अन्वयसिद्धि के लिए 'कलिंग' और 'गंगा' शब्द अपने मुख्य अर्थ का समर्पण करते हैं। लक्षणलक्षणा का एक अन्य नाम जहत्स्वार्थालक्षणा भी है। विश्वनाथ के मतानुसार निम्नलिखित छंद उसका उदाहरण है जिसमें वैपरीत्यलक्षण सम्बन्ध से अपकार आदि वाक्यार्थों की अन्वयसिद्धि के लिए उपकृत आदि शब्द अपने अर्थ का समर्पण करते हैं। इस छंद में अपकारी के प्रति उपकार आदि का प्रतिपादन करने से मुख्यार्थ में बाधा आती है तथा अपकार का आधिक्य इसका फल अथवा प्रयोजन है। इसमें कोई पीड़ित व्यक्ति अपकारी के प्रति कह रहा है—

उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते, सुजनता प्रथिता भवता परम्।
विदधदीदृशमेव सदा सखे, सुखितमास्त्व ततः शरदा शतम्।।

अर्थात् हे मित्र, आपने बहुत उपकार किया है। आपके सौजन्य की प्रशंसा कहाँ तक करें! आप इसी प्रकार के कर्म करते हुए सौ वर्ष तक सुखपूर्वक जीवित रहें! इस उदाहरण में लक्षणलक्षणा अथवा जहत्स्वार्थालक्षणा के लक्षण वैपरीत्य संबंध में संघटित हुए हैं।

विश्वनाथ ने आरोपा तथा साध्यवसाना नाम से भी लक्षणा के दो उपभेद किए हैं जो रूढ़ि तथा प्रयोजन से विविध-रूपिणी हो जाती है। इनका सम्बन्ध उपादानलक्षणा तथा लक्षणलक्षणा से भी होता है। इनके साथ गूढ़ और अगूढ़ व्यंग्य का संयोग करने से

इनकी भेद संख्या और भी अधिक बढ़ जाती है। विश्वनाथ ने रूढ़िलक्षणा और प्रयोजनवती लक्षणा के अनेकानेक भेद-अभेद निरूपित करते हुए उनकी संख्या चालीस तक पहुँचा दी है जिन्हें पदगत और वाक्यगत मानने से लक्षणा के अस्सी भेद हो जाते हैं।

व्यंजना वृत्ति के प्रकार

शब्द शक्ति के अंतर्गत व्यंजनावृत्ति का स्थान विशिष्ट कोटि का है। अभिधा आदि वृत्तियों के विरत होने पर जिस वृत्ति द्वारा अन्य अर्थ का बोध होता है उसे व्यंजनावृति कहते हैं। यह वृत्ति शब्द तथा अर्थ में समान भाव से रहती है।[17] विश्वनाथ ने 'शब्द बुद्धि-कर्मणां विरम्य व्यापाराभावः' न्याय से इसका विवेचन करते हुए लिखा है कि अभिधा, लक्षणा और तात्पर्याख्या वृत्तियों के बोधन व्यापार के क्षीण हो जाने पर जिस वृत्ति से अन्य अर्थ का बोध किया जाता है, उसे व्यंजना वृत्ति कहते हैं। यह वृत्ति प्रकृति और प्रत्यय से लेकर शब्द और अर्थ के विविध व्यापारों में व्यंजित होती है जिसे व्यंजन, ध्वनन, गमन और प्रत्यायन आदि शब्दों से भी व्यवहृत किया जाता है।

शाब्दी व्यंजना के दो भेद हैं जिनके नाम अभिधामूला और लक्षणामूला है। संयोग आदि से अनेकार्थक शब्द के एक अर्थ में नियंत्रित होने पर जिसके द्वारा दूसरा अर्थ उपस्थित होता है, उसे अभिधामूला व्यंजना कहते हैं।[18] आदि शब्द से 'विप्रयोग' आदि अर्थ ग्रहण किए जाते हैं। विश्वनाथ ने उन सबके उदाहरण देते हुए अभिधामूला व्यंजना का निरूपण किया है। पिष्टपेषण के भय से उनका उल्लेख मात्र किया जाता है जो निम्नलिखित कारिकाओं में व्यक्त हुआ है—

संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिंगं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः॥
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः॥

जिस प्रयोजन के निमित्त से लक्षणा की जाती है, वह प्रयोजन जिस वृत्ति द्वारा बोधित हो, उसे लक्षणामूला व्यंजना कहते हैं। इसका सुप्रसिद्ध उदाहरण 'गंगायां घोषः' है। इसमें जलमय आदि अर्थ का बोधन करते हुए जब अभिधावृत्ति बाधित हो जाती है तो लक्षणा वृत्ति द्वारा उसका तट अर्थ बोधित होता है। उसके भी निवृत्त हो जाने पर हमें लक्षणामूला व्यंजना द्वारा शैत्य और पावनत्व आदि के आधिक्य का बोध होता है। विश्वनाथ ने इसी क्रम में आर्थी व्यंजना का भी निरूपण किया है जो वक्ता, बोद्धव्य, वाक्य, अन्यसन्निधि, वाच्यार्थ प्रस्ताव, देश, काल, काकु आदि चेष्टाओं द्वारा अन्य अर्थ का बोध कराती है।[19] इन सब का विवेचन मम्मट आदि द्वारा प्रतिपादित आर्थी व्यंजना के अंतर्गत किया जा चुका है अतः उनका पिष्टपेषण व्यर्थ है।

व्यंजनावृत्ति की विवेचना के अंतर्गत विश्वनाथ ने इस बात का स्पष्ट उल्लेख किया है कि जिस प्रकार शब्द से बोध्य होकर अर्थ व्यंजक होता है, उसी प्रकार शब्द भी अन्य अर्थ का आश्रय लेकर व्यंजक होता है। किसी एक ही शब्द अथवा अर्थ के व्यंजक

होने पर दूसरा शब्द अथवा अर्थ उसका सहकारी बनकर उपस्थित हो जाता है। व्यंजक शब्द अर्थ की अपेक्षा करता है तो व्यंजक अर्थ के लिए शब्द अपेक्षणीय है। इस प्रकार एक की व्यंजकता में दूसरे की सहकारिता स्वतः ही सन्निहित रहती है।[20] यहाँ इस बात का उल्लेख करना भी आवश्यक है कि अभिधा आदि त्रिविध उपाधियों की विशेषता से शब्द भी वाचक, लक्षक और व्यंजक रूपों में निरूपित किया गया है। अभिधा व्यापार विषयक शब्द 'वाचक' लक्षणा व्यापार विषयक शब्द 'लक्षक' तथा व्यंजना व्यापार वाला शब्द 'व्यंजक' कहलाता है।

तात्पर्यवृत्ति का अभिप्राय

विश्वनाथ ने अभिहितान्यवादी आचार्यों द्वारा प्रतिपादित 'तात्पर्य' नाम की वृत्ति का भी उल्लेख किया है जिसका प्रयोग पदार्थों का पारस्परिक अन्वयबोध कराने के लिए किया जाता है। इस वृत्ति के अनुसार तात्पर्य ही वाक्य का प्रतिपाद्य अर्थ है।[21] भाट्ट मीमांसकों ने इस वृत्ति का विशेष विश्लेषण किया है। अभिप्राय यह है कि विश्वनाथ ने काव्यलक्षण में प्रयुक्त 'वाक्य' पद की विवेचना के अन्तर्गत वर्ण से लेकर वाक्य पर्यन्त जिन शब्दों, अर्थों और शब्द-शक्तियों का निरूपण किया है, वे काव्यार्थ-बोध के लिए परम वांछनीय हैं। शब्दबोध विमर्श संस्कृत काव्यशास्त्र का अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण और अनिवार्य अंग है जिसे ध्यान में रखकर शब्दार्थों 'काव्यम्' की काव्य लक्षण परम्परा प्रवर्तित हुई थी जो विश्वनाथ द्वारा रसात्मक वाक्य के रूप में विकसित की गई। काव्यलक्षण निर्धारण के पश्चात् उनका वाक्य विवेचन सर्वथा क्रमसंगत है जिसके अनन्तर उन्होंने तृतीय परिच्छेद में रसनिरूपण किया है।

रस विमर्श

रस : लक्षण और प्रयोग

आचार्य विश्वनाथ रसवाद के प्रबल समर्थक हैं। उन्होंने रस को काव्य का आत्मतत्व और अंगी पक्ष माना है। रसात्मकता के कारण ही वाक्यपद काव्यसंज्ञा का अधिकारी होता है। उन्होंने गुण, अलंकार और रीति आदि काव्यतत्त्वों को रसाभिमुख दृष्टिकोण से ही ग्राह्य समझा है। उनका रस विवेचन संस्कृत काव्यशास्त्र में अपना अद्वितीय स्थान रखता है। रस का स्वरूप-लक्षण निर्धारित करते हुए उन्होंने लिखा है कि विभाव, अनुभाव और संचारी भाव से अभिव्यक्त रत्यादि स्थायी भाव ही सहृदय जनों के चित्त में रस-रूप में परिणत होता है।[22] उनके द्वारा प्रतिपादित रस की परि-भाषा में स्तंभ और स्वेद आदि अष्टविध सात्त्विक भावों का उल्लेख नहीं हुआ, जिसका तात्पर्य यह है कि वे अनुभावों में अंतर्भूत रहते हैं। उन्होंने 'व्यक्त' पद का अर्थ दध्या-दिन्यायेन रूपान्तरपरिणतो व्यक्तीकृत एव रसो न तु दीपेन घट इव पूर्वसिद्धो व्यज्यते' किया है जिसका अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार दूध ही दूसरे रूप में परिणत

होकर दही बन जाता है। उसी प्रकार रति आदि स्थायी भाव ही दूसरे रूप में परिणत होकर रस कहलाने लगते हैं। उन्होंने रस का व्यक्तीकरण पूर्वसिद्ध रूप में नहीं माना है जिसका अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार पूर्वसिद्ध घट दीपक से प्रकाशित होता है, उस प्रकार रस अपनी प्रतीति के पूर्व प्रकाशित सिद्ध रूप में व्यक्त नहीं होता। इसी प्रसंग में उन्होंने लोचनकार अभिनवगुप्त का वह उद्धरण प्रस्तुत किया है जिसमें, 'रसाः प्रतीयन्ते इति त्वोदनं पचतीतिवद् व्यवहारः' का उल्लेख हुआ है। विश्वनाथ ने उसकी व्याख्या करते हुए लिखा है कि जिस प्रकार पाकक्रिया के पश्चात् ही तण्डुल (चावल) 'ओदन' पद से व्यवहार्य होते हैं किन्तु उसके पूर्व भी 'ओदनं पचति' (भात पकाया जा रहा है) जैसे औपचारिक प्रयोग किये जाते हैं। उसी प्रकार ज्ञान रूप में स्थिर रहने वाला रस भी जब विभावादि की व्यंजना द्वारा रस रूप में परिणत हो जाता है तो उसके अनंतर ही वह रस पद से व्यवहार्य होता है। वस्तुतः प्रतीति के पूर्व उसकी कोई सत्ता नहीं होती। 'रसाः प्रतीयन्ते' का उपचार द्वारा वही तात्पर्य है जो 'ओदनं पचति' जैसे लाक्षणिक प्रयोगों से लक्षित होता है।

यहाँ इस बात का उल्लेख करना आवश्यक है कि रति आदि स्थायी भाव शृंगार आदि रसों में स्थायित्व की प्राप्ति करते हुए रस रूप में परिणत होते हैं किन्तु अन्य रसों में उनका स्थायित्व नहीं रहता। हास तथा क्रोध हास्य तथा रौद्र रस के स्थायी भाव हैं किन्तु शृंगार और वीर रस में वे स्थायी न होकर व्यभिचारी भाव मात्र होते हैं। 'रसावस्थः परंभावः स्थायितां प्रतिपद्यते' के अनुसार रसावस्था को प्राप्त होने वाला भाव ही स्थायी भाव होता है।

रसास्वादन के रूप-प्रकार

विश्वनाथ ने रस के स्वरूप कथन के पश्चात् उसके आस्वादन प्रकार की विवेचना की है जिसके अनुसार रस सत्त्वोद्रेक के कारण अखण्ड, स्वप्रकाश, आनंदमय, ज्ञानस्वरूप, वेद्यांतरस्पर्श शून्य, ब्रह्मानंद सहोदर, लोकोत्तर चमत्कार प्राण तथा कतिपय प्रमाताओं द्वारा स्वाकारवदभिन्नत्व (अर्थात् अपने आकार के समान अभिन्न) रूप से आस्वाद्य होता है।[23]

रस की आस्वाद्यता में 'सत्वोद्रेक' पद का विशेष महत्त्व है। 'रजस्तमोभ्याम-स्पृष्टं मनः सत्त्वमिहोच्यते' के अनुसार रजोगुण तथा तमोगुण से अस्पृष्ट मनः 'सत्त्व' कहलाता है। वह हमें घट और पट आदि बाह्य पदार्थों से विमुख करने वाला धर्म है जिसका उद्रेक होने पर हमारे अंतःकरण की राजसिक तथा तामसिक मनोवृत्तियां पराभूत हो जाती हैं। विश्वनाथ के अनुसार तदनुरूप अलौकिक काव्यार्थों का परिशीलन ही उसका हेतु है। उनका कथन है कि रस अखंड है क्योंकि वह आलम्बन और उद्दीपन विभावों तथा रत्यादि स्थायी भावों का प्रकाश होने के साथ-साथ आनंदमय और चमत्कारस्वरूप है। उसकी चमत्कृति चित्तविस्ताररूपिणी है जिसे 'विस्मय' का पर्याय भी कहा जा सकता है। चित्त विस्तार में आनन्दोत्पत्ति का भाव निहित है। उसकी

स्वप्रकाशता तथा चिन्मयता उसे ब्रह्मानंदसहोदरता प्रदान करने वाली है। अपनी अलौकिकता तथा निरपेक्षता के कारण वह वेद्यान्तरस्पर्श शून्य कहलाता है। उसका स्वाकारवदभिन्नत्व तो केवल प्रमाताओं की अनुभूति का विषय है। विश्वनाथ ने उसकी आस्वाद्यता तथा चर्व्यमाणता के प्रसंग में जिन-जिन विशेषण पदों का प्रयोग किया है वे रसास्वाद के रहस्यबोधविषयक ऐसे उपनिषद सूत्र हैं जिनका अंतर्भाष्य तथा विश्लेषण करने से 'रसो वै स: का तात्त्विक ज्ञान किया जा सकता है।

रसास्वाद के प्रसंग में 'लोकोत्तर चमत्कार प्राण' विशेषण अत्यन्त सार्थक और प्रयोजनीय है। उसकी व्याख्या भिन्न-भिन्न दृष्टियों से की गयी है। विश्वनाथ ने अपने प्रपितामह की सहृदय गोष्ठी के कवि पण्डित श्री नारायण का अभिमत व्यक्त करते हुए लिखा है कि उनकी मान्यता के अनुरूप चमत्कार ही रस में सारतत्त्व है जिसका अनुभव सर्वत्र किया जाता है।[24] अपने चमत्कार प्राण-तत्त्व की महत्ता और गरिमा के कारण यदि सर्वत्र अद्भुत रस का वर्चस्व स्वीकार किया जाय तो भी इस मंतव्य में कोई अत्युक्ति नहीं समझी जानी चाहिए। विश्वनाथ ने उन प्रमाताओं को अत्यंत पुण्यशाली माना है जो अपने प्राक्तन संस्कारों के कारण शृंगार आदि रसों की परम्परा का साक्षात्कार उसी प्रकार करते हैं जिस प्रकार योगिजन स्वप्रकाशानंदचिद्रूपता के बल पर शुद्ध ब्रह्म का साक्षात्कार करते हैं।[25]

'रस' आस्वादस्वरूप है

रसमर्मज्ञ आचार्यों ने विभावरूप काव्यार्थ के परिशीलन से समुद्भूत आत्मानंद को 'स्वाद' कहा है जिसके अनुसार रस ही आस्वादस्वरूप है। व्यावहारिक जगत् में 'रस: स्वाद्यते' अर्थात् रस का आस्वादन किया जाता है जैसे काल्पनिक भेद 'राहो: शिर:' की भाँति केवल औपचारिक प्रयोग हैं। 'कर्मकर्तरि, कर्मवत्कर्मणातुल्यक्रिय:' सूत्र के अनुसार 'ओदन: पच्यते' जैसे वाक्यों के अर्थज्ञान की तरह 'रस: स्वाद्यते' की भी अर्थप्रतीति करना उचित है जिसका तात्पर्यार्थ केवल इतना ही है कि रस स्वयमेव आस्वादित होता है। 'रस्यमानतामात्रसारत्वात् प्रकाशशरीरादनन्य एव हि रस:' का भी यही अभिप्राय है कि रस में रस्यमानता अर्थात् आस्वाद्यमानता मात्र सार होने से रस ज्ञानस्वरूप है जिसे उसके स्वप्रकाश से किसी भी प्रकार में भिन्न नहीं कहा जा सकता।

रस को जिस रूप में प्रकाश शरीर से अनन्य कहा जाता है उसके प्रति यह शंका उत्पन्न हो सकती है कि अपनी ज्ञानस्वरूपिणी अनन्यता के कारण जब वह अज्ञेय-सा हो जाता है तो उसकी प्रतीति किस रूप में की जा सकती है ? वह प्रतीति घटादिवत् ज्ञेय नहीं हो सकती। क्योंकि उसमें ज्ञाता ज्ञान और ज्ञेय का अभेद-सा रहता है। रस प्रतीति तथा रस को ज्ञानस्वरूप मानने पर दोनों में प्रकार भेद सिद्ध करना कठिन है। विश्वनाथ ने उपर्युक्त शंका के परिप्रेक्ष्य में विवेचन करते हुए लिखा है कि यों तो रसव्यंजना अथवा रस प्रतीति रस से भिन्न नहीं है फिर भी घट और प्रदीप के समान व्यंग्यरूप रस तथा व्यंजक रूप व्यंजना में पार्थक्य होता ही है।[26] रस की व्यंग्यता का विवेचन करते हुए

आचार्य अभिनवगुप्त ने लिखा है कि 'स्वादन' नामक व्यापार कारक-हेतु के व्यापार 'कृति' तथा ज्ञापक-हेतु के व्यापार 'ज्ञाप्ति' से सर्वथा भिन्न और विलक्षण है जिसके द्वारा हमें रस प्रतीति होती है। उसे रसन, आस्वादन तथा चमत्करण आदि नामों से भी अभिहित किया जाता है। वस्तुतः रस प्रतीति व्यंजना व्यापार द्वारा ही सम्भव है। अत: अभिनवगुप्त ने उसे अभिधा, लक्षणा तथा तात्पर्यवृत्ति से भिन्न मानते हुए रस की व्यंग्यता सिद्ध की है।

करुण रस का रहस्य

विश्वनाथ ने रस को आनंदमय माना है किन्तु उसके प्रति विरोधी दृष्टि-कोण रखने वाले उपचयवादी आचार्य करुण आदि रसों की दुःखमयता प्रतिपादित करते हैं। इस विषय में विश्वनाथ का कथन है कि अन्य रसों की भाँति करुण, वीभत्स तथा भयानक आदि रस भी परम सुख के ही उत्पादक हैं जिनकी सिद्धि में सहृदयों का अनुभव ही प्रमाण माना जाता है।[27] यदि करुणादि रसों में दुःख होता तो उनका आस्वादन करने के लिए कोई तत्पर नहीं होता। भला ऐसा कौन सहृदय होगा जो दुख प्राप्ति हेतु करुणादि रसों के आस्वादन में आग्रहपूर्वक प्रवृत होगा ? रामायण आदि करुण रस प्रधान प्रबंधों के पारायण में काव्यरसिकों की जो अभिरुचि प्रदर्शित होती है उसका कारण उनकी आह्लादजनकता ही है।[28] लोक संश्रय के रूप में शोक और हर्ष आदि के हेतुभूत रामवनवास आदि घटनाचक्र लौकिक शोक अथवा हर्ष के उत्पादक हो सकते हैं किन्तु ज्यों ही उनका काव्यसंश्रय होता है, वे राम आदि विभावों में अलौकिक विभावन व्यापार वृत्ति पाकर कारण शब्दवाच्यता का परित्याग कर देते हैं।[29] यह एक विचित्र किन्तु अनुभूत तथ्य है कि लौकिक शोक और हर्ष आदि कारणों से काव्यगत शोक और हर्ष आदि का रूप भिन्न होता है। सच तो यह है कि जिस प्रकार सुरत-व्यापार अथवा रति क्रीडा में दंतघात, नखक्षत तथा केश ग्रहण आदि क्रीडा कौतुक मधुर वेदनाओं का भार सहेजकर भी संयोगरत व्यक्तियों के लिए सुखदायक ही होते हैं, उसी प्रकार करुण-काव्यसमर्पित विभावों, अनुभावों और संचारी भावों का लोकोत्तर काव्यार्थ सहृदय जनों के लिए प्रीतिप्रद माना जाता है। विश्वनाथ ने यही धारणा "काव्ये पुनः सर्वेभ्यो विभावादिभ्यः सुखमेव जायते इति नियमान्न कश्चिद्दोषः' की शब्दावली में व्यक्त की है।

प्रश्न होता है कि जब काव्यसमर्पित विभावादि रसावयव सुख के ही उत्पादक हेतु हैं तो हरिश्चन्द्र तथा युधिष्ठिर आदि कथानायकों के काव्यनाट्यगत करुण चरित्र सहृदय जनों के लिए अश्रुपात आदि दुःखमूलक भाव क्यों उत्पन्न करते हैं ? इसका उत्तर देते हुए विश्वनाथ ने लिखा है कि वे अश्रुपात दुःखजनक न होकर चित्तद्रुति के ही परि-णाम हैं जिनका रसास्वाद करने के लिए जन्मजन्मान्तर की वासना अथवा संस्कार विशेषता परम वांछनीय है।[30] रसास्वाद के लिए अधुनातनी तथा पुरातनी इत्यादि वासना का संयोग अपेक्षित है। यदि इस जन्म की संस्कार विशेषमयी वासना को ही इस निष्पत्ति

का कारण माना जाय तो वैदिक मतानुयायी प्राचीन मीमांसकों का सिद्धांत खण्डित हो जायगा। क्योंकि वे रसोद्बोधन के लिए प्राक्तनी वासना को ही प्रमाण मानते हैं। वस्तुतः प्राक्तनी वासना के साथ-साथ अधुनातनी वासना भी रस निष्पत्ति के लिए अपेक्षणीय है क्योंकि रसानुभूति की वेला में दोनों का समन्वय प्रदर्शित होता है। सहृदयों का वासना-वासित हृदय ही रसानुभूति का आश्रय होता है अन्यथा वासनाविहीन व्यक्तियों अथवा सामाजिकों के लिए रंगशाला के अभिनय व्यापार अथवा विभावादिजन्य काव्यार्थ काव्य-भित्ति एवं पाषाणतुल्य प्रतीत होने लगेंगे। धर्मदत्त ने यही बात निम्नलिखित श्लोक में प्रतिपादित की है—

सवासनानां सभ्यानां रसस्यास्वादनं भवेत।
निर्वासनास्तु रंगान्तः काष्ठकुड्याश्मसन्निभाः।।[31]

साधारणीकरण की उपयोगिता

आचार्य विश्वनाथ भी रसास्वादन की प्रक्रिया में साधारणीकरण व्यापार की महत्ता और अनिवार्यता स्वीकार करते हैं क्योंकि उसी के कारण सहृदय सामाजिक रसानुभूति का आस्वाद ले पाते हैं। वस्तुतः इसी का पर्याय विभावन-व्यापार है जिसका सम्बन्ध काव्यगत विभावों, अनुभावों और संचारी भावों से होता है। इसकी चमत्कृति लोकोत्तर तथा अद्वितीय कही जा सकती है जिसके कारण सहृदयों का रसाविष्ट अंतःकरण रामादि अनुकार्यों के समुद्रलंघन आदि असाधारण कार्यों के प्रति अपनी अभेद भावना समायोजित करता हुआ उत्साह जैसे भावों की रस चर्वणा में आनंदमग्न हो जाता है। उस स्थिति में उनका उत्साह रामादि के उत्साह के साथ एकरूपता ग्रहण कर लेता है।[32]

साधारणीकरण के कारण काव्यरसिकजन रत्यादि स्थायी भावों की प्रतीति आत्मगत रूप में नहीं करते अपितु उन्हें विभावादिवत् ग्रहण करते हैं। सामाजिकों का स्वरतिप्रकाशन यदि व्रीड़ा तथा आतंक आदि भावों का जनक हो सकता है तो उसकी परगत प्रतीति रसास्वाद का अवसर ही नहीं आने देती। विभावादि के साधारणीकरण द्वारा जिस काव्यार्थ की प्रतीति होती है वह हमें अपने तथा पराये के सम्बन्ध-विशेषों से ऊपर उठाकर ऐसी स्थिति में रख देती है जहाँ सम्बन्ध के स्वीकार अथवा परिहार के लिए किसी भी प्रकार की गुंजाइश नहीं रहती। साधारणीकरण के कारण ही हमारे लौकिक भाव अलौकिक बन जाते हैं जिनका विभाजन व्यापार काव्यार्थबोध के लिए दूषण न होकर भूषण ही सिद्ध होता है।[33] विभावों की अलौकिकता अनुभावों तथा संचारी भावों से भी सम्बद्ध रहती है जो क्रमशः कारण, कार्य तथा सहकारिता के रूप में संयुक्त होकर रसोद्बोधन कराती है। इन तीनों का समष्टि भाव ही रस परिणामी होता है जो प्रपाणक-रस के समान सहृदयों द्वारा आस्वाद्यमान होकर रस रूप में परिणत हो जाता है। विश्वनाथ ने प्रपाणक रस तथा काव्य रस को समानधर्मी माना है जिसकी व्याख्या करते हुए यह कहा जा सकता है कि जिस प्रकार शर्करा, मिर्च तथा अन्य पदार्थों के सम्मि-श्रण से शर्बत आदि प्रपाणक रस बनाये जाते हैं जिनका आस्वाद उन पृथक्-पृथक् पदार्थों

से भिन्न तथा अपूर्व होता है, उसी प्रकार विभावों, अनुभावों तथा संचारी भावों के संयोग अथवा मिश्रण से जिस रस की निष्पत्ति होती है। वह निश्चय ही उनसे भिन्न, अपूर्व तथा विलक्षण कही जा सकती है।[34]

अनुक्त का आक्षेप

रसनिष्पत्ति के लिए विभाव, अनुभाव और संचारी भाव आवश्यक उपकरण हैं। जिनके संयोग से स्थायी भाव रस रूप में परिणत हो जाता है। काव्यरचना में ऐसे स्थल भी आते हैं जहाँ तीनों का पूर्ण संयोग नहीं हो पाता तो भी उससे रसप्रतीति की संभावना बनी रहती है। इसका कारण यह है कि विभाव आदि में एक अथवा दो के न रहने पर भी अर्थात् अनुभावों अथवा संचारी भावों की पूर्णता के बिना भी अनुक्त अन्यतर का शीघ्रमेव आक्षेप कर लिया जाता है। वह आक्षेप प्रकरण आदि की प्रतिपाद्यता में सम्भव है जिसमें व्यंजनावृत्ति का सहयोग अपेक्षित है।[35] विश्वनाथ ने अनुक्त के आक्षेप में मालविकाग्निमित्र नाटक का वह प्रकरण उल्लिखित किया है जिसमें राजा अग्निमित्र नृत्यारम्भ के समय मालविका का रूपवर्णन करता हुआ उसे अनेक भाव-भंगिमाओं में उत्प्रेक्षित करता है। उस चित्रण में मालविका आलम्बन विभाव के रूप में प्रस्तुत है जिसमें औत्सुक्य आदि संचारी भावों तथा नेत्रविस्फार आदि अनुभावों का निरूपण न होने पर भी विभावगत वैशिष्ट्य अथवा औचित्य के कारण उनका आक्षेप कर लिया जाता है। यह आक्षेप रसप्रतीति की पूर्ण दशा समायोजित कर देता है।

रस अनुकार्यगत नहीं होता

विश्वनाथ ने भट्ट लोल्लट प्रतिपादित अनुकार्यगत रसप्रतीति का सिद्धांत खंडित किया है। उनका कथन है कि राम आदि अनुकार्यों में सीता आदि विभावों के दर्शन से उत्पन्न होने वाली रति की उद्भावना परिमित, लौकिक तथा नाट्य और काव्यवर्ती नटकर्मों और श्रवणों तक ही प्रतिबंधित रहती है जबकि रसप्रतीति इन तीनों धर्मों से पृथक् भिन्न तथा विलक्षण होती है। रस को अनुकार्यगत मानने से तीन परिणाम निकलते हैं— (1) रस का आविर्भाव मूल पात्रों में होता है जिनका क्षेत्र अत्यंत संकीर्ण और परिमित है। (2) वह सर्वथा लौकिक अर्थात् लोकमात्र संभव भावरूप है। (3) वह दृश्यकाव्य के प्रेक्षण तथा श्रव्यकाव्य के श्रवण आदि से प्रतिबंधित तथा बंधित होता है। स्पष्ट है कि उपर्युक्त तीनों परिणाम इस दशा में घटित नहीं होते क्योंकि रस तत्त्व न तो केवल अनुकार्यों में ही रहता है और न वह लोकमात्र संभूत भावों का ही प्रतिपादक है। वह तो निरंतराय है क्योंकि वह नाट्य तथा श्रव्यकाव्य सम्बद्ध दर्शन तथा श्रवण से बाधित नहीं होता। उसे अनुकार्यगत मानना युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि उसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध सहृदय सामाजिकों के सत्त्वोद्रेक से होता है।[36]

रस अनुकर्तागत भी नहीं है

विश्वनाथ ने शंकुक के रसविषयक अनुमितिवाद का भी खण्डन किया है, उनका

कथन है कि रस को अनुकर्तृगत अथवा नटनिष्ठ नहीं माना जा सकता। सच तो यह है कि नट अथवा नर्तक अपने शिक्षाभ्यास आदि उपायों से राम आदि अनुकार्यों के रूप का अभिनय अथवा अनुकरण मात्र करता है, अतः वह रस का आस्वादयिता नहीं माना जा सकता। यदि नट अथवा अनुकर्ता काव्यार्थभावना के पर्यालोचन से सहृदय सामाजिक का स्थानापन्न हो जाता है तो वह भी रस का आस्वादक अथवा अनुभाविता कहा जा सकता है। इस दृष्टि से भी रस का सामाजिकनिष्ठ पक्ष प्रमाणित होता है।[37]

रसज्ञाप्य नहीं है

रस ज्ञाप्य नहीं है क्योंकि वह अपने अस्तित्व में सामाजिकों की प्रतीति में व्यामिचरित नहीं होता। उसे स्वभिन्नप्रत्यक्ष विषय नहीं कहा जा सकता क्योंकि वह आत्मसद्भाव में निहित रहता है। वह तो साक्षात्कार दशा में ही आविर्भूत होता है अतः उसे घटादिरूप प्रतीतितुल्य ज्ञाप्य नहीं कहा जा सकता। घर आदि पदार्थ दीपक आदि से प्रकाशित होने के कारण ज्ञाप्य कहलाते हैं जबकि अंधकार आदि के कारण उनकी सत्ता ज्ञाप्य नहीं होती। रस के विषय में इस प्रकार की 'ज्ञाप्ति' संभव नहीं है क्योंकि प्रतीति के बिना उसकी सत्ता ही नहीं रहती। रस की स्वप्रकाशता ज्ञापित करने के लिए किसी अन्य ज्ञान की आवश्यकता ही नहीं है।[38]

वह कार्य भी नहीं है

रस कार्य भी नहीं है क्योंकि वह विभाव, अनुभाव, संचारी भाव तथा रत्यादि स्थायी भावों का समूहालम्बनात्मक रूप है। उसे विभावादि ज्ञान जन्य भी नहीं कहा जा सकता। यदि वह कार्य होता तो विभावादि का ज्ञान उसका कारणरूप होता। रस प्रतीति के समय विभाव आदि कारण प्रतीत नहीं होते क्योंकि इसकी उत्पत्ति उनके अनंतर ही होती है। कारण और कार्य का ज्ञान एक ही समय में नहीं देखा जाता। उदाहरणार्थ कारणरूप चंदन स्पर्श का ज्ञान तथा तज्जन्य कार्यरूप सुख का ज्ञान एक ही समय में सम्भव नहीं है। विभावादि समूहालम्बनात्मक होकर ही रस की प्रतीति कराते हैं अतः उनका ज्ञान रस का कारण नहीं होता। इस प्रकार रस कार्य नहीं है।[39]

रस अनित्य, अलौकिक और सहृदयसंवेद्य है

विश्वनाथ ने रस की नित्यता का भी खण्डन किया है। रस नित्य नहीं है क्योंकि विभाव आदि के ज्ञान से पूर्व उसका संवेदन नहीं होता। वह प्राक् अभाव का अप्रतियोगी है। उसकी नित्यता तो तभी मानी जा सकती है जब उसे विभाव आदि के ज्ञान से पूर्व ज्ञेय समझा जाय। अप्रतीति काल में रस का अस्तित्व ही नहीं होता जिससे उसकी नित्यता खण्डित होती है। रस ज्ञानकाल में ही रहता है। वह आकाशतुल्य नित्यवस्तु नहीं होता। प्रत्यक्षतः आनंदमय और प्रकाशस्वरूप होने के कारण वह भविष्यत्काल का भी विषय नहीं है उसे वर्तमान पदार्थ भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि वह कार्य और ज्ञाप्य

नहीं होता। वह निर्विकल्पक ज्ञान का भी विषय नहीं कहा जा सकता क्योंकि निर्विकल्पक ज्ञान तो निष्प्रकारक होता है जबकि रस सहृदयों के लिए विभाव आदि का परामर्श विषय हो[40] वह सविकल्पक ज्ञानरूप भी नहीं है क्योंकि सविकल्पक ज्ञान से ज्ञेय पदार्थ में वचन प्रयोग की योग्यता होती है जबकि रस में शब्द प्रयोग की योग्यता अपेक्षणीय नहीं है। वह घट और पट आदि पदार्थों की भाँति वाच्य न होकर व्यंग्य होता है। अभिप्राय यह है कि रस तत्त्व कार्यज्ञाप्य आदि धर्मों से परे रहने वाला एक ऐसा अश्रुत और अदृष्ट धर्म है जिसका सम्पूर्ण विवेचन करना असंभव है। विश्वनाथ ने उसे साक्षात्कार स्वरूप कहा है क्योंकि शब्दोद्‌भूत होने के कारण वह परोक्ष रूप नहीं है। इस प्रकार अनेक रूपों और प्रकारों में विवेच्यमान होकर भी रस 'अनिर्वचनीय' है जिसकी गरिमा का विचार करते हुए आचार्य विश्वनाथ ने उसे अलौकिक और सहृदयसंवेद्य कहना ही उचित समझा है।[41]

रस की सत्ता के प्रमाण

रस का अस्तित्व उसकी चर्वणा अथवा आस्वाद्यता से प्रमाणीकृत है। उसे विद्वानों ने चर्वणा से अभिन्न माना है। 'चर्वणा', 'आस्वादन' और 'स्वाद' एकार्थवाची शब्द हैं। उनका लक्षण 'स्वादः काव्यार्थसंभेदादात्मानंदसमुद्‌भवः किया गया है जिसका अर्थ यह है कि काव्यार्थों के संभेद (अभिधेय ज्ञान) से प्राप्त आत्मानंद के उद्‌भव का नाम ही स्वाद है। यहाँ एक यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जब रस कार्य नहीं है तो भरत मुनि ने रससूत्र में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों से उसकी उत्पत्ति क्यों मानी है? इसका उत्तर देते हुए विश्वनाथ ने लिखा है कि रसास्वाद की उत्पत्ति में रस की उत्पत्ति का कथन उपचारमात्र है। यद्यपि रस से भिन्न न होने के कारण उसकी चर्वणा भी कार्य नहीं है तथापि उसके यदाकदा आविर्भाव तथा तिरोभाव के विचार से उसका कार्यत्व गौण वृत्ति अथवा उपचार से मान लिया जाता है।[42] विश्वनाथ ने रस की अवाच्यता तथा अलक्ष्यता का विशेष विवेचन व्यंजनावृत्ति के निरूपक पंचम परिच्छेद में किया है।

रस की स्वप्रकाशता और अखण्डता

विश्वनाथ ने रस की स्वप्रकाशता तथा अखंडता भी निरूपित की है। उन्होंने रत्यादि ज्ञान के तादात्म्य से रस का स्वप्रकाशत्व तथा अखण्डत्व सिद्ध किया है। उनका कथन है कि रति और विभाव आदि भावसमूह यदि ज्ञानस्वरूप से भिन्न हों तो रस की स्वप्रकाशता निष्पादित नहीं की जा सकती। वस्तुतः रत्यादि भाव और विभाव प्रकाश शरीर से पृथक नहीं होते अतः उन दोनों में तादात्म्य ही माना जाता है। रस से उसकी चर्वणा पृथक् नहीं होती अतः वह न तो कार्यरूपा ही है और न तज्जन्या ही कही जा सकती है। यदि उन दोनों में कदाचित् कार्यरूपता का आरोप भी कर लिया जाता है तो दोनों के तादात्म्य में अनादि वासना के परिणामस्वरूप रत्यादि स्थायी भावों में भी लक्षणावृत्ति द्वारा विभावादि कार्यों के माध्यम से चर्वणा का ही व्यवहार मानना चाहिए। वस्तुतः रस आत्मस्वरूप से अभिन्न होता हुआ भी प्रमाता (सामाजिक) द्वारा वासना

(संस्कार विशेष) से उपस्थापित रत्यादि के तादात्म्य (अभेद) से गृहीत होता है अतः उसका ज्ञान के साथ तादात्म्य होने से वह अखण्ड ही कहलाता है। सच तो यह है कि रति आदि स्थायी भाव पहले एक एकशः प्रतीयमान होते हैं किन्तु शनैः-शनैः वे सभी एकरूप होकर चिद्भाव को प्राप्त करते हुए रसरूप में परिवर्तित हो जाते हैं। इस विषय में निम्नलिखित कारिका उल्लेखनीय है—

विभावा अनुभावाश्च सात्त्विका व्यभिचारिणः।
प्रतीयमानाः प्रथमं खण्डशो यान्त्यखण्डताम् ॥[43]

रस सूत्र का प्रयोजनीय

रसनिष्पत्ति में विभावा, अनुभाव तथा संचारी भावों का संयोग परम अपेक्षणीय है। विभावों को 'विभाव्यन्ते, आस्वादांकुर प्रादुर्भाव-योग्याः क्रियन्ते सामाजिकरत्यादिभावाः एभिः कहा गया है जिसका तात्पर्य यह है कि लोकसंश्रित रत्यादि उद्बोधक तत्त्व ही काव्य और नाट्य में विभाव कहे जाते हैं। राम आदि नायकों के हृदय में स्थित रति आदि स्थायी भावों के उद्बोधक कारण अथवा प्रादुर्भाव हेतु सीता आदि पात्र जब काव्य विषय बन कर उपस्थित होते हैं तो वे विभाव रूप में प्रतिष्ठित होकर रसास्वाद का अंकुरण करते हैं जिनसे सामाजिक गत रत्यादि भावों का साधारणीकरण होता है। काव्य-शास्त्र में उन्हें ही विभाव कहा जाता है। के आलम्बन और उद्दीपन संज्ञक दो प्रकारों में विभक्त किये गये हैं। इन्हें नायक-नायिका के संदर्भ में अन्योन्याश्रित सम्बन्ध से समझा जाना चाहिए। आचार्यों ने रस सम्बद्ध विभावों, अनुभावों और व्यभिचारी भावों का अत्यन्त विशद विवेचन किया है। जिनमें सर्वमान्य सिद्धान्तों का सामान्य निरूपण मात्र होने से उनका विश्लेषण पिष्टपेषण मात्र है। इस विषय में साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने भी प्रभूत सामग्री समायोजित की है जिसके विश्लेषण की अधिक उपयोगिता न होने के कारण उनका उल्लेख मात्र करना ही पर्याप्त है।

रस विभाव और नायक-नायिका भेद

रसनिष्पत्ति की विवेचना उसके आलम्बनभूत नायक-नायिका की गुणगरिमा, योग्यता, प्रकृति तथा विशिष्ट श्रेणियों से जुड़ी हुई है, अतः विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण के रसनिरूपण विषयक तृतीय परिच्छेद में उन सबका विशद विश्लेषण किया है। उनका यह विश्लेषण भारतीय जीवनदर्शन की मान्यताओं तथा काव्यशास्त्रीय परम्पराओं से अनुमोदित तथा समर्थित कहा जा सकता है। नायक के स्वरूपवर्णन में उन्होंने उसे त्यागी, कृती, कुलीन, सुश्रीक, रूप-यौवन सम्पन्न, उत्साही, दक्ष, अनुरागी, तेजस्वी, विदग्ध और शीलवान माना है जिसकी प्रकृति धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित तथा धीरप्रशांत रूपों में विभक्त की गई है। विश्वनाथ ने धीरोदत्त नायक में आत्मश्लाघा, महासत्त्वता, क्षमा, गाम्भीर्य तथा दृढ़व्रतत्व आदि गुण निर्धारित किये हैं जिनका समावेश राम और युधिष्ठिर आदि पौराणिक चरित्रों में परिकल्पित हुआ है। धीरोद्धत नायक मायावी, प्रचण्ड, चपल

अहंकारी, आत्मश्लाघी होता है तो धीरललित नायक में मृदुता, कलाप्रीति आदि गुण सहजभाव में सन्निविष्ट रहते हैं। धीरप्रशांत नायक मूलतः शांत प्रकृति और ब्राह्मण-वृत्तिक व्यक्ति होता है जिसमें तदनुरूप सामान्य गुण स्वतः ही अंतर्भूत रहते हैं। शृंगार आदि रसों के सम्बन्ध से वह अनुकूल दक्षिणा धृष्ट तथा शठ संज्ञक भेदों में विभक्त किया गया है। उसके सहयोगियों में विट, चेट और विदूषक आदि की गणना की जाती है। उसके दण्ड सहायकों में राजपुत्र, आटविक, सामंत तथा सैनिक होते हैं तो धर्मसहायकों में ऋत्विक् पुरोहित, बृद्धवेत्ता तथा तपस्वी जन प्रमुख कहे जा सकते हैं। सात्त्विक नायक में शोभा, विलास, माधुर्य, गाम्भीर्य, धैर्य, तेज, लालित्य और औदार्य संज्ञक गुण सहज भाव से विद्यमान रहते हैं जिनके अनेक भेद-प्रभेद किये गये हैं। नायकों की भाँति नायिकाओं के भी अनेक रूप और प्रकार हैं जिनमें स्वकीया, परकीया और सामान्या प्रमुख हैं। विश्वनाथ ने उन्हें मुग्धा, मध्या तथा प्रगल्भा संज्ञक तीन उपभेदों में विभक्त करते हुए उनकी विस्तृत विवेचना की है। सभी नायिकाएँ धीरा, अधीरा तथा धीराधीरा प्रकृतियों के अनुसार ज्येष्ठा तथा कनिष्ठा की श्रेणियों में परिकल्पित की गई हैं। विश्वनाथ ने परकीया नायिका को परोढा तथा कन्यका रूप में निरूपित किया है। सामान्य नायिका को वेश्या भी कहा जाता है जो अपनी कला प्रगल्भता द्वारा अर्थ प्राप्ति करती हुई देह व्यापार भी करती है। इन नायिकाओं के अतिरिक्त ऐसी नायिकाएँ भी होती हैं जो भिन्न-भिन्न अवस्थाओं तथा परिस्थितियों के अनुसार स्वाधीनभर्तृका, खण्डिता, अभिसारिका, कलहांतरिता, विप्रलब्धा, प्रोषितभर्तृका, वासकसज्जा तथा विरहोत्कण्ठिता आदि भेदों में निरूपित की गई हैं। सभी नायिकाओं के यौवन में अनेक प्रकार के सात्त्विक अंलकार माने गये हैं जिनमें हाव, भाव और हेला अंगज अलंकार कहलाते हैं। शोभा, कांति, दीप्ति, माधुर्य, प्रगल्भता, औदार्य और धैर्य उनके अयत्नज अलंकार है तो लीला, विलास, विच्छित्ति, विब्वोक, किलकिंचित, मोट्टायित-कुट्टमित, विभ्रम, ललित, मद, विक्षेप, मुग्धता, कुतूहल, हसित, चकित तथा केलि आदि स्वभाव सिद्ध तथा कृत्रिम अलंकार माने जाते हैं। इनके धैर्य, औदार्य और दीप्ति आदि सात्त्विक गुण नायकनिष्ठ भी होते हैं किन्तु उपर्युक्त सभी गुण अधिकाँशतः नायिकाओं में ही आश्रित रहते हैं अतः उन्हीं के संदर्भ में उनका वैचित्र्य निरूपित किया जाता है। विश्वनाथ ने इन सम्पूर्ण विषयों का पृथक्-पृथक् उदाहरणों द्वारा विश्लेषण किया है। इनके अतिरिक्त उन्होंने नायिकाओं की अनुराग चेष्टाएँ भी वर्णित की हैं। जो पत्र प्रेषण, स्नेहिल अवलोकन तथा कोमल संभाषण आदि रूपों में व्यक्त होती है। अधिकांश नायिकाएँ दूती सम्प्रेषण द्वारा अपना अनुराग व्यंजित करती हैं तो कुछ नायिकाएं स्वयं दूती के रूप में भी अपनी कार्य सिद्धि कर लेती हैं। नायिकाओं की भाँति नायक द्वारा भी प्रेम संदेश-प्रेषण किया जाता है। नायक-नायिका भेद का यह विश्लेषण आश्रय और आलम्बन की चित्त वृत्तियों, चेष्टाओं तथा प्रकृतियों के रूप भेदों से सम्बद्ध होने के साथ-साथ उन मनोवैज्ञानिक तथ्यों का भी स्पष्टीकरण करता है जिनसे प्रेरित होकर भारतीय महाकवियों ने अपनी प्रबंध रचनाएँ प्रस्तुत की हैं। परम्परागत काव्यों की सांस्कृतिक चेतना तथा सामाजिक पृष्ठ-

भूमि में इस विषय का तत्त्वबोध करना आवश्यक है अन्यथा भारतीय काव्य तथा शास्त्र की मौलिक उद्भावनाओं को हृदयंगम किया ही नहीं जा सकता। इस विश्लेषण में रस विवेचना का विभावगत आलम्बन पक्ष मुखरित हुआ है जो आज की परिस्थितियों में भले ही अप्रासंगिक तथा समय बाह्य कह दिया जाय किन्तु उसका ऐतिहासिक तथा मौलिक महत्त्व कम नहीं किया जा सकता है।

रसनिष्पत्ति के इतर अवयव

आलम्बन की चेष्टाएँ और देशकाल की अनुकूलता 'उद्दीपन विभाव' कहलाती हैं जिनसे रस उद्दीप्त होता है। अपने-अपने कारणों से उद्बुद्ध रत्यादि भावों को बाह्य जगत् में प्रकाशित करने वाला कार्य व्यापार काव्य तथा नाट्य में 'अनुभाव' कहा जाता है। वह आश्रयगत होता है। स्त्रियों के अंगज और स्वभावज अलंकार अनुभावस्वरूप हैं जिनमें स्तम्भ और स्वेद आदि सात्त्विक भाव और कटाक्ष आदि चेष्टाएँ भी सम्मिलित रहती हैं। सात्त्विक भाव सामाजिकों के अंतःकरण में स्थित रहने वाले प्रकाशनशील धर्म हैं जिनकी उत्पत्ति सत्त्व गुण से होती है। अनुभावों और सात्त्विक भावों का अंतर गोबलीवर्दन्याय से विवेचित किया गया है। सात्त्विक भावों के आठ भेद हैं जिनके नाम स्तम्भ, स्वेद, रोमाँच, स्वरभंग, वेपथु (कम्प), वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय हैं। विशेष रूप से सांमुख्य से संचरण के कारण रति आदि स्थायी भावों में आविर्भूत तथा तिरोभूत होने वाले भाव व्यभिचारी भाव कहलाते हैं। वे तैंतीस प्रकार के माने गये हैं। विश्वनाथ ने सभी प्रकार के संचारी भावों के उदाहरण तथा लक्षण प्रस्तुत करते हुए उनका स्पष्टीकरण किया है। उन्होंने 'रत्यादयोऽप्यनियते रसे स्युर्व्यभिचारिणः' कारिकाँश द्वारा बतलाया है कि उनके द्वारा विवेचित व्यभिचारी भावों के भेद केवल उपलक्षण मात्र हैं क्योंकि सामान्यतः रति आदि स्थायी भाव भी स्वनिर्दिष्ट रस से भिन्न रस में व्यभिचारी भाव हो जाते हैं। शृंगार का रति भाव हास्य रस में व्यभिचारी भाव हो जाता है तो शृंगार और वीर रस में हास, वीर में क्रोध और शाँत में जुगुप्सा व्यभिचारी भाव हो जाते हैं। 'रसावस्थः परं भावः स्थायितां प्रतिपद्यते' के अनुसार वही भाव स्थायी भाव कहलाता है जो रसावस्था प्राप्त कर लेता है। स्थायी भाव ही रसानुभूति का मूल तत्त्व है जिसे अविरुद्ध (अनुकूल) और विरुद्ध (प्रतिकूल) भाव तिरोहित नहीं कर पाते। उसकी स्थिति स्रक्सूत्र वृत्ति द्वारा स्पष्ट की गई है।[44] जिस प्रकार पुष्पों की माला में एक ही सूत्र अनुगत होता है, उसी प्रकार अन्य भावों में अनुगमन करने वाला स्थायी भाव किसी से तिरोहित नहीं होता अपितु अन्य भावों से पुष्ट होता है। नवसंख्यक रत्यादि स्थायी भावों से नौ रसों की निष्पत्ति होती है। विश्वनाथ ने भावों के अंतर्गत त्रिविध भावों की गणना की है जिनके नाम स्थायी, संचारी और सात्त्विक भाव हैं। ये भाव अनेक अभिनयों से सम्बन्ध रखने वाले शृंगार आदि रसों को भावित (ज्ञापित) करते हैं, अतः भाव कहलाते हैं।[45] 'सुखदुःखादिभिर्भा वैर्भावस्तद्भावभावनम्' के अनुसार भाव उन्हें कहते हैं जो सुख और दुःख आदि धर्मों से रति आदि भावों का उद्भाव करते हैं।

रसों का सामान्य परिचय

विश्वनाथ ने स्थायी भावों की गणना के अनुसार श्रृंगारादि नवरस माने हैं। उन्होंने 'श्रृंग' का अर्थ 'मन्मथोद्भेद' अर्थात् कामदेव का आविर्भाव किया है। जिसका आगमन-हेतुक (मदनप्राप्तिकारणभूत) रस श्रृंगार रस कहलाता है।[46] परोढा तथा अनुराग-विहीन वेश्या को छोड़कर अन्य सभी नायिकाएँ तथा दक्षिण आदि नायक इसके आलम्बन-विभाव हैं। चन्द्रोदय, चन्दन भ्रमरगुंजन आदि उसके उद्दीपन विभाव तथा भ्रू विपेक्ष एवं कटाक्ष आदि उसके अनुभाव हैं। उसके व्यभिचारी भावों में उग्रता, मृत्यु, आलस्य और जुगुप्सा के अतिरिक्त अन्य सभी संचारी भाव रहते हैं। श्रृंगार का स्थायी भाव 'रति', वर्ण श्याम तथा देवता विष्णु है। विप्रलम्भ और संभोग नामक इसके दो भेद किये जाते हैं। संभोग का अर्थ स्पष्ट है। विप्रलम्भ में यद्यपि रति प्रकृष्ट होती है तथापि वह अभीष्ट नायक अथवा नायिका को प्राप्त नहीं करती। पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण संज्ञक उसके चार भेद हैं। विप्रलम्भ श्रृंगार में अभिलाष, चिंता, स्मरण, गुणकथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता और मरण संज्ञक दस कामदशाएँ होती हैं। विश्वनाथ का अभिमत है कि श्रृंगार रस में पुरुष के अनुराग की पूर्वस्थिति होने पर पहले स्त्री की अनुराग चेष्टाओं का वर्णन करना चाहिए क्योंकि उनके कारण काव्य में अधिक माधुर्य आ सकता है।[47] विश्वनाथ ने नीली, कुसुम्भ तथा मंजिष्ठा नाम से तीन प्रकार के पूर्व-राग माने हैं। मान अथवा कोप प्रणयजन्य यथा ईर्ष्याजन्य होते हैं। वस्तुतः प्रेम की गति कुटिल है अतः कभी-कभी बिना कारण भी कोप हो सकता है। विश्वनाथ ने मान अथवा कोप के विविध प्रकारों के उदाहरण प्रस्तुत करते हुए उनका स्पष्टीकरण किया है। उन्होंने साम, भेद, दान, नीति और उपेक्षा आदि उपायों से मानभंग करने की विधियाँ भी निरूपित की हैं। कार्य, शाप तथा त्वरा के कारण देशान्तर प्रयाण करने का नाम 'प्रवास' है। उसमें भी दसों कामदशाएँ होती हैं। करुण विप्रलम्भ श्रृंगार में पहले तो नायक-नायिका में से किसी एक की मृत्यु के कारण उनका विलाप चित्रित किया जाता है किन्तु तदनंतर मृत व्यक्ति की प्राप्ति भी निर्दिष्ट की जाती है। करुण रस की स्थिति उससे भिन्न है। कादम्बरी में पुण्डरीक तथा मताश्वेता वृत्तांत करुण विप्रलम्भ का उदाहरण कहा जाता है। विश्वनाथ ने करुण विप्रलम्भ तथा करुण रस का अंतर निम्न-लिखित कारिका में निरूपित किया है —

शोकस्थायितया भिन्नो विप्रलम्भादयं रसः।
विप्रलम्भे रतिः स्थायी पुनः संभोग हेतुकः।।[48]

विश्वनाथ ने सभी रसों का सामान्य परिचय देते हुए उनके भावों, विभावों, अनुभावों तथा व्यभिचारी भावों का वर्णन किया है। उन्होंने वाणी, आकार, वेष तथा चेष्टाओं की विकृति से हास्य रस की उत्पत्ति मानी है। उसका स्थायी भाव हास, वर्ण श्वेत तथा देवता प्रमथ हैं। विकारयुक्त वाणी, आकार तथा चेष्टाओं वाला कोई भी व्यक्ति उसका आलम्बन हो सकता है जिसकी बहुविध चेष्टाएँ उद्दीपन विभाव का काम

करती हैं। नेत्र संकोच और मुखविकास आदि उसके अनुभाव तथा निद्रा, आलस्य और अवहित्था आदि उसके व्यभिचार भाव होते हैं। उत्तम जनों का हास्य स्मित और हसित, मध्यम जनों का विहसित और अवहसित तथा अधम जनों का अपहसित और अतिहसित कहलाता है। लटकमेलक आदि प्रहसनों में हास्य रस का सुन्दर परिपोष हुआ है। जिन आलम्बन विभावों का ह्रास किसी ग्रंथ विशेष में निबद्ध नहीं किया गया है, उनकी उपलब्धि विभाव आदि के सामर्थ्य द्वारा की जा सकती है। जहाँ विभाव आदि रसोपकरण साधारणीकरण व्यापार द्वारा अनुक्त होते हैं वहाँ पर भी उनकी प्रतीति की जाने पर सहृदय सामाजिक हास्य रस की अनुभूति कर सकते हैं।

इष्टनाश तथा अनिष्ट प्राप्ति से करुण रस उत्पन्न होता है। उसका वर्ण कपोत तथा देवता यमराज है। शोक करुण रस का स्थायी भाव है। शोचनीय विषय-वस्तु तथा व्यक्ति उसके आलम्बन; दाहादि अवस्थाएँ उद्दीपन; दैवनिन्दा, भूपतन, क्रुन्दन, विवर्णता, उच्छ्वास, स्तम्भ और प्रलाप आदि अनुभाव तथा निर्वेद, मोह, अपस्मार, व्याधि, ग्लानि, स्मृति, श्रम, विषाद, जडता, उन्माद और चिन्ता आदि उसके व्यभिचारी भाव हैं।

रौद्र रस का स्थायी भाव, क्रोध; वर्ण रक्त; देवता रुद्र; शत्रु आलम्बन; मुष्टि-प्रहार, शत्रुनिपातन, छेदन, अवदारण, संग्राम संभ्रम आदि उद्दीपन; भ्रूभंग, ओष्ठनिर्दंश, बाहुस्फोट, तर्जन, और आयुध-उत्क्षेपण आदि अनुभाव तथा उग्रता, आवेग, रोमांच, स्वेद, कम्प, मद, मोह और अमर्ष आदि उसके व्यभिचारी भाव हैं। विश्वनाथ ने रौद्र रस तथा युद्ध वीर का अंतर निर्दिष्ट करते हुए केवल इतना ही लिखा है कि क्रोध नामक स्थायी भाव के कारण रौद्र रस में मुख और नेत्र लाल हो जाते हैं जब कि युद्धवीर में उत्साह नामक स्थायी भाव के अनुरूप अनुभावों की अभिव्यक्ति होती है।[49]

वीर रस का स्थायीभाव उत्साह, देवता महेन्द्र और वर्ण हेम (सुवर्ण) है। उसका नायक उत्तम प्रकृति का वीर पुरुष होता है। उसमें विजेतव्य शत्रु उसके आलम्बन, उनकी चेष्टाएँ उद्दीपन, सहायान्वेषण आदि अनुभाव; धृति, मति, गर्व, स्मृति, तर्क और रोमांच आदि संचारी भाव होते हैं। उसके प्रमुख चार भेद हैं जिनके नाम दानवीर, धर्म-वीर, युद्धवीर और दयावीर हैं। परशुराम, युधिष्ठिर राम तथा जीमूतवाहन जैसे उत्तम वीर उनके आदर्श नायक हैं।

भयानक रस का स्थायी भाव भय, देवता काल तथा वर्ण कृष्ण है। स्त्री और नीच प्रकृति वाले पुरुष उसके आश्रय होते हैं। जिनसे भय उत्पन्न होता है, वे उसके आलम्बन तथा उनकी चेष्टाएँ उद्दीपन कहलाती हैं। वैवर्ण्य, गद्गद स्वर, मूर्च्छा, स्वेद, रोमांच, कम्प और दिक्प्रेक्षण इसके अनुभाव हैं। जुगुप्सा, आवेग, संमोह, संत्रास, ग्लानि, दीनता, शंका, अपस्मार, और संभ्रम आदि इसके व्यभिचारी भाव कहलाते हैं। वीभत्स रस का स्थायीभाव जुगुप्सा, वर्ण नील तथा देवता महाकाल है। दुर्गन्ध, मांस, रुधिर तथा मेद आदि उसके आलम्बन तथा कृमिपात आदि उसके उद्दीपन हैं। थूकना, मुँह मोड़ना तथा नेत्र संकोचन आदि उसके अनुभाव हैं। मोह, अपस्मार, आवेग, व्याधि

और मरण आदि उसके व्यभिचारी भाव हैं। अद्भुत रस का स्थायी भाव विस्मय, देवता गन्धर्व तथा वर्ण पीत है। अलौकिक विषयवस्तु उसका आलम्बन तथा उसके गुणों की महिमा आदि उद्दीपन विभाव हैं। स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, गद्गद् स्वर, संभ्रम तथा नेत्र-विकास आदि इसके अनुभाव हैं। वितर्क, आवेग, संभ्रम तथा हर्ष आदि उसके व्यभिचारी भाव कहलाते हैं।

शांत रस की स्वतंत्र स्थिति

विश्वनाथ ने शांत रस की स्वतंत्र स्थिति का भी निरूपण किया है।[50] उसका स्थायी भाव 'शम' तथा उत्तम प्रकृति वाला व्यक्ति उसका आश्रय होता है। उसकी कांति कुन्द तथा इन्दु तुल्य श्वेत तथा देवता श्रीनारायण हैं। अनित्य वस्तु की निःसारता तथा परमात्मा का स्वरूप उसके आलम्बन विभाव हैं। पवित्र आश्रम, विष्णुक्षेत्र, प्रयागादि तीर्थ, नैमिषारण्य आदि रम्य कानन, महापुरुषों का सत्संग आदि उसके उद्दीपन विभाव हैं। रोमांच आदि इसके अनुभाव तथा निर्वेद, हर्ष, स्मरण, मति और भूतदया उसके व्यभि-चारी भाव कहलाते हैं। इस रस की पुष्टि महाभारत आदि महाकाव्यों से की जा सकती है। विश्वनाथ ने 'निरहंकाररूपत्वात् दयावीरादिरेषनो' द्वारा शांत रस को दयावीर आदि के अंतर्भूत नहीं माना है क्योंकि वह अहंकार रहित होता है।[51] दयावीर का उत्तम आदर्श नागानंद नाटक का नायक जीमूतवाहन है जो पहले मलयवती में अनुरक्त होता है और अंत में विद्याधरों का चक्रवर्तित्व प्राप्त करता है। उसके चरित्र में अहंकार निवृत्ति नहीं मिलती अतः उसे शांत रस का आश्रय नहीं माना जा सकता। धर्मवीर युधिष्ठिर का धर्मविषयक अनुराग तथा अंत में उनके द्वारा भारत साम्राज्य की प्राप्ति भी उन्हें शांत रस से भिन्न सिद्ध करते हैं। शांत रस तो सभी दृष्टियों से अहंकार प्रशमित होता है अतः उसमें दयावीर तथा धर्मवीर का अंतर्भाव करना युक्तिसंगत नहीं है।

शांत रस के विरोधी आचार्यों ने उसकी अनुपपत्ति के विषय में यह तर्क दिया है कि जिसमें दुःख, सुख, चिन्ता, राग, द्वेष तथा किसी प्रकार की कामना नहीं होती, वह सभी भावों अथवा पदार्थों में अपनी तुल्य प्रतीति के कारण भरत मुनि आदि मुनीन्द्रों द्वारा न जाने क्यों शांत रस के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। इन आचार्यों के मतानुसार शांत रस की मोक्षावस्था में आत्मस्वरूप का प्रादुर्भाव होने से किसी भी प्रकार के संचारी भाव नहीं बनते अतः उनकी अभावमयी स्थिति के कारण शांत रस का अस्तित्व ही सिद्ध नहीं होता। आचार्य विश्वनाथ उपर्युक्त धारणा से सहमत नहीं है। उन्होंने शांत रस का अस्तित्व निरूपित करते हुए लिखा है कि संसार में ऐसे समाधियुक्त योगी भी होते हैं जो सांसारिक स्थिति में योगवियुक्त होकर भी योगी ही रहते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में ऐसे व्यक्तियों में विदेहराज जनक आदि की गणना की गई है जो आसक्ति रहित कर्म द्वारा परम सिद्धि प्राप्त कर सके थे। विश्वनाथ ने ऐसे व्यक्तियों को युक्तवियुक्त दशा में अवस्थित मानकर उनमें शम नामक स्थायीभाव की सत्ता सिद्ध की है।[52] उनका कथन है कि शम भाव ही शांत रस का जनक है जिसमें तदनुरूप संचारी भावों की संसिद्धि का

अवकाश रहने के कारण उसके विभाव तथा अनुभाव आदि भी कल्पित किये जा सकते हैं। वस्तुतः उनकी स्थिति में विरोध की किंचित्मात्र भी संभावना नहीं है क्योंकि शांत रस में जिस सुख का अभाव कहा जाता है, वह पारमार्थिक सुख न होकर विषयजन्य सुख ही समझा जाना चाहिए। कामसुख तथा दिव्य महत्सुख तो तृष्णाक्षय रूप सुख का षोडशांश भी नहीं पा सकते अतः उस पारमार्थिक सुख का अधिष्ठान होने के कारण शांत रस की विशिष्ट कोटि सिद्ध होती है। जिसकी अहंकारविहीन प्रकृति होने के कारण उसका अंतर्भाव दयावीर आदि में नहीं किया जा सकता।

वत्सल रस का अस्तित्व

विश्वनाथ ने वत्सल रस को भरत मुनि सम्मत माना है। जो स्पष्ट रूप से चमत्कारप्राण होता है। उसका स्थायी भाव वात्सल्य स्नेह तथा आलम्बन पुत्र आदि हैं। पुत्र की चेष्टा तथा उसके विद्या शौर्य आदि गुण वत्सल रस के उद्दीपन कहलाते हैं। आलिंगन, अंगस्पर्श शिरश्चुम्बन, प्रेक्षण, पुलक तथा हर्षाश्रुपात आदि उसके अनुभाव हैं। अनिष्टशंका, हर्ष और गर्व आदि उसके संचारी भाव माने जाते हैं। विश्वनाथ ने उसे पद्म वर्ण छवि वाला रस कहा है जिसकी देवता ब्राह्मी आदि सप्त लोकमाताएं हैं।[53]

रस-विरोध निरूपण

आनंदवर्धन और मम्मट की भांति विश्वनाथ ने भी रसों के पारस्परिक विरोध का विवेचन किया है।[54] उनके मतानुसार करुण, वीभत्स, रौद्र, वीर और भयानक रस शृंगार के विरोधी रस हैं। हास्य का भयानक और करुण रस से विरोध है तो करुण का हास्य तथा शृंगार रस से विरोध माना जाता है। रौद्र रस हास्य, शृंगार तथा भयानक रस का विरोधी है तो वीर रस भयानक तथा शांत रस के साथ विरोध भाव रखता है। भयानक रस शृंगार, वीर, रौद्र, हास्य तथा शांत रस का विरोधी माना गया है तो शांत रस का वीर, शृंगार, रौद्र, हास्य तथा भयानक रस से विरोध है। वीभत्स रस का विरोध शृंगार रस से माना जाता है। विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण के सप्तम परिच्छेद में विरोधी रसों के समावेश के प्रकार भी निरूपित किए हैं। उन्होंने उन्माद आदि व्यभिचारी भावों को स्थायी भाव नहीं माना है क्योंकि ये भाव कथानायक पात्र में आदि से अंत तक स्थिर नहीं रहते। वे रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावप्रशम, भावोदय, भावसंधि और भावशबलता को रसन (आस्वादन) व्यापार के भिन्न-भिन्न प्रकार मानते हैं। जो श्रव्य तथा दृश्य काव्य में आस्वाद्यता अथवा रसनीयता उत्पन्न करने के कारण रस कहलाते हैं। उन्होंने रसन (आस्वादन) धर्म के साथ उनका सम्बन्ध मानते हुए भाव आदि में भी गौणी लक्षणा द्वारा 'रस' शब्द का प्रयोग किया है।

देवादिविषया रति का वैशिष्ट्य

विश्वनाथ ने देवादिविषया रति को मुख्य रूप से संचारी भाव मानते हुए उसे

भावों में ही परिगणित किया है।[55] वे विभाव से अपरिपुष्ट तथा उद्‌बुद्ध मात्र रति स्थायी भाव को भी 'भाव' कहते हैं। उनके मतानुसार भावों और रसों में अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है जिनकी सिद्धि पारस्परिक रूप से होती है।[56] अपनी मान्यता के अनुसार उन्होंने शृंगार आदि रसों के साथ रहने वाले निर्वेद आदि संचारी भावों तथा देवादि-विषयक रति को उद्‌बुद्धमात्र कहकर उसे रसकोटि तक प्रतिष्ठित नहीं किया है। उनका कथन है कि जिस प्रकार किसी परिणयतत्पर भृत्य के विवाह में सम्मिलित होने वाले राजा की उपस्थिति संदर्भ विशेष में उसकी मूल स्थिति से भिन्न होती है और विवाह-प्रवृत्त भृत्य ही उस समय प्रधान माना जाता है; उसी प्रकार रस के साथ वर्तमान व्यभिचारी भाव विभावादि से परिपुष्ट न होते हुए भी रस की प्रधानता खण्डित कर देते हैं। इस उदाहरण द्वारा उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि देवादिविषया रति अपना वैशिष्ट्य तथा प्राधान्य रखते हुए भी रस रूप में परिणत नहीं होती और भाव शब्दवाच्य मात्र ही रहती है। उस रति में मुनिविषयक तथा राजविषयक रति का भी उपलक्षण विद्यमान समझा जाना चाहिए।

विश्वनाथ ने रसविमर्श के प्रसंग में व्यभिचारी भाव की प्रधानता का जिस रूप में उल्लेख किया है वह शंकनीय है क्योंकि जब विभाव, अनुभाव और संचारी भाव संयुक्त होकर प्रपाणक रस की भाँति एकरूप हो जाते हैं तो उनमें संचारी भावों की प्रधानता तथा पृथक्ता कैसे रह सकती है? विश्वनाथ ने इसका उत्तर देते हुए लिखा है कि जिस प्रकार प्रपाणक रस में मिर्च और मिश्री आदि पदार्थों का सम्मिश्रित रूप होने पर भी कभी-कभी उनमें मिर्च आदि का आधिक्य उसके स्वाद में तीव्रतर होता है, उसी प्रकार रस के आस्वाद में भी व्यभिचारी भावों का प्राधान्य संभव हो सकता है।[57]

भावाभास और रसाभास

भावाभास और रसाभास आदि का विवेचन भी रस-परिवार से जुड़ा हुआ है। विश्वनाथ ने भावों और रसों की अनौचित्य प्रवृत्ति में भावाभास तथा रसाभास की सम्भावना व्यक्त की है।[58] उनका कथन है कि भरत मुनि आदि आचार्यों द्वारा प्रतिपादित रसलक्षणों की सामग्री में विभाव आदि रूपों की समग्रता न होने पर उनकी एकदेशीय स्थिति में भी इनका उपलक्षण घटित होता है। शृंगार में अनौचित्य होने पर शृंगारा-भास होता है जिसका कारण मुनिपत्नी अथवा गुरुपत्नी के प्रति रतिभाव का अभिव्यंजन है। यह अनौचित्य उपनायक से भी सम्बन्धित है जिसके प्रति यदि कोई नायिका अनुराग व्यक्त करती है तो वह मर्यादाविहीन होने पर शृंगाराभास हो जाता है। वेश्या अथवा कन्या की बहुनायकविषयक रति भी शृंगाराभास का हेतु है। अनुभयनिष्ठ रति में भी यह अनौचित्य सम्भव है क्योंकि अनुराग में नायक-नायिका के उभयपक्ष अपेक्षणीय हैं। प्रति-नायक, अधम पात्र तथा मनुष्येतर तिर्यक् आदि में समाविष्ट रति भी शृंगाराभास का कारण मानी जाती है।[59]

शृंगारेतर रसों में भी अनौचित्य की प्रवृत्ति होने पर तद्‌गत रसाभास सम्भावित

है। गुर्वादिगतगत क्रोध रौद्र में, अधमपात्रनिष्ठ शम शांत में, गुर्वादिगत हास हास्य में, ब्राह्मणवध विषयक उत्साह वीर में तथा उत्तम पात्रगत भय भयानक रस में अनौचित्य-प्रवर्तक होते हैं जिनके कारण क्रमशः रौद्राभास, शांताभास, हास्याभास, वीराभास और भयानकाभास आदि की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। विश्वनाथ ने उपर्युक्त सभी रसाभासों के उदाहरण देते हुए उनकी तर्कसंगति सिद्ध की है।[60] विवेचन के इसी क्रम में साहित्यदर्पणकार ने भावाभास का लक्षण 'भावाभासो लज्जादिके तु वेश्यादिविषये स्यात्' निर्धारित किया है जिसके अनुसार वेश्या आदि में लज्जा तथा निर्वेद भावों का वर्णन करने में भावाभास होता है भावशांति, भावोदय, भावसंधि तथा भावशबलता का स्वरूप इन शब्दों के सामान्य अर्थ से भी स्पष्ट हो जाता है। विश्वनाथ ने इन सबके पृथक्-पृथक् उदाहरण देकर इनका स्पष्टीकरण किया है।[61]

रसनिष्पत्ति और व्यंजनावृत्ति

रस और व्यंजना का सम्बन्ध

रसनिष्पत्ति का व्यंजनावृत्ति से अविच्छेद्य सम्बन्ध है अतः विश्वनाथ ने साहित्य-दर्पण के पंचम परिच्छेद में उसका विशद विवेचन किया है। उन्होंने व्यंजनावृत्ति की आवश्यकता और उपयोगिता का अनिवार्य महत्त्व स्वीकार करते हुए लिखा है कि जहाँ अभिधा, लक्षणा और तात्पर्यवृत्तियाँ अपने-अपने अर्थों का बोधन कराने के पश्चात् "शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराऽभावः' नियम से विश्रांत हो जाती हैं, वहाँ काव्य-वर्णित वस्तु, अलंकार तथा रसरूप व्यंग्यार्थ का बोध कराने के लिए व्यंजनावृत्ति की आवश्यकता होती है।[62] संकेतित अर्थ का बोध मात्र कराने के पश्चात् अभिधावृत्ति का उपराम हो जाता है अतः उसमें वस्तु, अलंकार तथा रस आदि व्यंग्यार्थों के बोधन की क्षमता नहीं होती। वैसे भी रस आदि काव्यार्थ संकेतित अर्थ के विषय भी नहीं हैं। अभिधा द्वारा विभाव आदि का अभिधान करना रस का प्रतिपादन नहीं होता क्योंकि विभाव आदि का रस से अभेद स्वीकार नहीं किया गया है। स्वशब्दवाच्यता तो स्वतः ही रसदोष है जिसे सभी रसध्वनिवादी आचार्यों ने स्वीकार किया है। लौकिक वाक्य में 'शृंगाररसोऽयम्' अर्थात् यह शृंगार रस है कथन ही रसप्रतीति का बाधक है क्योंकि रस स्वतः प्रकाशस्वरूप और आनंदमय माना जाता है। अतः अभिधावृत्ति से रस की प्रतीति किसी भी रूप में सम्भव नहीं है।

तात्पर्यवृत्ति का खण्डन

अभिहितान्वयवादी भाट्ट मीमांसकों द्वारा प्रतिपादित तात्पर्यवृत्ति भी व्यंग्य-स्वरूप रसबोध कराने में सक्षम नहीं मानी जा सकती क्योंकि वह पदार्थों के परस्पर अन्वय अथवा संसर्गमात्र का बोध कराने के पश्चात् परिक्षीण हो जाती है। भट्ट लोल्लट ने 'सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरोऽभिधाव्यापा:' जैसे तर्कसम्मत उदाहरण द्वारा अभिधा

वृत्ति से रसबोध का जो पक्ष प्रस्तुत किया है, वह भी ग्राह्य नहीं है। दशरूपालोककार धनिक 'तात्पर्याव्यतिरेकाच्च व्यंजकत्वस्य न ध्वनि' कारिका द्वारा जिस रूप में तात्पर्य-वृत्ति को व्यंग्यार्थ का बोधक मानते हुए ध्वनि का अस्तित्व ही ख़ण्डित करते हैं, वह भी आशंकामूलक है। 'यावत्कार्यप्रसारित्वात्तात्पर्यं न तुलाधृतम्' जैसी कारिकाओं द्वारा धनिक ने ध्वनि के निरस्तीकरण का प्रयास किया है। उन्होंने तो स्पष्ट कहा है कि संसार में जितने भी कार्य होते हैं उतना ही तात्पर्य का प्रसार होता है अतः उसे तराजू की भाँति नापा नहीं जा सकता। उनके मतानुसार तात्पर्यवृत्ति में इतना अधिक सामर्थ्य है कि वह पदार्थों के अन्वय का बोध कराने के पश्चात् व्यंग्यार्थ (ध्वनि) का भी बोध करती है जिसके सम्मुख व्यंजना की कुछ भी आवश्यकता अथवा उपयोगिता नहीं है।

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने भट्ट लोल्लट तथा धनिक के मतों का खण्डन किया है। उनका कथन है कि अभिधा और तात्पर्यवृत्ति की शक्ति सीमित है जिसके कारण वे व्यंग्यार्थ तक नहीं पहुंच सकतीं। अभिधा का कार्य संकेतित अर्थ को बोध कराना मात्र है तो तात्पर्यवृत्ति वाक्य में पदों का अन्वय बोध कराने के पश्चात् क्षीण हो जाती है। उनके उपरांत जिस वृत्ति द्वारा रस आदि व्यंग्यार्थों का बोध होता है, वह केवल व्यंजनावृत्ति ही हो सकती है।

भट्ट लोल्लट ने अभिधावृत्तिजन्य जिस दीर्घदीर्घतर व्यापार की बात कही है; उसी के आधार पर विश्वनाथ ने उनका खण्डन किया है। उनका कहना है कि जब दीर्घ-दीर्घतर व्यापार ही व्यंजना तक पहुँचाने की शक्ति रखता है तो फिर लक्षणा वृत्ति मानने की क्या आवश्यकता है? क्योंकि अभिधा व्यापार ही लक्षणा तथा लक्ष्यार्थ का भी बोध करा सकता है। यदि किसी प्रवासी ब्राह्मण को कोई ये सूचनाएँ दे कि 'हे ब्राह्मण, तुम्हारे पुत्र उत्पन्न हुआ है' तथा तुम्हारी कन्या (अविवाहिता पुत्री) गर्भिणी हो गई है तो पहली सूचना से उसके मुखमण्डल पर प्रसन्नता झलकेगी तथा दूसरी सूचना से वह खिन्न हो जायगा। उसके हर्ष और शोक उसकी मुखमुद्राओं से अनुमित होते हैं जो किसी भी रूप में वाच्य नहीं हैं। यही स्थिति रसव्यंग्य की भी है जो किसी भी दृष्टि से वाच्य नहीं कहे जा सकते।

अन्विताभिधानवादी प्रभाकर मिश्र आदि मीमांसक पौरुषेय (लौकिक) तथा अपौरुषेय (वैदिक) आदि सभी प्रकार के वाक्यों को कार्यपरक मानते हैं। उन्हें कार्य-परक न मानने पर वे वाक्य उन्मत्त व्यक्ति के वाक्यों के समान अग्राह्य और प्रलापमात्र हो सकते हैं। इन मीमांसकों का कथन है कि काव्यप्रयुक्त पदसमूहों अथवा शब्दों द्वारा जिस प्रतिशय आनंद की अनुभूति होती है, वह एक प्रकार से रसरूप कार्य का ही सुखा-स्वाद है। उस आस्वाद में भी 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' का ही नियम घटित होता है क्योंकि जिस तात्पर्य का बोध कराने के लिए शब्द प्रयुक्त होता है वही उस शब्द का अर्थ होता है। इस दृष्टि से काव्यों का कार्यपरक विधेय ही निरतिशय आनंद सिद्ध होता है।

विश्वनाथ ने उपर्युक्त मीमांसामत का खण्डन करते हुए प्रथम प्रश्न तो यही

उठाया है कि 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' में जिस 'तत्परत्व' का उल्लेख हुआ है, उसका अर्थ स्पष्ट नहीं है। यदि 'तदर्थत्व' का अर्थ तात्पर्यवृत्ति से बोधकतत्व माना जाए तो वह व्यंग्य पक्ष में भी घटित हो सकता है क्योंकि व्यंग्य में भी तदर्थत्व का अपाय (नाश) नहीं होता। तात्पर्यवादी भी यह स्वीकार करते हैं कि स्वीकृत तात्पर्यवृत्ति से भिन्न किसी अन्य वृत्ति से व्यंग्यार्थ का बोध होता है जो निश्चित रूप से चतुर्थ प्रकार की तात्पर्यवृत्ति ही है। विश्वनाथ के मतानुसार उस चतुर्थ वृत्ति को तात्पर्यवृत्ति कहने की अपेक्षा व्यंजनावृत्ति कहना अधिक समुचित और युक्तिसंगत है।

अभिहितान्वयवादी आचार्य विभावादि के संसर्ग तथा रसादि का प्रकाशन युगपद रूप से स्वीकार करते हैं। जिसमें तात्पर्यवृत्ति निमित्त होती है। विश्वनाथ इस धारणा से सहमत नहीं हैं। उनके मतानुसार विभावादि के संसर्गरूप रस की कारणता तथा विभावादि ज्ञान रूप रस कार्य एक साथ नहीं हो सकते। कारण के अनन्तर कार्य होता है जिनका एक वृत्ति से एक साथ ज्ञान नहीं हो सकता। भरत मुनि ने रसनिष्पत्तिसूत्र में विभाव आदि कारणों से रसनिष्पत्ति मानी है जिससे कार्यकारणवाद सिद्ध होता है। उनके पौर्वापर्यक्रम के कारण भी तात्पर्यवृत्ति से व्यंग्यार्थबोध मानना युक्तिसंगत नहीं है। लक्षणा से भी व्यंग्यार्थबोध की सम्भावना नहीं बनती क्योंकि उसकी शब्द शक्ति 'गंगायां घोषः' जैसे स्थलों में तटादि रूप अर्थ का बोध कराने के पश्चात् विरत हो जाती है। उसके आगे शीतलता और पावनता का बोध कराने का सामर्थ्य तो केवल व्यंजनाशक्ति का ही चमत्कार है।

वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में भिन्नता

विश्वनाथ ने वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ का भेद प्रतिपादित करते हुए लिखा है कि बोद्धा, स्वरूप, संख्या, निमित्त, कार्य, प्रतीति, काल, आश्रय और विषय आदि की भिन्नता के कारण व्यंग्यार्थ और वाच्यार्थ में अंतर होता है।[63] शब्दों का वाच्यार्थ तो पद तथा पदार्थमात्र का ज्ञान रखने वाले वैयाकरण भी जानते हैं किन्तु व्यंग्यार्थ की प्रतीति तो केवल सहृदय भावकों को ही होती है। काव्यशास्त्र में 'भ्रम धार्मिक' जैसे उदाहरण द्वारा विधिस्वरूप वाच्यार्थ को निषेधरूप व्यंग्यार्थ में परिवर्तित करने तथा 'निःशेषच्युतचंदन' छंद द्वारा निषेधरूप वाच्यार्थ की विधिपरक व्यंग्यार्थता सिद्ध करने के अनेक सुप्रसिद्ध प्रमाण पुरस्कृत हुए हैं। इनका अर्थभेद केवल बोद्धा की पृथकता के कारण ही सुसम्भव हैं। 'गतोऽस्तमर्कः' में भी वाच्यार्थ केवल एक है किन्तु उसकी व्यंग्यार्थप्रतीति श्रोताओं की भिन्नता के कारण पृथक्-पृथक् होती है। उस प्रतीति में संख्याभेद की कारणता पूर्ण रूप से विद्यमान रहती है।

निमित्त भेद के कारण जिस रूप में वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ की पृथकता सिद्ध होती है उसके अनेक प्रमाण हमें अपने व्यावहारिक जीवन में भी मिलते हैं। वाच्यार्थ की प्रतीति तो शब्द के उच्चारण मात्र से हो सकती है किन्तु व्यंग्यार्थ प्रतीति के लिए विशुद्ध निर्मल प्रतिभा की आवश्यकता है। वस्तुमात्र का ज्ञान कराना वाच्यार्थ का प्रयो-

जन है किन्तु उसके व्यंग्यार्थ का चमत्कार तो केवल व्यंजनावृत्ति ही प्रदर्शित कर सकती है। इन दोनों प्रकार के अर्थों में देश और काल का भेद भी अपेक्षणीय है। काल की दृष्टि से दोनों में पौर्वापर्यक्रम रहता है। आश्रय भेद के अनुसार वाच्यार्थ की प्रतीति शब्दाश्रित मात्र होती है जबकि व्यंग्यार्थ किसी शब्द, शब्दांश, अर्थ, वर्ण तथा संघटनाश्रित भी हो सकता है। विषय भेद की दृष्टि से भी उनका अंतर प्रमाणित होता है। सच तो यह है कि व्यंजनावृत्ति के बिना रसादि का बोध किसी भी रूप में सम्भव नहीं है। विश्वनाथ ने 'प्रागसत्त्वात्' प्रमाण द्वारा उसकी सिद्धि की है।[64] उनका कथन है कि शब्द व्यापार से पूर्व रसादि की सत्ता नहीं होती अतः अभिधा और लक्षणा से उनका बोध अशक्य है। अभिधा और लक्षणा से तो पूर्वविद्यमान वस्तु (गंगा और उसका तट) का ज्ञान होता है। जबकि रसन (आस्वादन) व्यापार से भिन्न रस आदि पद का प्रतिपाद्य कोई भी पदार्थ प्रमाणसिद्ध नहीं है जिसका बोधन अभिधा तथा लक्षणावृत्ति द्वारा किया जा सके। काव्यप्रकाशकार मम्मट ने भी यही बात प्रकारांतर से कही है जिसका विवेचन उनके व्यंजनावृत्ति विषयक विवेचन के अंतर्गत किया जा चुका है। 'न्यायकुसुमांजलि' में आचार्य उदयन ने 'गंगायां घोषः' इत्यादि स्थलों में श्रुतपदों के अन्वय से आकांक्षारहित वाक्य अन्य वाच्यार्थ से भिन्न पदार्थ की अपेक्षा नहीं करता[65] द्वारा जिस रूप में लक्षणा सिद्धि की है उसे विश्वनाथ अनवस्था दोष का ही सूचक मानते हैं क्योंकि गंगातटवर्ती शैत्य और पावनत्व को लक्ष्य मानने पर किसी अन्य प्रयोजन की कल्पना करनी होगी जिसका क्रम अनवस्था प्रसक्ति का हेतु हो जाएगा। विश्वनाथ ने प्रयोजन विशिष्ट पदार्थ में लक्षणा विषयक सिद्धांत का खण्डन किया है। शैत्य और पावनत्व आदि प्रयोजनपरक तट में ही लक्षणा नहीं हो सकती क्योंकि विषय और प्रयोजन का एक साथ ज्ञान होना सम्भव नहीं है। कारणभूत तट तथा फलभूत शैत्य और पावनत्व का पौर्वापर्यक्रम सभी स्थितियों में स्वीकार्य ही समझा जाना चाहिए। काव्यप्रकाश में यही बात निम्नलिखित कारिका में प्रतिपादित की गई है—

प्रयोजनेन सहितं लक्षणीयं न युज्यते।
ज्ञानस्य विषयो ह्यन्यः फलमन्यदुदाहृतम्॥

रस अनुमानगम्य नहीं है

व्यक्तिविवेककार महिम भट्ट ने अनुमिति सिद्धांत का प्रतिपादन करते हुए रसादि पदार्थों का बोध अनुमान द्वारा सिद्ध किया है जिसके लिए व्यंजनावृत्ति अपेक्षणीय नहीं है। विश्वनाथ उनके अभिमत से सहमत नहीं हैं। उनका कथन है कि अनुमान अर्थात् व्याप्ति विशिष्ट पक्षधर्मताज्ञान (अनुमिति) से रसादिरूप व्यंग्यार्थों का ज्ञान नहीं हो सकता क्योंकि अनुमान में सत् हेतु वांछनीय है जबकि व्यंग्यार्थ को अनुमेय सिद्ध करने में जो हेतु दिये जाते हैं वे सब हेत्वाभास मात्र हैं।[66] हेतुओं के असत् होने के कारण ही रसादि की प्रतीति को स्मृति भी नहीं कह सकते। महिम भट्ट ने रसादि की प्रतीति को जिस रूप मे अनुमान में अंतर्भूत कहा है, वह विश्वनाथ को मान्य नहीं है।[67] उनका प्रश्न

है कि क्या शब्द अथवा अभिनय में समर्पित विभाव आदि के ज्ञान से अनुमित राम आदि में स्थित राग आदि ज्ञान ही रस है अथवा राम आदि में स्थित राग आदि भावना द्वारा सामाजिकों (भावकों) से भाव्यमान (आस्वाद्यमान) स्वप्रकाशानंदस्वरूप चमत्कार ही रस कहा जा सकता है ? प्रथम पक्ष की मान्यता के विषय में विश्वनाथ का उनमे विशेष विरोध नहीं है यद्यपि वे उसमें अपनी ओर से यह बात अवश्य जोड़ देते हैं कि राम आदि के हृदय में स्थित अनुराग आदि का अनुमित ज्ञान रस नहीं होता। दूसरे पक्षमें व्याप्ति ग्रह सम्भव नहीं है अतः वहाँ हेत्वाभास होने के कारण अलौकिक चमत्कार रूप रस अनुमान-गम्य नहीं हो सकता। सीता और राम की पारस्परिक चेष्टाओं द्वारा उन आनुमानिक अनुराग रस नहीं होता क्योंकि रस का सम्बन्ध अनुमान से न होकर उस विभावन व्यापर से होता है जो सहृदयों के सात्त्विक अंतःकरण में विलक्षण चमत्कार उत्पन्न करने की क्षमता रखता है। वस्तुतः वासना रूप में सहृदयजन स्थित रत्यादि स्थायी भाव ही रस रूप में परिणत होते हैं जिन्हें किसी भी रूप में अनुमानाश्रित अथवा अनुमानगम्य नहीं कहा जा सकता। रस तो प्रत्यक्ष सिद्ध साक्षात्कारात्मक ज्ञान स्वरूप है जिसे अनुमेय कहना किसी भी रूप में उचित नहीं है।

महिम भट्ट ने विभाव, अनुभाव, सात्त्विक भाव तथा संचार भावों के अभिधान तथा अभिनय में व्याप्ति तथा पक्षधर्मिता द्वारा शृंगार आदि रसों का आविर्भाव सिद्ध किया है। उनका कथन है कि व्यंजनावादी आचार्य रसादि के अभिव्यक्ति पक्ष में जिस सामग्री को कारणस्वरूप मानते हैं वह अनुमिति-पक्ष में रस के अनुमापक रूप में स्वीकार की जा सकती है। इस विषय में विश्वनाथ का अभिमत है कि अनुमानजन्य ज्ञान आस्वाद्य नहीं हो सकता क्योंकि उसमें 'स्व प्रकाशमात्र विश्रांत सान्द्रानंदनिर्भरता' नहीं रहती। विश्वनाथ ने वस्तु और अलंकार रूप व्यंग्यार्थ को भी अनुमानग्राह्य नहीं माना है क्योंकि वाच्य से असम्बद्ध अर्थ की प्रतीति अनुमान द्वारा नहीं हो सकती। उन्होंने महिम भट्ट की भ्रम धार्मिक[68] छंद विषयक व्याख्या को भी अग्राह्य सिद्ध किया है जिसमें अनुमान में ही अर्थ का पर्यवसान माना गया है। विश्वनाथ का कथन है कि महिम भट्ट ने जिस हेतु द्वारा उपर्युक्त छंद में अनुमान सिद्धि की है वह अनैकांतिक अर्थात् व्यभिचार युक्त है जिसे प्रसिद्ध हेत्वाभास भी कहा जा सकता है। वे निःशेषच्युतचंदनं[69] छंद की उस व्याख्या से भी असहमत हैं जिसमें महिम भट्ट ने कामुक द्वारा दूती का उपभोग अनुमित माना है। उनका कथन है कि महिम भट्ट ने दूती को 'पक्ष' तथा चंदनच्युति आदि को 'साध्य' मानते हुए जिस अनुमान की सिद्धि करनी चाही है, उससे हमारा विरोध नहीं है क्योंकि स्नान आदि से भी चन्दनच्युति संभव है किन्तु सहृदय पक्ष में वैसा अभिप्राय (अर्थात् संभोग के कारण ही दूती की वैसी स्थिति हुई है) अथवा ज्ञान न होने के स्थल में अनैकांतिक दोष हो जाता है क्योंकि शब्द की अनुपस्थिति के कारण व्याप्ति का ऐसा अनुसंधान नहीं हो पाता। इस प्रकार के कविप्रतिभाजात काव्यों का प्रामाण्य आवश्यक न होने से हेतु भी संदिग्धासिद्ध होता है अतः व्यंजनावादियों ने 'अधम' पदयुक्त चंदन च्युति आदि पदार्थों को ही व्यंजक अर्थ का प्रतिपादक माना है।

व्यंजनावृत्ति और रसनावृत्ति एकरूप हैं

रसवादी आचार्य विश्वनाथ व्यंजनावृत्ति के समर्थक हैं। उन्होंने अर्थापत्ति प्रमाण द्वारा व्यंग्यार्थ बोध का सिद्धांत भी खण्डित किया है। उनका कथन है कि इस प्रकार की मान्यता में भी हेत्वाभास होता है। नैयायिकों के मतानुसार अनुमान की व्यतिरेक व्याप्ति में अर्थापत्ति का अंतर्भाव सम्भव है जिसकी पहुँच व्यंग्यार्थ पर्यन्त होती है। विश्वनाथ इस मान्यता में विश्वास नहीं करते। उनका तो स्पष्ट कथन है कि व्यंग्य अर्थ अर्थापत्ति-गम्य नहीं होता क्योंकि वहां व्यभिचार तथा संदेह आदि दोषों के कारण व्याप्तिग्रह नहीं हो सकता। जो विचारक वस्त्रविक्रय आदि के समय तर्जनीतोलन (अंगुली उठाना) आदि क्रियाओं द्वारा दस संख्यादिवत् सूचनबुद्धि से रसबोध की बातें करते हैं वे भ्रमग्रस्त हैं क्योंकि वैसी सूचनबुद्धि भी लौकिक संकेत आदि की अपेक्षा रखती है। सूचनबुद्धि की उत्पत्ति संकेतज्ञान द्वारा सम्भव है जो एक प्रकार का अनुमान ही है। जब रस अनुमानगम्य ही नहीं है तो वह सूचनबुद्धि का विषय भी नहीं हो सकता।

कुछ विद्वान् 'संस्कारजन्यत्वाद्रसादिबुद्धि स्मृतिः' के अनुसार वासना नामक संस्कार से उत्पन्न होने के कारण रसादि के ज्ञान को स्मृतिरूप मानते हैं जिसे विश्वनाथ उचित नहीं समझते। उनका मत है कि प्रत्यभिज्ञा में व्यभिचरित होने के कारण वह भी हेत्वाभास है। प्रत्यभिज्ञा संस्कारजन्य होती है। जिसे स्मृतिमात्र नहीं कहा जा सकता। रसादिज्ञान को 'पक्ष', स्मृति को 'साध्य' तथा भावनासंज्ञक संस्कारजन्य ज्ञान को 'हेतु' मानते हुए जो विद्वान् 'सोऽयं देवदत्तः' इत्यादि प्रत्यभिज्ञा में रसबोध स्वीकार करते हैं उनमें अनैकांतिक व्यभिचार होने से हेत्वाभासमात्र है; अतः रस को स्मृतिरूप मानना भी युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। निष्कर्ष यह है कि विश्वनाथ के मतानुसार अभिधा, लक्षणा और तात्पर्यवृत्ति के अतिरिक्त व्यंजनावृत्ति का अस्तित्व सभी दृष्टियों से सिद्ध होता है। क्योंकि रसादि रूप व्यंग्यार्थ न तो अनुमान तथा अर्थापत्ति प्रमाणों से जाना जा सकता है और न अभिधा, लक्षणा तथा तात्पर्यवृत्ति ही उसे बोधित कर सकती है। उस व्यंग्यार्थ की प्रतीति में चतुर्थ वृत्ति की आवश्यकता वांछनीय है जो केवल व्यंजनावृत्ति ही हो सकती है। व्यंजना को ही आगे बढ़ाते हुए कुछ विद्वानों ने रसाभिव्यक्ति के लिए 'रसना' नाम की पंचम वृत्ति भी मानी है जिसका उल्लेख विश्वनाथ ने इस प्रकार किया है—

सा चेयं व्यंजना नाम वृत्तिरित्युच्यते बुधैः।
रस व्यक्तौ पुनर्वृत्तिः रसनाख्यां परे विदुः।[70]

काव्य के भेद

ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य काव्य

कविराज विश्वनाथ ने ध्वनिवादी दृष्टिकोण से काव्य के दो भेद माने हैं जिनके

नाम ध्वनि तथा गुणीभूतव्यंग्य हैं। 'वाच्यातिशयिनि व्यंग्ये ध्वनिस्तत्काव्यमुत्तमम्' कारिकांश द्वारा उन्होंने ध्वनि को उत्तम काव्य कहा है क्योंकि उसमें वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ अधिक चमत्कारी होता है।[71] ध्वनि के दो भेद हैं— 1. प्रविवक्षितवाच्य ध्वनि तथा 2. विवक्षितान्य परवाच्य ध्वनि। इन्हें क्रमशः लक्षणामूला तथा अभिधामूला ध्वनि भी कहा जाता है। अविवक्षितवाच्य के दो भेद हैं—1. अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य तथा 2. अत्यंततिरस्कृतवाच्य। जहाँ वाच्य अर्थ प्रकृत अन्वय में बाधित होकर दूसरे अर्थ में परिणत हो जाता है वहाँ अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि होती है। अत्यंततिस्कृतवाच्यध्वनि में शब्द अपना मुख्य अर्थ छोड़कर अन्य अर्थ में परिणत हो जाता है। प्राचीन आचार्यों के मतानुसार उनमें कहीं बाध्यता से प्रतीति होती है तो कहीं प्रतीति से बाधा आती है जिनके कारण प्रकरण आदि के विचार से उनका पर्यवसान विपरीत अर्थ में हो जाता है। इन दोनों स्थितियों में क्रमशः लक्षणामूला और अभिधामूला ध्वनि का अनुप्रवेश रहता है।[72] कुछ आचार्यों ने अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि को अजहत्स्वार्था एवं लक्षणा तथा अत्यंततिरस्कृतवाच्यध्वनि को जहत्स्वार्थलक्षणा भी माना है।

अभिधामूला ध्वनि के प्रकार : असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य

अभिधामूला ध्वनि के दो भेद हैं जिन्हें असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य तथा संलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि कहा जाता है। रस, भाव, भावाभास, रसाभास तथा भावशबलता आदि असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि के ही रूप-प्रकार हैं। कहने के लिए तो उसका एक ही भेद है किन्तु उसके अवांतर प्रकार इतने अधिक हैं कि उनकी गणना ही नहीं की जा सकती। इस ध्वनि में विभाव आदि की प्रतीति के कारण व्यंग्यप्रतीति रूप कार्य का क्रम अवश्य रहता है किन्तु उस क्रम में उतनी अधिक शीघ्रता होती है कि हमें उसका आभास नहीं हो पाता। विश्वनाथ ने उसे 'उत्पलपत्र शत व्यतिभेदवत्' कहता है जिसका यह अर्थ है कि जिस प्रकार सूई से एक साथ सौ कमल पत्रों का भेदन किया जाय तो उस भेदन में क्रम अवश्य होता है किन्तु शीघ्रता के कारण वह लक्षित नहीं हो पाता उसी प्रकार असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि में भी व्यंग्य प्रतीति का पौर्वापर्यक्रम होते हुए भी वह क्षिप्रतावश ज्ञात नहीं होता। इस ध्वनि के अनुसार काव्य का केवल एक ही भेद (ध्वनि काव्य) है किन्तु उसके साथ इतने अधिक अवांतर पक्ष जुड़े रहते हैं कि उन्हें असंख्य अथवा अगणनीय कह दिया जाता है। श्रृंगार रस के भेदोपभेदो तथा उपकरणों द्वारा इस कथन की प्रामाणिकता स्वतःसिद्ध है जिसके अनुसार अन्य रसों के भेद-प्रभेदों का भी विश्लेषण किया जा सकता है।

संलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि

संलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि अनुरणन रूपा होती है जिसका क्रम अलक्षित नहीं रहता। उसके प्रमुख तीन भेद माने गये हैं जिनके नाम शब्दशक्त्युद्भव, अर्थशक्त्युद्भव तथा शब्दार्थशक्त्युद्भव व्यंग्य हैं। इन तीनों ध्वनियों के अनुसार काव्य के भी तीन भेद होते

हैं। शब्दशक्तिमूलक अनुरणन दो प्रकार का होता है जिसे वस्तु ध्वनि तथा अलंकार ध्वनि के रूपों में विवेचित किया गया है। अलंकार शब्द का पृथक् ग्रहण होने के कारण वस्तुपद अलंकार विहीन वस्तुमात्र का बोधक होता है। विश्वनाथ ने वस्तु व्यंग्यध्वनि तथा अलंकार व्यंग्यध्वनि के पृथक्-पृथक् उदाहरण देते हुए उनका अंतर स्पष्ट किया है। उन्होंने बतलाया है कि यदि कहीं विरोधाभास आदि अलंकारों की अलंकार्य रूप में प्रतीति हो तो वहाँ पर 'ब्राह्मणश्रमणन्याय' से उन पर अलंकारता का ही उपचार किया जाना चाहिए क्योंकि मूल रूप में वह अलंकार ही होता है।

अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि को भी वस्तुरूपता तथा अलंकाररूपता की दृष्टियों से विवेचित किया गया है। उसके स्वत:सम्भवी और कवि प्रौढ़ोक्तिसिद्ध नामक दो प्रभेद माने जाते हैं। स्वत:सम्भवी ध्वनि औचित्य से बाहर भी हो सकती है जब कि कवि प्रौढ़ोक्तिसिद्ध ध्वनि की औचित्य से सिद्धि नहीं हो सकती। इन दोनों के अतिरिक्त कवि निबद्धवक्तृ प्रौढ़ोक्तिसिद्ध नामक उसका एक तृतीय प्रकार भी है। इन सब को वस्तुध्वनि तथा अलंकारध्वनि से संयुक्त करने पर अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के बारह भेद हो जाते हैं। शब्दार्थशक्त्युद्भव ध्वनि का केवल एक भेद होता है। लक्षणामूला ध्वनि (अविवक्षितवाच्य) के दो भेदों का उल्लेख किया ही जा चुका है जिनमें विवक्षितान्यपर-वाच्य के दो भेद तथा उनके तीन उपभेद जोड़ने से ध्वनि के कुल अठारह भेद हो जाते हैं। उभयशक्तिमूला ध्वनि केवल वाक्य में होती है जबकि उससे भिन्न ध्वनियाँ पद तथा वाक्य दोनों में रहती हैं। विश्वनाथ ने पूर्व विवेचित ध्वनियों के साथ पद और वाक्यों का संयोजन करते हुए जो ध्वनि विस्तार किया है, वह आचार्य आनंदवर्धन तथा मम्मट की मान्यताओं के अनुरूप है। सभी ध्वनियों के पृथक्-पृथक् उदाहरण देते हुए उन्होंने जिस सुबोधता और स्पष्टता से उनकी व्याख्या की है, वह अत्यंत हृदयग्राह्य और युक्तिसंगत है। अर्थशक्त्युद्भाव ध्वनि प्रबंध काव्यों में भी प्रयुक्त होती है जिसके उदाहरणार्थ स्वरूप महाभारत का 'गृधगोमायु संवाद' प्रस्तुत किया जा सकता है। विश्वनाथ ने पदांश, वर्ण, रचना तथा प्रबंध आदि में भी असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि का विवेचन किया है। पदांश के अंतर्गत प्रकृति, प्रत्यय, उपसर्ग, निपात और वचन आदि आते हैं। विश्वनाथ ने वर्ण और रचना का व्यंजकत्व साहित्यदर्पण के अष्टम् और नवम परिच्छेद में विवेचित किया है। उन्होंने प्रबंध काव्य के अंतर्गत महाभारत और रामायण आदि की गणना करते हुए उनमें क्रमश: शांत और करुण रस की व्यंजना सिद्ध की है। मालतीमाधव और रत्नावली में शृंगार रस व्यंग्य होकर प्रस्तुत हुआ है। इसी प्रकार अन्य महाकाव्यों के अनुशीलन द्वारा उनका भी रस व्यंग्य हृदयंगम किया जा सकता है। विश्वनाथ का ध्वनि-विवेचन अत्यंत विशद और व्यापक है। उन्होंने मुख्यत: ध्वनि के इक्यावन भेद माने हैं जो तीन प्रकार के संकरों तथा एक प्रकार की संसृष्टि से बढ़ते-बढ़ते पाँच हजार तीन सौ पचपन की संख्या तक पहुँच गये हैं। इसका प्रमाण अग्रलिखित कारिकाओं में निरूपित हुआ है—

पदांशवर्णरचना प्रबंधेष्व स्फुटक्रमः।
तदेवमेक पंचाशद्भेदास्तस्य ध्वनेर्मताः॥
संकरेण त्रिरुपेण संसृष्ट्या चैक रूपया।
बेदखाग्नि शरा (5304) शुद्धैरिषुबाणाग्नि शायकाः (5355)॥[73]

गुणीभूतव्यंग्य के भेद

गुणीभूतव्यंग्य काव्य का दूसरा प्रकार है जिसमें व्यंग्य अर्थ वाच्य से उत्तम नहीं होता। उसके आठ भेद माने गये हैं जिनके नाम इतरांग, काक्वाक्षिप्त, वाच्यसिद्ध्यंग, संदिग्धप्राधान्य, तुल्यप्राधान्य, अस्फुट, अगूढ़ और असुन्दर व्यंग्य हैं। इन सभी गुणीभूत-व्यंग्यों का विवेचन आनंदवर्धन तथा मम्मट के काव्यशास्त्रीय चिंतन के अंतर्गत किया जा चुका है अतः इनका पुनर्कथन पिष्टपेषण मात्र है। इस प्रसंग में विश्वनाथ ने अपने सगोत्र कवि पण्डित श्री चण्डीदास की मान्यता के समर्थन में जो कुछ लिखा है, वह उल्लेखनीय है। क्योंकि उसके द्वारा विश्वनाथ के काव्यार्थ विषयक विचारों का अनुमान लगाया जा सकता है—

"वाक्या (काव्या) र्थस्थाखण्ड बुद्धिवेद्यतया तन्मयीभावेनास्वाददशायाँ गुण-प्रधानभावावभासस्तावन्नानुभूयते, कालांतरे तु प्रकरणादिपर्यालोचनया भवन्नप्यौ न काव्यव्यपदेशं व्याहृंतुमीशः, तस्यास्वाद मात्रायन्तत्वात्।"[74]

अर्थात् काव्य का विभाव आदि अर्थ एकाग्रबुद्धि से ज्ञेय होता है। तन्मयी भाव से उसके आस्वादन की अवस्था में उसके अंगांगी भाव की प्रतीति नहीं होती। आस्वाद के अनंतर प्रकरण आदि की पर्यालोचना से अंग और अंगी की प्रतीति होने पर भी वह प्रतीति रसादि का व्यवहार का निवारण नहीं कर सकती क्योंकि काव्यव्यवहार आस्वाद-मात्र के अधीन होता है।

चित्रकाव्य की स्थिति

काव्य का तीसरा भेद चित्रकाव्य है जिसके प्रति अभिशंसा का भाव न होने के कारण रसध्वनिवादी आचार्यों ने उसे अधम श्रेणी प्रदान की है। काव्य के प्रति रसपरक दृष्टिकोण रखते हुए विश्वनाथ ने भी उसका उल्लेख मात्र ही किया है। मम्मट ने उसे 'शब्द-चित्रं वाच्यचित्रमव्यंग्यंत्ववरं स्मृतम्' कारिकांश द्वारा अवर श्रेणी में रखा था और शब्द चित्र तथा वाच्यचित्र नाम से उसके दो भेद किए थे। विश्वनाथ का कहना है कि काव्य-लक्षण में व्यंग्य का अनिवार्य सन्निवेश रहने के कारण चित्रकाव्य को किसी भी प्रकार की काव्य श्रेणी प्रदान करना उचित नहीं है क्योंकि वह मूलतः अव्यंग्य रूप ही होता है। यदि अव्यंग्य का अर्थ ईषत् व्यंग्य किया जाए तो प्रश्न होता है कि ईषत् व्यंग्य क्या है? आस्वाद्यता व्यंग्य का लक्षण धर्म है और ईषत् व्यंग्य में भी उसका समावेश संभव है। व्यंग्य की प्रधानता तथा अप्रधानता की दृष्टि से ही काव्य को ध्वनि तथा गुणीभूतव्यंग्य जैसे द्विविध प्रकारों में विभक्त किया गया है। उस स्थिति में ईषत् व्यंग्य काव्य का अंत-

भाव गुणीभूत व्यंग्य में स्वतः ही हो जाता है। यदि चित्रकाव्य की अव्यंग्यता का अर्थ अनास्वाद्य व्यंग्य किया जाए तो वह काम की किसी भी श्रेणी में नहीं आता और उसकी स्थिति अधम काव्य से भी भिन्न हो जाती है। वस्तुतः आस्वाद्यता काव्य के लिए परम वांछनीय है जिसके कारण आनंदवर्धन ने भी काव्य के मुख्यतः दो ही प्रकार माने थे। उनका तो स्पष्ट अभिमत है कि यदि प्रधान और गौण भाव से व्यंग्य का अभिप्राय समझा जाय तो ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य से पृथक् अन्य कोई काव्य भेद नहीं हो सकता। हाँ, इनके अतिरिक्त किसी अन्य काव्य की अवधारणा के लिए किसी का विशेष आग्रह हो तो उसे 'चित्र काव्य' मानने में कोई आपत्ति नहीं है। आनंदवर्धन के ध्वन्यालोक की निम्न-लिखित कारिका में यही विचार व्यंजित हुआ है—

प्रधान गुणभावाभ्यां व्यंग्यस्यैवं व्यवस्थिते।
उभे काव्ये ततोऽन्यद्यतच्चित्रमभिधीयते ॥

दृश्यकाव्य के भेद-प्रभेद

नाटक : स्वरूप, विवेचन तथा तत्वमीमांसा

व्यंग्यार्थ की प्रधानता के आधार पर काव्य को ध्वनि तथा गुणीभूतव्यंग्य संज्ञक द्विविध प्रकारों में विभक्त करने के पश्चात् विश्वनाथ ने दृश्य तथा श्रव्य के रूप में भी उसका विभाजन किया है। दृश्य काव्य अभिनेय की दृष्टि से रूपक भी कहलाता है क्योंकि उसके नट में राम आदि अनुकार्यों के स्वरूप का आरोप किया जाता है। उसमें राम और युधिष्ठिर आदि की अवस्थाओं का अनुकरण 'अभिनय' कहलाता है जो आंगिक, वाचिक, आहार्य तथा सात्त्विक रूपों में व्यक्त होता है। रूपक के दस और उपरूपक के अठारह भेद किए गए हैं। उनमें कुछ विशेष लक्षणों को छोड़कर अवशिष्ट लक्षण नाटक के समान-धर्मी होते हैं। नाटक ख्यातवृत्त, पंचसंधिसमन्वित तथा नायक के विलास और वैभव आदि विशेष गुणों से युक्त होता है। उसमें पाँच से लेकर दस अंक हो सकते हैं। उसका नायक प्रख्यातवंश, राजर्षि, धीरोदात्त, प्रतापी और दिव्यादिव्य गुणयुक्त व्यक्ति होता है जिसका चरित्र शृंगार अथवा वीर रस को अंगी बनाकर विकसित किया जाता है। हास्य और अद्भुत आदि रस उसके अंगरूप में रहते हैं। उसके अंक गोपुच्छ के अग्रभाग के समान छोटे-बड़े हो सकते हैं। सामान्यतया चार अथवा पाँच पात्र उसके कार्य में नियोजित रहते हैं। उसके कुछ कार्य मुखसंधि में तथा प्रतिमुखसंधि में समाप्त हो जाते हैं। उसकी निर्वहण संधि में यथासम्भव अद्भुत रस का समायोजन वांछनीय है। उसके नायक का चरित्र 'प्रत्यक्ष तथा रस और भाव उज्ज्वल' होने चाहिए। जहाँ तक सम्भव हो उसमें समास योजना संक्षिप्त तथा उसके अर्थ अगूढ होने आवश्यक हैं। दूराह्वान, वध, युद्ध, राज्यदेशादि विप्लव, विवाह, भोजन, शाप, मलत्याग, मरण, रतिक्रीडा, दंतक्षत, नख-च्छेद, शयन, अधरपान, नगरावरोध तथा व्रीडापरक दृश्य उसके लिए वर्जनीय हैं। अंकों के साथ-साथ उसमें गर्भांकों का भी समायोजन किया जाता है। पूर्वरंग, सभापूजा, कवि

तथा उसकी वस्तु का परिचय उसके आमुख के साथ जुड़े रहते हैं। मंगलाचरण अथवा नांदीपाठ भी उसके लिए अपेक्षणीय हैं। यदि सूत्रधार उसके पूर्वरंग का विधान करता है तो स्थापक उसके काव्य का आस्थापन करता है। वह आस्थापन, दिव्य, अदिव्य तथा दिव्यादिव्य रूप में भी हो सकता है। सामान्यतः उसमें भारती वृत्ति का आश्रय लिया जाता है जो संस्कृत भाषा प्रधान होती है। प्ररोचना, वीथी, प्रहसन और आमुख भारती वृत्ति के अंग हैं जिनका उद्देश्य श्रोताओं का ध्यानाकर्षण होना चाहिए। उद्घात्यक, कथोद्घात, प्रयोगातिशय प्रवर्तक और अवगलित नामक चार भेदों में प्रस्तावना विभक्त की गई है।

नाटक की कथावस्तु के आधिकारिक तथा प्रासंगिक संज्ञक दो भेद हैं। उसके मुख्य फल के अधिकारी (नायक) से सम्बन्धित कथावस्तु आधिकारिक तथा उसके उपकरण निमित्त प्रयुक्त वस्तु प्रासंगिक कहलाती है। रामायण में राम की कथा आधिकारिक तथा सुग्रीव की कथा प्रासंगिक वस्तु है। नाटक में पताका स्थानक की योजना भी की जाती है। जहाँ एक विषय की चिंता करने पर दूसरे प्रकार का विषय आगंतुक रूप से उपस्थित होता है, उसे 'पताकोस्थान' कहते हैं। पताकोस्थान के अनेक प्रकार हैं जिनका प्रयोग करते समय नाटककार को पूरी सावधानी रखनी पड़ती है। नाटक की विस्तृत कथा अर्थोपक्षेकों द्वारा सूचित की जाती है। अर्थोपक्षेक पाँच प्रकार के होते हैं जिनके नाम विष्कम्भक, प्रवेशक, चूलिका, अंकावतार और अंकमुख हैं। नाटक में बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य नामक पाँच अर्थ प्रकृतियाँ होती हैं जिन्हें 'प्रयोजन-सिद्धि के कारण' भी कहा जाता है। इनकी विधिपूर्वक योजना करने से कथावस्तु में कौशल तथा तारतम्य आता है। नाटककार को चाहिए कि वह कथावस्तु का बीज सूक्ष्म रूप से अंकुरित करे तथा उसे शनैः-शनैः विस्तार देता चले। नाटक का व्यापक और प्रासंगिक चरित्र 'पताका' में निहित होता है जिसका फलभोक्ता 'पताका नायक' कहलाता है। रामायण में सुग्रीव, वेणीसंहार में भीम तथा अभिज्ञान-शाकुंतल में विदूषक पताका नायक हैं जिनका फल अधिकारी नायक से भिन्न नहीं होता अपितु गर्भ अथवा विमर्श संधि में उसका निर्वाह होता है। सुग्रीव की राज्य प्राप्ति इसका उदाहरण है। भरत मुनि का कथन है कि पताका गर्भ अथवा विमर्श संधि के पूर्व समाप्त हो जानी चाहिए।

कथावस्तु की सिद्धि के लिए जो उपाय संग्रह किया जाता है। उसे 'कार्य' कहते है। कार्य की पाँच अवस्थाएँ हैं जिनके नाम प्रारम्भ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम हैं। इन पाँचों अवस्थाओं के सम्बन्ध से इतिवृत्त के पाँचों भाग यथाक्रम पाँचों संधियों से जुड़े रहते हैं। एक प्रयोजन से अन्वित कथांशों के अवांतर सम्बन्ध को संधि कहते हैं। नाटक प्रयुक्त संधियाँ पाँच प्रकार की हैं जिनके नाम मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहरण (उपसंहार) संधि हैं। सभी संधियों के अनेक विध पृथक्-पृथक् अंग हैं जिनके नाटकीय प्रयोग का सोदाहरण विवेचन साहित्यदर्पण के षष्ठ परिच्छेद में किया गया है। नाट्यशास्त्र के आचार्यों में संधियों के अंतर्गत चौसठ प्रकार के अंगों का विवेचन किया है जिनका सन्निवेश करते समय रस की अनुकूलता का पूरा ध्यान रखना चाहिए क्योंकि नाटक में रसनिष्पत्ति का ही प्राधान्य होता है।

विश्वनाथ ने दृश्यकाव्य विवेचन के अंतर्गत वृत्तियों के समायोजन का भी निरूपण किया है। श्रृंगार में कैशिकी, वीर, रौद्र और वीभत्स में सान्वती और आरभटी वृत्ति उपयुक्त मानी जाती है। भारती वृत्ति का प्रयोग सभी रसों में उचित और उपयुक्त होता है। ये चारों वृत्तियाँ सम्पूर्ण नाटक की आधारभूत होने के कारण नाट्य की मातृकाएँ भी कहलाती हैं। इनका सम्बन्ध नाटक के नायक-नायिका आदि के व्यापार-विशेष से रहता है। कैशिकी वृत्ति के चार अंग हैं, जिनके नाम नर्म, नर्मस्फूर्ज, नर्मस्फोट और नर्मगर्भ हैं। नर्म का अर्थ निपुणतायुक्त क्रीड़ा है जिसके द्वारा अभीष्ट व्यक्ति का मन वश में कर लिया जाता है। सात्वती वृत्ति सत्त्व, शौर्य, त्याग और आर्जवयुक्त होती है। उसमें सहर्ष-क्षुद्रश्रृंगार तथा शोकविहीन अद्भुत रस प्रयुक्त होता है। उत्थापक, मांघात्य, संलाप और परिवर्तक,नामक उसके चार प्रकार माने गए हैं। आरभटी वृत्ति वध और बंधन आदि से युक्त होती है। उसमें माया, इन्द्रजाल, संग्राम,और क्रोधोद्भ्रांत चेष्टाएँ प्रयुक्त की जाती हैं। वस्तूत्थापन, संफेट, संक्षिप्ति और अवपातन नामक उसके चार भेद हैं। भारती वृत्ति तो सर्वरस समन्वित और सर्वरसानुप्रवेश्य होती है। दृश्यकाव्य में उसका वही स्थान है जो श्रव्य काव्य में वैदर्भी रीति का होता है।

विश्वनाथ ने नाट्योक्तियों का भी निरूपण किया है। स्वगत, प्रकाश, अपवारित, जनांतिक और आकाशभाषित संज्ञक उसके प्रमुख प्रकार हैं। नाटक के वेश्या पात्रों के नामों के आगे 'दत्ता', 'सिद्धा' तथा 'सेना' आदि पद जोड़ने की परम्परा प्रचलित रही है। शेष पात्रों के नामकरण के विषय में भी भिन्न-भिन्न नियम निर्धारित हैं। नाटक का नामकरण प्रतिपाद्य अर्थ के अनुसार किया जाना चाहिए। उसमें संबोधन-उक्तियों के लिए भी पृथक्-पृथक् निर्देश दिए गए हैं। राजा को 'स्वामी', 'देव' और 'आर्य' पदों से सम्बोधित किया जाता है रानी आर्या, भर्तृदारिका आदि पदों से अभिहित की जाती है। अन्य पात्रों के पारस्परिक सम्बोधनों के विषय में भिन्न-भिन्न शब्द प्रयुक्त किए जाते हैं जिनका परिज्ञान दृश्यकाव्यों के अध्ययन और अनुशीलन द्वारा सहज संभव है।

नाटक में भाषा प्रयोग के विषय में भी भिन्न-भिन्न नियम हैं। उत्तम, मध्यम तथा शिक्षित पुरुष पात्रों की भाषा संस्कृत होनी चाहिए। इन्हीं श्रेणियों की स्त्रियाँ शौरसेनी भाषा का प्रयोग कर सकती हैं। स्त्रियों के गान-प्रबन्धों में महाराष्ट्री प्राकृत का प्रयोग किया जाता है। राजाओं के अंतःपुर में मागधी, चेटों, राजपुत्रों और श्रेष्ठिजनों के बीच अर्ध-मागधी तथा विदूषक आदि द्वारा प्राच्या (गौडी) भाषा के प्रयोग का विधान किया गया है। विश्वनाथ ने आवंती, वैदर्भी, शाबरी, बाह्लीक्, आभीरी, द्राविडी, चांडाली, पैशाची तथा अन्यान्य प्रकार की भाषाओं का उल्लेख करते हुए उनके प्रयोग विषयक अनेक नियम तथा उनकी पात्रोचित योजनाओं का भी निरूपण किया है जिससे पता चलता है कि उस समय नाट्य प्रयोग में भाषा प्रयोग का महत्त्व कितना अधिक माना जाता था।

नाटक रचना में छत्तीस लक्षण, तैंतीस नाटयालंकार, तेरह वीथ्यंग, दश लास्यांग आदि का भी विचार किया जाता है जिनका प्रयोग करते समय रस विशेष की आव-

श्यकता और उपयोगिता का भी ध्यान रखना चाहिए। इस प्रकार की विषय विवेचना का सूत्रपात भरत मुनि के 'नाट्यशास्त्र' से किया गया था जो क्रमशः विकसित होते-होते विश्वनाथ तक पहुँचा और तदनुसार उसका साहित्यदर्पण में निरूपण किया गया। वस्तुतः मुनिप्रणीत 'नाट्यशास्त्र' ही इस प्रकार की सामग्री का उपजीव्य ग्रंथ है जिसे नाट्य शास्त्र का 'विश्वकोश' कहा जा सकता है। धनंजय के 'दशरूपक' तथा रामचन्द्र गुणचंद्र के 'नाट्यदर्पण' में भी यह परम्परा सम्यक् रूप से विकसित हुई है।

रूपक के नाटकेतर भेद-प्रभेद

दृश्य काव्य के नाटकेतर भेदों की विवेचना के पूर्व विश्वनाथ ने 'महानाटक' का उल्लेख किया है जो सब प्रकार के पताकास्थानकों से युक्त तथा दस अंकों वाला होता है। उसके अन्य लक्षण नाटक से मिलते-जुलते हैं। प्रकरण रूपक-रचना का दूसरा प्रकार है जिसमें कविकल्पित लौकिक चरित्र रहते हैं। उसका नायक धीर, प्रशांत, ब्राह्मण, मंत्री और वैश्य, अंगी रस शृंगार, नायिका कुलीन स्त्री अथवा वैश्या एवम् गौण पात्र विट, चेट तथा धूतकारक आदि होते हैं। मृच्छकटिक और मालतीमाधव की गणना प्रकरण के अंतर्गत की जाती है। जिनके नायक क्रमशः चारुदत्त और माधव जैसे पुरुष पात्र तथा नायिकाएँ वसंतसेना और मालती जैसी नारियाँ हैं।

'भाण' में अनेक प्रकार की अवस्थाओं वाला धूर्त चरित उसके एक ही अंक में वर्णित होता है जिसका नायक कोई निपुण पंडित विट अधिकांशतः आकाशभाषित के माध्यम से अपने तथा दूसरों के अनुभूत विषयों का प्रकाशन करता है। उसकी कथावस्तु कविकल्पित तथा वृत्ति भारती अथवा कैशिकी होती है। रसों में शृंगार अथवा वीर की प्रधानता तथा संधियों में मुख और निर्वहण का प्रामुख्य होता है। इसमें लास्य के दसों अंग निहित रहते हैं। 'लीलामधुकर' नामक रूपक भाण का सुप्रसिद्ध उदाहरण है। 'व्यायोग' में पुराण प्रसिद्ध विषयवस्तु, पुरुष पात्रों का बाहुल्य, नारी पात्रों की अल्पता, गर्भ और विमर्श संधि का अभाव, एक अंक, कैशिकी वृत्ति का राहित्य, राजर्षि, देवता, अथवा ख्यात वृत्त धीरोद्धत नायक तथा हास्य, शृंगार एवं शांत के अतिरिक्त अन्य रस रहते हैं। सौगन्धिकाहरण इसका उदाहरण है। 'समवकार' की कथावस्तु देवासुराश्रित और पुराण-प्रसिद्ध होती है जिसमें विमर्श के अतिरिक्त सभी संधियाँ रहती हैं। इसमें प्रायः तीन अंक, कैशिकी वृत्ति, वीर रस, गायत्री और उष्णीक् छन्द तथा त्रयोदश प्रकार के वीथ्यंग होते हैं। 'समवकीर्यन्ते बहवोऽर्था अस्मिन्निति समवकारः' के अनुसार इसमें अनेक प्रकार के विषय संबद्ध रहते हैं। समुद्रमंथन इसका सुप्रसिद्ध उदाहरण है। 'डिम' रौद्र रस प्रधान चार अंकों की रचना का नाम है जिसमें विष्कम्भक और प्रवेशक नहीं होते। इसमें माया, इंद्रजाल, संग्राम, क्रोधोद्भ्रांति आदि चेष्टाएँ तथा पुराण प्रसिद्ध कथानक रहता है। देवता, गंधर्व, यक्ष, राक्षस, महोरग (विशाल सर्प) भूत, प्रेत और पिशाच आदि उद्धत और दुर्विनीत प्राणी इसके नायक होते हैं। शांत, हास्य और शृंगार के अतिरिक्त अन्य कोई रस इसका अंगी हो सकता है। भरत मुनि ने 'त्रिपुरदाह' नामक

रचना को डिम के रूप में उदाहृत किया है।

'ईहामृग' चार अंकों का मिश्रवृत्त रूपक है जिसमें मुख, प्रतिमुख और निर्वहण संधियाँ होती हैं। इनके नायक और प्रतिनायक यथासंख्य नियम से रहित देवता और मनुष्य हो सकते हैं जिनकी प्रकृत्ति धीरोद्धत होती है। इसका प्रतिनायक गुप्त रूप से अनुचित कार्य करता है। इसमें कुल मिलाकर दस पताकानायक हो सकते हैं। जो दिव्यांगना के हरण की चेष्टा करने के कारण श्रृंगाराभास का प्रदर्शन करते हैं। चूँकि इसका नायक मृग के समान अलभ्य अथवा दुष्प्राप्य नायिका की ईहा (इच्छा) करता है अतः इसे ईहामृग कहा जाता है। कुसुमशेखरविजय इसका प्रसिद्ध उदाहरण है।

'अंक' अथवा 'उत्सृष्टिकांक' में केवल एक अंक होता है जिसके नायक साधारण पुरुष होते हैं। इसका स्थायी रस करुण है जिसमें बहुत-सी स्त्रियों का विलाप रहता है। इसके वस्तु विस्तार में कविकल्पना का प्रभूत मात्रा में योगदान माना जाता है। संधियों और वृत्तियों के प्रयोग में यह भाण का अनुगामी है। इसमें निर्वेदवचन तथा वाक् युद्ध का प्रयोग विशेष रूप से रहता है। 'शर्मिष्ठाययाति' अंक इसका उदाहरण है। 'वीथी' एक अंक की रूपक-रचना है जिसमें उत्तम, मध्यम अथवा अधम श्रेणी के नायक की कल्पना होती है। वह आकाशभाषितों द्वारा विचित्र प्रत्युक्ति का आश्रय लेकर श्रृंगार आदि रसों को सूचित करता है। इसमें मुख और निर्वहण संधियाँ तथा पाँचों अर्थ प्रकृतियाँ रहती हैं। श्रृंगार की अधिकता के कारण इसमें कैशिकी वृत्ति का प्राचुर्य होता है। नाट्यचार्यों ने इसमें तेरह अंगों की अनिवार्यता निर्दिष्ट की है। जो नाटक आदि अन्य रूपकों में भी रहती हैं। 'वीथी व नानारसानां चात्र माला-रूपतया स्थितत्वाद्वीथीयम्' के अनुसार वीथी में वृक्षों की श्रेणी (वीथी) के समान अनेक रसों की स्थिति मालातुल्य होती है। 'मालविका' रूपक वीथी का उदाहरण है।

विश्वनाथ ने प्रहसन का लक्षण निर्धारित करते हुए लिखा है कि 'जहाँ भाण के समान संधि और संध्यंगों और लास्यांगों का एक अंग से रचित कविकल्पित निदंनीय व्यक्तियों का चरित्र प्रदर्शित किया जाता है, वहाँ प्रहसन होता है।' इसमें आरनटी वृत्ति तथा विष्कम्भक और प्रवेशक नहीं होते। तपस्वी, संन्यासी और ब्राह्मण आदि पात्र इसके नायक होते हैं। यह हास्य रस प्रधान रचना है जिसमें वीथी के अंगों जैसी स्थिति नहीं रहती। शुद्ध, संकीर्ण और विकृत संज्ञक इसके तीन भेद हैं जिनके उदाहरण क्रमशः कंदर्यकेलि, धूर्तचरित्र तथा लटकमेलक आदि हैं। भरत मुनि का कथन है कि संकीर्ण प्रहसन में वेश्या, दास, नपुंसक, विट, धूर्त और व्यभिचारिणी स्त्रियों का समावेश होता है तो विकृत प्रहसन में नपुंसक, कंचुकी और तपस्वी जन नट, योद्धा और धूर्त जनों की वेशभूषा का अनुकरण करते हैं।

उपरूपक के प्रकार

उपरूपक के अठारह भेद हैं। जिनमें नाटिका प्रधान है। 'नाटिका' कविकल्पित चरित्र युक्त प्रचुर स्त्रियों वाली चार अंकों की रचना होती है, जिसमें धीर, ललित और

ख्यातवृत्त राजा नायक होता है। अंतःपुर से सम्बद्ध और संगीत अनुरागिणी कन्या इसकी नायिका होती है। उस कन्या में रानी के त्रास से शंकित रहने वाला नायक आसक्त रहता है। रानी का रूप प्रगलभा और ज्येष्ठा नायिका तुल्य होता है। नई राजकुमारी में आसक्त होने पर भी राजा ज्येष्ठा का वशवर्ती होता है। इसमें कैशिकी वृत्ति प्रयुक्त की जाती है। 'रत्नावली' और 'विद्धशालभंजिका' इसके प्रसिद्ध उदाहरण हैं। उपरूपक के अन्य भेदों में त्रोटक, गोष्ठी, सट्टक, नाट्यरासक, प्रस्थान, उल्लाप्य, काव्य, प्रेंखण, रासक, संलापक, श्रीगदित, शिल्पक, विलासिका, दुर्मल्लिका, प्रकरणी, हल्लीश और भाणिका हैं जिनका उल्लेखमात्र करना ही पर्याप्त है क्योंकि हमारे मूल विषय के साथ उनका प्रत्यक्ष संबंध नहीं है।

श्रव्यकाव्य के भेद-प्रभेद

श्रव्यकाव्य श्रोतव्यमात्र है जिसका अभिनय से कुछ भी सम्बन्ध नहीं होता। विश्वनाथ ने उसे गद्यमय और पद्यमय माना है। छन्दोबद्ध पदरचना को पद्य कहते हैं। जिस पद्य में किसी अन्य पद्य की अपेक्षा नहीं रहती, वह 'मुक्तक' कहलाता है। दो पद्यों की पारस्परिक अपेक्षा में 'युग्मक' तथा तीन पद्यों की संगति में 'संदानितक' होता है। चार पद्यों की पारस्परिक अपेक्षा वाला 'कलापक' तथा पाँच अथवा उससे से अधिक पद्यों की अपेक्षा रखने वाला 'कुलक' कहलाता है।

महाकाव्य विश्लेषण

विश्वनाथ ने महाकाव्य का लक्षण 'सर्गबंधो महाकाव्य' किया है जिसका नायक धीरोदात्त गुणान्वित कोई देवचरित्र अथवा उत्तम कुलप्रसूत क्षत्रिय होता है। एक ही वंश में उत्पन्न अनेक कुलीन राजा भी उसके नायक हो सकते हैं। हरचरित और नैषधीयचरित एकनायकनिष्ठ महाकाव्य हैं तो बहुनायक प्रधान रघुवंश महाकाव्य में दिलीप, रघु और राम जैसे सूर्यवंशी राजाओं के प्रख्यात चरित्र अंकित हुए हैं। महाकाव्य में श्रृंगार, वीर और शांत में से कोई एक अंगी रस होता है। अन्य रस उसके अंग बन कर उपस्थित होते हैं। उसमें नाटक की सभी संधियाँ सुप्रयुक्त होती हैं। उसका वृत्तचरित्र या तो रामायण और महाभारत आदि ग्रन्थों से लिया जाता है अथवा वह सज्जनाश्रित होता है। उसका फल अथवा प्रयोजन चतुर्वर्गप्राप्ति है। उसके प्रारंभ में नमस्कार, आशीर्वाद अथवा वस्तुनिर्देश रहता है। कहीं-कहीं दुर्जननिन्दा अथवा सज्जनों के गुणकीर्तन से भी उसका प्रारम्भ होता है। उसके प्रत्येक सर्ग में एक ही छंद प्रयुक्त करने की परम्परा रही है। सर्गसमाप्ति के पश्चात् छंद परिवर्तित कर दिया जाता है। उसके सर्ग का आकार न तो बहुत छोटा होना चाहिए और न बहुत बड़ा। उसमें आठ अथवा उससे अधिक सर्ग भी हो सकते हैं। ऐसे महाकाव्य भी लिखे गये हैं जिनके एक ही सर्ग में अनेक छन्द प्रयुक्त हुए हैं। सर्ग के अन्त में भावी सर्ग की कथा का संसूचन रहता है। महाकाव्य के वर्ण्य विषयों में संध्या, सूर्य, चन्द्र, रजनी, प्रदोष, अंधकार, दिन,

प्रात:काल, मध्याह्न, मृगया, शैला ऋतु, वन, सागर, मुनि, स्वर्ग, नगर, यज्ञ, युद्ध, यात्रा, विवाह, मंत्रणा और पुत्रजन्म आदि रहा करते हैं। श्रृंगार रस प्रधान महाकाव्य संभोग और विप्रलम्भ पक्षों से अभिमण्डित होता है। उसके नामकरण के लिए सुनिश्चित नियम नहीं हैं। कवि, चरित्र, नायक अथवा प्रतिनायक के नाम से भी महाकाव्यों के नामकरण किये गये हैं। रघुवंश, नैषध, किरातार्जुनीय और शिशुपाल वध आदि संस्कृत साहित्य के अत्यंत सुप्रसिद्ध महाकाव्य हैं। महाभारत और रामायण आर्ष श्रेणी के महाकाव्य हैं जिनके सर्ग साधारणत: 'आख्यान' अथवा 'काण्ड' कहलाते हैं। प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषा के महाकाव्यों के सर्गों के नाम क्रमश: 'आश्वास' तथा 'कुडवक' हैं।

काव्य के अन्यान्य भेद

विश्वनाथ ने संस्कृत भाषा और शौरसेनी प्राकृत जैसी भाषाओं में विरचित काव्यों को भाषा निबद्ध काव्य श्रेणी में परिगणित किया है। वे एकार्थप्रवण पद्यों और सर्गविहीन प्रणालियों में लिखे जाते हैं। उनका एक भेद खण्डकाव्य है जिसे विश्वनाथ ने 'एकदेशानुसारी' कहा है। मेघदूत की गणना खण्डकाव्यों में की जाती है। परस्पर अपेक्षा से रहित श्लोकसमूह 'कोष' कहलाता है। यदि तुल्य श्रेणी वाले पद्यों को किसी बिशेष क्रम से प्रणीत किया जाय तो वह मुक्तावली के समान अत्यंत मनोरम हो जाता है। सामान्यत: पद्य काव्य के इतने ही प्रकार विश्वनाथ द्वारा विवेचित किये गये हैं।

गद्य के रूप-भेद

छन्द विहीन रचना 'गद्य' कहलाती है। उसके प्रमुख चार भेद हैं जिनके नाम मुक्तक, वृत्तगंधि, उत्कलिकाप्राय और चूर्णक हैं। समासविहीन गद्य 'मुक्तक' पद्यांशयुक्त गद्य 'वृत्तगंधि', दीर्घसमास युक्त गद्य 'उत्कलिकाप्राय' और अल्पसमासमय गद्य 'चूर्णक' कहलाता है। श्रृंगारादि रस युक्त इतिवृत्तात्मक गद्य का नाम 'कथा' है। उसमें आर्या, वक्त्र और अपवक्त्रक छन्द प्रयुक्त किये जाते हैं। उसके प्रारम्भ में पद्यरचना रहती है जिसमें देवताओं के प्रति नमस्कार तथा खलों का वृत्तकीर्तन होता है। 'कादम्बरी' की गणना 'कथा' के अंतर्गत की जाती है।

'आख्यायिका' कथा शैली की रचना है। उसमें कवि के वंशकीर्तन के साथ-साथ अन्य कवियों का भी चरित्र रहता है। इसमें कहीं-कहीं पद्य का भी प्रयोग होता है। आख्यायिका के कथांशों का व्यवच्छेद 'आश्वास' नाम से निबद्ध होता है। आर्या, वक्त्र और अपवक्त्र छन्दों के मध्य किसी भी छन्द द्वारा उसके अनागत विषय की सूचना दी जाती है। हर्षचरित और दशकुमारचरित आदि रचनाओं की गणना आख्यायिका के अंतर्गत की जाती है। आख्यान आदि गद्यकाव्य कथा और आख्यायिका में अंतर्भूत रहते हैं। पंचतंत्र, हितोपदेश आदि उनके उदाहरण हैं। गद्य-पद्यमय रचना का नाम चम्पू है। उसमें जब राजस्तुति की जाती है तो उसे 'विरुद' कहते हैं। अनेक भाषाओं में रचित काव्य का नाम 'करम्भक' है। विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण के षष्ठ परिच्छेद में इन्हीं

काव्य-भेदों का निरूपण किया है जिनके अनुशीलन से इस बात का पता चलता है कि उनके कार्यकाल में काव्य के भेदों के विषय में कौन-कौन-सी विचाराधाराएँ तथा किस प्रकार की मान्यताएँ प्रतिष्ठित हो चुकी थीं।

काव्यदोष विश्लेषण

विश्वनाथ ने 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' को काव्य का लक्षण निर्धारित करने के पश्चात् 'दोषास्तस्यापकर्षकाः सूत्र' द्वारा दोषों को काव्य के अपकर्षक तत्त्व माना है। इस विषय में सभी रस ध्वनिवादी आचार्य एकमत हैं। 'दूषयति काव्यमिति दोषः' की व्युत्पत्ति के अनुसार भी दोष काव्य के अपर्षककारी तत्त्व सिद्ध होते हैं। दोषों के कारण काव्य की रसात्मकता तीन रूपों में बाधित होती है—1. रसप्रतीति अथवा रसास्वाद में विघ्न आना, 2. रसास्वाद की उत्कृष्टता में किसी वस्तु द्वारा रुकावट आना, तथा 3. रसप्रतीति के बीच किन्हीं विशेष कारणों से विलम्ब होना। इन तीनों स्थितियों के मूल में दोष ही प्रमुख हेतु होते हैं। 'श्रुतिदुष्टत्व तथा अपुष्टार्थत्व दोष' शब्द और अर्थ के माध्यम से काव्यात्मभूत रस का किसी न किसी रूप में अपकर्ष ही करते हैं अतः वे भी घूम-फिरकर रस विघ्न के ही कारण बनते हैं। उनका व्यवधान वाक्य से सम्बन्धित है अतः वे वाक्य के अंगभूत पद और पदांश के साथ-साथ वाक्य अर्थ और रस के भी अपकर्षकारी तत्त्व होते हैं। उपर्युक्त पाँचों रूपों में वे काव्य की विकलांगता के हेतु हैं। पद और पदांश के दोष कहने के लिये तो उन्हीं से सम्बन्धित हैं किन्तु उनका प्रभाव सम्पूर्ण वाक्यार्थ अथवा रसप्रतीति पर पड़ता है अतः उन्हें किसी अवयव विशेष तक ही सीमित नहीं किया जा सकता। आचार्यों ने नित्यानित्य रूप में दोष निरूपण की जो व्यवस्था की है वह सर्वथा उचित है क्योंकि नित्य दोष तो सभी स्थितियों में काव्य विघातक होते ही हैं किन्तु अनित्य दोष भी किन्हीं विशेष रस-प्रसंगों में अपकर्षकारी होने के कारण अपना अस्तित्व और प्रभाव प्रदर्शित किये बिना नहीं रहते। श्रुतिदुष्तत्व अथवा दुःश्रवत्व दोष वीर और रौद्र आदि उग्र रसों में भले ही गुण रूप में व्यवस्थित किये जाएँ किन्तु शृंगार, करुण और शान्त रसों में उनका अनौचित्य अमान्य नहीं कहा जा सकता। विश्वनाथ ने भी मम्मट आदि आचार्यों के मान्यताओं के अनुरूप उनका निरूपण करते हुए उनका विश्लेषण किया है जिनका पुनः प्रतिपादन पिष्टपेषणमात्र हैं। उनका सामान्य विवेचन इस दृष्टि से आवश्यक है कि उनका विश्लेषण किये बिना विश्वनाथ की एतद् विषयक मान्यताओं का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष अधूरा रहा जाता है।

पददोष विवेचन

विश्वनाथ ने दुःश्रवस्व, त्रिविधि, अश्लीलत्व, अनुचितार्थत्व, अप्रयुक्तत्व, ग्राम्यत्व, अप्रतीतत्व, संदिग्धत्व, नेयार्थत्व, निहतार्थत्व, अवाचत्व, क्लिष्टत्व, विरुद्ध-मतिकारित्व और अविमृष्ट विधेयांशत्व को पदगत तथा वाक्यगत दोष माना है। इनमें से श्रुतिकटुत्व आदि दोष पदांश में भी रहते हैं किन्तु अधिकांश दोष पदगत हैं। निर-

र्थकत्व, असमर्थत्व तथा च्युतसंस्कारत्व केवल पदों में ही रहते हैं। कठोर वर्ण के कारण जो शब्द कर्णप्रिय न हो उसे **दुःश्रव्य** अथवा **श्रुतिकटु** कहते हैं। 'कार्तार्थ्य' शब्द इसी प्रकार का है जिसमें त, थ और र के संयोग से इस शब्द में कठोरता आई है। असभ्य अथवा अशिष्ट अर्थ का व्यंजक पद **अश्लीलत्व** दोष है। व्रीड़ा, जुगुप्सा और अमंगल का वाचक होने से यह तीन प्रकार का होता है। इनके उदाहरण निम्नलिखित हैं जिनके रेखांकित पदों के प्रयोग में अश्लीलत्व दोष माना गया है।

(अ) दृप्तारिविजये राजन् **साधनं** सुमहत्तव। हे राजन्, मदांध शत्रुओं को जीतने में तुम्हारा **साधन** (सेवा अथवा लिंग) बहुत बड़ा है।

(आ) प्रससार **शनैर्वायुर्विनाशे** लन्विते तदा।

हे तन्वि, तुम्हारे **विनाश** (अदर्शन अथवा मरण) के समय **वायु** (हवा, अपान वायु) धीरे से चली। उपर्युक्त उदाहरणों में साधन शब्द 'लिंग', विनाश शब्द 'मरण' तथा वायु शब्द 'अपान वायु' का बोधक होने कारण ये प्रयोग क्रमशः व्रीड़ा, अमंगल और जुगुप्सासूचक अश्लीलत्व के सूचक हैं।

अन्य दोषों के नामों, लक्षणों और उदाहरणों का संक्षिप्त परिचय निम्नलिखित है—

अनुचितार्थत्व—'शूरा अमरतां यांति पशुभूता रणाध्वरे'। (रणरूप यज्ञ में पशुभूत शूरवीर अमरत्व प्राप्त करते हैं।) यहाँ शूरों में पशु की समानता निर्दिष्ट करने से उनकी कातरता प्रकट होती है। यज्ञीय पशुओं की भाँति विवश होकर मरना कायरों का काम है, शूरों का नहीं अतः यहाँ 'पशु' शब्द के प्रयोग में अनुचितार्थत्व दोष है।

अप्रयुक्तत्व—व्याकरण और कोष आदि में प्रसिद्ध होने पर भी जो शब्द उस रूप में कवि सम्प्रदायों अथवा काव्यों में अप्रयुक्त रहा हो, उसके काव्य प्रयोग में यह दोष होता है।

उदाहरण—'भाति पद्मः सरोवरे।' पद्म शब्द नपुंसक लिंग में प्रसिद्ध है, पुल्लिग में नहीं, फिर भी उसका पुल्लिग रूप में प्रयोग होने से यहाँ अप्रयुक्तत्व दोष है।

ग्राम्यत्व—कटिस्ते हरते मनः। इसमें कटि शब्द ग्राम्य है।

अप्रतीतत्व—इसका लक्षण 'एकदेशमात्र प्रसिद्धत्व' है।

उदाहरण—'योगेन दलिताशयः'। यहाँ 'आशय' शब्द योगशास्त्र में वासना अर्थ का वाचक है।

संदिग्धत्व—'आशीः परम्परां वन्द्यां कर्णे कृत्वा कृपां कुरु।' इसमें 'वन्द्यां' पद का अर्थ 'बन्दीभूता' है अथवा 'वंदनीया' है इस बात का संदेह उत्पन्न होता है।

नेयार्थत्व—रूढ़ि अथवा प्रयोजन का अभाव होने के कारण अशक्तिकृत लक्ष्यार्थ का प्रकाशन नेयार्थत्व है। जहाँ बिना कारण (रूढ़ि अथवा प्रयोजनभूत) किसी लाक्षणिक शब्द का प्रयोग किया जाता है, वहाँ नेयार्थ दोष होता है। 'कमले चरणाघातं मुखं सुमुखि तेऽकरोत्' अर्थात् 'हे सुमुखि, तुम्हारे मुख ने कमल में लात मारी' इस उदाहरण में 'चरणाघात' का अर्थ जीत लेना है जिसका लाक्षणिक प्रयोग मुख्यार्थबाध तथा रूढ़ि

और प्रयोजन के बिना ही किया गया है। इस प्रकार के प्रयोगों से कवि की अव्युत्पन्नता प्रकट होती है।

निहतार्थत्व—प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध अर्थों के वाचक शब्दों का अप्रसिद्ध अर्थ में प्रयोग करने पर निहतार्थत्व दोष होता है। उदाहरणार्थ—'यमुनाशम्बरं व्यतानीत्' वाक्य में शंबर शब्द जल के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है जो उसका अप्रसिद्ध अर्थ है। शंबर का प्रसिद्ध अर्थ तो शम्बर नामक दैत्यविशेष है जिसे जल में निहित करने से निहतार्थत्व दोष हो गया है। यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि अप्रयुक्तत्व दोष एकार्थक शब्द में होता है जबकि निहतार्थत्व दोष अनेकार्थवाची शब्द में रहता है।

अवाचकत्व—विश्वनाथ ने इस दोष के दो उदाहरण प्रस्तुत किये हैं—1. गीतेषु कर्णमादत्ते, और 2. दिन में त्वयि संप्राप्ते ध्वांतच्छन्नापि यामिनी।' प्रथम उदाहरण में कान देने अर्थात् सुनने के अर्थ में 'कर्णमादत्ते' का प्रयोग हुआ है किन्तु आङ्पूर्वक दा 'धातु' का अर्थ 'देना' न होकर 'लेना' होता है अतः 'आदत्ते' पद में अवाचकत्व दोष है। दूसरे उदाहरण में 'दिन' शब्द 'प्रकाशमय' अर्थ का अवाचक होने से यह प्रयोग अवाचकत्व दोष का व्यंजक है।

क्लिष्टत्व—अभिधेय अर्थ की प्रतीति में व्यवधान होने पर क्लिष्टत्व दोष होता है। उदाहरणार्थ—'क्षीरोदजावसतिजन्मभुवः प्रसन्नाः' वाक्य का अर्थ 'जल प्रसन्न (स्वच्छ) हुआ है जिसकी प्रतीति में बाधा आती है। 'जल' अर्थ तक पहुँचने के पहले हमें क्षीरोदजा अर्थात् क्षीरसागर की पुत्री (लक्ष्मी) की वसति (निवास स्थान) 'कमल' की अर्थ प्रतीति करनी पड़ती है जिनकी जन्मभूमि का अर्थ जल है। इस अर्थ ज्ञान में कठिनाई होने के कारण यहाँ क्लिष्टत्व दोष है।

विरुद्धमतित्व—इस दोष का उदाहरण 'भूतयेऽस्तु भवानीशः' है। भवानी का अर्थ भव (शिव) की पत्नी है। उसके आगे 'ईश' पद जोड़ने से 'भवानीश' शब्द बनता है जो पार्वती के किसी अन्य पति की प्रतीति कराता हुआ विपरीत मत उत्पन्न करता है।

अविमृष्टविधेयांशत्व—विधेय अंश का प्रधान रूप से परामर्श (विमर्श) न होने पर यह दोष होता है। विश्वनाथ ने इस दोष के अनेक रूप और उदाहरण विवेचित किये हैं। इसका प्रसिद्ध उदाहरण 'न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयः' छंद का अन्तिम चरण 'स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनवृथोच्छूनैः किमेभिर्भुजैः' है जिसमें 'वृथात्व' विधेय है जिसे समास में डालकर उसका उपसर्जन कर दिया है। इसमें वृथात्व अप्रधान हो गया है जबकि इस विधेय का निर्वाह प्रधानता से होना वांछनीय था। इसी हेतु यहाँ अविमृष्टविधेयांशत्त्व दोष है।

वाक्यगत दोष

विश्वनाथ ने क्लिष्टत्व, विरुद्धमतिकारित्व तथ विधेयाविमर्श जैसे पद दोषों को समासगत माना है। उन्होंने वाक्यगत दुःश्रवत्व आदि दोषों का भी विवेचन किया है। उनका संक्षिप्त परिचय अग्रलिखित है—

दु:श्रवत्व—विश्वनाथ ने इसके उदाहरणार्थ 'स्मरार्त्यन्धः कदा लप्स्ये कार्तार्थ्यं विरहेतब' श्लोकार्द्ध प्रस्तुत किया है जिसमें 'स्मरार्तिः लप्स्ये' तथा कार्तार्थ्यं शब्द वाक्यगत दु:श्रवत्व दोष के हेतु हैं। इन पदों में रेफ और महाप्राण वर्णों का संयोग होने से दोष-स्थिति बनी है।

अश्लीलत्व—जुगुप्साव्यंजक अश्लीलता का उदाहरण 'कृतप्रवृत्तिरन्यार्थे कवि-र्वान्तं समश्नुते' है जिसका अर्थ यह है कि जिस कवि की प्रवृत्ति अन्य कवियों द्वारा कथित अर्थ की चोरी करने की होती है, वह वांत (वमन) खाता है। इस वाक्य में 'प्रवृत्ति' शब्द पुरीषोत्सर्ग का व्यंजक है तथा वांत शब्द घृणाव्यंजक अश्लीलता का द्योतक है अत: यह वाक्यगत अश्लीलत्व दोष है।

नेयार्थत्व—'उद्यत्कमललौहित्यैर्वक्राभिर्भूषिता तनुः' में नेयार्थत्व दोष है। इसका अर्थ यह है कि वक्रा अर्थात् वामा सुन्दरियों ने उद्यत् अर्थात् प्रकाशमान कमललौहित्य अर्थात् पद्मराग (लालमणि) से अपना शरीर अलंकृत किया। इस उदाहरण में 'कमल-लौहित्य' का नेयार्थ 'पद्मराग' तथा 'वक्रा' का अर्थ विपरीत प्रकृति की सुन्दरियों से लक्षणीय है जिनमें रूढ़ि अथवा प्रयोजन की कारणता न रहने पर यहाँ नेवार्थ दोष है। अनेक पदों में होने के कारण यहाँ यह वाक्यगत दोष है।

क्लिटष्त्व—विश्वनाथ ने इसके उदाहरणस्वरूप निम्नलिखित छंद उद्धृत किया है—

धम्मिलस्य न कस्य प्रेक्ष्य निकामं कुरंग शावाक्ष्याः।
रज्ज्यत्य पूर्वबंधव्युत्पत्तेर्मानसं शोभाम्।

उपर्युक्त उदाहरण में अनेक पद दूरान्वित हैं जिनका सम्बन्ध जोड़ने में कठिनाई होती है। धम्मिलस्य का अन्वय शोभाम् के साथ, शोभाम् का प्रेक्ष्य के साथ, 'मानस' का 'न' के साथ तथा 'न' का रज्ज्यति के साथ दूरान्वय सम्बन्ध है जिन्हें संयुक्त करते समय अर्थ प्रतीति में क्लेश होता है।

अविमृष्टविधेयांशत्व—'न्यक्कारो ह्यमेव मे यत्' छंद में 'न्यक्कार' विधेय है और 'अयमेव' उद्देश्य है। उद्देश्य के बिना विधेय का कथन बिना आधार की वस्तु होता है, इस सिद्धांत के अनुसार पहले उद्देश्य तथा तदुपरांत विधेय का प्रयोग होना चाहिए। उपर्युक्त छंद पंक्ति में इसका विपरीत क्रम होने से रचना की पद योजना में गड़बड़ी पैदा होती है अत: यहाँ काव्यगत अविमृष्टविधेयांशत्व दोष हो गया है।

पदांशगत दोष

विश्वनाथ ने उपर्युक्त दोषों को पदांशगत भी माना है जिनका विवरण निम्न-लिखित है—

श्रुतिकटुत्व—'तद् गच्छ सिद्ध्यै, कुरु देवकार्यम्' पंक्ति का 'द्ध्यै' पदांश श्रुति-कटुत्व दोष है।

निहतार्थत्व—'धातुमत्तां गिरिर्धत्ते' में 'मत्ता' पदांश दूषित होने से निहतार्थत्व

पदांश दोष हो गया है।

अवाचकत्व—'वर्ण्यते किं महासेनो विजेयोयस्य तारकः' में प्रयुक्त 'विजेयः' पद में 'क्त' प्रत्यय के अर्थ में यत् (अचोयत्) प्रत्यय का प्रयोग होने के कारण यहाँ पदांशगत अवाचकत्व दोष है।

अश्लीलत्व—'पाणिः पल्लवपेलवः' में पेलव शब्द के पूर्ववर्ती दो अक्षरों में लज्जाजनक अश्लीलत्व व्यंजित होता है।

नेयार्थत्व—'संग्रामे निहताः शूरा वचोबणत्वमागताः' पंक्ति में वचोबाणः शब्द में 'वचस्' शब्द का 'गिर्' शब्द के लिए लाक्षणिक प्रयोग किया गया है जिसके लिए रूढ़ि अथवा प्रयोजन विवक्षित न होने के कारण यहाँ नेयार्थत्व पदांश दोष है। काव्य ग्रंथों का समीक्षात्मक अध्ययन करने से अवशिष्ट पदांश दोषों का भी अनुसंधान किया जा सकता है। सामान्यतः निरर्थकत्व, असमर्थत्व और च्युतसंस्कारत्व दोषों के पदांशगत तथा वाक्यगत उदाहरण नहीं मिलते अतः विश्वनाथ ने उनकी पदगत स्थिति का ही विश्लेषण किया है।

अवशिष्ट पददोष

निरर्थकत्व—'मुंच मान हि मानिनि' में 'हि' पद निरर्थकत्व का वाचक है जिसे छंद पूर्ति के प्रयोजन मात्र से प्रयुक्त किया गया है।

असमर्थत्व—'कुंजं हंति कृशोदरी' में 'हन्' धातु का प्रयोग गमन रूप अर्थ में किये जाने के कारण यहाँ असमर्थत्व है। व्याकरण में यद्यपि 'हन् हिंसागत्योः' सूत्र द्वारा 'हन्' धातु 'हिंसा' और 'गति' इन दोनों अर्थों की वाचक मानी गई है किन्तु उसका प्रयोग 'पद्धति' आदि विशेष प्रयोगों के अतिरिक्त 'गमन' अर्थ में नहीं किया जाता। 'हंति' का प्रयोग 'गच्छति' अर्थ में करने से यहाँ असमर्थत्व दोष है।

च्युतसंस्कारत्व—विश्वनाथ ने इसका उदाहरण 'गाण्डीवी कनकशिलानिभं भुजाभ्यामाजघ्ने विषमविलोचनस्य वक्षः' पंक्ति में ढूँढ़ा है जिसका अर्थ है कि अर्जुन ने किरातवेशधारी भगवान् शंकर के स्वर्णशिलासदृश वक्षःस्थल को दोनों हाथों से आहत किया। इसमें आत्मनेपद का विधान करने वाले, आङोयमहनः' सूत्र के अनुसार आङ्पूर्वक हन् धातु का आत्मनेपद में तभी प्रयोग किया जाता है जब उसका कर्म स्वांग अर्थात् वध करने वाले का अपना अंग हो। 'आजघ्ने' प्रयोग में यह स्थिति नहीं है। व्याकरण के नियमानुसार यहाँ 'आजघान' क्रियापद प्रयुक्त होना चाहिए। 'आजघ्ने' प्रयोग में व्याकरणविरुद्धता होने के कारण यहाँ च्युतसंस्कारत्व पददोष है।

विजातीय वाक्य दोष

विश्वनाथ ने पददोषों के सजातीय वाक्य दोषों का विवेचन करने के पश्चात् विजातीय वाक्य दोषों का भी विश्लेषण किया है। उनकी विस्तृत सूची अग्रलिखित दोषों के नाम से प्रस्तुत की गई है—

प्रतिकूलवर्णत्व, लुप्तविसर्गत्व, आहतविसर्गत्व, अधिकपदत्व, न्यूनपदत्व, कथित-पदत्व, हतवृत्तत्व, पतत्प्रकर्षत्व, संधि विश्लेष, सन्ध्यश्लीलत्व, संधिकष्टत्व, अर्धान्तरैक-पदत्व, समाप्तपुनरातत्व, अभवन्मतसम्बन्धत्व, अक्रमत्व, अमतपरार्थत्व, वाच्यानभिधान, भग्नप्रक्रमत्व, प्रसिद्धित्याग, अस्थानस्थपदत्व, अस्थानस्थसमासत्व, संकीर्णत्व और गर्भितत्व।

उपर्युक्त सभी दोष पदगत न होकर वाक्यगत होते हैं। रसों के विपरीत वर्ण-योजना में प्रतिकूलवर्णत्व, वाक्यों में सर्वत्र विसर्गों का लोप हो जाने पर लुप्त विसर्गत्व, अनेक विसर्गों की ओकाररूप परिणति में आहतविसर्गत्व, 'उवाच वाचं' जैसे प्रयोगों में अधिकपदत्व, 'मय्यर्पिता दृष्टिः' में 'त्वया' पद का प्रयोग न होने से न्यूनपदत्व, 'रति लीला क्रीड़ा' प्रयोग में पुनरुक्तत्व, अथवा कथितपदत्व, छंदलक्षण के अनुकूल होने पर भी जो अश्रव्य, रसप्रतिकूल तथा गुरुलघुरूप से व्यतिक्रमित हो वहाँ हतवृत्तत्व, प्रगृह्य-संज्ञा आदि के कारण किये गये संधिभंग में संधिविश्लेष, 'चलण्डामरचेष्टितः' जैसे प्रयोगों में सन्ध्यश्लीलत्व, क्रम की संगति न होने पर अक्रमत्व, प्रारम्भ किये गये क्रम का अंत तक उसी क्रम में सही निर्वाह न होने पर 'भग्न प्रक्रमत्व, प्रसिद्धि के त्याग में प्रसिद्धित्या-गत्व, अनुचित स्थान में किसी पद को रखने पर अस्थानस्थपदत्व तथा एक वाक्य में दूसरे वाक्य का अनुप्रवेश हो जाने पर संकीर्णत्व दोष होते हैं। विजातीय दोषों का यह परि-चयमात्र है। इनका विशेष परिज्ञान तो काव्यकृतियों को अनुशीलन करते समय भावयित्री प्रतिभा द्वारा ही किया जा सकता है।

अर्थदोष

विश्वनाथ ने अर्थदोषों के अंतर्गत अपुष्टत्व, दुष्क्रमत्व, ग्राम्यत्व, व्याहतत्व, अश्लीलत्व, कष्टत्व, अनवीकृतत्व, निर्हेतुत्व, प्रकाशितविरुद्धत्व, संदिग्धत्व, पुनरुक्तत्व, ख्यातिविरुद्धत्व, विद्यविरुद्धत्व, साकांक्षत्व, सहचरभिन्नत्व, अस्थानयुक्तत्व, अविशेष में विशेष, अनियम में नियम, विशेष में अविशेष, नियम में अनियम, विध्ययुक्तत्व, अनुवादा-युक्तत्व और निर्मुक्तपुनरुक्तत्व दोष परिगणित किये हैं। किसी पदार्थ के मुख्य अर्थ के उपयोगी न होने पर अपुष्टत्व, वस्तुओं का क्रम बिगड़ने पर दुष्क्रमत्व, ग्राम्य पदों के प्रयोग में ग्राम्यत्व, किसी वस्तु का उत्कर्ष अथवा अपकर्ष प्रदर्शित करने के पश्चात् उसके विपरीत कथन में व्याहतत्व, लज्जाव्यंजक अश्लील अर्थ की प्रतीति में अश्लीलत्व, अर्थ की दुर्बोधता में कष्टार्थत्व, नवीनता के अभाव में अनवीकृतत्व, बिना कारण बताये किसी कार्य का त्याग करने पर निर्हेतुत्व, अर्थ की विरुद्धता भासित होने पर प्रकाशित-विरुद्धत्व, अर्थ में संदेह होने पर असंदिग्धत्व, विधि और निषेधरूप में एक ही बात को दोहराने में अर्थपुनरुक्तित्व और लौकिक प्रसिद्धि के विरुद्ध कथन में अप्रसिद्धत्व दोष होता है। अप्रसिद्धत्व दोष के अनेक रूप माने गये हैं। उदाहरणार्थ विष्णु का 'चक्र' और शंकर का 'त्रिशूल' प्रसिद्ध है। यदि कोई कवि विष्णु के त्रिशूल धारण का वर्णन करे तो वहाँ लोकविरुद्ध कथन होने के कारण अप्रसिद्धत्व दोष होगा। इसी प्रकार रमणियों

के पादाघात से पुष्पोद्गम होने की कविसमयगत प्रसिद्धि के स्थान पर पुष्प अंकुरण का उल्लेख अप्रसिद्धत्व दोष का उदाहरण है। कामशास्त्र के अनुसार अधर में दंतक्षत की परम्परा है जिसे नखक्षत के रूप में वर्णित करने पर विधाविरुद्ध दोष होता है।

अर्थबोध के लिए किसी पद विशेष की आकांक्षा होने पर उसकी उपेक्षा अथवा अकथन में साकांक्षत्व तथा सज्जन और कामिनी की शोभा के साथ खल की अशोभनता जैसे उल्लेखों में सहचर भिन्नत्व दोष होते हैं। सामान्यतः समुद्र 'रत्ननिधि' कहलाता है जिसके लिए हीरकनिधि का प्रयोग 'अविशेष में विशेष' दोष का परिचायक है क्योंकि हीरे समुद्र से नहीं निकलते। वे तो खनिज पदार्थ होते हैं। समुद्र को 'विद्रुमनिधि' कहना तो फिर भी उचित हो सकता है क्योंकि विद्रुम (मूँगे) समुद्र में उत्पन्न होते हैं। नियम-वाचक शब्द के अभाव में नियमपरिवृत्तित्व तथा अन्यत्र वाच्यानभिधान दोष होता है। शब्ददोष और अर्थदोष में मूल अंतर यही है कि शब्ददोष शब्द का परिवर्तन सहन नहीं कर पाता जबकि अर्थदोष किसी शब्द विशेष के पर्यायवाची शब्द रख देने पर भी बना रहता है। पदार्थों के अन्वयज्ञान से प्रतीत होने वाला दोष शब्ददोष ही होता है। जो दोष अर्थज्ञान के अनन्तर भाषित हो, उसे अर्थदोष कहते हैं।

रसदोष निरूपण

पद, पद्यांश, शब्द और अर्थगत काव्यदोषों की विवेचना के अनंतर विश्वनाथ ने रसदोषों का भी निरूपण किया है। उन्होंने रसदोषों की परिगणना निम्नलिखित रूपों में की है—

1. किसी रस का उसके वाचक पद अर्थात् सामान्यवाचक 'रस' शब्द से अथवा विशेषवाचक 'शृंगार' आदि शब्दों से कथन।
2. स्थायी भाव और संचारी भावों का उनके वाचक पदों से अभिधान।
3. विरोधी रस के अंगभूत विभावों और अनुभावों आदि का वर्णन।
4. विभावों और अनुभावों के आपेक्ष में कठिनता।
5. रस का अस्थान (अनुचित स्थान) में विस्तार अथवा विच्छेद।
6. रस की पुनः पुनः दीप्ति।
7. प्रधान रस का अननुसंधान (विस्मरण) तथा अनांगिक रस का संकीर्तन।
8. अंगभूत रस की अत्यधिक विस्तृति।
9. प्रकृतियों का विपर्यास अर्थात् उनमें हेराफेरी।
10. अर्थ अथवा अन्य किसी भी प्रकार का अनौचित्य।

उपर्युक्त परिगणना के अनुसार रस की स्वशब्द-वाच्यता उसका सबसे बड़ा दोष है। रति आदि स्थायी भावों से रस का कथन तथा लज्जा आदि संचारी भावों से उसकी स्वशब्द वाच्यता भी इसी प्रकार के दोष के अंतर्गत सम्मिलित की जाती है। शृंगार रस में यौवन की अस्थिरता आदि का कथन रसदोष है क्योंकि वे उसके विरोधी शांत रस के उद्दीपन विभाव हैं। जहाँ किसी रस विशेष के आलम्बन और उद्दीपन विभाव

उसके अनुभावों की कल्पना (आक्षेप) कठिनता से कराते हैं, वहाँ पर भी रसदोष होता है। शृंगार आदि रसों में नायक का स्पष्ट वर्णन न होने के कारण इस बात का पता नहीं चलता कि नायिका के कटाक्ष विक्षेप और स्मित आदि रति के कार्य हैं अथवा उसके स्वाभाविक विलास मात्र हैं। उनका वक्ता नायक है अथवा कोई तटस्थ व्यक्ति, इसकी सही जानकारी न होने के कारण अनुभावों की कल्पना में कठिनाई होती है। विभाव की कष्ट कल्पना भी रसदोष का ही प्रकार है। उसके कारण हमें इस बात का पता नहीं चलता कि किसी वस्तु में रति (अनुराग) का परिहार और मतिभ्रंश आदि चेष्टाएँ शृंगाररसमूलक हैं अथवा करुणरसमूलक। इस प्रकार की स्थिति उपर्युक्त रसों के अनुभावों की समानता के कारण उपस्थित होती हैं। अकाण्ड में रस विस्तार का सुप्रसिद्ध उदाहरण वेणीसंहार नाटक के द्वितीय अंक का वह प्रसंग हैं जिसमें दुर्योधन कौरव वीरों की विनाशवेला में रानी भानुमती के साथ संभोगशृंगार की कथा का विस्तार करता है। अस्थान में विच्छेद का उदाहरण महावीरचरित नाटक का वह प्रसंग है जिसमें राम और परशुराम के जोश (संरम्भ) के पूर्ण वेग के समय राम 'कंकण खोलने जा रहा हूँ।" उक्ति द्वारा सम्पूर्ण संरम्भ को अचानक विच्छिन्न कर देते हैं। रस की पुनःपुनः दीप्ति का उदाहरण 'कुमारसंभव' का रतिविलाप; अंगी रस की विस्मृति का प्रमाण रत्नावली नाटिका के चतुर्थ अंक में बाभ्रव्य के आगमन पर सागरिका की विस्मृति, अनंग के कीर्तन के लिए कर्पूरमंजरी में राजा और नायिका द्वारा अपने वसंत वर्णन की अवमानना करते हुए बंदी के वर्णन की प्रशंसा तथा अंगभूत रस के अतिविस्तार का उदाहरण किरातार्जुनीय महाकाव्य के अष्टम सर्ग में अप्सराओं का विलास वर्णन लिया जा सकता है।

प्रकृतिविपर्यय दोष भी रसदोष का ही रूप है। इसकी स्थिति तब उत्पन्न होती है जब कवि दिव्यादिव्य प्रकृतियों से सम्बद्ध धीरोदात्त आदि नायकों की त्रिविध श्रेणियों (उत्तम, मध्यम और अधम) से अपरिचित होने के कारण उनका औचित्यपूर्ण वर्णन तथा चरित्र निर्वाह नहीं कर पाता। धीरोदात्त नायक राम द्वारा बालिवध उनकी प्रकृति के अनुरूप नहीं कहा जा सकता क्योंकि उन्होंने धीरोद्धत नायक की भाँति छुपकर उसका वध किया था। कुमारसम्भव में शिव-पार्वती का संभोग वर्णन उसी प्रकार रसदोष अथवा अनौचित्य का हेतु है जिस प्रकार अपने माता पिता की रतिक्रीड़ाओं का वर्णन होता है। वस्तुतः देश, काल और पात्र आदि के औचित्य का पूर्ण विचार करते हुए जो चित्रण किया जाता है, उसमें रसदोषों के लिए अवकाश नहीं रहता।

अलंकारदोषों की पृथक् श्रेणी नहीं होती

विश्वनाथ ने अलंकारदोषों की पृथक् श्रेणी न मानकर उन्हें पूर्ववर्णित दोषों के अंतर्गत ही समाहित किया है। जहाँ उपमा में असादृश्य अर्थात् साधारण धर्म और उपमान अप्रसिद्धि हो अथवा उपमान में जाति या प्रमाण की न्यूनता अथवा अधिकता विद्यमान हो वहाँ अर्थान्तरन्यास अलंकार में उत्प्रेक्षित अर्थ का समर्थन होने पर अनु-

चितार्थत्व दोष होता है। किसी छंद के तीन चरणों में तो यमक हो तथा चतुर्थ चरण में उसका अभाव हो तो वहाँ अवाचकत्व दोष, अनुप्रास में विरोधी वर्णों की रचना में प्रतिकूलवर्णत्व, उपमा में साधारण धर्म के अधिक होने पर अधिकपदत्व तथा न्यून होने पर न्यूनपदत्व तथा उपमान और उपमेय के लिंगों और वचनों में भेद होने पर भग्न प्रक्रमत्व दोष होता है। यदि लिंग और वचन में भेद होने पर भी साधारण धर्म में अन्यथाभाव न हो तो वहाँ भग्नप्रक्रमत्व दोष नहीं माना जाता। समासोक्ति में साधारण विशेषणों के बल से व्यज्यमान अर्थ का वाचक शब्दों से कथन करने पर अथवा अप्रस्तुत प्रशंसा से प्रस्तुत अर्थ की प्रतीति होने पर भी उसका वाचक शब्दों से अभिधान पुनरुक्तत्व दोष का कारण होता है। अनुप्रास के मोह में पड़कर अप्रसिद्ध पदार्थ का वर्णन करना ख्यातिविरुद्धत्व दोष उत्पन्न करता है।

दोषों की गुणमयी स्थिति

विश्वनाथ ने उन स्थलों का भी निर्देश किया है जहाँ दोष दोष न रहकर गुण बन जाते हैं। समुद्धत योद्धा के कथन तथा रौद्र, वीर और वीभत्स रस के वर्णन में दुःश्रवत्व दोष गुण बन जाता है। वैसे तो माधुर्य आदि गुण रसात्मतत्त्व के स्वरूप विशेष अथवा उत्कर्ष हेतु हैं किन्तु उन्हें गौणीवृत्ति (लक्षणा) से शब्दाश्रित और अर्थाश्रित कहने की परम्परा बनी हुई है जिसके कारण दुःश्रवत्व आदि दोषों का सम्बन्ध शब्दार्थों के साथ भी जोड़ा जाता है। ऐसे प्रयोगों में उपचार लक्षणा ही समझी जानी चाहिए। विप्रलम्भ श्रृंगार में कोमल वर्णों का प्रयोग यदि गुण है तो शुद्धवक्ता की वाणी में श्रुतिकटुत्व दोष का हेतु नहीं होता। विश्वनाथ ने सुरतारम्भ की गोष्ठी में अश्लीलत्व दोष को गुण रूप माना है। आचार्यों ने 'शुकरम्भासंवाद' में शुकदेव की श्लिष्ट उक्तियों में निहतार्थत्व तथा अप्रयुक्तत्व दोष को गुण ही कहा है। जहाँ वक्ता और श्रोता दोनों तत्वदर्शी ज्ञाता हों वहाँ अप्रतीतत्व दोष गुण माना जाता है। सांख्ययोग में व्यवहृत प्रकृति और पुरुष की विवेचना में जहाँ देवता और भगवान् विष्णु श्रोता तथा वक्ता रूप में कथित हों, वहाँ अप्रतीतत्व दोष नहीं माना जाता। अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि द्वारा हर्ष आदि का निश्चय होने पर कथितपदत्व दोष नहीं रहता। व्याजस्तुति के पर्यवसान में संदिग्धत्व दोष गुण हो जाता है। किसी वैयाकरण के वक्ता अथवा श्रोता होने पर कष्टत्व और दुःश्रवत्व दोष गुण बन जाते हैं। अधम पुरुषों की उक्ति में ग्राम्य गुण हो जाता है तो प्रसिद्ध वस्तु के कथन में निर्हेतुत्व दोष नहीं रहता। कविसमय अथवा कविप्रौढ़ोक्तियाँ ख्यातिविरुद्धत्व दोष नहीं होतीं। कविसम्प्रदाय में यश को श्वेत, क्रोध और अनुराग को लाल, जलाशयों में हंस वर्णन, चकोरों का चन्द्रिका पान, कामिनियों के पदाघात से अशोक वृक्ष में पुष्पोद्गम और उनके मुखवासित मद्य द्वारा बकुल का खिल उठना, कामदेव का पुष्पबाण तथा भ्रमरपंक्ति के रूप में उसकी प्रत्यंचा का वर्णन आदि विषय कवि प्रसिद्धिसिद्ध हैं जिनका चित्रण करने में ख्यातिविरुद्धत्व दोष का अपवाद माना गया है। धनुर्ज्या, कर्णावतंस, पुष्पमाला, श्रवणकुंडल, शिरःशेखर और मुक्ताहार आदि पद प्रतिभा-

शाली कवियों के सत्काव्यों में वर्णित होते आये हैं अतः उनकी परम्परा के प्रति आस्था रखते हुए उनमें दोषान्वेषण का प्रयास करना समुचित नहीं है। विश्वनाथ ने उपर्युक्त प्रयासों का समर्थन करते हुए भी 'जघनकांची' और करकंकण जैसे प्रयोगों को दोषमूलक ही माना है जिसका कारण उनका परम्परामुक्त दृष्टिकोण कहा जा सकता है।

दोष की मूल पहिचान यही है कि वे किसी न किसी रूप में काव्य का अपकर्ष ही करते हैं। काव्य में ऐसी अनेक स्थितियाँ भी आती हैं जहाँ दोष निरूपण के कठोर नियम घटित नहीं होते। आनंदविभोर व्यक्ति की उक्तियों में न्यून-पदत्व कहीं गुण बन जाता है और कहीं वह गुण तथा दोष कुछ भी नहीं रहता। यही स्थिति अधिकपदत्व दोष की भी है। उदाहरणार्थ 'एवं' शब्द जब 'अहम्' आदि विशेष्यों के आगे आता है तो वह अन्य योगव्यवच्छेदक बनकर अनेक बार अतिशय चमत्कार अथवा पूर्ण निश्चय का प्रभाव अंकित करता है। वहाँ वह अधिकपदत्व दोष नहीं होता। 'अहमेव जाने' तथा 'पार्थ एव धनुर्धरः' इसी प्रकार के प्रयोग हैं। समाप्त पुनरात्तत्व भी कहीं-कहीं दोष और गुण कुछ भी नहीं होता। चामत्कारिक उक्ति में गर्भितत्व भी कहीं गुण बन जाता है। विश्वनाथ ने पतनप्रकर्षत्व दोष का भी गुणत्व विवेचित किया है। उनका कथन है कि जहाँ अनुभाव और विभाव द्वारा प्रतिपादन करने से यदि किसी भाव की स्पष्ट प्रतीति नहीं होती, व्यभिचारी भाव को उसी के वाच्य शब्द द्वारा प्रतिपादित करने में दोषाधान नहीं रहता। इसी प्रकार यदि विरुद्ध रस के संचारी भावों का बाध्य रूप से कथन किया जाये वह कथन दोष न होकर गुण ही होता है। प्रधान रस में दो विरोधी रसों को अंग बना देने पर उनका पारस्परिक विरोध दोषा-धायक नहीं माना जाता। काव्यरचना में ऐसे स्थल भी आते हैं जहाँ करुण रस के प्रसंग में श्रृंगार रस की अनुभावपरक स्मृतियाँ सम्पर्कदोष नहीं होतीं। यदि किसी रचना में कविगत भगवद्विषया रति प्रधान हो तो उस रति के परिपोषण में प्रयुक्त शांत, श्रृंगार और रौद्र रस के प्रसंग किन्हीं विशेष परिस्थितियों में रसोद्बोधक ही माने जाते हैं। अभिप्राय यह है कि महापात्र विश्वनाथ ने रस को विभाव आदि पदार्थ समूह विषयक समूहावलम्बनात्मक ज्ञान तथा पूर्णघनानंद रूप कह कर अंत में यही निष्कर्ष निकाला है कि रस की लोकोत्तर प्रधानभूत संस्थिति में गौण रसों का विरोध स्वतः निरस्त हो जाता है क्योंकि रसात्मक वाक्य के सन्निवेश में जो व्यंजनावृत्ति अपना समुद्भव और वर्चस्व प्रदर्शित करती है, उसके सम्मुख दोष ठहर ही नहीं पाते। खण्डरस की स्थिति उससे अवश्यमेव भिन्न होती है क्योंकि खण्डरस में इतनी क्षमता नहीं रहती कि वह सभी दोषों का तिरोधान करता हुआ अपनी अखण्ड सत्ता स्थिर रख सके। इस विषय में उन्होंने कवि पण्डित चण्डीदास का अभिमत उद्धृत किया है जिसके अनुसार खण्डरस का रूप निम्नलिखित है —

अंगं बाध्योऽथ संसर्गी यद्यंगी स्याद्रसान्तरे ।
नास्वाद्यते समग्रं तत्ततः खण्डरसः स्मृतः ॥

सन्दर्भ

1. विश्वनाथ : साहित्यदर्पण, 1/2
2. धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च ।
   करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्य निषेवणम् ।।
3. नरत्वं दुर्लभे लोके, विद्या तत्र सुदुर्लभा ।
   कवित्वं दुर्लभं तत्र, शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा ।।
4. काव्यालापाश्च ये केचिद् गीतकान्यखिलानि च ।
   शब्दमूर्तिधरस्यैते विष्णोरंशा महात्मनः ।।
5. श्रुतिदुष्टादवो दोषा अनित्या ये च दर्शिताः ।
   ध्वन्यात्मन्येव श्रृंगारे ते हेया इत्युदाहृताः ।।
6. अदोषं गुणवत्काव्यमलंकारैरलंकृतम् ।
   रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति ।।
7. श्वश्रूरत्र निमज्जति, अत्राहं दिवसकं प्रिलोकय ।
   मा पथिक ! रात्र्यन्धक ! शय्यामां मम निमंक्ष्यसि ।।
8. नहिं कवेरिति वृत्तमात्र निर्वाहिणात्मपदलाभः इतिहासादेरेव तत्सिद्धेः ।
9. विश्वनाथः साहित्यदर्पण, 2/1
10. स्वार्थबोध समाप्तानामंगांगित्वव्यपेक्षया ।
    वाक्यानामेकवाक्त्वं पुनः संहृत्य जायते ।।
11. विश्वनाथ : साहित्यदर्पण, 2/2
12. वही, 2/3
13. वही, 2/4
14. वही, 2/5
15. वही, 2/6
16. वही, 2/7
17. वही, 2/12-13
18. वही, 2/14
19. वही, 2/16
20. वही, 2/18
21. वही, 2/20
22. विभावावेनानुभावेन व्यक्तः संचरिणा तथा ।
    रसतामेति रत्यादिः स्थायीभाव सचेतसाम् ।।

    (साहित्यदर्पण, 3/1)
23. विश्वनाथ : साहित्यदर्पण, 3/2-3
24. वही, 3/2-3 वृत्तिभाग

25. वही, 3/2-3 वृत्तिभाग
26. स्वज्ञानेनान्यधीहेतुः सिद्धेऽर्थे व्यंजकोमतः
    यथा दीपोऽन्यथाभावे को विशेषोऽस्य कारकात् ।।
27. विश्वनाथ : साहित्यदर्पण, 3/4
28. वही, 3/5
29. वही, 3/6-7
30. वही, 3/8
31. वही, वृत्तिभाग
32. वही, 3/10-11
33. वही, 3/12-13
34. वही, 3/15-16
35. वही, 3/16
36. वही, 3/17
37. वही, 3/18-19
38. वही, 3/20
39. वही, 3/21
40. वही, 3/22-23
41. वही, 3/24-26
42. वही, 3/27-28
43. वही, 3/28 वृत्तिभाग
44. विश्वनाथ : साहित्यदर्पण, 3/174
45. वही, 3/181
46. वही, 3/183
47. वही, 3/195
48. वही, 3/226
49. वही, 3/227
50. वही, 3/245-248
51. वही, 3/249
52. वही, 3/250
53. वही, 3/251-253
54. वही, 3/254-258
55. वही, 3/260
56. न भावहीनोऽस्ति रसो न भाव रस वर्जितः ।
    परस्परकृता सिद्धिरनयो रसभावयोः ।।

57. वही, 3/261
58. वही, 3/262
59. वही, 3/263-5
60. वही, 3/264-6
61. वही, 2/267
62. वही, 3/1
63. वही, 3/2
64. वही, 5/3
65. श्रुतान्वयादनाकांक्षं न वाक्यं ह्यन्यदिच्छति ।
    पदार्थान्वयवैधुर्यात्तदाक्षिप्तेन संगतिः ।।
66. नानुमानं रसादीनां व्यंग्यानां बोधनक्षयम् ।
    आभासत्वेन हेतूनां स्मृतिर्न च रसादिधीः ।।
67. भ्रम धार्मिक विश्वस्तः स शुनकोऽद्य मारितस्तेन ।
    गोदानदी कच्छकुंजवासिना दृप्तसिंहेन ।।
68. निःशेषच्युतचंदनं स्तनतटं निर्मृष्टरागोऽधरो
    नेत्रेदूरमनंजने पुलकिता तन्वी तवेयं तनुः ।
    मिथ्यावादिनि ! दूति ! बांधवजनस्याज्ञातपीडागमे !
    वापी स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यांतिकम् ।
69. विश्वनाथ : साहित्यदर्पण, 4/1
70. क्वचिद् बाध्यतया ख्यातिः क्वचिद् ख्यातस्य बाधनम् ।
    पूर्वत्र लक्षणैव स्यादुत्तरत्राभिधैव तु ।।
71. विश्वनाथ : साहित्यदर्पण, 4/11-12
72. वही, वृत्तिभाग

कुन्तक : वक्रोक्तिजीवित

'वक्रोक्तिजीवितं' का प्रतिपाद्य और प्रयोजन

राजनक कुंतक विरचित 'वक्रोक्तिजीवितम्' नामक लक्षण ग्रंथ संस्कृत काव्य शास्त्र की विकसित परम्परा में अमर कीर्तिमान प्रतिष्ठित कर सका है। इस ग्रंथ के 'कारिका भाग' तथा 'वृत्ति भाग' के लेखक स्वयं आचार्य कुंतक हैं जिन्होंने 'ध्वन्यालोक' की रचना पद्धति का अनुगमन करते हुए मूलवर्ती कारिका भाग को 'काव्यालंकार' तथा वृत्ति भाग को 'वक्रोक्तिजीवित' की संज्ञा दी है। संस्कृत काव्यशास्त्र के इतिहास में 'काव्यालंकार' पद इतना अधिक प्रसिद्ध और विद्वद्प्रिय रहता है कि भामह, रुद्रट तथा वामन आदि काव्यशास्त्रियों ने भी उसे सहज भाव में स्वीकार किया है। कुंतक ने भी अपने ग्रंथ के प्रथमोन्मेष में 'अस्य ग्रंथस्यालंकार इत्यभिधानम्, उपमादिप्रमेयजातम-भिधेयम्, उक्तरूप वैचित्र्यसिद्धिः प्रयोजनमिति' द्वारा 'काव्यालंकार' पद के प्रति अपनी रुझान प्रकट की है। उन्होंने ग्रंथ के वृत्तिभागीय मंगलाचरण में अपने इष्टदेव भगवान् शिव को तीनों लोकों के वैचित्र्यरूप चित्रकर्म के विधायक रूप में स्मरण करते हुए एक प्रकार से उक्तिवैचित्र्यरूप 'वक्रोक्ति सिद्धांत' का ही प्रतिष्ठान किया है।[1] वस्तुतः काव्य में वस्तु सौन्दर्य और भाव सौन्दर्य ही अभिव्यक्त होते हैं जिन्हें स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति के माध्यम से प्रकाशित करने की सुदीर्घ परम्परा काव्यजगत् में प्रचलित रही है। कुंतक ने उस परम्परा से 'वक्रोक्ति' को काव्य के जीवनाधायक तत्त्व के रूप में ग्रहण करते हुए उसे काव्य का सर्वस्व माना है। कहने की आवश्यकता नहीं कि उनके पूर्ववर्ती आचार्य भामह तथा दण्डी ने भी स्वाभावोक्ति तथा वक्रोक्ति के रूप में सम्पूर्ण वाङमय का विभाजन किया था तथा श्लेष को सम्पूर्ण वक्रोक्तियों का पुष्टीजनक तत्त्व[2] तथा वक्रोक्ति को काव्यार्थ का विभावक स्रोत[3] माना था जिनके बिना कोई भी काव्यालंकार रूपायित नहीं हो सकता। कुंतक ने इन आचार्यों की वक्रोक्तिविषयक मान्यता को चरम कोटि तक पहुँचा दिया। वे काव्य विवेचना के प्रारम्भ में ही यह मानककर चले हैं कि स्वभावोक्ति मात्र काव्य का जीवातुभूत तत्त्व नहीं हो सकता क्योंकि जब तक काव्य में 'वैचित्र्य' अथवा 'अद्भुत' का संचार नहीं होता तब तक न तो उसमें चमत्कार का ही सन्निवेश हो सकता है और न रससृष्टि ही संभव है।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि कुंतक स्वभावोक्ति-

वादियों के अभिमत के खण्डन करने के प्रयोजन से ही काव्यालंकार अथवा वक्रोक्ति की रचना की थी।

कुंतक का 'काव्यालंकार' अथवा 'वक्रोक्तिजीवित' नामक लक्षणग्रंथ 'लोकोत्तर चमत्कारकारी वैचित्र्य की सिद्धि' के प्रयोजन से विरचित है। उन्होंने उसे काव्य का अपूर्व अलंकार कहा है।[5] वे वक्रोक्ति के प्रति पूर्ववर्ती आचार्यों से भिन्न दृष्टिकोण अपना कर चले हैं अतः वे उसे उनका पिष्टपेषण मात्र नहीं मानते। उनके सिद्धांत में भामह, वामन और रुद्रट आदि आचार्यों द्वारा प्रतिपादित वक्रोक्ति तत्त्व का प्रकाशन वक्रता रूप नवीन अर्थों के अपूर्व विश्लेषण का प्रतीक बनकर प्रस्तुत हुआ है। उन्होंने अलंकार पद की विवेचना व्यापक धरातल पर की है। सामान्यतः अलंकार शब्द काव्य शरीर के शोभातिशयजनक कटककुण्डल आदि अर्थों में प्रयुक्त होता है जो सादृश्यमूला लक्षणा अथवा गौणीवृत्ति के उपचार से गुण तथा रीति तत्त्व का वाचक होकर शब्दों और अर्थों के शोभाधायक धर्म भी निर्दिष्ट करता है। कुंतक ने अलंकार पद का स्पष्टीकरण 'शब्दार्थयोरेक योगक्षेमत्वादैक्येन व्यवहारः। यथा गौरिति शब्दः गौरित्यर्थ इति' के अनुसार किया है[6] जिससे प्रकट होता है कि जिस प्रकार 'गौ' पद अपने शब्द और अर्थ के लिए व्यवहृत होता है, उसी प्रकार 'अलंकार' पद काव्य के शब्दों और अर्थों के शोभा-वर्द्धक धर्मों के रूप में प्रयोजनीय है। अभिप्राय यह है कि कुंतक ने 'वक्रोक्तिजीवित' ग्रंथ को 'काव्यालंकार' का ही पर्याय मानकर उसका अभिधेय अथवा प्रतिपाद्य विषय उपमा आदि प्रमेय समुदाय का विवेचन स्वीकार किया है जिसके अध्ययन और अनु-शीलन द्वारा इस तथ्य की उपलब्धि होती है कि काव्य सौन्दर्य की सिद्धि उसके लोकोत्तर चमत्कारी वैचित्र्य द्वारा ही संभव है जो वक्रोक्ति के रूप में अभिप्रेत है।

काव्य की प्रयोजनीयता

(अ) पुरुषार्थसिद्धि और आह्लाद

संस्कृत काव्यशास्त्र के सभी आचार्यों के काव्य प्रयोजनविषयक विचार साम्य-मूलक हैं। वे काव्य और जीवन के बीच में अविच्छेद्यसम्बन्ध स्थापित करते हुए दोनों चरम लक्ष्य चतुर्वर्गफल प्राप्ति मानते हैं। कुंतक भी उनकी विचारधार से सहमत हैं। उन्होंने काव्य को धर्म आदि साधनों का उपाय और हृदय का 'आह्लादकारक हेतु' माना है जो प्रबन्ध और मुक्तक परम्पराओं के रूप में सभी वर्गों के लिए उपादेय रहता है। यद्यपि उसके प्रयोजन लोक जीवन की विविध संवेदनाओं से अनुप्राणित रहते हैं, किन्तु कुंतक ने उन्हें एक विशेष क्रम में विवेचित किया है। वे उसकी आह्लादमयी प्रकृति का प्रमुख सम्बन्ध अभिजातवर्ग से जोड़ते हैं जिसमें उच्चकुलोत्पन्न राजकुमार आदि की गणना की जाती है। उनका कथन है कि यद्यपि राजपुत्र धर्मादिरूप प्राप्य पुरुषार्थ चतुष्टय के इच्छुक तथा लोक जीवन में विजयकांक्षी होते हैं तथापि सुकुमारमति होने के कारण वे परिश्रम से जी चुराते हैं। अपने मनोरंजन तथा आह्लादन के लिए वे ऐसे ही क्रीडनक (खिलौना)

की कामना करते हैं जिसके द्वारा वे खेल ही खेल में चिन्तानुरंजन भी कर सकें तथा उन्हें जीवन के सभी पुरुषार्थ भी सुलभ हो सकें। यह क्रीडनक काव्य ही हो सकता है क्योंकि उसी में जीवन की प्रयोजनीयता सहज संभव है। कहने के लिए तो कुंतक-प्रतिपादित काव्य-प्रयोजन वर्ग विशेष की आह्लादमयता द्योतित करता है किन्तु उसका सम्बन्ध काव्य के सामान्य पाठक से भी विच्छन्न नहीं है। तत्कालीन सामंती वैभव के वातावरण में राजकुमारों की शिक्षा-दीक्षा के समायोजन में काव्यानुशीलन और काव्याभ्यास भी एक महत्वपूर्ण साधन था जिसके द्वारा उन्हें उदात्त जीवनचर्या की ओर उन्मुख किया जा सकता था। उनके अध्ययन और शिक्षण में ऐसा काव्यबंध अपेक्षणीय था जो उनमें राज्यसंचालन और प्रजापालन का मणिकांचन संयोग जुटा सके। कुंतक ने लोकरक्षण और लोकरंजन की भावनाओं को सहेज कर ही 'अभिजात' पद का प्रयोग किया है जो वर्ग विशेष का वाचक होता हुआ भी जीवन के आभिजात्य का व्यंजक है। यों तो धर्मादि के उपदेश शास्त्र विधि से भी दिये जाते हैं किन्तु काव्य का कांतासम्मित पक्ष उनके लिए अधिक अनुकूल है। कंतक ने यही मंतव्य निम्नलिखित कारिका में व्यक्त किया है—

धर्मादिसाधनोपाय: सुकुमारक्रमोदित:।
काव्यबंधोऽभिजातानां हृदयाह्लादकारक:।[7]

(अ) लोक व्यवहारबोध और इतर पक्ष

लोक व्यवहार अथवा लोकयात्रा संचालन की दृष्टि से भी काव्य की उपादेयता असंदिग्ध है। भृत्य, मित्र और स्वामी आदि श्रेणियों के पात्रों अथवा व्यक्तियों के पारस्परिक साहचर्य और सहयोग की दिशाओं का अभिज्ञान कराने तथा उनके आचार-विचारों में आदान-प्रदान तथा सामंजस्य स्थापित करने की दृष्टि से भी काव्य कृतियों का महत्त्व कम नहीं है। कुंतक का कथन है कि लोक व्यवहार के अनुष्ठान का सौन्दर्य-बोध कराने की दिशा में काव्य सर्वोत्तम साधन है[8] क्योंकि सर्गबंध रचनाओं में जिन महापुरुषों और सामान्य जनों का चित्रण किया जाता है, वे अपने गुण-गौरव तथा लोक-वृत्त में इतने महान् और वास्तविक होते हैं कि उनके कार्यकलापों द्वारा हमें व्यावहारिक जीवन के अनेक पक्षों की सहजानुभूति-सी होने लगती है। काव्य का प्रयोजन केवल उसके अध्ययनकाल पर्यन्त ही सीमित नहीं रहता अपितु अपनी चमत्कृति द्वारा वह हमारे हृदय पर अपनी संवेदनाओं की इतनी गहरी छाप अंकित कर जाता है जो मिटाने से भी नहीं मिटती तथा अपना अद्‌भुत प्रभाव जमाये रखती है।[9] काव्यामृत का रस उस (काव्य) को समझने वाले सहृदयजनों के अंत:करण में चतुर्वर्ग के फलास्वाद से बढ़कर चमत्कार उत्पन्न करने की क्षमता रखता है जिससे उन्हें अलौकिक आनन्द की अनुभूति होती है।[10] वस्तुत: कुंतक के मतानुसार आनन्दानुभूति ही काव्य का प्रमुख प्रयोजन है जिसके सम्मुख धर्म-शिक्षा अथवा कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विवेक गौण सिद्ध होता है। काव्यामृत की रस चर्वणा के चमत्कार को प्रधानता देने के कारण कुंतक ने काव्यकृतियों की तुलना में शास्त्रग्रंथों को अवर श्रेणी प्रदान की है क्योंकि शास्त्रग्रंथ कटु औषधि के तुल्य अस्वाद्य

और उद्वेगमूलक होकर ही अविद्यारूपिणी व्याधि का नाश करते हैं जबकि अज्ञान रूपी रोग का विध्वंस करने में काव्य-रचनाएं आनन्ददायक अमृत के समान है[11] उन्हें सभी दशाओं और कालों में रस का अजस्र प्रवाह कहा गया है जिसके सम्मुख शास्त्रज्ञान हत-प्रभ है। इस प्रकार कुंतक ने कर्त्तव्यबोध, धर्मशिक्षण और व्यावहारिक ज्ञान आदि गौण प्रयोजनों के साथ-साथ लोकोत्तर आनन्दानुभूति को काव्य का सर्वोपरि फल अथवा प्रयोजन माना है।

अलंकृति, अलंकार्य और काव्यत्व

यों तो कुंतक ने उपमा आदि अलंकारों तथा शब्दार्थरूप अलंकार्यों की समष्टि में काव्य का अस्तित्व स्वीकार किया है किन्तु विषय-बोध तथा विवेचना की दृष्टि से वे तीनों का पृथक्-पृथक् विश्लेषण करना आवश्यक समझते हैं। ऐसा करने से काव्य के सौन्दर्यबोध में सुविधा और सुगमता रहती है। वस्तुतः अलंकृति ही अलंकरण है जिसके द्वारा अलंकृत किये जाने को अलंकार कहते हैं। काव्यशास्त्रीय ग्रंथों में अलंकृति, अलंकरण और अलंकार पदों का विवेचन भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से किया गया है। अलंकृति अथवा अलंकार के अलंकरणीय वाचक शब्द तथा वाच्यार्थ होते हैं जिनके समुदाय रूप वाक्य में तीनों का परस्पर अंतर्भाव रहता है। काव्यालंकारिक ग्रंथों में उनके पृथक्-पृथक् विश्लेषण की परम्परा रही है जिसका अनुगमन कुंतक ने भी किया है। ऐसा करना काव्यविषयक व्युत्पत्ति के लिए अत्यन्त उपादेय है क्योंकि काव्येतर शास्त्रग्रंथों में भी किसी समुदाय के अन्तःपाती असत्य पदार्थों का विवेचन करना अनेक कारणों से आवश्यक माना गया है। उदाहरणार्थ वैयाकरणों के मतानुसार वाक्य के अन्तर्गत पदों का और पदों के अन्तर्गत वर्णों का पृथक्-पृथक् अस्तित्व नहीं है, फिर भी विषय बोध की दृष्टि से पदों के अन्तर्गत प्रकृति और प्रत्यय का तथा वाक्य के अन्तर्गत पदों का विवेचन किया जाता है। यही स्थिति काव्य में शब्दार्थरूप अलंकार्य तथा उपमा आदि अलंकारों की है जिनकी समष्टि में काव्य की सत्ता होने पर भी उनका पृथक्-पृथक् विवेचन करना आवश्यक होता है। कुंतक ने इस प्रकार की विवेचना को काव्य-व्युत्पत्ति का उपाय कह कर अलंकार तथा अलंकार्य के पार्थक्य को तत्त्वतः असत्य माना है किन्तु विवेचन की दृष्टि से उन्होंने 'तत्त्व सालंकारस्य काव्यता' का सिद्धांत प्रतिष्ठित किया है जिसके अनुसार अलंकारयुक्त शब्दों और अर्थों की समष्टि में ही काव्य का सत्य स्वरूप अथवा उसकी काव्यता यथार्थ तत्त्व बनकर उपस्थित होती है। उनका यह मंतव्य निम्नलिखित कारिका तथा उसकी वृत्ति के रूप में व्यक्त हुआ है : —

अलंकृतिरलकार्यमपोद्धृत्य विवेच्यते।
तदुपायत या तत्त्वं सालंकारस्य काव्यता।[12]

काव्य का स्वरूप-लक्षण

कुंतक के मतानुसार 'अलंकार' काव्य का स्वरूपाधायक धर्म है। जिसे केवल

शोभाधायक धर्म नहीं कहा जा सकता। वामन ने 'काव्यालंकारसूत्रवृत्ति' के अंतर्गत 'सौन्दर्यमलंकार:' तथा काव्यग्राह्यमलंकारात्' सूत्रों द्वारा जिस रूप में अलंकार का लक्षण निर्धारित किया वह एक प्रकार से कुंतक की अलंकारविषयक मान्यता का ही समर्थन है। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ अलंकारों को काव्य के शोभाधायक धर्म मानते हैं। अपने अलंकारवादी दृष्टिकोण के कारण कुंतक ने काव्य का लक्षण निम्नलिखित कारिका में निरूपित करते हुए लिखा है—

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकवि व्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लाकारिणि ।।[13]

'शब्दार्थो सहितौ' की विवेचना

कुंतक के काव्य-लक्षण में 'शब्दार्थौ सहितौ' पदों का प्रयोग काव्य की शब्दार्थ-मयी स्थिति स्पष्ट करता है। उनके पूर्ववर्ती तथा परवर्ती आचार्यों ने भी शब्द और अर्थ के सहभाव में काव्य का अस्तित्व स्वीकार किया था। 'रघुवंश' के महाकाव्य के मंगला-चरण में कविशिरोमणि कालिदास ने पार्वतीपरमेश्वर की वंदना करते हुए उन्हें 'वागार्था विव सम्पृक्तौ' कहा है जो गोस्वामी तुलसीदास के 'गिरा अर्थ जल बीचि सम कहियत भिन्न, न भिन्न' की विचारधारा से पर्याप्त साम्य रखता है। वस्तुत: वाचक शब्द और वाच्य अर्थ मिलकर ही काव्य-पद के अधिकारी होते हैं। उनके पार्थक्य में 'काव्य' का स्वरूपलक्षण घटित किया ही नहीं जा सकता। सौन्दर्यातिशायी शब्द तथा चमत्कारकारी अर्थ को पृथक्-पृथक् मानने की परिकल्पना भी घूम-फिर कर दोनों की सम्पृक्ति ही सिद्ध करती है। पण्डितराज जगन्नाथ ने कालांतर में 'शब्द' पद पर बल देते हुए भी उसके पूर्व रमणीयार्थ प्रतिपादक' विशेषण अनिवार्यत: जोड़ा था जो शब्द की अर्थगत रमणीयता संकेतित करता है। रुद्रट और मम्मट के काव्यलक्षण भी 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यं' का समर्थन करते हैं। तात्त्विक दृष्टि से इस प्रकार की मान्यताएँ एक ही धरातल पर प्रतिष्ठित हैं जिनमें किसी प्रकार का अंतर्विरोध नहीं माना जा सकता।

कुंतक ने काव्य की शब्दार्थमयी सहभावास्थिति का स्पष्टीकरण 'तस्माद् द्वयोरपि प्रतितिलमिव तैलं' के उदाहरण द्वारा किया है जिसका यह अभिप्राय है कि जिस प्रकार प्रत्येक तिल में तैल रहता है उसी प्रकार शब्द और अर्थ इन दोनों में ही काव्यत्व होता है। वह काव्यत्व 'तद्विदाह्लादकारित्व' है अर्थात् उसमें आह्लादकारिता का सहज गुण स्वत: निहित रहता है। कुंतक का मत है कि शब्दार्थ रूप काव्यबंध में शब्दों और अर्थों के समायोजन की ऐसी व्यवस्था रहती है जिसका वक्रोक्तिपूर्ण कवि व्यापार काव्य मर्मज्ञों के लिए चित्ताह्लादकारी होता है। कुंतक ने कतिपय उदाहरणों द्वारा काव्य की आह्लादमयी प्रकृति का चित्रण करते हुए लिखा है कि किसी भी प्रकार के काव्यबंध में अनुप्रास आदि अलंकारों का केवल शब्दगत सौन्दर्य ही उसे रमणीयता प्रदान नहीं कर सकता अपितु उसके लिए अर्थ का चमत्कार भी वांछनीय है। प्रतिभाशाली कवियों की वाणी में ऐसी सहज शक्ति होती है जिसके कारण वे शब्द और अर्थ की सुन्दरता और

रमणीयता की सम्मिलित सृष्टि कर सकते हैं। उनकी रचनाओं में न तो उक्तिवैचित्र्य का दारिद्र्य होता है और न ग्राम्यत्व आदि दोषों की संभावना ही रहती है। सच तो यह है कि काव्यमर्मज्ञ सहृदयजन ही काव्य के पारखी होते हैं अतः उनका चित्तानुरंजन तथा आह्लादन ही काव्य परीक्षण का निकष समझा जाना चाहिए। कुंतक के मतानुसार न तो शोभातिशय शून्य वस्तुमात्र ही काव्य कहा जा सकता है और न किसी नैयायिक का अनुमान वाक्यमात्र ही काव्य का पर्याय हो सकता है। उनका यह अभिमत निम्नलिखित रूप में व्यक्त हुआ है—

वस्तुमात्रं च शोभातिशय शून्यं न काव्य व्यपदेशमर्हति। शुष्क तर्कवासनाधिवासित चेतसा प्रतिभा प्रतिभातमात्रमेव वस्तुनि न पुनर्वाचकवक्रताविच्छित्तिलवोऽपि लक्ष्यते।[14]

यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि शोभातिशयशून्य वस्तुमात्र काव्य नहीं है तो अप्रस्तुत प्रशंसा आदि अलंकारों में कहीं-कहीं चमत्कार शून्यत होने पर उनमें वस्तुमात्र का सहृदय हृदयाह्लादकारित्व क्यों माना है? इसका उत्तर देते हुए कुंतक ने लिखा है कि अन्योक्ति के रूप में अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार कवि तथा पाठक के चित्त में स्वतः स्फुटित होता है जिसकी पूर्व स्थिति भले ही अनगढ़ पत्थर के टुकड़े के समान प्रतीत होने वाली मणि के तुल्य हो किन्तु जब वह प्रतिभाशाली विदग्ध कवि की रचना में उपारूढ़ होता है तो अपनी परवर्ती स्थिति में शाणोल्लीढ मणि के समान आकर्षक और मनोहर बनकर काव्यमर्मज्ञों के चित्ताह्लादन का विषय हो ही जाती है।[15] आवश्यकता इस बात की है कि इस प्रकार की वस्तुवर्णना में कवि अवधानपूर्वक संभलकर चले जिससे उनकी काव्य सृष्टि में अद्भुत चमत्कार आ सके। यह चमत्कार शब्द और अर्थ की समष्टि अथवा व्याप्यवृत्ति में ही सम्भव है जिसका समर्थन भामह की निम्नलिखित उक्ति से भी होता है—

रूपकादिरलंकारस्तथा न्यैर्बहुधोदितः।
न कांतमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्॥[16]

कुंतक ने 'न शब्दस्यैव रमणीयता विशिष्टस्य केवलस्य काव्यत्वं, नाप्यर्थस्येति' द्वारा सिद्ध किया है कि न तो रमणीयता विशिष्ट शब्दमात्र ही काव्य कहा जा सकता है और न केवल अर्थ ही काव्य होता है। जो विद्वान् काव्य में शब्दालंकारों को प्रधान तथा अर्थालंकारों को बाह्य अथवा अप्रधान मानते हैं, उनसे कुंतक सहमत नहीं है। वस्तुतः काव्य के लिए शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों ही अभीष्ट हैं अतः उनके सम्मिलित रूप में ही काव्यत्व समझा जाना चाहिए। शब्द और अर्थ में से किसी एक की न्यूनता होने पर भी काव्य व्यवहार संभव है, इस आशंका से बचने के लिए ही काव्य लक्षण में 'सहितौ' पद का प्रयोग किया गया है क्योंकि सहभाव से स्थित 'साहित्य' पद ही अपने सम्मिलित रूप में काव्य कहलाता है। विवेचन के इसी प्रसंग में कुंतक ने लिखा है कि सभी वाक्यों में शब्द और अर्थ का सहभाव वांछनीय है जिसके कारण विशिष्ट प्रकार का साहित्य काव्यत्व का प्रयोजक होता है। उसकी प्रयोजकता इस बात में है कि वह वक्रता

के सन्निवेश से विचित्र बने हुए गुणों तथा अलंकारों की सम्पत्ति को परस्पर स्पर्धा के भाव में बटोर कर चले। कुंतक के कहने का अभिप्राय यह है कि सर्वगुणसमन्वित शब्द और अर्थ जब मित्रों के समान परस्पर संगति लेकर प्रयुक्त होते हैं तो वे एक-दूसरे के लिए शोभाजनक बनकर काव्य पद से अभिहित किये जाते हैं। उनका यह अभिमत निम्न-लिखित रूप में व्यक्त हुआ है—

"तेन शब्दार्थौ द्वौ सम्मिलितौ काव्यमिति स्थितं सहितौ सहितभावेन साहित्ये-नावस्थितौ। विशिष्टमेवेह साहित्यमभिप्रेतम्। कीदृशम्, वक्रतविचित्रगुणालंकारसम्पदां परस्पर स्पर्धाधिरोहः। तेन—

मम सर्वगुणौ सन्तौ सुहृदाविव संगतौ।
परस्परस्य शोभायै शब्दार्थौ भावतो यथा॥[17]

कुंतक के मतानुसार शब्दार्थों का वही सहभाव अथवा साहित्य काव्यकृति के रूप में वरेण्य है जिसमें अनुप्रासरूपिणी वर्णविन्यास वक्रता तो रमणीय होती ही है; साथ ही साथ उस वक्रता के सौन्दर्य से उत्पन्न उसकी अर्थगत लावण्यगुण सम्पत्ति भी शोभाति-शायी बनती है। उन्होंने अपने 'काव्यालंकार' में ऐसे अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए हैं जिनमें अप्रस्तुत प्रशंसा तथा उपमा आदि अर्थालंकारों के वैचित्र्य से उत्पन्न तथा अनुप्रास और यमक आदि शब्दालंकारों से सहज रूप में संघटित और मनोहर बनी हुई शब्दार्थमयी रचनाएँ अपने अपूर्व सौन्दर्य के कारण सहृदय जनों के लिए आह्लादजनक कही गई हैं। काव्य-लक्षण-निर्धारण के संदर्भ में प्रयुक्त 'बंधे व्यवस्थितौ' पद का भी यही अभिप्राय है कि काव्य के वाचकवाच्य शब्दार्थ जब उसकी वाक्य रचना अथवा बंधयोजना में व्यवस्थित अर्थात् लावण्य आदि गुणालंकारों से शोभित विन्यास से अवस्थित होते हैं तो वे शब्द और अर्थ के साथ परस्परस्पर्धित्व रूप साहित्य की सृष्टि कर पाते हैं। वस्तुतः जिस वाक्य का प्रत्येक शब्द दूसरे शब्द के साथ तथा प्रत्येक अर्थ दूसरे अर्थ के साथ अहमहमिका वृत्ति से प्रतिस्पर्धा करता हुआ सौन्दर्य सृष्टि करता चलता है, वही वाक्य साहित्ययुक्त काव्यपद का वाच्य होता है। कुंतक का उपर्युक्त काव्यलक्षण अनेक दृष्टियों से वैशिष्ट्यपरक व्यावहारिक और महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने काव्यबंध के लिए 'वक्रकविव्यापारशाली' तथा तद्विदाह्लादकारी 'विशेषणों' का प्रयोग सहेतुक किया है। काव्यबंध की कवि व्यापारयुक्त मनोहारिता इस बात में है कि वह शास्त्र आदि में प्रसिद्ध शब्द और अर्थ के उपनिबंधन से भिन्न होती है जिसके कारण छह प्रकार की वक्रताओं से युक्त काव्य साहित्य प्रशंसनीय कहलाता है। उसमें कवि-प्रतिभा की प्रौढ़ता प्रधान रूप से रहती है जिसके कारण वह काव्य-मर्मज्ञों के लिए आह्लाद का स्रोत सिद्ध होता है। इस प्रकार कुंतक के मतानुसार काव्य पद में शब्द और अर्थ की ऐसी समुचित व्यवस्था अपेक्षणीय है जो काव्य रसिकों के लिए आनंदानुभूति की विषय सामग्री बन सके।

शब्द और अर्थ के काव्यबोधक प्रयोग

कुंतक ने काव्य का सामान्य लक्षण निरूपण करने के पश्चात् उसके विशेष लक्षण की भी विवेचना की है जिसमें काव्य के अंगभूत शब्द और अर्थ का स्वरूप निहित है। यों तो साधारणत: वाच्य और वाचक पद क्रमश: अर्थ और शब्द के नाम से प्रसिद्ध हैं किन्तु काव्यमार्ग में केवल वाच्य को अर्थ तथा वाचक को ही शब्द नहीं कहा जाता।[18] इसका कारण यह है कि वाचक और वाच्य के अतिरिक्त द्योतक और व्यंजक नामक शब्द तथा द्योत्य और व्यंग्य नामक अर्थ भी होते हैं जिनका प्रयोग काव्यमार्ग की अलौकिक पद्धति में विशेष रूप से किया जाता है। लोक व्यवहार में शब्द और अर्थ का वाचकत्व तथा वाच्यत्व तो प्रसिद्ध ही है किन्तु काव्य-परम्परा में ही काव्यत्व के यथार्थ लक्षण नहीं हैं। कुंतक ने उनके अपूर्व रहस्य का उद्‌घाटन करते हुए लिखा है कि अन्य पर्यायवाची शब्दों के रहते हुए भी विवक्षित अर्थ का बोधक केवल एक शब्द ही वस्तुत: शब्द कहलाता है क्योंकि उसमें अन्य पर्यायवाची शब्दों की अपेक्षा अर्थ प्रकाशन की विलक्षण क्षमता होती है। काव्यमार्ग में ऐसा शब्द ही वास्तविक शब्द है जो अपने स्पंद स्वभाव से सुन्दर अर्थ की अभिव्यक्ति करता हुआ सहृदयजनों को आनंदित करता है।[19] ऐसा शब्द सामान्य रूप से विवक्षित अर्थ का अभिधान नहीं करता अपितु विशेष अर्थ का द्योतक अथवा व्यंजक होता है अत: उसे वाचक मात्र नहीं कहा जा सकता। विशेष अर्थ की गुणगरिमा अथवा व्यंजकता विशेष प्रकार के शब्दों में ही रहती है जिनका प्रसंगोचित प्रयोग काव्य-शोभा का प्रमुख हेतु है। कुंतक ने काव्यप्रयुक्त 'कौस्तुभ मणि'[20] तथा शिव के पर्यायवाची शब्द 'कपाली' के संदर्भगत औचित्य का उल्लेख करते हुए स्पष्ट किया है कि उनके स्थान पर किया गया अन्य पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग किसी भी रूप में अद्‌भुत चमत्कारजनक तथा आह्लादकारी नहीं हो सकता था। कुंतक का कथन है कि जहाँ विशेष रूप से वस्तु का प्रतिपादन करना अभिमत हो, वहाँ कविजन विशेष अर्थ के अभिधायक शब्द का ही प्रयोग करते हैं जिससे काव्य की वक्रता बढ़ जाती है। निम्नलिखित छंद में प्रयुक्त 'कपाली' शब्द की गुण गरिमा इसी दृष्टि से उल्लेखनीय है—

द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागम प्रार्थनया कपालिना।
कला च सा कांतिमती कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी।।[21]

कुंतक ने कवि विवक्षित विशेष अर्थ की अभिधान क्षमता को शब्द अथवा वाचकत्व का लक्षण माना है।[22] काव्यरचना के क्षणों में इस प्रकार के शब्द कवि-प्रतिभा में स्वत: स्फुरित होते हैं जिनके प्रसंगोचित प्रयोग द्वारा प्रकृत प्रकरण का गुणगौरव बढ़ जाता है। विशिष्ट अर्थों के अभिधान के लिए विशिष्ट शब्दों का प्रयोग सभी दृष्टियों से शोभनीय है। कवि पर इस बात का भी दायित्व है कि वह विशेष रूप से कथनीय पदार्थों के स्वरूप-चित्रण के समय ऐसे विशेषणों का प्रयोग करे जिनसे उनका रूप विधान अधिक चमत्कारपूर्ण बनकर प्रकट हो। काव्यमार्ग में जहाँ शब्द प्रयोगगत सावधानी अपेक्षणीय है; वहां अर्थगत रमणीयता भी कम स्पृहणीय नहीं है। काव्य में वही वाच्यार्थ अभिप्रेत है जो सहृदयजनों के लिए आह्लादकारी तथा स्वभाव से सुंदर (स्वस्पंदित) हो। यों तो

एक ही पदार्थ अनेक प्रकार के धर्मों से युक्त हो सकता है किन्तु काव्य की विषयवस्तु के अनुसार उसके जिस धर्म का उल्लेख आवश्यक हो, वही धर्म उसकी चित्रण कला में प्रभावान्विति उत्पन्न कर सकता है। उस धर्म में इस बात की सहज क्षमता होती है कि वह वर्ण्य वस्तु के अपूर्व स्वभाव की महत्ता अथवा रसपरिपोष की स्थिति प्रकट कर सकता है। कुंतक ने रघुवंश[23] मेघदूत[24] और बालरामायण[25] आदि काव्यकृतियों से प्रसंगगत उदाहरणों का चयन करते हुए इस विषय की विशेष विवेचना और व्याख्या की है कि चयनित छंदों में प्रयुक्त विशेष शब्द किस प्रकार विशेष अर्थों का द्योतन करते हैं जिनसे काव्य-मर्मज्ञों का मन: प्रसादन होता है। उनकी विवेचना में ऐसे उदाहरण भी उल्लिखित हुए हैं जिनमें शब्द प्रयोग का प्रसंगोचित अभिधान न होने के कारण न तो अर्थ में ही रमणीयता आ सकी है और न काव्यगुणों का गौरव ही संवर्द्धित हुआ है। निष्कर्ष यह है कि कुंतक ने 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' के लक्षण में शब्द और अर्थ का वैशिष्ट्य विशेष रूप से निरूपित किया है जिन्हें सामान्य रूप में ग्रहण नहीं करना चाहिए। काव्यबंध में विशिष्ट शब्दार्थों के विशिष्ट प्रयोग किए जाने पर न तो 'नैयार्थ' तथा 'अपार्थ' दोषों की संभावना ही रहती है और न उसके चमत्कार अथवा आह्लादत्व में ही कमी आती है।

वक्रोक्ति-तत्त्व का विश्लेषण

'वक्रोक्ति' पद की व्याख्या

कुंतक के मतानुसार शब्द और अर्थ दोनों ही अलंकार्य हैं जो अलंकार द्वारा अलंकरणीय अर्थात् शोभातिशयकारी किये जाते हैं।[26] उन दोनों का एकमात्र अलंकार वक्रोक्ति है जिससे वे अलंकृत होते हैं। कुंतक ने 'वक्रोक्ति' का अर्थ 'वैदग्धयभंगीभणिति' किया है जिसका यह अभिप्राय यह है कि प्रसिद्ध कथन से भिन्न प्रकार की विचित्र वर्णन शैली ही वक्रोक्ति कहलाती है।[27] वैदग्ध्य का अर्थ है चातुर्यपूर्ण कवि कर्म अथवा काव्य-निर्माण तथा भंगी का अर्थ है विच्छित्ति, शैली अथवा शोभा। भणिति को सामान्यत: उक्ति, कथन अथवा वर्णन भी कहा जा सकता है। इन पदों को मिलाने पर 'वैदग्ध्य-भंगीभणिति' का अर्थ 'विचित्र प्रकार की वर्णन शैली' सिद्ध होता है। कुंतक के कथन का यह अभिप्राय है कि काव्य में शब्दों और अर्थों की स्थिति अलंकार्य रूप में होती है जो उनसे भिन्न किसी अन्य अलंकार से युक्त किये जाते हैं। वक्रता वैचित्र्य के उपयोगी रूप से कथन करना ही उनका अलंकार है जिसके शोभातिशयकारी होने से वक्रता के अनेक भेद होते हैं। वस्तुत: वक्रोक्ति ही एक मात्र ऐसा अलंकार है जिसके अतिरिक्त काव्य का कोई जीवानुभूत अलंकार हो ही नहीं सकता।

'स्वभावोक्ति' का अर्थ बोध

वक्रोक्ति से जुड़ा हुआ पद स्वभावोक्ति है जिसे वाङ्मय के द्वितीय भेद के रूप में विवेचित किया जाता है। भामह और दण्डी आदि आचार्यों ने उसे अलंकार रूप माना है

जिसे कुंतक भी सभी रूपों में उपेक्षणीय नहीं समझते। कुंतक ने उसकी विवेचना उनसे भिन्न दृष्टिकोण रखते हुए की है। उनका तर्क है कि स्वभाव तो अलंकार्य होता है जिसे अलंकार मानने पर अलंकार्य किसे कहा जायगा ? स्वभावोक्ति का अर्थ जब स्वभाव का वर्णन है तो उसे अलंकार कहना किसी रूप में उचित नहीं है क्योंकि उससे भिन्न काव्य-शरीर स्थानीय अन्य अलंकार्य वस्तु हो ही नहीं सकती। वस्तुतः स्वभाव-वर्णन अलंकार न होकर अलंकार्य ही होता है। पारमार्थिक रूप से अलंकार और अलंकार्य का भेद निरूपण भले ही युक्ति संगत प्रतीत न हो, किन्तु भेद विवक्षा तथा विवेचन की दृष्टि से उनमें अंतर मानना अनिवार्य है। अलंकार्य रूप पदार्थ को अलंकार मानने पर उनका अंतर प्रतिपादित नहीं होता अतः कुंतक के मतानुसार स्वभावोक्ति का अलंकार पक्ष खण्डित हो जाता है क्योंकि स्वभाव के स्वरूप कथन के बिना वस्तु का वर्णन संभव नहीं हो सकता। स्वभाव रहित वस्तु की कल्पना को उन्होंने 'शश विषाण' अथवा 'वन्ध्यापुत्र' की भाँति असत्कल्प अथवा कपोलकल्पना मात्र माना है। उनका तो स्पष्ट कहना है कि स्वभाव व्यतिरेकेण अर्थात् स्वरूप के बिना स्वरूप रहित वस्तु का वर्णन किया ही नहीं जा सकता। स्वभाव रहित वस्तु तो 'निरूपाख्य' होती है।[28] उपाख्या का अर्थ 'शब्द' है जिससे निष्क्रान्त वर्णन किसी भी रूप में संभव नहीं है। यदि स्वभाव का अर्थ स्व का भाव अथवा स्वरूप किया जाय तो भी वह अलंकार्य रूप ही सिद्ध होता है। उसे अलंकार रूप में विवेचित करने पर तो गाड़ी हाँकने वाले व्यक्तियों के वाक्यों में भी सालंकारता अथवा काव्यत्व मानना पड़ेगा जो किसी भी रूप में अभीष्ट नहीं है। इस प्रकार कुंतक ने स्वभाव अथवा स्वरूप को काव्य का शरीर स्थानीय तत्त्व कह कर उसकी अलंकारता का निषेध किया है। इस विषय में उनकी निम्नलिखित कारिका उल्लेखनीय है जिसमें उन्होंने स्पष्ट कहा है कि यदि स्वभावोक्ति अर्थात् शरीर ही अलंकार मान लिया जाय तो वह कथन ऐसा ही होगा जैसे कोई स्वयं अपने कंधे पर चढ़ रहा है—

शरीरं चेदलंकारः किमलंकुरुते परम्।
आत्मैव नात्मनः स्कंधं क्वचिदप्यधिरोहति ॥[29]

कुंतक ने स्वभावोक्ति की अलंकाररूपता कुछ अन्य तर्कों द्वारा भी खण्डित की है। उनका कथन है कि यदि दुर्जनतोष न्याय के अनुसार स्वभावोक्ति को अलंकार मान भी लिया जाय तो उससे अनेक प्रकार की उलझनें उत्पन्न हो सकती हैं। उससे पहली कठिनाई तो यह उपस्थित होती है कि स्वभावोक्ति अथवा स्वभाव को अलंकार मानने पर उपमा आदि अलंकारों की रचना उन दोनों के भेद ज्ञान में विसंगति उत्पन्न कर देगी और दोनों की निरपेक्ष स्थिति में बाधा आ जायगी।[30] तब तो सर्वत्र संसृष्टि अथवा संकर अलंकारों का ही साम्राज्य स्थापित हो जायगा जिसके सम्मुख उपमा आदि अलंकार का निरपेक्ष अस्तित्व ही समाप्त हो जायगा।[31] अभिप्राय यह है कि स्वभावोक्ति को सभी दृष्टियों से अलंकार्य मानना ही युक्तिसंगत है ताकि उपमा आदि प्रधान अलंकारों का अस्तित्व सुरक्षित रहे तथा असम्भव एवं मिथ्या तर्कों का वितण्डा उपस्थित न हो।

'सहितौ' पद की सार्थकता

कुंतक ने काव्य को 'शब्दार्थौ सहितौ' मानने की परंपरा पूर्ववर्ती आचार्यों से ग्रहण करते हुए भी उसकी मौलिक विवेचना की है। उन्होंने उसके लक्षण वाक्य में प्रयुक्त 'सहितौ' पद की उपयोगिता सभी दृष्टियों से वांछनीय मानी है। यों तो 'नित्यः शब्दार्थसम्बन्धः' के अनुसार शब्द और अर्थ में नित्यसम्बन्ध होने के कारण उन दोनों की 'साहित्य' (साथ-साथ) प्रतीति होती है जिसके लिए 'सहितौ' पद जोड़ने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। 'शब्दार्थौ' मात्र ही काव्य का लक्षण माना जा सकता है, किन्तु कुंतक इसे पर्याप्त नहीं समझते। उनका कथन है कि शब्द और अर्थ का 'साहित्य' भले ही नित्यसिद्ध हो किन्तु काव्य के लक्षण-निर्धारण में उनके वाचकवाच्य रूप सम्बन्ध को लेकर ही उन्हें 'साहित्य' नहीं कहा जा सकता। नित्य सम्बन्धमूलक साहित्य का साहित्य शब्द से कथन मानने पर तो क्लिष्टकल्पनाविरचित गाङ्कुटादि वाक्य तथा गाड़ीवानों के असम्बन्ध प्रलाप भी साहित्य के अंतर्गत समाविष्ट किये जा सकते हैं।[32] वस्तुतः पद, वाक्य और प्रमाण से सम्बन्धित व्याकरण, मीमांसा और न्यायशास्त्रों से भिन्न स्थिति वाला साहित्य कुछ और ही तत्त्व है जिसका समावेश उनमें नहीं किया जा सकता। कुंतक ने उसी साहित्य को काव्य कहा है जिसमें कवि-कर्म का कौशल पराकाष्ठा पर पहुँच कर रमणीय और आह्लादजनक भावनाओं की सृष्टि करता है।[33] कुंतक के शब्दों में वह सरस्वती के हृदयारविन्द के मकरंदबिन्दु समूह से सुन्दर तथा सत्कवि के वाक्यों के आंतरिक आमोद से मनोहर रूप से अनुभूत होने वाला तत्त्व है जिसे उन्होंने सहृदयरूपी भ्रमरों के सम्मुख प्रस्तुत किया है।[34] उनके मतानुसार साहित्य का लक्षण निम्नलिखित कारिका और वृत्ति में निरूपित हुआ है—

साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रति काव्यसौ।
अन्यूनानतिरिक्त त्वमनोहारिण्यवस्थितिः ॥[35]

सहितयोर्भावः साहित्यम्। अनयोः शब्दार्थयोर्या काप्यलौकिकी चेतनचमत्कार कारितायाः कारणं, अवस्थितिविचित्रैव विन्यासभंगी। कीदृशी, अन्यूनानतिरिक्तमनोहारिणी, परस्परस्पर्धित्वरमणीया। यस्यां द्वयोरेकतरस्यापि न्यूनत्वं निकर्षो न विद्यते नाप्यतिरिक्तत्वमुत्कर्षो वास्तीत्यर्थः।[36]

कुंतक के मतानुसार 'शब्दार्थौ' पद के साथ प्रयुक्त 'सहितौ' शब्द 'साहित्य' का वाचक है। शब्द और अर्थ का सहितभाव ही साहित्य कहलाता है। वह उन दोनों के सहभाव की एक ऐसी अलौकिक अवस्थिति है जो सहृदय काव्य-मर्मज्ञों के आह्लाद की कारणभूत विचित्र रचना शैली अथवा वक्रोक्ति के माध्यम से व्यक्त होती है। उसमें शब्दों और अर्थों का समतुल्य सहभाव रहता है जिसमें न्यूनता तथा अधिकता का उच्चावचक्रम नहीं होता। इस प्रकार के अभाव में वह परस्परस्पर्धी होकर रमणीय अथवा शोभाशाली बनती है। वस्तुतः उसमें शब्द और अर्थ इन दोनों में से किसी का भी अपकर्ष अथवा उत्कर्ष नहीं रहता जिसके कारण वे अहमहमिका वृत्ति से परस्पर प्रतियोगी बनकर समभाव से अपना लोकोत्तर चमत्कार प्रकट करते हैं। ऐसी रचनाएँ ही सही

अर्थ में काव्य पद की अधिकारिणी मानी जाती हैं। एक वाक्य में कहा जा सकता है कि जिस रचना में शब्दों और अर्थों का यथायोग्य समायोजित स्वरूप अपनी वाक्य विन्यास सम्पत्सामग्री द्वारा सहृदयों के लिए आह्लादकारी बनकर पारस्पर स्पर्धा से प्रस्फुरित होता है वही विशिष्ट वाक्य रचना साहित्य कहलाती है। साहित्य के स्वरूप के लिए निम्नलिखित अंतर श्लोक उल्लेखनीय हैं—

मार्गानुगुण्यसुभगो माधुर्यादिगुणोदयः।
अलंकरणविन्यासो वक्रतातिशयन्वितः।
वृत्यौचित्यमनोहारि रसानां परिपोषणम्।
स्पर्धया विद्यते यत्र यथास्वमुभयोरपि।।
साकाप्यवस्थितितद्विदानंद स्पंदसुन्दरा।
पदादिवाक्परिस्पंदसारः साहित्यमुच्यते।।[37]

अर्थात् मार्गों (रीतियों) की अनुकूलता से सुंदर, माधुर्य आदि गुणों तथा वक्रता के अतिशय से युक्त अलंकारों का विन्यास जिसमें रहता है तथा जो वृत्तियों के औचित्य से मनोहारी रसों का परिपोषण करता हुआ तथा शब्द और अर्थ के परस्पर स्पर्धित्व को लेकर चलता है, वही वाङ्मय का सार अथवा सर्वोत्तम भाग साहित्य कहलाता है। उसमें शब्दों और अर्थों में ऐसी अनिवर्चनीय अलौकिकता रहती है जो व्याकरण, मीमांसा तथा न्यायशास्त्रों का निष्पंद लेकर काव्य मर्मज्ञों को आनन्दानुभूति के विभावन व्यापार में तल्लीन कर देती है।

वाङ्मय और काव्य साहित्य

यों तो व्याकरण, मीमांसा, न्याय तथा साहित्य आदि सभी शास्त्रग्रंथ वाङ्मय के ही विविध रूप हैं जिनमें शब्दार्थमयी वाक्ययोजना होती है किन्तु उनकी विषय सामग्री और विवेचन पद्धति में अंतर रहता है। व्याकरण शास्त्र का मूल विषय पदसंस्कारलक्षण व्यापार का विश्लेषण है जिसमें पदसम्बद्ध प्रातिपदिकार्थ, लिंग, परिमाण, वचन, कारक तथा आख्यातार्थषट्क आदि विषय सम्मिलित रहते हैं। मीमांसा में पदों के परस्परान्वयरूप सम्बन्धमूलक वाक्यार्थों का तात्पर्य विवेचित होता है तो न्यायशास्त्र में प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से उपपन्न विषयों का युक्तियुक्त प्रतिपादन किया जाता है। साहित्य की उपयोगिता इस बात में है कि वह अपनी वाक्य योजना अथवा रचना शैली द्वारा ऐसे स्वभावगत सौन्दर्य की अभिव्यक्ति करे जो सहृदयजनों के लिए आह्लादकारी हो। व्याकरण तथा न्याय आदि शास्त्रों में अपने-अपने विषयक्षेत्रों का प्राधांय तथा अन्य विषयों का गुणीभाव रहता है जबकि सम्पूर्ण वाङ्मय के प्राणभूत काव्य 'साहित्य' में कवि व्यापार का ही महत्त्व सर्वोपरि है। यों तो साहित्य के नाम पर भट्टिकाव्य जैसे व्याकरण प्रधान काव्यग्रंथ भी लिखे गये हैं जिनकी रचना में साहित्य का मुख्य कवि व्यापार गौण हो गया है तथापि उनमें साहित्य परिमल के संस्कारों का सर्वथा अभाव नहीं हो सका है। कुंतक की मान्यता है कि जिन कृतियों में शब्दार्थमयी रमणीयता, शोभा तथा आह्लादकारिता

की सामग्री संयोजित नहीं होती, उन्हें साहित्य कोटि में नहीं रखा जा सकता। उन्होंने काव्य साहित्य को संगीत कलाकल्प माना है जो संगीत-लहरियों की भाँति अपनी रचना के सौन्दर्य से काव्य-मर्मज्ञों को आनंदानुभूति में लीन कर देता है।[38] वस्तुत: उसमें अर्थ प्रतीति के पश्चात् पद वाक्यार्थों से भिन्न व्यंग्य रूप पानक रस का अपूर्व आस्वाद होता है जिसका आनंद अलौकिक तथा अपूर्व है।[39] जिस प्रकार प्राणों के बिना शरीर और स्फूर्ति के बिना जीवन निर्जीव और व्यर्थ है उसी प्रकार साहित्य के बिना विद्वानों के वाक्य निर्जीव, आकर्षणहीन तथा चमत्कार रहित हो जाते हैं।[40]

वक्रता के भेद और काव्यबंध

कुंतक ने कविव्यापार से सम्बन्धित वक्रता के प्रमुख छह भेद माने हैं जो अपने वैचित्र्य के कारण शोभातिशाली बनकर अनेक भेदों के रूप में परिकल्पित किये जाते हैं। उनके नाम निम्नलिखित हैं—1. वर्णविन्यासवक्रता, 2. पदपूर्वार्द्धवक्रता, 3. पद परार्द्ध वक्रता, 4. वस्तुवाक्यवक्रता, 5. प्रकरण वक्रता तथा 6. प्रबंध वक्रता। वक्रोक्तिजीवित के प्रथमोन्मेष में इसका सामान्य परिचय मात्र उल्लिखित है जिनके भेद-प्रभेदों का विश्लेषण परवर्ती उन्मेषों में अत्यन्त वैशद्यपूर्वक किया गया है। काव्यबंध की व्यवस्था को समझने के पूर्व वक्रताओं का सामान्य बोध आवश्यक है क्योंकि जब तक वर्ण से लेकर प्रबंध पर्यन्त व्याप्त वक्रताओं का प्रारम्भिक ज्ञान नहीं किया जाता तब तक न तो उनका काव्यबंध ही समझा जा सकता है और न काव्य-मार्गों में ही प्रवेश करना सम्भव है। कुंतक ने इसी क्रम में 'बंध' का लक्षण निरूपित करते हुए लिखा है कि वाच्य तथा वाचक अर्थात् अर्थ और शब्द के चेतन चमत्कारित्व रूप सौभाग्य तथा रचना सौंदर्य रूप लावण्य के परिपोषक व्यापार से युक्त वाक्य रचना को बंध कहते हैं।[41] काव्यबंध के कारण ही काव्यकृतियों में सहृदयश्लाघ्य आह्लादकारी तत्त्व उन्मेषित होता है। उन्होंने सहृदय-हृदयाह्लादत्व को एक ऐसा रमणीय और अपूर्व वस्तुधर्म माना है जो वाच्य, वाचक तथा वक्रोक्ति के लोकोत्तर अतिशय से परिपूर्ण और आमोद सुन्दर होता है।[42] शब्द, अर्थ और अलंकार का त्रितय जब कवि प्रतिभा जैसे 'सहज' तथा व्युत्पत्त्यभ्यास जैसे 'आहार्य' हेतुओं से रूपायित होकर काव्य रचना के रूप में व्यक्त होता है तो उसे ही श्रेष्ठ काव्य के गौरव से अभिषिक्त किया जाता है। कुंतक ने इसी संदर्भ में काव्यमार्गों का विवेचन किया है जिनका निर्माण कवि स्वभाव के अनुसार होता है तथा जिन्हें काव्य के विशेष लक्षण के रूप में विवेचित करना युक्तिसंगत है।

काव्य के त्रिविध मार्ग

कुंतक ने काव्य का सामान्य लक्षण निरूपित करने के पश्चात् उसके विशेष लक्षण का उल्लेख किया है। ऐसा करने के लिए उन्होंने काव्य के त्रिविध मार्गों की अवतारणा की है। उन्होंने अत्यन्त दृढ़तापूर्वक अपना निर्णय देते हुए लिखा है कि काव्य के केवल तीन ही मार्ग हो सकते हैं जिनकी संख्या में कमी-बेशी नहीं की जा सकती। संगीत प्रयुक्त सप्त स्वरों की भाँति उनकी संख्या भी नियत और निश्चित है। कुंतक ने

उन मार्गों को कवियों के काव्य रचना रूप कार्य के लिए 'प्रस्थान हेतु' कहा है जिनका अनुगमन करते हुए कविजन काव्य-रचना में प्रवृत्त होते हैं। उन काव्यमार्गों के नाम 'सुकुमार', 'विचित्र' और 'मध्यम' हैं। मध्यम मार्ग उभयात्मक है जिसमें सुकुमार और विचित्र मार्गों का सम्मिलन रहता है।[43] उसे इन दोनों को छायोपजीवी भी कहा जा सकता है।

कुंतक का काव्यमार्ग-प्रवर्तन उनके पूर्ववर्ती आचार्यों की मान्यताओं के परिशीलन का परिणाम है। उनके पूर्व आचार्य वामन ने विदर्भ आदि देश विशेषों के आश्रय से वैदर्भी आदि रीतियों का वर्णन करते हुए उन्हें उत्तम, मध्यम एवं अधम नामक प्रकारों में विभक्त किया था।[44] दण्डी ने वैदर्भ और गौडीय नाम से द्विविध काव्य-मार्गों की प्रतिष्ठा की।[45] कुंतक ने उपर्युक्त दोनों मतों को युक्तिसंगत नहीं माना है। उनका कथन है कि यदि वामन के मतानुसार देशभेदों के आधार पर रीतियों का विवेचन किया जायगा तो उनकी अनंतता स्वीकार करनी पड़ेगी। देश विशेष के आचार-विचार, लोक व्यवहार तथा सामाजिक जीवन के इतने अधिक पक्ष हैं जिनकी इयत्ता का कोई अंत नहीं है। उनके आधार पर की गई रीति-विवेचना में व्यवस्था का संचार असम्भव कल्प है। कुंतक का कथन है कि देश धर्म केवल वृद्धों की व्यवहार परम्परा पर आश्रित है अतः उसका अनुष्ठान किसी देश विशेष की क्षेत्र सीमा तथा मर्यादा तक ही सीमित रहता है जबकि काव्य-रचना के लिए इस प्रकार का प्रतिबंध नहीं लगाया जा सकता। सारस्वत कवि प्रतिभा न तो आज तक देश काल की सीमाओं में बांधी गई है और न भविष्य में भी बाँधी जा सकेगी। ऐसी स्थिति में विदर्भ अथवा पांचाल देशों के नाम पर वैदर्भी अथवा पांचाली रीतियों का प्रवर्तन करना किसी भी रूप में तर्कयुक्त नहीं कहा जा सकता।

कुंतक ने काव्यरचना पद्धति को अद्‌भुत और विलक्षण माना है। उसे दाक्षिणात्यों की गीत परम्परा तथा स्वर साधना के तुल्य स्वाभाविक मानना अनुचित है। काव्य रचना की साधारण 'स्वाभाविकता' तो उसे सभी श्रेणियों के लिए सुगम और हृदयहारी बना देती है जिसके कारण कवि-प्रतिभा का वैशिष्ट्‌य और लोकोत्तरत्व कहीं का भी नहीं रहता। उस स्थिति में तो सभी श्रेणियों के लोगों के लिए काव्य-रचना सुलभ हो सकती है। कुंतक के मतानुसार 'कवित्व शक्ति' भले ही सबके लिए स्वाभाविक मान ली जाय किन्तु व्युत्पत्ति आदि आहार्य कारण सामग्री भी काव्य रचना के लिए वांछनीय है जो किसी कहा विशेष तक सीमित अथवा प्रतिनियत नहीं जा सकती की। प्रतिभाशाली कवियों का न तो देशगत विशिष्ट समाज होता है और न उन्हें देश विशेष से निष्कासित ही किया जा सकता है। उनकी गति तो सर्वत्र अप्रतिहत रहती है अतः उनके द्वारा गृहीत काव्यमार्गों को देश विशेष के नाम पर अभिहित करना किसी भी रूप में समुचित नहीं है।

कुंतक ने वामन-प्रतिपादित वैदर्भी आदि काव्य रीतियों को न तो देश विशेष के आधार पर ही सुग्राह्य माना है और न वे उनकी उपादेयता के तारतम्य में ही विश्वास करते हैं। सच तो यह है कि सहृदयहृदयाह्लादकारी काव्य-रचना में वैदर्भी की उत्तमता

तथा पांचाली और गौडी की मध्यमता और अधमता का वर्ग विभेद करना व्यर्थ है क्योंकि ऐसा कोई नियम नहीं है जिसके अनुसार उनकी उच्चावचता का निर्णय किया जा सके। वामन ने भी रीतियों के ग्रहण तथा परित्याग के विषय में कहीं पर भी कोई निश्चित निर्देश नहीं किया है। ऐसी स्थिति में देश विशेष के आश्रय से उनका निर्वचन (नाम-करण) तथा प्रकार निर्धारण करना निःसार वस्तु का परिमलन व्यसनमात्र है।

कुंतक के मतानुसार देश भेद के आधार पर किया जाने वाला काव्यमार्ग भेद दोषपूर्ण है अतः उसका विभाजन कवियों के स्वभाव भेद के अनुरूप ही किया जाना चाहिए। सुकुमार स्वभाव वाले कवियों में काव्य-रचना की सहज सुकुमार शक्ति होती है जिससे वे सुकुमार व्युत्पत्ति उपार्जित करते हैं। इन दोनों का आश्रय लेकर ऐसे कवि जिस काव्य-मार्ग पर चलते हैं उसका निर्माण तथा अभ्यास भी उनके सुकुमार स्वभाव का ही परिणाम होता है।

काव्य-रचना का दूसरा प्रस्थान-हेतु विचित्र मार्ग कहलाता है। वह सुकुमार मार्ग से भिन्न तथा विचित्र होता है जिसमें कवियों की स्वभावगत रमणीयता तथा तदनुरूप काव्य रचना की शक्ति निहित रहती है। अपनी वैदग्ध्यमयी व्युत्पत्ति के कारण इस स्वभाव वाले कवि वैचित्र्य-वासना से अधिवासित होकर काव्य निर्माण का अभ्यास करते हैं। सुकुमार तथा विचित्र स्वभाव से शबलीकृत कवि जिस प्रकार की काव्य रचना में प्रवृति होते हैं उसमें उपर्युक्त दोनों प्रकार के स्वभावों का समन्वय होने के कारण उन्हें मध्यम अथवा उभयात्मक कोटि में रखा जाता है। वस्तुतः काव्य सर्जना में इन तीनों स्वभावों तथा मार्गों के अतिरिक्त अन्य कोई वर्ग नहीं होता। अपनी-अपनी प्रतिभा, व्युत्पत्ति तथा अभ्यास की क्षमता के अनुसार सभी कवि इन मार्गों का अलंकरण करते हुए अपना रचना-कौशल प्रदर्शित करते हैं। कुंतक का कथन है कि कवियों का स्वभावगत वैशिष्ट्य अथवा उनकी भिन्न-भिन्न इकाइयाँ होने के कारण कवियों के काव्यमार्ग भी अनंत हो सकते हैं किन्तु उनकी गणना असम्भव होने के कारण उन्हें केवल तीन स्वभावों तथा मार्गों में विभक्त करना ही युक्तिसंगत है। इन स्वभावों के अनुसार काव्यों के भी तीन भेद किये जा सकते हैं जिन्हें सुकुमार, विचित्र तथा मध्यम (उभयात्मक) नाम दिया गया है। इन तीनों भेदों का अपना-अपना वैशिष्ट्य अथवा औत्कृष्ट्य है अतः उनकी उत्तमता तथा मध्यमता आदि का वर्ग भेद उपचार मात्र है। सुकुमार और विचित्र संज्ञक काव्य शक्तियों की आंतरिकता स्वभाविक होती है किन्तु व्युत्पत्ति और अभ्यास उसके व्यावहारिक आहार्य हैं। इनकी स्वाभाविकता तथा वाह्यपरकता का पृथक्कीकरण करते हुए काव्य का विभाजन करना तात्त्विक नहीं है क्योंकि काव्य रचना अथवा अन्य विषयों में भी अनादि वासना के अभ्यास से संस्कृत चित्त वाले व्यक्ति अपने स्वभाव के अनुसार ही व्युत्पत्ति तथा अभ्यास की साधना करते हैं। वस्तुतः स्वभाव और व्युत्पत्यभ्यास में उपकार्यउपकारक सम्बन्ध है जो सभी श्रेणियों के प्राणियों तथा जड़ पदार्थों में भी प्रदर्शित होता है। कुंतक ने अपनी इस मान्यता का स्पष्टीकरण करने के लिए चन्द्रकांत-मणियों का उदाहरण प्रस्तुत किया है जो चन्द्रमा की किरणों के स्पर्श मात्र से द्रवित होकर

अपना स्वभाव प्रकट करती हैं। वस्तुतः स्वभाव, व्युत्पत्ति और अभ्यास परस्पर जुड़े हुए हैं अतः कवियों के स्वभावगत व्युत्पत्त्यभ्यास के आधार पर किये जाने वाले काव्यमार्गों का विभाजन सभी दृष्टियों से युक्तिसंगत और सुग्राह्य ही कहा जा सकता है।

सुकुमार काव्यमार्ग

कुंतक ने कविस्वभावगत काव्यमार्गों का प्रवर्तन करते हुए उनका वैशिष्ट्य निरूपित किया है। 'सुकुमार' मार्ग को उन्होंने नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा से उद्भिन्न तथा नवीन शब्दों और लोकोत्तर अर्थों से मनोहर माना है जिसके अनुगामी कवि अनायासपूर्वक अपना विशिष्ट काव्यालंकरण प्रस्तुत करने में समर्थ होते हैं।[46] उसके स्वरूप का विशदीकरण करते हुए उन्होंने लिखा है कि सुकुमार मार्ग पदार्थों के स्वभाव के प्राधान्य द्वारा कृत्रिम (आहार्य) कौशल की उपेक्षा करता हुआ सहृदयजनों के मनः प्रसादन का हेतु होता है।[47] उसे 'अविभावितसंस्थानरामणीयकरंजक' तथा 'विधि-वैदग्ध्य निष्पन्न निर्माणातिशयोपम' भी कहा जाता है।[48] उसमें प्रतिभोद्भूत वैचित्र्य का सहज समावेश रहता है जिस पर चलने वाले सत्कवि प्रफुल्लित कुसुमकानन में विहार करने वाले मधुकरों की भाँति गुंजार करते हुए अपने सुकुमार स्वभाव की व्यंजना करते हैं।[49]

सुकुमार काव्यमार्ग अन्य मार्गों से उत्कृष्ट और अनुपम है। उसके अनुगामी कवियों की संख्या विरल है। कालिदास आदि कवियों द्वारा वह प्रशस्त किया गया है जिनकी रचनाओं में काव्य-मकरंद माधुर्य सुवासित है। उसमें विश्व का वैचित्र्यमय सौन्दर्य वक्रोक्ति-तत्त्व के माध्यम से व्यक्त होता हुआ जिस आभिजात्य की सृष्टि करता है, उसमें हृदयहारिणी रमणीयता तथा शोभा संचरित रहती है। उसका 'बंध' अम्लान प्रतिभा से समुद्भूत होने वाली अभिनव शब्द-योजना और अर्थ व्यंजना के कारण सुन्दर होता है जिसमें प्रयुक्त अलंकार अपनी सहज शोभा से अभिमण्डित तथा काव्यदोषों से अनुपहत रहते हैं। जन्म-जन्मान्तरों के उत्तम संस्कारों से सुवासित कविजन ही उसके कुशल उद्भावक हैं जिनके काव्यबंध को 'अयत्नविहितस्वल्पमनोहारिविभूषण' कहा गया है। कुंतक ने 'रघुवंश' तथा 'कुमारसम्भव' से अनेक छंद उद्धृत करते हुए उसका काव्य सौन्दर्य और वैचित्र्य विवेचित किया है जिनके अनुशीलन द्वारा सुकुमार मार्ग की विशेषताओं का उद्घाटन किया जा सकता है।

कुंतक के मतानुसार सुकुमार मार्ग की और भी अनेक विशेषताएँ हैं। उसकी स्वभावोक्ति में अद्भुत चमत्कार और सौन्दर्य रहता है। उसका काव्यबंध रस-मर्मज्ञों के हृदयसंवेदन के अनुरूप होता है। कुंतक ने उसकी लक्षणपरक कारिकाओं में उससे सम्बद्ध शब्दालंकारों के सौन्दर्य के साथ-साथ वर्ण्य वस्तु के सौकुमार्य आदि विषयों का भी निरूपण किया है जिससे पता चलता है कि उसमें अन्य मार्गों से भिन्न अविरोधी वैचित्र्य का निरपेक्ष सन्निवेश सहज भाव से किया जाता है।

सुकुमार मार्ग के गुण

कुंतक ने सुकुमार मार्ग के लक्षण क्रम में उसके गुणों का भी विवेचन किया है। उसका प्रथम गुण 'माधुर्य' है जिसमें समास रहित मनोहर पदों का विन्यास किया जाता है। वे पद श्रुतिरम्य और अर्थरमणीय होने के कारण हृदयाह्लादक कहे जाते हैं।[50] इस मार्ग का दूसरा गुण 'प्रसाद' है जो रस और वक्रोक्ति के विषय में बिना क्लेश के ही काव्य रचना का अभिप्राय व्यक्त कर देता है। अनायास भाव से अर्थ का त्वरित प्रबोध कराना इसका प्रमुख प्रयोजन है।[51] लावण्य गुण में वर्ण विन्यास के सौन्दर्य से युक्त पदों की योजना की जाती है जो अपनी अल्प सम्पदा से उत्पन्न रचना का सौष्ठव व्यंजित करती है।[52] उसका बंध सौन्दर्य अत्यंत हृदयहारी और प्रभावपूर्ण होता है। इस मार्ग का चतुर्थ गुण 'आभिजात्य' है जो श्रुतिपेशल होने के साथ-साथ चित्तस्पर्शी भी होता है। कुंतक ने उसे स्वभावमसृग कहा है जिसका काव्यबंध अपूर्व कांति का उन्मेषकारी है।[53]

यहाँ पर एक शंका उत्पन्न होती है कि सुकुमार मार्ग के जिन चार गुणों का विवेचन किया गया, उनमें लावण्य और आभिजात्य शब्द सामान्यत: किसी रमणी के सौन्दर्य बोधक वस्तु धर्म के रूप में लोक प्रसिद्ध हैं अत: उन्हें काव्य के गुण अथवा धर्म के रूप में कैसे ग्रहण किया जा सकता है ? इसका उत्तर देते हुए कुंतक ने लिखा है कि यदि उपर्युक्त तथ्य स्वीकार कर लिया जाय तब तो प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रतिपादित माधुर्य और प्रसाद गुण भी काव्य के धर्म नहीं कहे जा सकते क्योंकि लौकिक व्यवहार में 'माधुर्य' पद गुड और शर्करा आदि मधुर पदार्थों के धर्मरूप में प्रसिद्ध हैं। काव्य गुण के रूप में माधुर्य शब्द का प्रयोग उपचार अथवा गौणी वृत्ति से किया जाता है जिसका अर्थ मधुर पदार्थों के समान उसका आह्लादकारित्व साधर्म्य है। आचार्यों ने जिस अर्थ में प्रसाद गुण को स्वच्छ जल अथवा स्फटिक आदि पदार्थों के धर्मरूप में विवेचित किया है, उसका गौणी वृत्ति से यह अर्थ निकलता है कि वह स्फुटावभासित्व रूप साधर्म्य द्वारा त्वरित अर्थ प्रतीति का बोधक है। माधुर्य और प्रसाद गुणों के औपचारिक प्रयोग की भाँति लावण्य गुण की भी व्याख्या की जा सकती है। सुकुमार काव्यमार्ग का यह गुण कवि-प्रतिभा के कौशल से समुल्लसित होने वाली कांति से रमणीय रचना का प्रतीक बनकर सहृदयजनों के चित्त में चमत्कार उत्पन्न करता है अत: इसे चमत्कारोत्पादक साधर्म्य के उपचार से ही ग्रहण किया जाना चाहिए। ध्वन्यालोक में प्रतीयमान अर्थ को जिस रूप में रमणियों के लावण्य से उपमित किया गया है उसके अनुसार लावण्यगुणयुक्त काव्य-बंध अत्यन्त आकर्षक और चिन्तानुरंजक होता है। कुंतक के मतानुसार सत्कवियों का वाणी वैभव सकल लोक संवेद्य है जिसकी अभिव्यक्ति में लावण्य गुण परम उपयोगी है। आभिजात्य गुण की विवेचना भी इसी प्रकार के उपचार अथवा गुणीभाव से की जा सकती है।

'विचित्र' काव्यमार्ग

कुंतक ने काव्य के विचित्र मार्ग के प्रमुख लक्षण अग्रलिखित रूप में विवेचित

किए हैं जो वक्रोक्तिजीवित के प्रथमोन्मेष में कारिका संख्या 34 से लेकर 43 तक निरूपित हुए हैं। उनका विवरण इस प्रकार है—

1. उसमें कवि प्रतिभा के प्रथम उद्भेद के समय शब्द और अर्थ के भीतर अपूर्व प्रकार की वक्रता प्रस्फुरित होती हुई-सी प्रतीत होती है।
2. उसमें कवि एक ही अलंकार से संतुष्ट न होने के कारण एक ही अलंकार में दूसरे अलंकारों को उसी प्रकार जोड़ते हैं जिस प्रकार हार आदि में मणियों को निबंधित किया जाता है।
3. जिस प्रकार रत्न किरणों की छटा के बाहुल्य से चमकते हुए अलंकारों से आच्छादित किया हुआ किसी कांता का शरीर और भी अधिक भूषित होता है, उसी प्रकार विचित्र मार्ग में काव्य को अनेक अलंकारों से अलंकृत करने का प्रयत्न किया जाता है।
4. इस मार्ग में भ्राजमान अलंकारों द्वारा अपनी स्वाभाविक शोभा के भीतर छिपा हुआ अलंकार्य अपने ही स्वरूप से प्रकाशित होता है।
5. विचित्र मार्ग में प्राचीन कवियों द्वारा वर्णित वस्तु भी उक्ति के वैचित्र्यमात्र से सौन्दर्य की चरम सीमा पर पहुँचा दी जाती है।
6. इस मार्ग में महाकवि के प्रतिभा-प्रयोग के प्रभाव से अन्य प्रकार की सौंदर्य-हीन वस्तु भी कवि की अपनी रुचि के अनुसार लोकोत्तर सौन्दर्यमयी बना दी जाती है।
7. इसमें वाच्यवाचकवृत्ति से भिन्न किसी अन्य अनिर्वचनीय वाक्यार्थ की प्रतीयमानता की रचना की जाती है।
8. इसमें किसी कमनीय वैचित्र्य से परिपोषित और सरस अभिप्राय वाले पदार्थों का स्वभाव वर्णन किया जाता है।
9. जहाँ वक्रोक्ति का वैचित्र्य ही जीवन के समान प्रतीत होता है तथा जिसके भीतर किसी अपूर्व अतिशय की अभिधा स्फुरित होती है, उसे विचित्र मार्ग कहते हैं।
10. जिस प्रकार सुभटों के मनोरथ खंगधारा के मार्ग पर चलते हैं उसी प्रकार चतुर कवि जिस काव्यमार्ग का अवलम्बन करते हुए अपने काव्यों की रचना करते हैं, वह विचित्र मार्ग खंगधारा के समान अत्यंत कठिन और दुःसंचर है।

'विचित्र' मार्ग के गुण

कुंतक ने उपर्युक्त दस लक्षणों में विचित्र मार्ग का वर्णन करते हुए उसका वैशिष्ट्य निरूपित किया है। इन लक्षणों के वृत्तिभाग में इनकी सुबोध व्याख्या करते हुए उन्हें विविध उदाहरणों की विवेचना द्वारा स्पष्ट किया गया है। तदनंतर इस मार्ग के गुणों का उल्लेख हुआ है। विचित्र मार्ग का माधुर्य गुण पदों के वैदग्ध्य का प्रदर्शक

होता है जिसकी रचना में किसी प्रकार का शैथिल्य न होने के कारण उसका काव्यबंध उसके रचना सौन्दर्य की वृद्धि करता है।[54] इसके प्रसाद गुण में समास रहित पदों का संयोजन किया जाता है जिनमें कहीं-कहीं ओज गुण का भी संस्पर्श रहता है ।[55] ओज के संस्पर्श के कारण इसकी पद रचना विरल समासमयी हो जाती है। विचित्र मार्ग की प्रसाद गुणमयी रचना में प्रयुक्त वाक्य अथवा पदसमुदाय में ऐसे अन्य वाक्य जोड़ दिए जाते हैं जो अलौकिक सौंदर्य के व्यंजक अथवा समर्थक हों।[56] कुंतक ने इसकी रचना शैली का अपूर्व क्रम माना है जो प्रयुक्त पदों में परस्पर अन्वित रूप से व्यक्त होता है। इस मार्ग का लावण्य गुण सुकुमार मार्ग से मिलता-जुलता होता हुआ भी उससे कुछ भिन्न विशेषताएँ भी रखता है। इसके पद एक-दूसरे से मिले हुए रहते हैं जिनके अंत में विसर्गों का लोप नहीं होता तथा संयोग से पूर्व ह्रस्व पदों का प्रयोग किए जाने से काव्य-बंध के लावण्य की वृद्धि होती है ।[57] इस प्रकार के पदों का प्रयोग इस मार्ग के लावण्य गुण के अतिशय का जनक माना जाता है। विचित्र मार्ग का आभिजात्य गुण न तो अधिक कोमलता की छाया से युक्त होता है और न उसमें अधिक कठोरता ही पाई जाती है। उसकी प्रौढ़ि में हृदयहारिणी रम्यता सहज भाव से संग्रथित रहती है ।[58]

'मध्यम' काव्यमार्ग और उसके गुण

काव्य का मध्यम मार्ग सुकुमार और विचित्र मार्गों का छायोपजीवी है जिसे उभयात्मक भी कहा जाता है। इसमें काव्य की सुकुमारता और विचित्रता का सहज सम्मिश्रण रहता है। वह स्वाभाविक प्रतिभा तथा आहार्य व्युत्पत्ति के शोभातिशय से युक्त तथा माधुर्य आदि से समन्वित होता है।[59] इसमें मध्यम वृत्ति का ऐसा अवलम्बन लिया जाता है जिससे रचना का सौन्दर्यातिशय पुष्ट होता है।[60] कुंतक के मतानुसार इस मार्ग में सुकुमार और विचित्र मार्गों का सौन्दर्य स्पर्धापूर्वक विद्यमान होता है। यह विभिन्न प्रकार की रुचियों वाले सहृदयों के लिए मनोहर तथा सौन्दर्यान्वेषी रसिक जनों के लिए प्रीतिकर माना गया है। जिस प्रकार रसिकवृत्ति वाले नागरिकों के मन में रंग विचित्र वस्त्रादि की वेशभूषा के प्रति विशेष आकर्षण होता है। उसी प्रकार सौन्दर्य के विशेष प्रेमी कविजनों के मन में इस मार्ग के प्रति विशेष प्रवृत्ति रहती है।[61] इस मार्ग में माधुर्य, प्रसाद, लावण्य तथा आभिजात्य नामक काव्य गुणों की गणना की जाती है जिनके लक्षण सुकुमार और विचित्र मार्गों के गुणों के अनुरूप हैं। कुंतक ने उनके लक्षणों का पृथक् विवेचन न करते हुए केवल उनके उदाहरण दिए हैं। जिनमें माधुर्य गुण का शैथिल्य रहित सुन्दर रचना रूप तथा लावण्य और आभिजात्य गुण का निदर्शन प्रस्तुत हुआ है। कुंतक ने विविध मार्ग सम्बद्ध गुण चतुष्टय की विवेचना करने के पश्चात् 'औचित्य' तथा 'सौभाग्य' नामक दो अन्य साधारण गुण भी माने हैं जिनके लक्षण निम्न-लिखित हैं—

औचित्य गुण—आंजसेन स्वभावस्य महत्वं येन पोष्यते।
प्रकारेण तदौचित्यमुचिताख्यान जीवितम् ॥

यत्र वक्तुः प्रभातुर्वा वाच्यं शोभातिशायिना ।
आच्छाद्यते स्वभावेन तदप्यौचित्यमुच्यते ।।[62]

सौभाग्य गुण—इत्युपादेयवर्गेऽस्मिन् यदर्थं प्रतिभा कवेः ।
सम्यक् संरभते तस्य गुणः सौभाग्यमुच्यते ।।
सर्वसम्पत्परस्पन्द सम्पाद्यं सरसात्मनाम् ।
अलौकिकचमत्कारकारि काव्यैक जीवितम् ।।[63]

कुंतक ने उपर्युक्त दोनों गुणों के विषय में जो कारिकाएँ लिखी हैं उनसे स्पष्ट है कि उचित वर्णन ही जिसका प्राण है, ऐसे स्वभाव का महत्त्व औचित्य गुण द्वारा स्पष्ट रूप से परिपुष्ट किया जाता है । इस गुण में वक्ता अथवा प्रमाता के शोभातिशय युक्त स्वभाव से वाच्य वस्तु आच्छादित हो जाती है। सौभाग्य नामक गुण उस वस्तु का सौन्दर्य रूप गुण है जिसमें कवि की प्रतिभा शब्दादि रूप उपादेय वर्ग में अर्थ ग्रहण करने के लिए विशेष रूप से प्रयत्नशील होती है । यह गुण केवल प्रतिभा के व्यापारमात्र से साध्य नहीं है अपितु कवि अथवा काव्य के लिए विहित समस्त सामग्री से सम्पादन करने योग्य है। उस सामग्री में व्युत्पत्ति, वक्रोक्ति, गुण और मार्ग आदि सम्मिलित हैं जो सहृदयों के लिए अलौकिक चमत्कारी और काव्य के लिए प्राणस्वरूप हैं । ये दोनों गुण पूर्वोक्त तीन मार्गों, पदों, वाक्यों तथा रचना में व्यापक एवम् उज्ज्वल रूप में रहते हैं। कहीं-कहीं प्रबंध काव्य के किसी प्रकरण विशेष में औचित्य गुण का अभाव होने पर सम्पूर्ण काव्य उसी प्रकार दूषित हो जाता है जिस प्रकार किसी अंश विशेष (टुकड़ा) के जल जाने पर कोई वस्त्र दूषित हो जाता है। कुंतक ने इसे 'एक देशदाह दूषित पट' की शब्दावली में व्यक्त किया है ।

काव्यमार्गी गुणों की सत्त्व संगति

कुंतक ने कविस्वभाव के अनुसार प्रस्थान हेतुओं के रूप में जिन काव्यमार्गों तथा तत्सम्बद्ध गुणों का विवेचन किया है, उससे स्पष्ट है कि महाकवित्व पद के लिए उत्सुक कुछ विशेष महाकवियों ने त्रिविध काव्यमार्गों का प्रवर्तन किया था जिनकी उच्च स्थिति प्राप्त कर कालिदास आदि महाकवि उत्कृष्ट पदवी और अमर कीर्ति के अधिकारी बन सके। सुकुमार आदि मार्गों का यह त्रितय अनेक महाकवियों द्वारा क्षुण्ण (रौंदा हुआ) तथा गंतव्य रहा है। उसमें निर्दिष्ट लक्षणों और गुणों में जिस प्रकार के काव्योत्कर्ष का विश्लेषण किया गया है, वह स्वैर विहारी (स्वच्छन्दतावादी) कवियों के लिए भी उपादेय और अनुकरणीय हो सकता है, ऐसी कुंतक की धारणा है ।

कुंतक का गुण विश्लेषण भामह, दण्डी तथा वामन की परम्परा से भिन्न तथा मौलिक है। उन्होंने माधुर्य और प्रसाद को छोड़कर अन्य गुणों की परिकल्पना और विवेचना अपने ढंग से की है। लावण्य और आभिजात्य को गुण कहना तथा औचित्य एवम् सौभाग्य को गुणों की सामान्य श्रेणी में प्रतिष्ठित करना उनकी सूझबूझ और चिंतन प्रणाली का ही परिणाम है। उनकी काव्यमार्ग विषयक परिकल्पना के नाम तथा

आधार भी उनके निजी हैं। अपनी गुण कल्पना के आधार पर उन्होंने मातृगुप्त, मायुराज तथा मंजीर आदि कवियों की रचनाओं को सुकुमार तथा विचित्र स्वभावयुक्त माना है। कालिदास और सर्वसेन आदि महाकवियों के काव्य सहज सौकुमार्य समन्वित हैं जिनमें सुकुमार मार्ग का सफल अनुगमन हुआ है। बाणभट्ट का 'हर्षचरित' विचित्र वक्रता के विलास प्राचुर्य से परिपूर्ण है। भवभूति और राजशेखर ने अपनी रचनाओं में अद्भुत सौन्दर्य-सृष्टि की है। उनके मुक्तकों में वैचित्र्य का विलास प्रदर्शित हुआ है। श्रेष्ठ कवियों की कृतियों में काव्यमार्गों का लोकोत्तर कौशल तथा तत्सम्बद्ध गुणों का अद्भुत वितान अभिमण्डित रहता है जिनके आनन्त्य का विचार करते हुए उन्हें कविस्वभाव के अनुसार प्रतिपादित त्रिविध काव्यमार्गों में ही समाविष्ट कर लेना युक्तिसंगत है।

वक्रोक्ति के भेद-प्रभेद

1. वर्णविन्यासवक्रता और उसके प्रकार

कुंतक ने कवि व्यापार की वक्रता के छह प्रकार माने हैं जिनके वैचित्र्य की शोभा से उनके भेद-प्रभेद हो सकते हैं।[64] वक्रता का प्रथम प्रकार वर्णविन्यास वक्रता है जिसमें अक्षरों को विशेष प्रकार से रचनाबद्ध किया जाता है। उसका वक्रत्व अथवा वक्रभाव प्रसिद्ध प्रस्थान (सामान्य शैली) से भिन्न प्रकार की वैचित्र्य-रचना से उपनिबद्ध रहता है। कुंतक ने उसे 'सन्निवेशविशेषविहितस्तद्विदाह्लादकारी शब्दशोभातिशय' कहा है जिसका यह अर्थ है कि वर्णविन्यासवक्रता में वर्णों के सन्निवेश विशेष से विहित सहृदयाह्लादकारी शोभातिशय होता है।[65] इस वक्रता को प्राचीन आलंकारिकों द्वारा प्रतिपादित अनुप्रास अलंकार पर्याय कहा जा सकता है। जिस रचना में एक, दो अथवा बहुत से वर्ण स्वल्प अन्तर से पुनः-पुनः उसी रूप में ग्रथित होते हैं, वह रचना वर्णविन्यास वक्रता कहलाती है।[66] कुंतक ने वर्ण को व्यंजन का पर्याय माना है जिसका रचना-सौंदर्य तीन प्रकारों में वर्णन किया जाता है। वे तीनों प्रकार कहीं एक, कभी दो तथा कहीं बहुत से वर्णों के अत्यल्प व्यवधान से ग्रथित होते हैं जिनमें द्विरुक्तिसूचक वीप्सा से अयोग व्यवच्छेदपरक नियम सूचित होता है। पुनः-पुनः निबद्ध वर्ण अथवा व्यंजनवर्णविन्यासवक्रता के प्रयोजक हैं। एक-दो तथा बहुत से व्यंजनों के स्वल्प अन्तर से किए जाने वाले पुनः-पुनः प्रयोग के अनेक उदाहरण काव्य-रचनाओं में मिलते हैं जिनसे उनका सौंदर्य-बोध किया जा सकता है। कुंतक ने विविध प्रकार के नियमों और उदाहरणों द्वारा वर्णविन्यासवक्रता का विश्लेषण किया है। उनका कथन है कि वर्ण अथवा वर्णों का पुनः-पुनः निबन्धन रसादि के अनुरूप होना चाहिए जिससे उनका औचित्य और सौन्दर्य बना रहे। जिन रचनाओं में अनुप्रासप्रयुक्त वर्णों का साम्य केवल हठपूर्वक अथवा व्यसनमात्र रूप में ग्रथित होता है, वे काव्य के लिए शोभावर्द्धक नहीं होते।

कुंतक की वर्णविन्यासवक्रता का सम्बन्ध काव्य के गुणों तथा उसकी वृत्तियों एवम् रीतियों से सहज भाव से जुड़ा हुआ है। काव्यशास्त्र के आचार्यों ने पृथक्-पृथक्

गुणों के प्रसंग में भिन्न-भिन्न प्रकार के वर्ण-प्रयोगों के अनेक नियम निर्दिष्ट किए हैं। जिनका वर्णविन्यासवक्रता से पर्याप्त साम्य है। मम्मट तथा विश्वनाथ ने गुण-विवेचन के प्रसंग में वर्ण-प्रयोग के अनेक उदाहरण देकर उनका औचित्य सिद्ध किया है। कहा जा सकता है कि कुंतक के वर्णविन्यासवक्रता के द्वितीय प्रकार में विशेष प्रकार के वर्णों के प्रयोग का जो निरूपण हुआ है, वह परवर्ती आचार्यों द्वारा गुणों, रीतियों तथा वृत्तियों के प्रसंग में किया गया है।

वर्णविन्यासवक्रता का तीसरा प्रकार वह है जिसमें कहीं-कहीं व्यवधान न होने पर भी केवल स्वरों का वैषम्य होने से समान वर्णों की एक साथ रचना में मनोहरता आ जाती है।[67] ऐसी रचना में यमक अलंकार का व्यवहार नहीं किया जा सकता क्योंकि यमक के आदि, मध्य और अन्त में किसी नियत स्थान पर वर्णों की आवृत्ति का नियम घटित होता है जबकि वर्णविन्यास वक्रता के इस भेद में इस प्रकार का कोई नियम नहीं है।[68] कुंतक ने वर्ण अथवा वर्णों के अव्यवधान अथवा व्यवधान से प्रयोग किये जाने के अनेक उदाहरण देकर इस भेद का स्पष्टीकरण किया है। उनका कथन है कि व्यवधान अथवा अव्यवधान से विरचित दोनों प्रकार के वर्णविन्यासवक्रता से युक्त वाक्य की रचना यमकाभास रूप सन्निवेशविशेष है जो मुक्ताहार के बीच गूँथेग ये मणिमय पदक के समान सुन्दर होने से स्वयं ही सहृदयजनों के लिए हृदयहारी हो जाती है।[69] कुंतक ने यही बात निम्नलिखित कारिका में प्रकारांतर में कही है—

अलंकारस्य कवयो यत्रालंकरणान्तरम्।
असंतुष्टा निबध्नंति हारादेर्मणिबंधवत्॥

कुंतक ने वर्णविन्यासवक्रता की ऐसी अनेक विशेषताएँ निरूपित की हैं जिनसे किसी भी काव्यरचना को सुन्दर और मनोहर बनाया जा सकता है। उनके मतानुसार यह वक्रता अत्यन्त आग्रहपूर्वक विरचित नहीं होनी चाहिए क्योंकि वर्णों को बराबर दुहराने की प्रवृत्ति से जो रचनाएँ की जाती हैं उनमें स्वाभाविकता नहीं होती। ऐसी रचनाओं में न तो रसादि का औचित्य रहता है और न उनमें शब्द और अर्थ का परस्परस्पर्धित्व ही आ पाता है जिसे कुंतक ने साहित्य के सौन्दर्यविधान का एक आवश्यक तत्त्व माना है। उन्होंने प्रकृत रसविरोधी वर्णों के प्रयोग को भी असुन्दर तथा अशोभनीय कहा है। एक ही प्रकार के वर्णों की पुनः-पुनः आवृत्ति से जब किसी भी प्रकार का सुन्दर काव्य रूप निर्मित नहीं होता तो पूर्वावृत्त वर्णों का परित्याग करते हुए नवीन वर्णों के पुनरावर्तन से उसका मनोहर अनुबन्ध किया जा सकता है।[70]

वक्रोक्ति-सिद्धान्त की वर्णविन्यासवक्रता अन्य काव्य-सिद्धान्तों के परिप्रेक्ष्य में भी विवेचित की गई है। आचार्य उद्भट ने उसे उपनागरिका आदि वृत्तियों के वैचित्र्य से युक्त माना है। यह वक्रता वर्णों की सुन्दरता अथवा श्रव्यता के अनुसार माधुर्य आदि गुणों तथा सुकुमार आदि मार्गों की अनुगामिनी कही जा सकती है।[71] गुणों तथा मार्गों में गुणों के अन्तरतम होने से गुणों को प्रथम तथा मार्गों के द्वितीय पद पर रखा गया है। यों तो वर्णविन्यासवक्रता वर्णसौंदर्यजन्य होती है फिर भी उसे निश्चितगुणयुक्त सुकुमार मार्ग के

अनुवर्तन द्वारा काव्य में प्रयोजनीय माना जाता है। गुणों तथा मार्गों के पराधीन होने के कारण उसके अनन्त भेद हो सकते हैं। उसका सामान्य स्वरूप अनुप्रास में तथा विशेष रूप यमकालंकार में परिवेष्टित रहता है। कुन्तक ने यमक और अनुप्रास संज्ञक शब्दालंकारों को वर्णविन्यास वक्रता का ही रूप माना है क्योंकि उनमें वर्णविन्यास के वैचित्र्य के अतिरिक्त अन्य कोई तत्त्व प्रदर्शित नहीं होता।

वर्णविन्यासवक्रता के स्वरूप का सामान्य विवेचन करने के पश्चात् उसके कतिपय उदाहरण देने आवश्यक हैं जिनसे उसका विशद स्पष्टीकरण हो सके। वे उदाहरण निम्नलिखित हैं—

(अ) एक व्यंजन के स्वाल्पान्तर से पुनः-पुनः प्रयोग का उदाहरण—

धम्मिल्लो विनिवेशिताल्पकुसुमः सौन्दर्यधुर्यस्मितं।
विन्यासो वचसां विदग्धमधुरः कण्ठे कलः पंचमः ।।[72]

उपर्युक्त उदाहरण में 'विनिवेशित' पद में वकार की, 'सौदर्यधुर्यं में 'र्य' की 'विन्यासो वचसां' में वकार की तथा 'कण्ठे कलः' में ककार की आवृत्ति होने से इस श्लोकांश में अपूर्व चमत्कार आ गया है, अतः यह वर्णविन्यासवक्रता का उदाहरण है। इसे अनुप्रास अलंकार के उदाहरण रूप ने भी स्वीकार किया जा सकता है।

(आ) एक, दो तथा बहुत से वर्णों की पुन-पुनः आवृत्ति का उदाहरण—

भग्नैलावल्लरीकास्तरलितकदलीस्तम्बताम्बूलजम्बू-
जम्बीरास्तालतालीसरलतरललालासिका यस्य जुह्लः।[73]

उपर्युक्त उदाहरण के प्रथम चरण में 'लकार' का पाँच बार प्रयोग हुआ है। प्रथम चरण के 'स्तम्ब' पद से लेकर 'तालासिका' पर्यन्त अनेक वर्णों की अनेक बार आवृत्ति की गई। 'तालताली' में दो वर्णों की आवर्त्ति हुई है। इस प्रकार एक, दो तथा बहुत वर्णों की आवृत्ति होने से यह छंदांश वर्णविन्यासवक्रता का उदाहरण है जिसे कतिपय आचार्यों ने अनुप्रास अलंकार का उत्तम उदाहरण माना है।

कुंतक ने वर्गान्तियोगी स्पर्श वर्णों, त, ल, तथा नकार आदि द्वित्व रूपों तथा रकार आदि संयुक्त शेष वर्णों के उदाहरणों द्वारा भी वर्णविन्यासवक्रता का स्वरूपबोध कराया है।[74] उसका एक उदाहरण निम्नलिखित छंदांश है जिसमें त वर्ग के तृतीयाक्षर दकार का वर्ग के अन्तिम वर्ण 'न' के साथ पाँच बार प्रयोग हुआ है—

सरस्वतीहृदयारविन्दमकरन्द बिन्दुसन्दोहसुन्दरणाम् ।[75]

निष्कर्ष यह है कि वर्णविन्यासवक्रता के अनेक रूप काव्य-जगत् में प्रसिद्ध हैं जिनका सामान्य संकेतमात्र यहाँ किया गया है। इस क्षेत्र में कुंतक का योगदान विशिष्ट कोटि का है क्योंकि उन्हीं ने वक्रोक्ति सिद्धांत के माध्यम से उसका सोदाहरण विश्लेषण करने का सफल उपक्रम किया है।

2. पदपूर्वार्द्ध वक्रता के भेद-प्रभेद

सुबन्त पद के पूर्वार्द्धरूप में प्रातिपदिक तथा तिङन्त पद के पूर्वार्द्ध में धातुगत रूप

से होने वाली वक्रता को पद पूर्वार्द्ध वक्रता कहते हैं। इसके प्रमुख आठ भेद माने जाते हैं जिनके नाम निम्नलिखित हैं—

1. रूढ़िवैचित्र्यवक्रता, 2. पर्यायवक्रता 3. उपचारवक्रता, 4. विशेषणवक्रता, 5. संवृतिवक्रता, 6. वृत्तिवैचित्र्यवक्रता, 7. लिंगवक्रता, तथा 8. क्रियावैचित्र्यवक्रता। इनका संक्षिप्त विवेचन निम्नलिखित रूप में किया जा सकता है—

1. रूढ़ि वैचित्र्यवक्रता—जहाँ लोकोत्तर तिरस्कार अथवा प्रशंसा के कथन के अभिप्राय से वाच्य अर्थ की प्रतीति होती है, वहाँ रूढ़िवैचित्र्यवक्रता मानी जाती है।[76] यह प्रतीति रूढ़ि शब्द के असम्भव अर्थ के अध्यारोप से युक्त होनी चाहिए। कहीं-कहीं वह विद्यमान अर्थ के अतिशय आरोप द्वारा भी हो सकती है।[77] 'रूढ़ि' का अर्थ किसी नियत अर्थ विशेष का बोधक शब्द है जो नियत सामान्य तथा नियत विशेष का बोध कराता है। सामान्यतः रूढ़ि शब्द से प्रधान शब्द का ग्रहण किया जाता है। ऐसे शब्द में किसी असम्भाव्य अथवा अपूर्व धर्म का अध्यारोप करते हुए उसकी निन्दा की जाती है। 'सद्ध-धर्मातिशयाध्यारोपिता' की प्रतीति भी रूढ़िवैचित्र्यवक्रता का ही एक दूसरा प्रकार है। कुंतक ने इस प्रकार की प्रतीति में वक्रोक्ति का वैचित्र्य स्वीकार किया है। रूढ़िवैचित्र्य-वक्रता के ये दोनों रूप 'अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य' तथा अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य नामक ध्वनि-भेदों से मिलते-जुलते हैं। कुंतक के मतानुसार जहाँ कवि रूढ़ि शब्द से वाच्य अर्थ का (राम आदि वक्ता द्वारा स्वयं ही अपने में उत्कर्ष अथवा अपकर्ष का समारोपण करते हुए) वर्णन करता है अथवा किसी अन्य वक्ता द्वारा वर्णन कराता है वहाँ इस प्रकार की वक्रता मानी जाती है। 'रामोऽस्मि सर्वं सहे' छंदांश इसका सुप्रसिद्ध उदाहरण है। क्योंकि इस वाक्य में 'राम' शब्द अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य ध्वनि का उदाहरण बनकर 'सुदृढ़ कठोर हृदय' अर्थ ध्वनित करता है जिसे कुन्तक ने रूढ़िवैचित्र्यवक्रता के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है।[78] विद्यमान वाच्य धर्म की अतिशय अध्यारोपता का उदाहरण रघुवंश का वह श्लोक[79] है जिसमें प्रयुक्त 'रघु' शब्द से उनका लोकोत्तर पौरुषातिशय पुष्ट होता होता है। कुंतक ने इसी क्रम में अन्य वक्ताओं द्वारा अध्यारोपण के उदाहरण देकर पद-वैचित्र्यवक्रता की विवेचना की है। इस विषय में राजशेखर विरचित बालरामायण के पंचम अंक का 36वाँ श्लोक तथा रघुवंश के पंचम सर्ग का 24वाँ श्लोक उदाहृत किए गए हैं जिनके विस्तृत विवेचन का यहाँ अवसर न होने के कारण उनका संकेत मात्र करना ही पर्याप्त है। वक्रोक्तिजीवित के द्वितीयोन्मेष की नवम कारिका की विस्तृत वृत्ति के अनुशीलन द्वारा इस विषय का सम्यक् बोध किया जा सकता है।

2. **पर्यायवक्रता**—कुंतक ने पर्याय शब्द को छह प्रकार के विशेषणों से युक्त कहकर उनके सन्निवेश में पर्यायवक्रता स्वीकार की है जिसके कारण रचना में शोभा वैचित्र्य अथवा सौन्दर्यविशेष का अपूर्व संचार होता है।[80] पर्यायप्रधान शब्द उपचार से पर्याय कहलाता है। उसकी पर्यायप्रधानता इस बात में है कि वह कभी-कभी विवक्षित वस्तु के वाचक रूप में प्रयुक्त होता है और कभी-कभी उसका ठीक संयोजन न होने पर

अन्य शब्द द्वारा अभिहित किया जाता है। पर्याय शब्द के छह विशेषण निम्नलिखित हैं—

1. वह वाच्य अर्थ का अंतरतम हो।
2. वह वाच्यार्थ के अतिशय अर्थात् उत्कर्ष का पोषक हो।
3. उसमें अभिधेयार्थ को अलंकृत करने का सामर्थ्य हो।
4. वह वाच्यार्थ की छाया अथवा कांति के अतिशय (उत्कर्ष) से पेशल (मनोहारी) हो।
5. उसमें असम्भाव्य अर्थ का पात्रत्व गर्भित हो।
6. वह अपनी निबन्धना में रूपक आदि अलंकारों द्वारा उपसंस्कृत होकर सौन्दर्य विशेष का उत्पादक हो।

उपर्युक्त विशेषणों के अनुसार पर्यायवक्रता के छह भेद माने जाते हैं। प्रथम भेद में वाच्य अर्थ की अन्तरतमता का यह अभिप्राय है कि पर्याय शब्द की वाच्य वस्तु उसके अत्यन्त निकटस्थ होती है और ऐसा शब्द विवक्षित वस्तु को जितने अधिक अंतरंग तथा अंतरतम रूप में प्रकट कर सकता है, उतने रूप में उसका अन्य कोई पर्याय शब्द प्रकट नहीं कर सकता। इसका उदाहरण किरातार्जुनीय महाकाव्य का वह श्लोक है[81] जिसमें इन्द्र के लिए 'वज्रिणः' शब्द का प्रयोग किया गया है जो उसके अन्य पर्याय-वाचक शब्दों की अपेक्षा कहीं अधिक मनोहर तथा प्रसंगोचित है। उपर्युक्त श्लोक का 'तपस्वी' शब्द भी इसी प्रकार के उक्ति-वैचित्र्य से संगर्भित है। कुंतक ने अभिधेयान्तर-तम पर्यायवक्रता के उदाहरण के रूप में भगवान् शंकर के लिए 'शूलिनः' शब्द का प्रयोग सर्वाधिक उचित माना है क्योंकि शिव के अन्य पर्याय शब्दों की अपेक्षा वह वर्णित विषय-वस्तु का अंतरतम होने के कारण चारुतातिशय का पोषक है।[82]

वाच्यार्थ के अतिशय अथवा उत्कर्ष का पोषक पर्याय शब्द काव्य-रचना के स्वाभाविक सौन्दर्य की वृद्धि करता हुआ सहृदयजनों के लिए चमत्कारजनक होता है। लंका-विजय के पश्चात् पुष्पक विमान द्वारा अयोध्या लौटते समय भगवान् श्रीराम ने सीताजी के सम्मुख जो चन्द्र-वर्णन किया था उसमें प्रयुक्त विशेषणभूत पर्याय शब्द स्वाभाविक सौन्दर्यपूर्ण चन्द्रमा के हृदयाह्लादकारक अपूर्व उत्कर्ष के विधायक हैं। उन विशेषणों में पुनरुक्ति दोष की अवतारणा न होकर सौन्दर्य का उत्तरोत्तर चमत्कार व्यंजित हुआ है।[83]

अभिधेयार्थ को अलंकृत करने में समर्थ शब्द के प्रयोग में भी पर्यायवक्रता मानी गई है। जो वाच्यार्थ से भिन्न व्यंग्यार्थ भूत रम्य छायान्तर के स्पर्श से रमणीय होती है। वह रमणीयता श्लिष्ट पदों के संयोजन से संभव होती है। कुंतक ने सुभाषितावली के अन्योक्तिपरक उदाहरण में[84] प्रयुक्त 'मातंग' शब्द की श्लिष्टता विवेचित करते हुए उसके हाथी तथा चाण्डाल पक्ष विषयक जो द्विविध अर्थ निरूपित किये हैं; वे इस प्रकार की पर्यायवक्रता के संसूचक हैं। प्रस्तुत प्रकरण में तो 'मातंग' शब्द हाथी का बोधक है किन्तु श्लेष व्यवहार अथवा श्लिष्ट वृत्ति में वह 'चाण्डाल' रूप अप्रस्तुत वस्तु की प्रतीति कराता हुआ रूपक अलंकार के छाया-स्पर्श से पर्यायवक्रता का तृतीय भेद बन गया है। ध्वनि-

वादियों के अनुसार इसे शब्दशक्तिमूला संलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि का भी उदाहरण कहा जा सकता है।

पर्यायवक्रता का चतुर्थ प्रकार 'स्वच्छायोत्कर्षपेशल' पद से व्याख्यात किया गया है। इसका यह अभिप्राय है कि यद्यपि वर्ण्यमान वस्तु की स्थिति प्रतीयमान वस्तु के रूप में अन्यार्थ व्यंजक होती है तथापि वह अपने स्वाभाविक सौन्दर्य के कारण सहृदय जनों के लिए आह्लादकारिणी बन जाती है। कुंतक ने इसके उदाहरण के रूप में जो छंद[85] उद्धृत किया है उसमें 'विषमकाण्ड़कुटुम्ब' शब्द चन्द्रमा के पर्यायवाचक रूप में प्रयुक्त हुआ है जो काव्य-व्याकरण तथा कोषाभिधान में अप्रसिद्ध होने पर भी संदर्भगत सम्बन्ध के कारण प्रसिद्धतमत्व प्राप्त करता हुआ अपूर्व कल्पना का द्योतक बन गया है। चन्द्रमा को विषम-काण्डकुटुम्ब कहने का यह अभिप्राय है कि वह विषमकाण्ड अर्थात् पंच बाण कामदेव का कुटुम्ब अर्थात् सहायक अथवा सम्बन्धी है जो विरहव्यथित नायक को और भी अधिक पीडित कर रहा है।

पर्यायवक्रता के पंचम भेद में असम्भाव्यार्थपात्रत्वगर्भिता रहती है जिसका अर्थ यह है कि वर्ण्यमान वस्तु असम्भाव्य अर्थ उसकी पात्रता से गर्भित होता है। कुंतक ने इसके उदाहरण रूप में जो छंद[86] प्रस्तुत किया है उसमें प्रयुक्त 'महीपाल' शब्द में उपर्युक्त वक्रता संघटित हुई है। नंदिनी गाय को चराते समय जब महाराज दिलीप प्रकृति सौन्दर्य में निमग्न हो गये तो सिंह ने नंदिनी पर आक्रमण कर दिया। उसकी रक्षा के लिए दिलीप ने ज्यों ही बाण उठाया तो सिंह ने उनके उस कृत्य को अनुचित तथा अनिष्ट-कारी कहते हुए उनके लिए 'महीपाल' सम्बोधन प्रयुक्त किया। कुंतक का कथन है कि राजा के वाचक अनेक शब्द होते हुए भी कवि ने उनके लिए 'महीपाल' शब्द का प्रयोग विशेष रूप से किया है क्योंकि यहाँ यह शब्द राजा के असम्भाव्यार्थपात्रत्व को ध्यान में रखकर प्रयुक्त हुआ है। यहाँ उसकी असम्भाव्यता इस बात में गर्भित है कि दिलीप किसी भी रूप में गाय की रक्षा नहीं कर सकते। कवि ने उस असम्भव अर्थ को बोधित करने के अभिप्राय से जिस सम्बोधन पद (महीपाल) का प्रयोग किया है, वह व्यंग्यपूर्ण होने के कारण चमत्कारजनक बन गया है।

पर्यायवक्रता का छठा भेद अलंकारोपसंस्कारमनोहर निबंधना' के रूप में निरूपित किया गया है। इसमें रूपक तथा उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों से जो उपसंस्कार अथवा शोभान्तर आधान किया जाता है वह तृतीया तथा षष्ठी तत्पुरुष समास से संयोजित होता है। कुंतक ने इसके लिए उदाहृत छंद में[87] तृतीया तत्पुरुष समास का पक्ष उजागर करते हुए लिखा है कि उसमें तालवृन्त आदि कार्यों की समानता के कारण चन्द्र-कला और तालवृन्त आदि के अभेदोपचार से जिस रूपक अलंकार का विन्यास हुआ है, वह पर्याय शब्दों के शोभातिशयजनक रूप में उपनिबद्ध किया गया है।

3. उपचारवक्रता—जहाँ अन्य अर्थात् प्रस्तुत वर्ण्यमान पदार्थ से अत्यंत व्यवहित (अप्रस्तुत) पदार्थ में रहने वाली नाम मात्र की समानता को किसी धर्म का अतिशय-प्रतिपादन करने के लिए उपचार अर्थात् गौणी वृत्ति से वर्णित किया जाता है,

वहाँ उपचारवक्रता होती है।[88] इसके कारण रूपक आदि अलंकार अत्यन्त सरस हो जाते हैं। इसमें सादृश्यमूलक गौणी लक्षणा की प्रधानता होती है, अतः इसे उपचार (गौणी वृत्ति) वक्रता कहा जाता है।[89] इसका उदाहरण 'स्निग्धश्यामल-कांतिलिप्त वियतः' छन्दांश है जिसमें मेघ को अपनी चिकनी तथा सांवली शोभा से आकाश को लिप्त करने वाला कहा गया है। इस उदाहरण में मेघों की स्निग्धता तथा श्यामलता के अतिशय का बोधन कराने के लिए आकाश लिप्त को (लीपा हुआ) कहा है। इसमें 'लिप्त' शब्द का प्रयोग उपचार अथवा गौणी वृत्ति से हुआ है। यहाँ 'स्निग्ध' शब्द भी उपचारवक्र है। लिप्त और स्निग्ध के औपचारिक प्रयोग को स्पष्ट करते हुए कहा जा सकता है कि जिस प्रकार चेतन मनुष्य किसी वस्त्रविशेष में रंग की गहराई (वर्णच्छाया) उत्पन्न करने की इच्छा से नील आदि मूर्त्त द्रव्यों द्वारा वस्त्र आदि लेपनीय वस्तुओं को रंग (लीप) देते हैं, उसी प्रकार मेघों ने भी आकाश को अपूर्व श्यामलता से व्याप्त कर दिया है। यहाँ मेघों को उपचार रूप में 'स्निग्धश्यामलकांतिलिप्त वियतः' कहा गया है। स्निग्ध शब्द की उपचार-वक्रता इस बात में है कि जैसे कोई मूर्त वस्तु देखने तथा स्पर्श में अनुभव करने योग्य स्नेहन रूप गुण के सम्बन्ध में स्निग्ध कही जाती है, उसी प्रकार यहाँ अमूर्त कांति भी स्निग्ध कही गई है।

उपचारवक्रता का दूसरा स्वरूप वह है जिसके कारण रूपक आदि अलंकारों का उल्लेख और अधिक रसमय हो जाता है। इसे रूपक आदि अलंकारों की सरसता का मूल उद्‌गम भी कहा गया है। अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार के अन्योक्ति रूप भेद विशेष में उप-चारवक्रता ही उसकी प्राणस्वरूपा होती है। अन्योक्तियों में अभिधीयमान अप्रस्तुत रूप से किसी अन्य वस्तु का वर्णन किया जाता है जिसका मूल अभिप्राय किसी अन्य प्रस्तुत की स्तुति अथवा निंदा करना होता है। इस प्रकार की वर्णन शैली में उपचार वक्रता का प्रयोग अत्यन्त शोभातिशायी होता है। इसके उदाहरण रूप में कुंतक ने जो छंद[90] उद्धृत किया है उसमें अभिधीयमान रूप से चन्द्रमा में हरिण का वर्णन उससे लोकोत्तर प्रभाव वाले किसी अन्य व्यक्ति का वर्णन द्योतित करता है जो कवि का मुख्य अभिप्रेत अर्थ है। कुंतक ने उस अभिप्रेत अर्थ की सिद्धि में उपचारवक्रता को ही उसका हेतु माना है।

4. विशेषणवक्रता—जहाँ विशेषण के माहात्म्य अथवा प्रभाव से क्रिया अथवा कारक का सौन्दर्य प्रस्फुटित होता है, वहाँ विशेषणवक्रता होती है।[91] विशेषण के माहात्म्य से प्रस्फुट होने वाले सौन्दर्य (अतिशय) के दो रूप हैं जिन्हें पदार्थ के स्वाभाविक सौन्दर्य का प्रकाशकत्व तथा अलंकार के सौन्दर्यातिशय का परिपोषकत्व कहा जाता है। कुंतक ने इन दोनों रूपों के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। पहले रूप का उदाहरण वह छंद है[92] जिसमें प्रस्तुत अनेक विशेषणों के माहात्म्य से उस युवती के नेत्रों का स्वाभाविक सौन्दर्य अभिचित्रित किया गया है जो नायक द्वारा संभोग सुख प्राप्त कर चुकी हैं। कुंतक की मान्यता है कि प्रस्तुत औचित्य के अनुसार यह विशेषणवक्रता समस्त उत्तम काव्यों का जीवन रूप है क्योंकि इसी के द्वारा रस को परम परिपोष पदवी प्राप्त होती है। इस वक्रता के अलंकार छायातिशय का परिपोषक उदाहरण 'शशिनः शोभातिरस्कारिणा'

छंदांश है जिसमें विशेषण के माहात्म्य से उत्प्रेक्षा अलंकार की शोभा को परितुष्ट किया गया है।

5. संवृतिवक्रता—जहाँ किसी वैचित्र्य की विवक्षा (कथन की इच्छा) से किन्हीं सर्वनाम आदि द्वारा वस्तु का संवरण अथवा निगूहन (छिपाना) किया जाता है, वहाँ संवृतिवक्रता होती है।[93] इसके अनेक प्रकार हो सकते हैं। कुंतक ने उसके छह प्रकारों का सोदाहरण विवेचन किया है। यहाँ उसके केवल एक प्रकार का उल्लेख किया जाता है जिसमें कोई अत्यन्त सुकुमार वस्तु अपने कार्य के अतिशय-कथन के बिना ही केवल आच्छादन अथवा संवरणमात्र से रमणीय होकर सौन्दर्य की चरम सीमा पर पहुँच जाती है। इसका उदाहरण निम्नलिखित छंद है जिसमें यह बात कही गई है कि अपने मुख आदि पर अंकित सम्भोग-चिह्नों को दर्पण में देखती हुई पार्वती ने अपने पीछे बैठे हुए प्रियतम (शिव) के प्रतिबिम्ब को अपने दर्पणगत प्रतिबिम्ब के समीप देखकर लज्जा से 'क्या-क्या" चेष्टा[94] नहीं की—

दर्पणे च परिभोगदर्शिनी पृष्ठतः प्रणयिनो निषेदुषः।
वीक्ष्य बिम्वमनुबिम्बात्मनः कानि कानि न चकार लज्जया॥

उपर्युक्त उदाहरण में 'कानि कानि' पदों से जिन चेष्टाओं का संवरण किया गया है, वे अपने अनभिव्यक्त रूप में वस्तुचित्रण के सौन्दर्य को चरम सीमा पर पहुँचाने वाली हैं; अतः यहाँ इन पदों के प्रयोग में संवृतिवक्रता है। इसके अन्य उदाहरण तान्यक्षराणि हृदये किमपि ध्वनति' तथा 'मन्मथः किमपि तेन निदध्यौ' आदि हैं जिनमें प्रयुक्त 'किमपि" पद संवृतिवक्रता का निदर्शन प्रस्तुत करते हैं।

6. वृत्तिवैचित्र्यवक्रता—कुंतक ने इस प्रकार की वक्रता का विवेचन करने के पूर्व पदमध्यान्तर्भूत प्रत्ययवक्रता के दो भेदों का विवेचन किया है जो इस वक्रता से जुड़े हुए कहे जा सकते हैं। कुंतक का कथन है कि अपने प्रभाव से प्रस्तुत अर्थ अथवा प्रकरण के औचित्य के अनुरूप सौन्दर्यविधायक पद के बीच प्रयुक्त कृदादि प्रत्यय कुछ अन्य प्रकार के वक्रता-सौन्दर्य को प्रकट करता है।[95] उन्होंने 'वेल्लद्‌वबाका घनाः' तथा 'स्निह्यत्-कटाक्षे दृशौ' पंक्तियों में प्रयुक्त 'वेल्लत्' तथा 'स्निह्यत्' पदों में वर्तमानकालिक शतृ प्रत्यय का चमत्कार माना है जिसके कारण उनमें 'प्रत्ययवक्रता' संभव हो सकी है।

कुंतक के मतानुसार जिसमें अव्ययीभाव आदि समासों तथा तद्धितकृत आदि वृत्तियों का वैचित्र्य अथवा सौन्दर्य प्रकाशित होता है उसे वृत्तिवैचित्र्यवक्रता कहा जाता है।[96] 'अधिमधु', 'उद्‌वृत्त' आदि पद वृत्तिवक्रता के उदाहरण हैं जिनमें अव्ययीभाव समास द्वारा वसंत ऋतु का आगमन सूचित किया गया है। कुंतक ने पाण्डुता, पाण्डुत्व तथा पाण्डु भाव आदि शब्दों की अपेक्षा 'पाण्डिमा' शब्द के प्रयोग में अपूर्व प्रकार की वृत्तिवैचित्र्यवक्रता मानी है क्योंकि पांडु शब्द से इमनिच् प्रत्यय करके बनाया हुआ तद्धितांत 'पाण्डिमा' शब्द अन्य सजातीय शब्दों की अपेक्षा अधिक चमत्कारजनक प्रतीत होता है। उनके मतानुसार 'एकातपत्रायते' पद में भी वृत्तिवैचित्र्यवक्रता है जिसका रूप-निर्माण सुबन्त एकातपत्र शब्द को धातु बनाकर किया गया है। इस वक्रता से सम्बद्ध भाववैचित्र्य-

वक्रता भी है जिसे पदपूर्वार्द्धवक्रता का ही एक गौण रूप कहा जा सकता है। यहाँ 'भाव' शब्द का अर्थ क्रिया है जो सदा साध्यरूपा होती है। जहाँ क्रिया अथवा भाव की साध्यता का तिरस्कार करते हुए उसे सिद्ध रूप में वर्णित किया जाता है, वहाँ भाववैचित्र्यवक्रता होती है।[97] कुंतक ने 'केयूरामितमंगदैः' तथा 'उत्प्रतापः' आदि प्रयोगों में भाववक्रता निर्दिष्ट की है।

7. **लिंगवैचित्र्यवक्रता**—जिस वक्रता में भिन्न लिंग वाले शब्दों के समानाधिकरण्य रूप प्रयोग से कुछ विचित्र शोभा उत्पन्न हो जाती है, उसे लिंगवैचित्र्यवक्रता कहते हैं।[98] कुंतक ने इसके अनेक रूप प्रकारान्तर से विवेचित किये हैं जिनमें से कुछ उदाहरण निम्नलिखित हैं—

(अ) **फुल्लपंकजवनं जाता दृशां विशति**—इस छंदांश में 'दृशां विशति' के स्त्रीलिंग तथा फुल्लपंकजवनं के नपुंसक होने से दोनों का प्रयोग समानाधिकरण रूप से हुआ है अतः यह लिंगवक्रता का उदाहरण है।

(आ) **सर्वास्पदं सौरभमंगराग**—इसमें 'सर्वास्पदं सौरभं' में नपुसंक लिंग तथा 'अंगरागः' में पुल्लिंग का प्रयोग समानाधिकरण रूप से हुआ है।

(इ) **करारविंदु विभ्रमकर्णपूरः चक्रे**—'करारविंदं' पद नपुंसकलिंग तथा 'विभ्रमकर्णपूरः' पद स्त्रीलिंग है जो समानाधिकरण अर्थात् तुल्य आश्रय अथवा एक द्रव बोधक होने से शोभातिशायी बन गये हैं।

कुंतक ने उन स्थलों पर भी लिंगवैचित्र्यवक्रता मानी है जहाँ किसी शब्द का अन्य लिंग सम्भव होने पर भी 'स्त्री नाम ही सुन्दर है' इस मान्यता के अनुसार शोभा-निष्पत्ति के लिए स्त्रीलिंग का ही प्रयोग विशेष रूप से किया जाता है। वह स्त्री नाम पुरुष के मन में अपूर्व सौन्दर्य की सृष्टि करता हुआ शृंगार आदि रसों की योजना में समर्थ होता है। उदाहरणार्थ 'तट' शब्द 'तटः तटी तथा तटम्' रूपों में त्रिविध लिंगी है किन्तु जहाँ सुकुमारता की व्यंजना के लिए उसके स्त्री लिंग 'तटी' रूप में प्रयोग किया जाता है तो वह किसी नायक का कथन होने पर शोभातिशायी बन जाता है।[99]

लिंगवैचित्र्यवक्रता का एक अन्य रूप यह भी है कि जहाँ अन्य लिंग सम्भव होने पर भी अर्थ के औचित्य के अनुसार विशेष प्रकार की शोभा के लिए किसी विशेष लिंग का प्रयोग किया जाता है।[100] इसका उदाहरण निम्नलिखित छंद है जिसमें राम ने लंका विजय के पश्चात् पुष्पक विमान द्वारा अयोध्या लौटते समय मार्ग के दृश्यों का वर्णन करते हुए सीता से कहा था कि अचेतन लताओं ने भी अत्यन्त करुणार्द्र होकर उनका किस प्रकार पथ-प्रदर्शन किया था—

त्वं रक्षसा भीरु यतोऽपनीता तं मार्गमेताः कृपयालतामे।
अदर्शयन् वक्तुमशक्नुवन्त्यः शाखाभिरावर्जित पल्लवाभिः ।।[101]

लिंगवैचित्र्यवक्रता का अग्रलिखित उदाहरण भी उल्लेखनीय है जिसमें राम ने अपनी सीता वियोगजन्य व्यथा पर हरिणियों की करुणा तथा मार्ग निर्देश की क्रियाओं का चित्रण अत्यन्त चमत्कारमयी रचना पद्धति से किया है। इसके पूर्वोल्लिखित छंद में

'लता' तथा इस छंद में मृगी जैसे स्त्रीलिंग शब्दों के स्थान पर वृक्ष और मृग आदि पुल्लिग शब्द भी प्रयुक्त किये जा सकते थे किन्तु प्रसंगत औचित्य के अनुसार उनमें स्त्रीलिंगों के प्रयोग ही अपूर्व सौन्दर्य की अभिव्यंजना करने वाले हैं, जिनका विचार करते हुए कवि ने उन्हें प्रयुक्त किया है। छंद इस प्रकार है—

मृग्यश्च दर्भांकुर निर्व्यपेक्षास्तवागतिज्ञं समबोधयन्माम्।
व्यापारयन्त्यो दिशि दक्षिणस्यामुत्पक्ष्मराजिनी विलोचनानि।।[102]

8. क्रिया (धातु) वैचित्र्यवक्रता—कुंतक ने इस प्रकार की वक्रता के पाँच प्रकार निर्दिष्ट किये हैं जिनके नाम इस प्रकार हैं—

1. कर्ता की अत्यन्त अंतरंगता, 2. अन्य कर्ता की विचित्रता, 3. अपने विशेषण की विचित्रता 4. उपचार के कारण सुन्दरता तथा 5. कर्म आदि की संवृति। इन सब का पथक्-पृथक् विवेचन करते हुए उन्होंने बतलाया है कि क्रिया अथवा धातुगत विचित्रता के सम्पादन में इनका कहाँ-कहाँ पर कैसा-कैसा प्रयोग किया जाता है।

3. पदउत्तरार्द्ध वक्रता

इस वक्रता को प्रत्ययवक्रता भी कहते हैं। जहाँ सुबंत और तिङन्त रूप पदों का प्रत्यय रूप में विनिवेश किया जाता है, वहाँ पद उत्तरार्द्धवक्रता होती है। इसके निम्नलिखित प्रकार हैं—

कालवैचित्र्यवक्रता—औचित्य की अंतरतमता से जहाँ काल विशेष रमणीयता प्राप्त करते हैं, वहाँ काल वैचित्र्यवक्रता होती है। भविष्यत् कालबोधक 'स्य' प्रत्यय अथवा 'व्यवस्यति', 'जृम्भते'। 'कर्ता' और 'कम्पामहे' जैसे प्रत्यय किसी नियत काल के बोधक होकर पदों के उत्तरार्द्ध में कुछ अद्भुत प्रकार की वक्रता प्रकाशित करते हैं।[103]

कारकवक्रता—जहाँ अप्रधान गौणकारक में उसके मुख्यत्व की मुख्यता के अध्यारोप द्वारा प्रधान रूप में अथवा मुख्य कारक में गौणता का अध्यारोप से गौण रूप में प्रकट किया जाता है वहाँ कारकवक्रता होती है। इस प्रकार का विपर्यास कथन शैली में रमणीयता लाने के लिए किया जाता है। ऐसा करने से गौणता की मुख्यता तथा मुख्यता की गौणता हो जाती है।[104] जैसे पाणिना धनुर्ग्रहीतुमिच्छामि (मैं हाथ से धनुष उठाना चाहता हूँ) के स्थान पर करण रूप हस्त पर कर्तृत्व का अध्यारोप करते हुए जब 'पाणि: धनु: स्प्रष्टुं धावति' का प्रयोग किया जाता है तो वहाँ अपूर्व प्रकार की कारकवक्रता होती है।

संख्यावक्रता - जिस वक्रता में कविजन काव्यवैचित्र्य के वर्णन की इच्छा से परतंत्र होकर संख्या अथवा वचन का परिवर्तन कर देते हैं, उसे संख्यावक्रता कहते हैं।[105] ऐसा करने से कभी-कभी एकवचन द्विवचन के स्थान पर बहुवचन अथवा बहुवचन के स्थान पर एकवचन का प्रयोग करने से काव्य में विशेष चमत्कार उत्पन्न हो जाता है। संख्या का यह विपर्यास अथवा परिवर्तन संख्यावक्रता कहलाता है। इसका पर्याय वचन वक्रता भी है। जैसे 'नत्वहम्' के स्थान पर 'न तु वयम्' जैसे प्रयोग किये जाने पर इस

प्रकार की वक्रता होती है। इसका उदाहरण अभिज्ञानशाकुन्तलम् के प्रथम अंक की निम्नलिखित श्लोक पंक्ति है जिसमें शकुन्तला पर उड़ते हुए भ्रमर को देखकर दुष्यन्त कहते हैं—

'वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलुकृती।'

इस पंक्ति में 'अहं' के स्थान पर किया गया 'वयं' का प्रयोग वचनवक्रता का हेतु माना गया है।

पुरुषवक्रता—जहाँ काव्य-सौन्दर्य के लिए आत्मभाव और परभाव का प्रयोग विपरीत रूप से किया जाता है, वहाँ पुरुषवक्रता होती है। इसमें अपने लिए प्रयुक्त होने वाले उत्तम पुरुष दूसरे के लिए प्रयुक्त होने वाले मध्यम पुरुष विपर्यास अथवा परिवर्तित रूप में प्रयुक्त होते हैं। ऐसे प्रयोगों से शोभा-वैचित्र्य उत्पन्न हो जाता है। जैसे 'जानातु देवी स्वयं' के स्थान पर युष्मद् शब्द के मध्यम पुरुष का प्रयोग किया जाय तो उसके प्रातिपदिक प्रयोग मात्र से अपूर्व सान्दर्य आ जाता है। कुंतक ने इसके उदाहरण रूप में तापसवत्सराज के प्रथम अंक का 67 वाँ श्लोक उद्धृत किया है जिसमें मंत्री यौगन्धरायण रानी के 'स्वयं निर्णय' का परामर्श देते हैं।

उपग्रहवक्रता—जहाँ काव्य शोभा के लिए आत्मनेद पद तथा परस्मैपद में से किसी एक पद का प्रयोग औचित्य की दृष्टि से किया जाता है, वहाँ उपग्रहवक्रता होती है।[106] इसका उदाहरण रघुवंश काव्य के नवम् सर्ग का 58वाँ श्लोक है जिसमें कवि ने दशरथ की मृगया का वर्णन करते हुए इस बात का वर्णन किया गया है कि भयभीत मृगियों के नेत्रों की चपल चेष्टाओं में प्रियतमा के नेत्रों के हाव-भावों का स्मरण आने पर महाराज दशरथ के शारीरिक प्रयत्नों में मृगी-वध के प्रति उत्साह नहीं रह पाता। इस प्रकार का कर्मकर्तागत आत्मनेपदी प्रयोग अत्यन्त चमत्कारिणी वक्रता उत्पन्न करने का कारण माना जाता है।

प्रत्ययमालावक्रता—जहाँ एक प्रत्यय से किया हुआ दूसरा प्रत्यय किसी अपूर्व सौन्दर्य का पोषक होता है, वहाँ प्रत्ययमालावक्रता मानी जाती है।[107] जैसे 'वंदेतराम्' पद में तिङन्त से तरप् प्रत्यय किये जाने पर उसमें अपूर्व चमत्कार आ जाता है। कवि ने दो कवियों के नमस्कार से विशेषता का बोध करने के लिए उसमें पुनः शब्द का प्रयोग किया है। इसका उदाहरण द्वितीयोन्मेष की 32 वीं कारिका की वृत्ति के अन्तर्गत 107वें श्लोक के रूप में प्रस्तुत किया है।

उपसर्गनिपातवक्रता—जिस वक्रता में उपसर्ग और निपातों का वाक्य श्लोक आदि के जीवातुभूत रस आदि का द्योतक होता है, वहाँ यह वक्रता मानी जाती है।[108] पूर्वोक्त वक्रताओं से भिन्न होने के कारण इसे विशिष्ट पदवक्रता भी कहते हैं। इसका उदाहरण निम्नलिखित श्लोकपाद है जिसमें प्रयुक्त 'तु' निपात भगवान् श्रीराम की घबराहट का वाचक बनकर प्रयुक्त हुआ है—

'वैदेही तु कथं भविष्यति हहा हा देवि धीरा भव।'

कुंतक ने पदउत्तरार्द्ध रूपिणी प्रत्यय वक्रता के अनेक उदाहरण प्रस्तुत करते हुए

उनका काव्य सौन्दर्य विवेचित किया है। इस विवेचन का मूल उद्देश्य यही है कि जब तक काव्य कृतियों में किसी प्रकार की वक्रोक्ति अथवा वाग्वैदग्ध्यभंगीभणिति का सन्निवेश नहीं होता, वे चमत्कारकारिणी नहीं हो सकती। वर्णों और पदों से सम्बन्धित वक्रताओंका विवेचन करने के पश्चात् उन्होंने द्वितीयोन्मेष के उपसंहार में इस बात का उल्लेख विशेष रूप से किया है कि वाणी रूप लता के पद रूप पल्लवों में रहने वाली सरसताअनुरूप जो वक्रतोद्भासित शोभा प्रकाशित होती है उसे देखकर विद्वान् रूपी मधुकरों को चाहिए कि वाक्य रूपी पुष्पों में रहने वाले सौरभकारी मधु का पान उत्कंठित भाव से करते रहें[109] उनका यह कथन निस्संदेह काव्य रुचि जागृत करने के लिए उत्प्रेरक परामर्श का द्योतक है।

4. वस्तुवक्रता

कुंतक ने वाक्य के अवयव रूप पदों की वक्रता के भेदोपभेदों का विवेचन करने के पश्चात् वाच्य में मुख्य रूप से अधिकृत वस्तु की वक्रता का विश्लेषण किया है जिसे वाच्यवक्रता अथवा पदार्थ वक्रता भी कहा जाता है। यह वक्रता वर्णनीय पदार्थ रूप 'वस्तु' के उत्कर्षशाली स्वभाव के अनुसार केवल सुन्दर शब्दों द्वारा सुंदर रूप में वर्णित होती है।[110] इस प्रकार के वर्णन के प्रसंग में उपमा आदि वाच्यालंकारों का अधिक उपयोग उचित नहीं माना जाता क्योंकि वाच्यवक्रता अथवा वस्तुवक्रता में अलंकारों का सन्निवेश किए बिना भी वस्तु के स्वाभाविक स्वरूप का सुन्दर शब्द-रूपों में वर्णन किया जा सकता है। भामह आदि प्राचीन आचार्यों ने इसे 'स्वभावोक्ति' अलंकार के रूप में विवेचित किया है। स्वभावोक्ति को अलंकार मानने वाले आचार्यों ने वस्तु के सामान्य धर्म मात्र को अलंकार्य कहकर उसके सातिशय स्वभाव के परिपोषण को स्वभावोक्ति अलंकार माना है अतः उनके मतानुसार कुंतक की वस्तुवक्रता एक प्रकार से स्वभावोक्ति अलंकार ही है। कुंतक का कथन है कि 'स्वभावोक्ति' अलंकार न होकर अलंकार्य है। उसे अलंकार मानने पर दो प्रकार के दोषों की सम्भावना है। प्रथम तो यह कि वस्तु के सामान्य धर्म मात्र का वर्णन तो प्रत्येक व्यक्ति कर सकता है जिसके लिए किसी प्रकार की कवित्वशक्ति अपेक्षित नहीं होती। ऐसा वर्णन सहृदयजनों के लिए आह्लादकारी नहीं हो सकता। सुन्दर काव्य के प्रसंग में चमत्कारशून्य सामान्य धर्म का अलंकार्य रूप में कोई स्थान नहीं होता। दूसरी बात यह है कि अनुत्कृष्ट धर्मयुक्त सामान्य अर्थ को अलंकार्य मानने पर अयोग्य भित्ति पर बनाए गए चित्र के समान सुन्दर अलंकारों से भी उसमें सौन्दर्य का आधान नहीं किया जा सकता। ऐसी स्थिति में वस्तुवक्रता को अलंकार्य मानते हुए उसे यथोचित अलंकारों से अलंकृत किया जाना चाहिए। जहाँ केवल स्वाभाविक सौन्दर्य के प्राधान्य की विवक्षा हो, वहाँ रूपक आदि अलंकारों का अधिक प्रयोग उचित नहीं है क्योंकि ऐसा करने पर वस्तु का स्वाभाविक सौन्दर्य दब जाता है। कुंतक ने इस विषय को और अधिक स्पष्ट करते हुए लिखा है कि जिस प्रकार कोई सुन्दर रमणी सब प्रकार से अलंकार्य (अलंकृत किये जाने योग्य) होने पर भी स्नान के समय अथवा

विरह के कारण व्रत लिये होने पर अथवा सुरत क्रीड़ा के पश्चात् अलंकारों का अधिक भार सहन नहीं कर सकती तथा उपर्युक्त दशाओं में भी उसका स्वाभाविक सौन्दर्य रसिक-हृदयों के लिए आह्लाददायक होता है, उसी प्रकार स्वाभाविक सौन्दर्य के विवक्षित होने पर काव्य रचना में भी अलंकारों का अधिक प्रयोग उचित नहीं माना जाता। इस कथन की पुष्टि के लिए निम्नलिखित उदाहरण सभी दृष्टियों से उचित और उपयुक्त प्रतीत होता है जिसमें प्रथम मिलन की सौभाग्यरात्रि के समय पार्वती के स्वाभाविक सौन्दर्य का विचार करते हुए स्त्रियों ने उसे अलंकारों से अलंकृत करने में किसी भी प्रकार का शोभातिशय नहीं माना है। छंद इस प्रकार है:-—

तां प्राङ्मुखी तत्र निवेश्यतन्वीं क्षणं व्यलम्बंत पुरो निषण्णाः।
भूतार्थ शोभाह्रियमाणनेत्राः प्रसाधने सन्निहितेऽपिनार्यः।।[111]

कुंतक ने स्वाभाविक सौन्दर्य की उत्कृष्टता अन्य उदाहरणों द्वारा भी संपुष्ट और समर्थित की है। उनका कथन है कि जिस प्रकार नवयौवन के शुभागमन पर अथवा वासंतिक शोभा के विकीर्ण होने पर क्रमशः रमणी के सौंदर्य अथवा प्रकृति के वैभव में स्वतः ही आकर्षण उत्पन्न हो जाता है, उसी प्रकार काव्यकृत स्वाभाविक सौन्दर्य चित्रण में बाह्य अलंकारों का आरोपण किसी भी प्रकार की उपयोगिता नहीं रखता। यही बात कालिदास ने शकुन्तला के स्वाभाविक सौन्दर्य के वर्णन के प्रसंग में 'किमिवहि मधुराणां माडनंनाकृतीनाम्' छंदांश द्वारा व्यक्त की है जिसका साम्य 'जिसे सूरत खुदा ने दी नहीं दरकार ज़ेवर की' की सामान्य उक्ति के रूप में लोक प्रचलित है। कुंतक के कथन का यह अभिप्राय है कि उपमा और रूपक आदि अलंकारों का काव्यगत प्रयोग केवल परम्परा निर्वाह अथवा उनके सौष्ठव-प्रदर्शन मात्र के लिए न किया जाकर वर्ण्य विषय-वस्तु के स्वाभाविक सौन्दर्य की संवृद्धि के लिए किया जाना चाहिए जिससे उनका लावण्य और अधिक उद्दीप्त हो सके। इस संदर्भ में उन्होंने जो उदाहरण प्रस्तुत किये हैं वे वस्तु-वक्रता के अपूर्व निदर्शन हैं क्योंकि उनमें वर्ण्य विषय का सौन्दर्य अथवा शोभातिशायी धर्म और भी अधिक निखर उठा है।

काव्य में वर्ण्यमान वस्तु के औचित्य से जहाँ एकमात्र स्वाभाविक सौन्दर्य चित्रण अभीष्ट होता है, वहाँ रूपक और उपमा आदि अलंकारों का कुछ भी महत्त्व नहीं होता किन्तु जहाँ बहुविध रचना-वैचित्र्य रूप में पदार्थों का वर्णन वांछनीय होता है वहाँ अलंकार रूप रचना वैचित्र्यचित्रण मुख्यतः उपयोगी समझा जाता है। इसका यह अभिप्राय है कि स्वाभाविक सौन्दर्यपूर्ण उत्कृष्ट पदार्थ का स्वभाव वर्णन स्वतः अलंकार्य अथवा प्रधान होता है जिसकी तुलना में अलंकार की स्थिति गौण हो जाती है। यदि शोभाविहीन धर्मयुक्त वस्तु को अलंकृत करने के लिए कोई प्रयत्न किया जाय तो वह स्थिति उस पिशाच के तुल्य होगी जिसका अलंकरण किसी भी रूप में उपादेय अथवा सहृदयह्लादकारी नहीं माना जाता। प्रस्तुत अथवा वर्ण्यमान वस्तु के औचित्य की विद्य-मानता में भी जब किसी पदार्थ का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन किया जाता है तो वह अलंकारों का बोझ सहन नहीं कर सकता। काव्य-रचना में अलंकार्य की प्रधानता इसी

हेतुवश स्वीकार की जाती है। कुंतक ने इसी मान्यता के आधार पर स्वभावोक्ति को मुख्य रूप से अलंकार्य मानना ही उचित समझा है। यदि उसे गौण रूप से अलंकार भी कह दिया जाय तो उस प्रयोग को सादृश्यमूलक गौणी लक्षणा के अभिप्राय से ही ग्रहण किया जाना चाहिए।

कुंतक ने उस काव्य रचना को भी वस्तुवक्रता का रूप माना है जो कवि के सहज शक्तिजन्य तथा व्युत्पत्त्यभ्यास द्वारा सम्पादित आहार्यजन्य कौशल से निर्मित होकर शोभातिशयी होती है। ऐसी रचना 'अभिनव कविकल्पना प्रसूत' होने के कारण लोक प्रसिद्ध मात्र ही नहीं होती अपितु पूर्ववर्णित पदार्थों के सौंदर्य चित्रण का भी अतिक्रमण कर जाती है।[112] लौकिक पदार्थों की साधारण स्थिति में अलौकिक सौन्दर्य की क्षमता का संचार करना कवि प्रतिभा के लिए सहज सम्भव है जिसके कारण कवि को काव्य संसार का प्रजापति कहा गया है। अग्निपुराण का निम्नलिखित श्लोक ध्वन्यालोक के विवेचन प्रसंग में इस कथन की पुष्टि में उद्धृत हुआ है—

अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः।
यथाऽस्मै रोचते विश्वंतदेदं परिवर्तते।[113]

सहज (स्वाभाविक शक्ति अथवा प्रतिभा) और आहार्य (शिक्षाभ्यास द्वारा समुपार्जित व्युत्पत्ति) के भेद से वर्ण्यमान वस्तु की वक्रता के दो प्रकार हैं जिनमें आहार्य-जन्य वक्रता अधिकांशतः अलंकाररूपा होती है। उसके अनेक रूप और प्रकार संभव हैं जिनका सम्यक् बोध काव्यवर्णित पदार्थों के वर्णन व्यवहार द्वारा किया जा सकता है। इस विषय में कुंतक ने निम्नलिखित छंद उदाहृत किया है जिसमें महाराज पुरूरवा ने अपनी प्रेयसी उर्वशी के लोकोत्तर सौन्दर्य तथा लावण्य का चित्रण किया है। इस छंद में आहार्य वस्तुवक्रता का अलंकृत रूप समायोजित हुआ है। दशरूपकावलोक, सरस्वतीकण्ठाभरण, साहित्यदर्पण और काव्यप्रदीप आदि काव्यशास्त्रीय ग्रंथों में भी इस छंद का उल्लेख भिन्न-भिन्न संदर्भों में किया गया है। छंद इस प्रकार है—

अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रोनु कांतिप्रदः
शृंगारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो न पुष्पाकरः।
वेदाभ्यासजडः कथन्नु विषय व्यावृत्त कौतूहलो।
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः॥[114]

उपर्युक्त छंद में पुरूरवा द्वारा उर्वशी की कांतिमयता, विलास सम्पदा, सरसता, लोकोत्तर सुकुमारता तथा सुंदरता का आलंकारिक चित्रण किया गया है। उर्वशी वृद्ध ब्रह्मा की रचना नहीं हो सकती क्योंकि उसके रूपनिर्माण तथा सौन्दर्य मण्डन में जिस प्रकार की अपूर्वता पाई जाती है, वह अलौकिक निर्माण की परिणति है। वह चन्द्रमा, कामदेव अथवा पुष्पाकर (वसंत) की रचना हो सकती है जिसके कारण उसमें क्रमशः कांतिमत्ता, विलासिता तथा सौन्दर्य सुषमा आदि विशिष्ट गुणों का संचार हो सका है। कवि ने उसके लिए प्रयुक्त विशेषणों के माध्यम से चन्द्रमा, कामदेव तथा वसंत को प्रजापति (ब्रह्मा) के रूप में उत्पेक्षित किया है। छन्द प्रयुक्त 'नु' पद वितर्क अथवा संदेह

का वाचक है जिसके कारण उसमें सन्देह अलंकार संभावित है। इस प्रकार उपर्युक्त छंद वस्तुवक्रता का अपूर्व उदाहरण है। कुंतक ने अन्य उदाहरणों द्वारा भी वस्तुवक्रता का सौन्दर्य प्रदर्शित किया है जिनमें प्रयुक्त उत्प्रेक्षा, संदेह, अप्रस्तुत प्रशंसा और अतिशयोक्ति आदि अलंकार उसकी शोभातिशयता के हेतु बने हैं। उन अलंकारों के कारण ही वर्ण्यमान वस्तु का सौन्दर्य सम्पादित हो सका है जिससे स्पष्ट है कि काव्य रचना के अनेक स्थलों पर की गई अलंकार-योजना कितनी अधिक उचित और उपादेय होती है।

5. वाक्यवक्रता

कुंतक ने वाचक (शब्द) और वाच्य (अर्थ) की वक्रता का प्रतिपादन करने के पश्चात् शब्द और अर्थ के समुदायरूप वाक्य की वक्रता का विवेचन किया है। यह वक्रता शब्दादि की वक्रता से अद्भुत, अपूर्व और पृथक् श्रेणी की मानी गई है। काव्य-रचना के त्रिविध मार्गों में स्थित शब्द, अर्थ, गुण तथा अलंकारों के सौन्दर्य से भिन्न प्रतीत होने वाली विशेष शैली ही इसका प्राण तत्त्व है।[115] इसके रूप में काव्य-स्रष्टा का अपूर्व कौशल अभिव्यक्त होता है। कुंतक ने उस कौशल को 'मनोज्ञफलकोल्लेखवर्णच्छायाश्रित' कहा है जिसका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार सुन्दर आधारभित्ति पर अंकित रंगों के सौन्दर्य से भिन्न स्थिति रखने वाले चित्रकार की निर्माण-निपुणता अत्यंत मनोहर और अनिर्वचनीय होती है; उसी प्रकार कवि का रचना कौशल काव्यमार्ग प्रयुक्त वक्र शब्दों, अर्थों और अलंकारों से भिन्न तथा लोकोत्तर होता है।[116] कारिकांश में प्रयुक्त 'फलक' शब्द का अर्थ 'चित्र की आधारभित्ति' तथा 'उल्लेख' शब्द का अर्थ 'चित्र के माप के अनुसार अंकित रेखाओं की रचनामात्र' है। 'वर्ण' का अर्थ 'रंगने वाले द्रव्य विशेष' तथा 'छाया' का अर्थ 'कांति' है। इस प्रकार कारिकाप्रयुक्त समस्त पद का यह अभिप्राय है कि जिस प्रकार चित्रकार का कौशल चित्र रचना के समस्त साधनों से पृथक् सत्ता रखता हुआ भी उन पदार्थों का प्राणभूत सत्त्व है, उसी प्रकार काव्यमार्ग सम्बद्ध पदार्थों के समूह से भिन्न रहने वाला कवि-कौशल भी वाक्यवक्रता के रूप में अपना अपूर्व चमत्कार प्रदर्शित करता है। पदार्थों के स्वाभाविक सौकुमार्य के वर्णन में अथवा श्रृंगार आदि रसों के चित्रण में वाक्यवक्रता का महत्त्व उल्लेखनीय है। अलंकारों द्वारा चमत्कार उत्पन्न करने की दिशा में उसका परिपोष सहृदयजनों के आह्लाद का हेतु माना जाता है। कुंतक का कथन है कि वाणी का सौन्दर्य अथवा वैदग्ध्य अद्भुत और अपार है। सृष्ट्यारम्भ से लेकर आज तक अनेक महाकवियों ने उसके अनंत कोष से अर्थापहरण किया है किन्तु अब भी ऐसा प्रतीत होता है कि वह 'अभिन्नमुद्र' है अर्थात् उसकी मुहर नहीं टूटी है। वाक्यवक्रता में वाणी का वैदग्ध्य व्यापार असंख्य रूपों और प्रकारों में अनुबंधित होता है जिसे ध्यान में रखते हुए कुंतक ने उसकी अभ्यर्थना की है। वाक्यवक्रता कवि-कौशल की वशवर्तिनी है अतः काव्यालंकारों का सम्पूर्ण परिकर उसी में अंतर्भूत हो जाता है। कुंतक ने यही बात अग्रलिखित कारिका में कही है—

वाक्यस्य वक्रभावोऽन्यो भिद्यतेयः सहस्रधा।
यत्रालंकारवर्गोऽसौ सर्वोऽप्यन्तर्भविष्यति ।।[117]

वाक्यवक्रता का क्षेत्र अत्यधिक विस्तृत है। उसमें स्वभाववक्रता के साथ-साथ कवि-कौशल निमित्तक रस सौन्दर्य भी चित्रित होता है। प्रतिभाशाली कवियों ने अपनी वैदग्ध्यमंगीभणिति के वैचित्र्य द्वारा रसनिष्पादक स्थायी भावों को रस परिपोष पदवी तक पहुँचाया है जिनकी आस्वाद्यता वाक्यवक्रता रूप कवि कौशल की अपूर्वता प्रमाणित करती है। कुंतक का कथन है कि वह कवि कौशल अपने स्वाभाविक महत्त्व से युक्त तथा औचित्य गुणशाली वक्रता के समस्त प्रकारों को उत्तेजित करने में समर्थ है। सृष्टि के प्रारम्भ से लेकर आज तक की गई काव्य रचनाओं में रस, स्वभाव तथा अलंकारों का जो कवि कौशल सहृदयजनों के लिए आह्लादकारी रहा है, वह सब वाक्यवक्रता का ही प्रसार है। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित अंतर श्लोक उल्लेखनीय हैं—

वक्रतायाः प्रकाराणामौचित्य गुण शालिनाम्।
एतदुत्तेजनायालं स्वस्पंदमहतामपि ।।
रसस्वभावालंकारा आसंसारमपि स्थिताः।
अनेन नवतां यांति तद्विदाह्लाददायिनीम् ।।[118]

काव्योपयोगी वाचक शब्द, वाच्य अर्थ तथा वक्रतामयी कथन शैली के स्वरूप का विवेचन करने के पश्चात् कुंतक ने वर्णनीय वस्तु का विषय विभाग किया है। उनके मतानुसार वर्ण्यमान पदार्थों का स्वरूप तथा स्वभाव दो प्रकार का होता है जिसे नवीन के औचित्य से मनोहर तथा नवीन के परिपोष से सुन्दर बनाया जाता है। ये दोनों रूप औचित्य तथा लालित्य के व्यंजक हैं। पदार्थों के दो भेद हैं जिन्हें चेतन और अचेतन कहते हैं। मुख्य तथा गौण सम्बन्ध से चेतन पदार्थ दो प्रकार के माने जाते हैं। मुख्य चेतन में सुर, असुर, सिद्ध, विद्याधर और मनुष्य आदि की गणना की जाती है क्योंकि उनका चेतनधर्म (बुद्धि तथा ज्ञान) से मुख्य सम्बन्ध है। गौण चेतन में सिंह आदि तिर्यक् प्राणी आते हैं जिनमें ज्ञानबुद्धि की मात्रा सीमित रहती है। कवियों ने सभी प्रकार के चेतन पदार्थों को अपनी रचनाओं की विषयवस्तु बनाया है। कुंतक के मतानुसार मुख्य चेतन का काव्यवर्णित वस्तु व्यापार 'अक्लिष्ट रत्यादि परिपोष मनोहर' होता है जिसका यह तात्पर्य है कि उसमें किसी भी प्रकार की कदर्थना अथवा खींचातानी नहीं करनी पड़ती। उसके रत्यादि स्थायी भाव विभाव आदि सामग्री के वैभव से परिपुष्ट और सुंदर बनाये जाते हैं जिसके फलस्वरूप वे रस रूप में परिणत होते हैं। उनकी यह परिणति ही काव्य का आह्लादकारी तत्त्व है। मुख्य चेतन पदार्थों का स्वरूप तथा स्वभाव चित्रण कवियों की वर्णना का प्रधान विषय है जिसमें रसोद्बोधन की सहज क्षमता विद्यमान होती है। कुंतक ने 'विक्रमोर्वशीय' तथा 'तापसवत्सराज' नामक नाटकों से उदाहरण देते हुए इस विषय का विवेचन किया है कि उनमें क्रमशः विप्रलम्भ शृंगार और करुण रस का चित्रण कितनी अधिक निपुणता तथा सरसता से हो सका है।

अप्रधान चेतन प्राणियों में सिंह-मृग आदि पशु तथा कोकिल-चातक आदि तिर्यक् योनियों की गणना की जाती है। काव्य कृतियों के विषयगत प्रसंगों के अनुसार उनके जातिगत स्वभाव के अनुरूप उनकी क्रीड़ाओं और चेष्टाओं का जो वर्णन किया जाता है, उसे कुंतक ने 'स्वजात्युचितहेवाकसमुल्लेखोज्ज्वल' कहा है। 'अभिज्ञानशाकुंतलम्' के प्रथम अंक में मृगयाशील दुष्यंत द्वारा पीछा किये जाते हुए आश्रम मृग की चेष्टाओं के वर्णन में अप्रधान चेतन का अत्यन्त स्वाभाविक और सजीव चित्रण प्रस्तुत किया गया है जो निम्नलिखित छंद में अंकित है—

ग्रीवाभंगाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने दत्तदृष्टि:
पश्चार्धेन प्रविष्ट: शरपतनभयाद् भूयसा पूर्वकायम्।
शष्पैरर्धावलीढै: श्रमविवृतमुखभ्रंशिभि: कीर्णवर्त्मा
पश्योदग्रप्लुतित्वाद् वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति।

कुंतक ने अमुख्य अर्थात् अप्रधानभूत चेतन प्राणियों की काव्यगत वर्णनीयता को प्रस्तुत विषय का अंगमात्र माना है। उन्होंने उसे 'रसोद्दीपन सामर्थ्य विनिबंधन बंधुर' कहा है जिसका यह अभिप्राय है कि जब अप्रधान चेतन पशु-पक्षी शृंगार आदि रसों के विभाव बनकर वर्णित होते हैं तो उनमें रस परिपोष का सामर्थ्य संचरित हो जाता है। जड़ पदार्थों का स्वरूप-चित्रण भी काव्य रस का उद्दीपन विभाव है। उसमें सम्पूर्ण प्रकृति जगत् के वन, उपवन, शैल, सरिता, वृक्ष, फल, पुष्प और ऋतुचर्या आदि विषयक वर्णन सम्मिलित रहते हैं। रसोद्दीपन में सामर्थ्य प्रदर्शन की दृष्टि से जब इनका वक्रतापूर्ण अभिनिवेश किया जाता है तो काव्य कला में आह्लादमयता आ जाती है।

पदार्थ स्वरूप वक्रता वक्रोक्ति-सिद्धांत का महत्त्वपूर्ण विवेच्य विषय है। जब यह सौन्दर्य अथवा रमणीयता से परिपूर्ण होकर अभिधा व्यापार अथवा कथन शैली के वैचित्र्य से वर्णित किया जाता है तो उसमें अपूर्व शोभातिशयता आ जाती है। पदार्थों का वास्तविक सौन्दर्य ही उसकी मुख्य शोभा है जिनके वस्तु शरीर को अलंकार उपशोभा (गौण सौन्दर्य) से अलंकृत करते हैं। व्यवहारोचित पदार्थों का स्वरूप जब धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप पुरुषार्थ चतुष्टय की सिद्धि का कारण बनकर काव्य रचना का विषय होता है तो उसमें भी पदार्थ स्वरूपवक्रता के गुण आ जाते हैं। कुंतक का कथन है कि वर्णनी यवस्तु के स्वभाव प्रधान तथा रस प्रधान स्वरूप ही अलंकारों द्वारा अलंकृत किये जाते हैं अत: वे ही अलंकार्य कहलाने योग्य हैं।

रसवदादि अलंकारों का खण्डन

कुंतक ने रसवत् अलंकार का खण्डन किया है। उनके मतानुसार पदार्थों के स्वभाव प्रधान तथा रस प्रधान स्वरूप केवल अलंकार्य ही होते हैं जिन्हें किसी भी रूप में अलंकार नहीं कहा जा सकता। भामह आदि आचार्यों ने रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वित् तथा समाहित नामक जो चार अलंकार माने हैं, उनसे कुंतक सहमत नहीं हैं। प्राचीन आचार्यों ने उस अलंकार को रसवत् अलंकार माना है जिसमें रस किसी अन्य का अंगभूत बनकर

उपस्थित होता है। कुंतक का कथन है कि रस सदैव अलंकार्य होता है अतः रसवत् अलंकार की कल्पना पूर्णतः व्यर्थ है। रसप्रतीति के समय केवल रस ही अपने स्वरूप में स्थित रहता है जिसके साथ अलंकार पद का प्रयोग शब्द और अर्थ की विसंगति मात्र है। रस और अलंकार में सदैव अलंकार्य-अलंकार भाव माना गया है जिनकी पृथकता को एक में समेट कर रस को अलंकार कहना किसी भी रूप में युक्तिसंगत नहीं है। यदि रस को ही अलंकार मान लिया जायगा तो फिर उसका अलंकार्य क्या होगा—यह भी एक विवादास्पद विषय है।

कुंतक ने रसवत् अलंकार के विवेचन के प्रसंग में भामह, उद्भट, दण्डी और आनंदवर्धन आदि आचार्यों की धारणाओं की समीक्षा करते हुए उनका खण्डन किया है। उन्हें उपर्युक्त आचार्यों की प्रेय अलंकार विषयक मान्यता भी स्वीकार नहीं है। वे ऊर्जस्वी, उदात्त तथा समाहित अलंकारों के प्रति भी अपना निजी दृष्टिकोण रखते हैं। यदि रसवदलंकार की प्रतिष्ठा के प्रति किसी मेधावी का विशेष आग्रह ही हो तो वे उसका सम्मान करते हुए उसकी व्याख्या अपने ढंग से करना उचित समझते हैं। उन्होंने इन अलंकारों का विशद विमर्श करने के पश्चात् रसवदलंकार की व्याख्या अन्यथा रूप से की है जो निम्नलिखित कारिकाओं में निरूपित हुई है—

यथा स रसवन्नाम सर्वालंकारजीवितम्।
काव्यैकसारतां याति तथेदानीं विवेच्यते॥
रसेन वर्तते तुल्यं रसवत्व विधानतः।
योऽलंकारः स रसवत् तद्विदाह्लादनिर्मितेः॥[119]

अर्थात् 'रसवत्' नाम जिस किसी भी रूप में समस्त अलंकार का जीवन तथा काव्य का अद्वितीय सार हो सकता है, उसी प्रकार में अब उसका अपने नये दृष्टिकोण से विवेचन करते हैं।

रसतत्त्व के विधान से सहृदयों के लिए आह्लाददायक होने के कारण जो कोई भी अलंकार रस के समान हो जाता है, वह अलंकार हमारे विचार से रसवत् कहा जा सकता है।

कुंतक ने 'रसवत्' पद में 'मतुप्' प्रत्यय न मानकर 'तेनतुल्यक्रियाचेद्वतिः सूत्र से सादृश्यार्थक 'वति' प्रत्यय माना है। इस प्रत्यय भेद का यह अभिप्राय है कि मतुप् प्रत्यय के अनुसार रस से युक्त अलंकार रस कहलाता है जब कि कुंतक के मत से उसका अर्थ 'रस के समान आह्लाददायक' अलंकार 'रसवत्' है। इस दृष्टि से रूपक आदि अलंकार भी रसवत् कहला सकते हैं क्योंकि वे तात्कर्म्य सम्बन्धमूलक लक्षणा के गौण सम्बन्ध से रसतुल्य ही प्रतीत होते हैं। जिस प्रकार ब्राह्मण के समान कर्म करने वाला क्षत्रिय ब्राह्मणवत् कहलाता है, उसी प्रकार रसवदलंकार रस के समान आह्लाददायक होने के कारण तात्कर्म्य लक्षणा द्वारा रसवत् कहलाता है। जिस प्रकार रस काव्य को सरस करता है और काव्य-मर्मज्ञों के आनंद का कारण होता है, उसी प्रकार उपमा आदि अलंकार काव्य की सरसता और तद्विदाह्लाद का सम्पादन करते हुए साधारण उपमा से

भिन्न होकर विशेष रूप से रसवदलंकार हो जाते हैं। कुंतक ने रसवदलंकार की नवीन व्याख्या के अनुरूप उसे अनेक उदाहरणों द्वारा निरूपित किया है जिससे उनकी मौलिक अंतर्दृष्टि का आभास मिलता है।

समस्त अलंकार वाक्यवक्रता के ही अंग हैं—अलंकार-विवेचन के इसी क्रम में कुंतक ने दीपक, रूपक, अप्रस्तुत प्रशंसा, पर्यायोक्त, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, उपमा, उपमेयोपमा, तुल्ययोगिता, अनन्वय, परिवृत्ति, श्लेष, व्यतिरेक, सहोक्ति, समासोक्ति, दृष्टांत, अर्थान्तिर न्यास, आक्षेप, विभावना, संदेह, अपह्नुति तथा संसृष्टि अलंकारों के लक्षण तथा उदाहरण निरूपित किये हैं। यह निरूपण 'वक्रोक्तिजीवित' तृतीयोन्मेष की कारिका संख्या 17 से लेकर 43 पर्यन्त हुआ है। इन अलंकारों के अतिरिक्त उन्होंने यथासंख्य, आशी, विशेषोक्ति, हेतु, सूक्ष्म और लेश अलंकारों की भी सामान्य विवेचना की है किन्तु उनमें किसी प्रकार की विशिष्टता न होने के कारण उनका अलंकारत्व खण्डित किया है। कुंतक की मान्यता है कि मुख्य अलंकारों के अतिरिक्त जितने भी अवशिष्ट अलंकार हैं उनमें से कुछ अलंकारों का अंतर्भाव तो मुख्य अलंकारों में हो जाता है तथा कुछ अलंकार शोभा रहित होने के कारण अलंकार ही नहीं कहे जा सकते। यथासंख्य, आशी और विशेषोक्ति को उन्होंने इसी श्रेणी में रखा है तथा हेतु, सूक्ष्म एवं लेश को भामह आदि आचार्यों की कल्पना कहकर उनका अस्तित्व ही नहीं माना है। कुंतक द्वारा विवेचित सभी अलंकार वाक्यवक्रता के ही अंग हैं अतः उन सबका अंतर्भाव उसी वक्रता में हो जाता है। इस प्रकार वक्रोक्तिजीवित के प्रथम उन्मेष में जिन छह प्रकार की वक्रताओं का उल्लेख हुआ था, उनमें से (वर्णविन्यास वक्रता, पद पूर्वार्द्ध-वक्रता तथा प्रत्ययवक्रता का विश्लेषण द्वितीय उन्मेष में तथा वस्तुवक्रता (वाक्य-वक्रता) का विवेचन तृतीय उन्मेष में किया गया है।

6. प्रकरण-वक्रता

कुंतक ने प्रकरण-वक्रता का सामान्य स्वरूप निरूपित करते हुए लिखा है कि जहां अपने अभिप्राय को व्यक्त करने वाली कवियों की प्रवृत्ति अपरिमित उत्साह के व्यापार से शोभायमान होती है, वहाँ प्रकरण-वक्रता का प्रकरण उपस्थित होता है।[120] यह प्रवृत्ति जिस अलौकिक उत्साह के साथ प्रकाशित होती है, उसमें अपूर्व सौन्दर्य रहता है। उससे उनका अपरिमित उत्साह व्यक्त होता है। सामान्य व्यक्तियों में न तो इस प्रकार की इच्छा ही जागृत होती है और न वे उसे परम कोटि तक ही पहुँचा सकते हैं। कुंतक ने इस वक्रता के नौ रूप माने हैं जिनका संक्षिप्त परिचय निम्नलिखित है—

1. इसका मुख्य सम्बन्ध वार्तालाप अथवा संलाप प्रणाली से है जिसका प्रयोग करने के प्रति कवियों के मन में अपरिमित उत्साह रहता है। 'अभिजात जानकी' नाटक के तृतीय अंक में प्रयुक्त सेनापति नील और वानरों के संवाद तथा रघुवंश के पंचम अंक में वर्णित रघु और कौत्स के वार्तालाप इसके आदर्श उदाहरण हैं।

2. दूसरे प्रकार की प्रकरण-वक्रता वह है जिसमें कवि किसी इतिहास प्रसिद्ध घटना में अपनी प्रतिभा द्वारा सामान्य परिवर्तन करता हुआ उसे सजीव और उदात्त बनाता है जिसके कारण काव्य अथवा नाटक में अद्भुत चमत्कार उत्पन्न हो जाता है। कालिदास विरचित 'अभिज्ञानशाकुंतलम्' में दुर्वासा का शाप इसी प्रकार की परिकल्पना है जिसके कारण सम्पूर्ण नाटक में अपूर्व सौन्दर्य और प्रभाव उत्पन्न हो गया है। चतुर्थोन्मेष की तृतीय और चतुर्थ कारिका में इसका उल्लेख हुआ है।
3. जहाँ नाटक का कोई 'एकदेश' उसी नाटक में किसी अन्य स्थान पर अपना प्रभाव अंकित करता हुआ उसमें अपूर्व चमत्कार उत्पन्न कर देता है, वहाँ तीसरे प्रकार की प्रकरणवक्रता होती है। इसका प्रसिद्ध उदाहरण भवभूति विरचित उत्तर रामचरित नाटक का प्रथम अंक है जिसमें चित्रदर्शन के अवसर पर मानसिक संकल्प रूप से सीता के भावी पुत्रों को दिए गए जृम्भकारूपों का प्रभाव पंचम अंक में लव और चन्द्रकेतु के युद्ध रूप में प्रकट होता है। वह प्रभाव आगे चलकर लव का सीता-पुत्र के रूप में परिचय कराने के अवसर पर फलितार्थ हुआ है।
4. एक ही पदार्थ का पुनः-पुनः वर्णन होने पर भी जहाँ कवि अपनी प्रतिभा के बल पर उसे ऐसे रूप में चित्रित करे जिसमें कहीं पर भी पुनरुक्ति की प्रतीति न हो तथा प्रत्येक स्थल पर उसमें नवीन चमत्कार उत्पन्न होता चले, वहाँ चतुर्थ प्रकार की प्रकरण-वक्रता होती है। कुंतक ने 'तापस वत्सराज' तथा रघुवंश (नवम सर्ग) से इसके उदाहरण जुटाये हैं।
5. जहाँ जलक्रीड़ा आदि अंग विशेषों के वर्णन से कथा में वैचित्र्य आता है, वहाँ पंचम प्रकार की प्रकरण-वक्रता होती है। रघुवंश के सोलहवें सर्ग में महाराज कुश की जलक्रीड़ा का वर्णन इसका उदाहरण है।
6. प्रकरण-वक्रता का छठा भेद वह है जहाँ काव्य अथवा नाटक का कोई विशेष प्रकरण प्रधान रस की अभिव्यक्ति का ऐसा परीक्षानिकष बन जाता है जिसके चमत्कार के सम्मुख अन्य प्रकरणों के चमत्कार नहीं ठहर पाते। कुंतक ने 'विक्रमोर्वशीयम्' नाटक के चतुर्थ अंक (उन्मत्तांक) तथा 'किरातार्जुनीयम्' के बाहुयुद्ध के प्रसंग इसके उदाहरण रूप में प्रस्तुत किए हैं।
7. जहाँ प्रधान वस्तु की सिद्धि के लिए अन्य अप्रधान वस्तु की उल्लेखनीय विचित्रता अथवा महत्ता प्रकट की जाती है, वहाँ सप्तम प्रकार की प्रकरण-वक्रता होती है। इसका उदाहरण मुद्राराक्षस नाटक के छठे अंक का वह प्रसंग है जिसमें चाणक्य ने अमात्य राक्षस पर अपना प्रभाव अंकित करने के लिए अप्रधान वस्तु की योजना परिकल्पित की थी। जिसका मुख्य उद्देश्य राक्षस को जीवित रूप में अपना वशवर्ती बनाना था।
8. जहाँ किसी नाटक विशेष में कुशल नट अपनी भूमिका द्वारा रंगमंच को

अलंकृत करते हुए अन्य नटों द्वारा अभिनीत नाटक की वक्रता प्रसारित करने वाले अन्य नाटक के अंक में सामाजिक बनकर अनेक प्रकार की ऐसी भावभंगिमायें प्रकट करते हैं जिनसे सामाजिकों के मन में अपूर्व चमत्कार उत्पन्न होता है, वहाँ अष्टम प्रकार की प्रकरण-वक्रता होती है। इसका उदाहरण बाल रामायण नाटक के चतुर्थ अंक का वह प्रसंग है जिसमें प्रहस्त का अनुकरण करने वाले नट से अनुवर्त्यमान लंकेश्वर रावण का अनुकरण करने वाला नट कोहल आदि द्वारा अभिनीत गर्भनाटक देखता है। इसका दूसरा उदाहरण उत्तररामचरित नाटक का सप्तम अंक है जिसमें सीता परित्याग के पश्चात् उसके गर्भांक में सीता को गंगा में कूदते हुए देखकर भगवान् रामचन्द्र 'हा कुमार, हा लक्ष्मण' कहते हुए चिल्ला उठते हैं।

9. प्रकरण-वक्रता का यह भेद 'संधिवक्रता' के नाम से भी प्रसिद्ध है जिसमें नाटक प्रयुक्त पंचसंधियों का यथोचित सन्निवेश करते हुए नाटक में अपूर्व सौंदर्य उत्पन्न किया जाता है। कुंतक ने इसका लक्षण निरूपित करते हुए लिखा है कि जहाँ मुख और प्रतिमुख आदि संधियों के यथोचित सन्निवेश से पूर्वोत्तर प्रसंगों की समुचित योजना की जाती है, वहाँ यह नवम भेद रूपायित होता है। इसका सुप्रसिद्ध उदाहरण 'पुष्पदूतिक' प्रकरण है जिसके प्रथम अंक में पत्नी वियुक्त समुद्रदत्त की व्यथा और उत्कण्ठा का अपूर्व प्रकाशन किया गया है। कुमारसम्भव में पार्वती के नवयौवन के आगमन-वर्णन से लेकर उनकी तपस्या, परीक्षा तथा विवाह की क्रमश्रृंखला में पौर्वापर्य सम्बन्धों का ध्यान रखते हुए जिस प्रकार संधिसमन्वित प्रकरण नियोजित किए गए हैं, वे इस वक्रता के सुन्दर उदाहरण हैं। 'वेणी-संहार' नाटक के द्वितीय अंक में प्रतिमुख संधि के अंगों का समुचित विन्यास प्रकरणवक्रता का निदर्शन कहा जा सकता है।

कुंतक ने प्रकरणवक्रता के उपर्युक्त नौ प्रकारों का विश्लेषण करने में अपनी मनोरम अभिरुचि प्रकट की है। काव्यबंध के लिए अभीष्ट विकास की दिशा में इस वक्रता की उपयोगिता असंदिग्ध है। महाकवियों की कृतियों में ऐसे अनेक अवसर आते हैं जहाँ उन्हें किसी न किसी रूप में प्रकरणवक्रता का निर्वाह करना पड़ता है। उसके विविध प्रकारों की आह्लादमयी अनुभूति उनकी कृतियों के अनुशीलन द्वारा ही की जा सकती है। प्रकरणवक्रता का यह विषय 'वक्रोक्तिजीवित' ग्रंथ के चतुर्थोन्मेष की प्रथम पन्द्रह कारिकाओं तथा उनकी वृत्तियों में विवेचित हुआ है।

7. प्रबन्धवक्रता

काव्य-विश्व का परिसर 'वर्ण' से लेकर 'प्रबन्ध' पर्यन्त व्याप्त है जिसके अन्तराल में कुंतक ने वक्रोक्ति के भेद-प्रभेदों का विवेचन किया है। उसका मध्यवर्ती भाग शब्द और उसके अवयवों से सम्बन्धित वाच्यार्थ सामग्री से संयोजित है जिसमें वस्तुवक्रता अथवा

वाक्यवक्रता के विविध प्रकार विवेचित किए गए हैं। वर्ण, पद और वाक्य का समुदायात्मक रूप प्रकरणवक्रता की सीमा में आता है तो प्रकरण समुदाय का एकीकृत रूप प्रबंध कहलाता है। प्रबंध कौशल काव्यबंध का सर्वातिशयी व्यापक स्वरूप है जिसमें वक्रता वैचित्र्य की चरम परिणति प्रदर्शित होती है। कुंतक ने उसमें सहज और आहार्य शक्ति के सौकुमार्य से मनोहर वक्रभाव माना है जिसका समावेश प्रकरणवक्रता में भी रहता है।[121] उसके प्रमुख सात भेद हैं जिसका विवेचन चतुर्थोन्मेष की अंतिम ग्यारह कारिकाओं में हुआ है।

प्रबंधकाव्य की प्रथम वक्रता उन स्थलों में होती है जहाँ किसी सर्गबंध (महाकाव्य) अथवा नाटक की मूल ऐतिहासिक कथा में प्रदर्शित रस सम्पदा की उपेक्षा करते हुए उससे भिन्न किसी अन्य सुन्दर रस द्वारा कथा की समाप्ति की जाती है।[122] रसान्तर द्वारा कथोपसंहार करने का मूल हेतु विनेयों के आनंद का निष्पादन है। विनेय वर्ग में मुख्यत: राजकुमार आदि आते हैं जिनके शिक्षण तथा मनोरंजन के लिए काव्य या नाटक प्रयोजनीय रहे हैं। प्रबंधगत रस-परिवर्तन की वक्रता के उदाहरण 'उत्तर रामचरित' तथा 'वेणीसंहार' आदि नाटक हैं जिनकी कथावस्तु के मूल उद्‌गम रामायण और महाभारत संज्ञक महाकाव्य हैं। उन उपजीव्य काव्यग्रंथों का अंगीरस शांत रस माना गया है जिन पर आधारित उपर्युक्त नाटकों में रस-परिवर्तन की प्रक्रिया दृष्टिगोचर होती है। रामायणाश्रित 'उत्तर रामचरित' में करुण तथा महाभारताश्रित 'वेणीसंहार' में वीर रस प्रधान रूप में निष्पन्न हुए हैं जो प्रबंधवक्रता का प्रथम रूप है। प्रबंधगत रस परिवर्तन के मूल में नाटककारों का उद्देश्य करुण रस की आर्द्रता तथा वीर रस की तेजस्विता चित्रित करना है जिनके कारण जीवन में करुणा और उत्साह का संचार होता है।

प्रबंधवक्रता के दूसरे भेद को समापन वक्रता भी कहते हैं। इसका निरूपण करते हुए कुंतक ने लिखा है कि जहाँ किसी प्रसिद्ध नायक के अद्‌भुत चमत्कारकारी चरित्र का पोषण करने वाले इतिहास के 'एकदेश' से ही उत्तरवर्ती कथा के नीरस भाग को छोड़ने के लिए काव्य अथवा नाटक का प्रबंध समाप्त कर दिया जाता है वहाँ दूसरे प्रकार की प्रबंधवक्रता होती है।[123] इस वक्रता में प्रबंध की सम्पूर्ण कथा का वर्णन नहीं किया जाता अपितु उसकी समाप्ति नायक के चरम उत्कर्ष की सीमा पर कर दी जाती है ताकि परवर्ती विरसता से बचा जा सके। ऐसा करने से काव्य के प्रबंध में विचित्रवक्रता का संचार हो जाता है। इसका प्रसिद्ध उदाहरण भारविकृत 'किरातार्जुनीयम्' नामक महाकाव्य है जिसे दुर्योधन की मृत्यु पर्यन्त बढ़ाया जा सकता था किन्तु कवि ने उसमे सम्पूर्ण कथा का वर्णन न कर उसे किरातवेशधारी भगवन् शंकर के साथ अर्जुन के युद्ध तथा उसके फलस्वरूप उसे शिवजी द्वारा पाशुपतास्त्र प्रदान करने तक की कथा तक ही समाप्त कर दिया गया। ऐसा करने से कथानायक अर्जुन के चरित्र का उत्कर्ष हुआ है तथा उसमें उत्तरवर्ती कथा की विरसता भी नहीं आ सकी है।

प्रबंधवक्रता का तीसरा भेद 'कथाविच्छेदवक्रता' कहलाता है। इसमें मुख्य कथावस्तु के सम्बन्ध को तिरोहित करने वाले कार्यान्तर के व्यवधान से विच्छिन्न हुई विरस

कथा प्रधान कार्य की सिद्धि हो जाने के कारण उस काव्य में निर्बन्ध रसोज्ज्वलता उत्पन्न करती है।[124] इसका उदाहरण 'शिशुपालवध' नामक महाकाव्य है जो महाभारत की कथा का एक भाग है। महाभारत की कथा का उद्देश्य दुर्योधन की पराजय है जबकि शिशुपालवध की कथा का उद्देश्य युधिष्ठर के राजसूययज्ञ का सम्पादन है। उन दोनों के बीच शिशुपालवध की घटना उपस्थित हो जाने के कारण दुर्योधन की पराजय का प्रकरण अधूरा रह जाता है जिसकी विच्छिन्नता से कथा में नीरसता का संचार स्वाभाविक है। वस्तुतः देखा जाय तो शिशुपालवध के कारण दुर्योधन की पराजय का कार्य एक प्रकार से स्वतः ही पूर्ण हो जाता है जिसका यह अभिप्राय है कि महाभारत की कथा के प्रसंग में शिशुपालवध की कथा एक प्रकार से प्रधान कार्य की सिद्धि कर देती है। शिशुपालवध महाकाव्य की वह घटना उसकी विरसता का कारण नहीं है क्योंकि बाह्य दृष्टि से वह घटना महाभारत की मुख्य कथा तथा राजसूययज्ञ के प्रसंग में बाधक-सी लगती है किन्तु तत्त्वतः वह कार्य की साधक है जिसके कारण वह उज्ज्वलरसपरिपूर्ण रमणीयतायुक्त वक्रता उत्पन्न करती है।

प्रबंधवक्रता का चतुर्थ प्रकार आनुषंगिक फल वक्रता है जहाँ एक ही विशेष कार्य की फलप्राप्ति के लिए उद्यत नायक उसी के समान आदरणीय अन्य फलों में अपने प्रभाव-चमत्कार से प्राप्त होने वाले अत्यन्त यशभाजन का कारण बनता है, वहाँ यह वक्रता मानी जाती है।[125] इसका उदाहरण नागानंद नाटक है जिसमें दुर्निवार शत्रुता वाले गरुड़ को अपना शरीर देकर जीमूतवाहन ने शंखचूड़ की रक्षा करते हुए न केवल उसकी वंशपरम्परा बचाई अपितु उसके द्वारा अनंत फलों की भी सिद्धि प्राप्त की।

प्रबंधवक्रता का पंचम प्रकार नामकरण वक्रता है। इसका लक्षण यह है कि जहाँ कवि प्रधान कथा के द्योतक चिह्न अथवा नाम से ही काव्य में अपूर्व चमत्कार उत्पन्न कर देता है वहाँ नामकरणवक्रता होती है।[126] इस वक्रता में कथाभाग आदि के वैचित्र्य की अपेक्षा नहीं रहती। अभिज्ञानशाकुंतल, मुद्राराक्षस, प्रतिमानिरुद्ध, मायापुष्पक, कृत्यारावण, छलितराम और पुष्पदूतिक आदि काव्य-नाम इसी प्रकार के अपूर्व चमत्कार के द्योतक हैं जबकि हयग्रीववध, शिशुपालवध, पाण्डवाभ्युदय, रामानंद और रामचरित आदि काव्य-नामों में किसी प्रकार का चमत्कार नहीं है।

तुल्यकथावक्रता प्रबंधवक्रता का छठा प्रकार है। जहाँ एक ही श्रेणी में एक ही कथा के आधार पर बंधे हुए महाकवियों द्वारा निर्मित काव्य अथवा नाटक एक-दूसरे से विलक्षण होने के कारण किसी अपूर्व वक्रता को पुष्ट करते हैं, वहाँ यह वक्रता होती है।[127] प्रबंधवक्रता का यह एक विशेष प्रकार है। इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहा जा सकता है कि रामाभ्युदय, उदात्तराघव, वीरचरित, बालरामायण, अनर्घराघव, कृत्यारावण और मायापुष्पक आदि नाटक एक ही रामायण-कथा पर लिखे गए हैं किन्तु वे सब एक-दूसरे से विलक्षण सौंदर्य अभिव्यक्त करते हैं। उनके पदों, वाक्यों और प्रकरणों में नवीन शैली का उद्रेक होने के साथ-साथ जिस वाग्वैदग्ध से नायक का गुणोत्कर्ष वर्णित हुआ है, वह

सहृदयजनों के हृदयाह्लाद का कारण है। कथाभाग में समानता होने पर भी वे अपने-अपने गुण के कारण पृथक्-पृथक् इकाइयाँ रखते हैं।

संदर्भ

1. कुंतक : वक्रोक्तिजीवित, प्रथमोन्मेष वृत्ति
2. दण्डी : काव्यादर्श, 2/363
3. भामह : काव्यालंकार, 2/85
4. कुंतक : वक्रोक्तिजीवित, 1/2-5 पूर्वपीठिका वृत्ति,
5. लोकोत्तरचमत्कारकारि वैचित्र्य सिद्धये।
   काव्यास्यायमलंकारः कोऽप्यपूर्वो विधीयते ॥ (वक्रोक्तिजीवित : 1/2)
6. कुंतक : वक्रोक्तिजीवित, 1/2 वृत्तिभाग।
7. वही, 1/3
8. वही, 1/4
9. वही, 1/5 अन्तर श्लोक 8.
10. चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम्।
    काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते ॥
11. कटु कौषधवच्छारूपमविद्या व्याधिनाशनम्।
    आह्लाद्यामृतवत् काव्यमविवेकगदापहम् ॥
12. कुंतक : वक्रोक्तिजीवित, 1/6 कारिका-वृत्ति
13. वही, 1/7
14. वही, 1/7 वृत्तिभाग
15. वही, 1/7 वृत्तिभाग
16. भामह : काव्यालंकार, 1/15
17. कुंतक : वक्रोक्तिजीवित, 1/7/18
18. वही, 1/8
19. वही, 1/9
20. वही, 1/9/25
21. कालिदास : कुमारसंभव, 5/71
22. कुंतक : वक्रोक्तिजीवित, 1/9 वृत्ति
23. रघुवंश, 14/70
24. मेघदूत, पूर्वमेघ 56
25. बालरामायण नाटक, 5/34
26. कुंतक : वक्रोक्तिजीवित, 1/10

27. वही, 1/10
28. वही, 1/12
29. वही, 1/13
30. वही, 1/14
31. वही, 1/15
32. वही, 1/16 वृत्तिभाग
33. वही, क्रमश:
34. वही, क्रमश:
35. वही, 1/17
36. वही, 1/17 वृत्तिभाग
37. वही, 1/17/34-36
38. वही, 1/17/37-9।
39. वही,
40. वही,
41. वही, 1/22
42. वही, 1/23
43. वही, 1/24
44. वामन : काव्यालंकार सूत्र, 1/2/9-13
45. दण्डी : काव्यादर्श, 1/41
46. कुंतक : वक्रोक्तिजीवित, 1/25
47. वही, 1/26
48. वही, 1/27
49. वही, 1/28-9
50. वही, 1/30
51. वही, 1/31
52. वही, 1/32
53. वही, 1/33
54. वही, 1/44
55. वही, 1/45
56. वही, 1/46
57. वही, 1/47
58. वही, 1/48
59. वही, 1/49
60. वही, 1/50
61. वही, 1/51/52

62. वही, 1/53-4
63. वही, 1/55-6
64. वही, 1/18
65. वही, 1/19 वृत्तिभाग
66. वही, 2/1
67. वही, 2/3
68. वही, 2/3 वृत्तिभाग
69. वहीं, 2/3/19
70. वही, 2/4
71. वही, 2/5
72. वही, 2/1/1
73. वही, 2/1/2
74. वही, 2/2
75. वही, 2/2/5
76. वही, 2/9
77. वही, 2/8
78. वही, 2/9/27
79. कालिदास : रघुवंश, 3/51
80. कुन्तक : वक्रोक्तिजीवित, 2/10-11
81. वही, 2/13/58
82. वही, 2/10/33
83. राजशेखर : बालारामायण नाटक, 10/41
84. कुंतक : वक्रोक्तिजीवित, 2/11/35
85. वही, 2/11/39
86. कालिदास : रघुवंश, 2/34
87. कुंतक : वक्रोक्तिजीवित, 2/12/43
88. वही, 2/13
89. वही, 2/14
90. वही, 2/14/50
91. वही, 2/15
92. वही, 2/15/51
93. वही, 2/16
94. कालिदास : कुमारसम्भव, 8/11
95. कुंतक : वक्रोक्तिजीवित 2/17
96. वही, 2/19

97. वही, 2/20
98. वही, 2/21
99. वही, 2/22
100. वही, 2/23
101. कालिदास : कुमारसम्भव, 13/24
102. वही, 13/25
103. कुंतक : वक्रोक्तिजीवित, 2/26
104. वही, 2/27-28
105. वही, 2/29
106. वही, 2/31
107. वही, 2/32
108. वही, 2/33
109. वही, 2/35
110. वही, 3/1
111. कालिदास : कुमारसम्भव, 7/13
112. कुंतक : वक्रोक्तिजीवित, 3/2
113. अग्निपुराण, 338/10
114. कालिदास : विक्रमोर्वशीय, 1/8
115. कुंतक : वक्रोक्तिजीवित, 3/3
116. वही, 3/4
117. वही, 1/20
118. वही, 3-4/23-4
119. कुंतक : वक्रोक्तिजीवित, 3/14-5
120. वही, 4/1
121. वही, 1/21
122. वही, 4/16-7
123. वही, 4/18-9
124. वही, 4/20-1
125. वही, 4/22-23
126. वही, 4/24
127. वही, 4/25

क्षेमेन्द्र : 'औचित्यविचारचर्चा'

'औचित्य' तत्त्व और उसकी काव्य-व्याप्ति

संस्कृत काव्यशास्त्र में अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि और रस तत्त्वों की भांति 'औचित्य' को भी एक विशिष्ट काव्य-सिद्धांत के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। क्षेमेन्द्र उसके प्रतिष्ठापक आचार्य हैं जिन्होंने 'औचित्यविचारचर्चा' नामक ग्रंथ में उसका विस्तृत विवेचन किया है। इस सिद्धांत के अनुसार वर्ण से लेकर प्रबंध पर्यन्त व्याप्त रहने वाले काव्य व्यापार में औचित्य-निर्वाह ही एक ऐसा तत्त्व है जिसके कारण उसमें सौन्दर्य चेतना का उन्मेष होता है। काव्यबोध के जितने भी उपकरण अथवा सिद्धांत हैं, वे सभी औचित्यनिबंधना के कारण ही अपनी चरम सिद्धि प्राप्त करते हैं। व्यक्तिगत जीवन से लेकर लोक व्यवस्था के सम्पूर्ण व्यवहारों और कार्यकलापों में औचित्य का सन्निर्षक और अभिनिवेश श्रेयस्कर माना गया है। उसकी आवश्यकता और उपादेयता पद-पद पर रहती है। क्षेमेन्द्र ने औचित्य का सम्बन्ध सृष्टि-रचना और विश्वजनीन क्रियाकलापों के साथ जोड़ कर अपने मंगलाचरण में जिस अच्युत परमात्मा (विष्णु) की स्तुति की है, वे भी अपनी औचित्यकारिणी प्रकृति के कारण ही लीलारूपों में अवतीर्ण होते रहे हैं।[1] समुद्रमंथन के पश्चात् अमृत वितरण की वेला में उनका मोहिनी रूप देश काल और परिस्थिति के औचित्य के अनुरूप था तो नृसिंह, वामन, राम, कृष्ण तथा अन्य अवतारों का औचित्य अपनी-अपनी प्रासंगिक उपयोगिता रखता था। वस्तुतः औचित्य-विधान हमारी जीवनचर्या, नैतिकता और मूल्यमीमांसा से जुड़ा हुआ एक ऐसा उपक्रम है जिसका समायोजन कलाकृतियों और काव्य विधाओं में भी किया जाता है। ऐसा करने पर ही काव्यशोभा का उत्कर्ष और रसोद्रेक की रमणीयता सार्थक होती है।

'औचित्यविचारचर्चा' क्षेमेन्द्र के प्रौढ़ मस्तिष्क और विकसित विवेकशक्ति की परिणति है। उसके पूर्व उन्होंने 'कविकर्णिका' नामक काव्यालंकारिक ग्रंथ लिखा था जिसमें काव्य के शोभाधायक उपमा और रूपक आदि अंलकारों की विवेचना की गई थी। तदुपरांत उनका ध्यान काव्यदोषों की ओर गया जिन्हें उन्होंने 'काव्यकलंक' के रूप में निरूपित करते हुए 'काव्यकलंक' अथवा 'कविकलंक' नामक दूसरा ग्रंथ लिखा। इन ग्रंथों के प्रणयन के पश्चात् उनके मन में इस विषय की सहज बुद्धि जागृत हुई कि काव्य में गुणालंकारों और दोषों की चाहे कैसे भी स्थिति क्यों न हो, उसका

सम्यक विवेक तो केवल औचित्य तत्त्व के सही निर्वाह से ही किया जा सकता है। उन्होंने उसे काव्य का चमत्कार विधायी तत्त्वमात्र ही नहीं माना अपितु उसकी चारु चर्वणा में काव्य का रसजीवितभूत सिद्धांत भी स्वीकार्य किया।[2] उनका तो स्पष्ट कहना था कि जिस काव्य में उसके आत्मस्वरूप औचित्य का 'अनुरूप विधान' नहीं होता, वह चाहे कितने ही गुणों और अलंकारों से अभिमंडित कर दिया जाय, उसकी रचना निरर्थक और मिथ्यामात्र ही समझी जानी चाहिए।[3] इस विषय में उनकी निम्नलिखित मान्यता उल्लेखनीय है जिसमें उन्होंने इस बात का स्पष्ट संकेत किया है कि गुण और अलंकार काव्य के अन्तरंग और बहिरंग धर्म होने पर भी तब तक अपनी चारुता व्यंजित नहीं कर सकते जब तक उनके रससिद्ध आश्रयभूत काव्य में औचित्य का तात्त्विक संचार नहीं होता। वस्तुतः औचित्य ही रससिद्ध काव्य का 'जीवित' है जिसके बिना काव्यसर्जना निष्प्राण और निष्क्रिय रहती है—

अलंकारांस्त्वलंकारा गुणा एव गुणाः सदा।
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्॥
उचित स्थान विन्यासादलंकृतिरलंकृतिः।
औचित्यादच्युता नित्यं भवन्त्येव गुणा गुणाः॥[4]

गुण और अलंकार उसी स्थिति में गुण और अलंकार पद के अधिकारी के होते हैं जबउनका विन्यास उचित स्थान पर किया जाता है। औचित्य का अतिक्रमण करने पर वे अपना शोभाधर्म छोड़ देते हैं। क्षेमेन्द्र ने निम्नलिखित उदाहरण में यही बात प्रकारान्तर से कही है कि यदि कोई कामिनी कंठ में कांची, कमर में हार, हाथ में पायजेब तथा पैर में केयूर धारण करे तो उन आभूषणों का अनुचित विन्यास उसकी मूर्खता का ही द्योतक माना जायगा—

कण्ठे मेखलया नितम्बफलके तारेण हारेण वा।
पाणौ नुपुरबंधनेन चरणे केयूरपाशेन वा॥
शौर्येण प्रणते रियौ करुणया नायांति के हास्यता।
मौचित्येन विना रुचिं प्रतनुते नालंकृतिर्नो गुणा :॥[6]

औचित्यनिर्वाह के स्थान

स्थानों के नाम और पदौचित्य

क्षेमेन्द्र ने 'उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते' कारिकांश में उचित के उस भाव को औचित्य माना है जो किसी वस्तु के साथ अपनी अनुरूपता लिये रहता है।[6] उसका क्षेत्र जीवन, जगत् और काव्य के अंग-प्रत्यंगों तक व्याप्त है। वह काव्य का प्राण अथवा आत्मतत्त्व है। जिस प्रकार किसी प्राणी के मर्म स्थान पर आघात करने से उसके प्राण निकल जाते हैं और शरीर निर्जीव हो जाता है, उसी प्रकार काव्य के शब्दार्थमय शरीर पर जब अनौचित्यरूप आघात होते हैं तो उसकी भी सजीवता नष्ट हो जाती है। उस स्थिति में वह रचना काव्य पद की अधिकारिणी नहीं रहती। क्षेमेन्द्र ने पद, वाक्य,

प्रबंधार्थ, गुण, अलंकार, रस, क्रिया, कारक, लिंग, वचन, विशेषण, उपसर्ग, निपात, काल, देश, कुल, व्रत, तत्त्व, सत्त्व, अभिप्राय, स्वभाव, सारसंग्रह, प्रतिभा, अवस्था, विचार नाम और आशीर्वाद नामक काव्य के ऐसे सत्ताईस मर्मस्थान परिकल्पित किये हैं जिनमें औचित्य की सम्यक् निबंधना होने पर ही उसका जीवनतत्त्व सुरक्षित रहता है।[7] उनका कथन है जिस प्रकार किसी शरदेन्दुमुखी रमणी के ललाट पर कस्तूरी-विरचित श्याम तिलक तथा श्यामवर्णा सुन्दरी के भाल पर श्वेत चंदन का शुभ्र तिलक उनकी सौन्दर्य सुषमा का संवर्द्धन करता है, उसी प्रकार काव्य रचना में प्रयुक्त उचित पदों का अभिनिवेश सम्पूर्ण काव्य सूक्ति में अपूर्व रमणीयता का संचार कर सकता है।[8] उदाहरण के लिए यदि कोई राजरानी अपने स्वामी की खड्गधारा में शत्रुकुल को डुबाने की बात सुनकर उसकी जलधारा से अपनी प्यास बुझाने की लालसा प्रकट करे तो उसके इस प्रकार के कथन से उसकी सरलता और अबोधता और मुग्धावस्था ही झलकेगी। इस प्रकार का वर्णन करते समय राजरानी के लिए किया जाने वाला 'मुग्धा' पद का प्रयोग अपने उचित सन्निवेश के कारण सहृदयजनो के चित्तानुरंजन के लिए परम आह्लादकारी माना जाता है क्योंकि 'मुग्धा' पद में नायिका की अबोधता (भोलापन) का द्योतन होता है जो स्वामी की असिधारा में जल-तत्त्व का आरोपण मानती हुई उसे अपनी प्यास बुझाने में सक्षम समझती है। ऐसे स्थलों पर 'मुग्धा' के अतिरिक्त अन्य किसी भी पद का प्रयोग उचित अर्थ-व्यंजक नहीं माना जा सकता।

काव्य में पदौचित्य की भाँति पदों का अनौचित्य भी हो सकता है जिसके कारण काव्यशोभा का ह्रास होता है। संभोग अथवा विप्रलम्भ शृंगार के वर्णन में 'सुन्दरी', 'रमणी', 'कांता', 'तन्वी', 'कामनी', 'वामा' और 'भामिनी' आदि शब्दों का प्रयोग करते समय उनकी प्रासंगिकता का औचित्य और सौन्दर्य अवश्यमेव ध्यान में रखना चाहिए। विरहवेदना और दुर्बलताग्रस्त नायिका 'तन्वी' पद से जितनी अर्थव्यंजना कर सकती है, उतनी 'सुन्दरी' पद से नहीं। पद प्रयोग करते समय उनके औचित्य का ध्यान रखने से ही काव्य में चारु-चमत्कार और रस-संचार हो सकता है। अनौचित्य तो सभी दृष्टियों से रसभंग का कारण ही माना गया है।

वाक्यौचित्य—काव्य सौंदर्य के लिए वाक्य रचना का औचित्य भी वांछनीय है। उसका स्पष्टीकरण करते हुए क्षेमेन्द्र ने लिखा है कि जिस प्रकार सम्पत्ति (ऐश्वर्य) का औचित्य-दान और त्याग से तथा श्रुतज्ञान का औदात्य शील और शालिन्य से शोभित होता है, उसी प्रकार वाक्य रचना का औचित्य उसके उपयुक्त पद योजना द्वारा ही सफल और सार्थक माना जाता है।[9] उदाहरण के लिए यदि कोई नायक अपनी रूठी हुई प्रेयसी को मनाने के लिए चन्द्रोदय के व्याज से उसके सौंदर्य का वर्णन करता हुआ चन्द्रमा के लिए 'कामोत्तेजक' और 'मनसिज व्यापार दीक्षागुरु' आदि पदों से निर्मित वाक्यों का प्रयोग करे तो वे प्रयोग शृंगार रस के अनुकूल उद्दीपन विभाव के प्रतीक ही माने जाते हैं। इस प्रकार का वाक्यौचित्य काव्यशोभा का कारण होता है। रौद्ररस की अवतारणा के प्रसंग में नायक की कठोरता और क्रोधमयी प्रकृति के साथ-साथ उसके विभानुभावों का औचित्य

भी आवश्यक है। कीचकवध के लिए सन्नद्ध भीमसेन के लिए 'हिडिम्बादयित' तथा उसकी भुजाओं के लिए 'कालदण्ड' पदों का प्रयोग सभी दृष्टियों से उत्तम है, किन्तु उस प्रसंग में यदि उसकी भुजाओं को 'कमलनाल' अथवा 'मृणाल' से उपमित करते हुए वाक्ययोजना की जाय तो वह अनौचित्य व्यंजक ही सिद्ध होगी। ऐसे वाक्य प्रयोग रस विरोधी दोष के कारण माने जाते हैं।

प्रबंधौचित्य—क्षेमेन्द्र ने प्रबंधार्थगत औचित्य को सम्पूर्ण काव्य रचना का सौन्दर्य विधायक तत्त्व माना है। उनका कथन है कि जिस प्रकार दान-दाक्षिण्य आदि गुणों के वैशिष्ट्य से विभूषित वैभव द्वारा सज्जन महानुभाव सुशोभित होते हैं, उसी प्रकार अनुरूप अर्थविशेष के कारण सम्पूर्ण प्रबंध का अर्थ अत्यन्त हृदयग्राही सिद्ध हो सकता है।[10] विलक्षण प्रतिभा के प्रकर्ष से उत्प्रेक्षित महाकाव्य का प्रबंधौचित्य प्रबन्ध के सम्पूर्ण अर्थ को पीयूषवर्षिणी रसधारा से संसिक्त करता हुआ सहृदयजनों के लिए अत्यन्त स्पृहणीय और चमत्कार विधायक माना गया है। प्रबन्धौचित्य का उदाहरण 'मेघदूत' काव्य का निम्नलिखित छंद हैं जिसमें महाकवि कालिदास ने मेघ द्वारा यक्ष का संदेश पहुँचाने की कामना से उसकी वंशगत उच्चता और व्यक्तिगत महानता का उल्लेख करते हुए उसके परोपकरी स्वभाव का चित्रण किया है। अचेतन में चेतन का यह आरोप मेघदूत के प्रबन्धौचित्य का हेतुतत्त्व है जिसका आस्वादन केवल रसिक हृदय ही कर सकते हैं—

जातं वंशे भुवनविदिते पुष्करावर्तकानां,
जानामि त्वां प्रकृतिपुरुषं कामरूपं मघोनः॥
तेनार्थित्वं विधिपखशाद् दूरबंधुर्गतोऽहं,
याच्ञा मोधा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा॥

काव्यकृतियों की प्रबन्धयोजना में जहाँ कहीं अनौचित्यपूर्ण कथानुबन्ध अथवा अश्लील कल्पनाएँ की जाती हैं, वहाँ उनका काव्य शरीर कलुषित और कलंकित हो जाता है। रससिद्ध कवियों की रचनाओं में भी कहीं-कहीं प्रमादवश ऐसी भूलें दृष्टिगोचर होती हैं। महाकवि कालिदास ने कुमारसंभव के अष्टम सर्ग में जगत् के माता-पिता शिवपार्वती की रति क्रीड़ाओं का वर्णन करते समय इस प्रकार के अनौचित्य का प्रदर्शन किया है। पहली बात तो यह है कि पार्वतीपरमेश्वर का संभोग श्रृंगार वर्णन करने का उपक्रम ही अनौचित्यपूर्ण है, उस पर भी उसे सामान्य नायक-नायिका की कोटि में परिकल्पित करना और भी अधिक अशोभनीय है। निम्नलिखित छंद में जगदम्बा पार्वती की कामकेलियों के प्रसंग में नखक्षत आदि अश्लील क्रीड़ाओं का चित्रण और उनके रति क्रीड़ा-चिह्नित अंगों के अवलोकन में भगवान् शंकर की लालसा का वर्णन व्रीड़ाजनक अश्लीलता के ही निदर्शन हैं जिनके कारण 'कुमारसंभव' महाकाव्य का औदात्य और लालित्य क्षत-विक्षत हो गया है। छंद इस प्रकार है—

अरुमूलनखमार्गपंक्तिभिस्तत्क्षणं कृतविलचनोहरः।
वाससः प्रशिथिलस्य संयमं कुर्वन्तीं प्रियतमामवारयत्॥

अर्थात् प्रातःकाल होने जब पार्वती अपने जघन स्थल पर अंकित नखक्षत आदि (कामके-

लिके चिह्नों) को ढकने लगी तो भगवान् शंकर ने उन चिह्नों को देखने की लालसा के कारण उन्हें ऐसा करने से रोका।

गुणौचित्य—क्षेमेन्द्र ने प्रसाद, ओज और माधुर्य आदि गुणों की काव्य के प्रस्तुत अर्थ के अनुरूप की गई योजना को उसी प्रकार भव्य और आकर्षक माना है जिस प्रकार रमणी के साथ संभोगसुख के क्रीड़ाकाल में नवोदित चन्द्रमा का उदय युगल प्रेमियों के लिए अत्यन्त अनुरूप और सुखदीपक माना जाता है।[11] वीर रस प्रधान रचनाओं में ओज गुणव्यंजक पद रचना धीरोदात्त नायक की मन:स्थिति में चार चाँद लगाने वाली होती है जिससे उसका शौर्य और पराक्रम द्विगुणित होकर औचित्यजन्य गुरुता धारण करता है तो शृंगार प्रधान रचनाएँ प्रसाद और माधुर्य गुणों का सन्निवेश पाकर उसी प्रकार चमत्कार विधायिनी हो जाती हैं जिस प्रकार कोई शरदेन्दुवदना रमणी अपने मधुर वचनों द्वारा प्रियतम का मनोरंजन करती हैं। वीरोचित उक्तियों में ओज गुण की तेजस्विता दीप-शिखा के उज्ज्वल प्रकाश की भाँति अपना तेज विकीर्ण करती है तो विप्रलम्भ शृंगार में माधुर्यमयी पद योजना सहृदयजनों के लिए सत्त्वोद्रेक की प्रेरणा सिद्ध होती है। वस्तुतः प्रसंगोचित गुणौचित्य सभी दृष्टियों से काव्य के लिए वरेण्य और रसोत्कर्षकारी माना जाता है।

अलंकारौचित्य—क्षेमेन्द्र ने अर्थगत औचित्य से अनुप्राणित अलंकार को काव्य शोभा का जनक माना है जिससे कोई भी काव्यसूक्ति उसी प्रकार शोभित होती है जिस प्रकार उन्नत पयोधर पर स्थित हार से कोई मृगलोचनी सुन्दरी और भी अधिक रमणीय और हृदयहारिणी बन जाती है।[12] वस्तुतः उपमा और उत्प्रेक्षा आदि अलंकार कविता-कामिनी के कुचकुम्भों पर हिलते हुए मुक्ताहार की कांतिमयी तरलता से उपमित किये जा सकते हैं। प्रश्न यही है कि कुशल काव्यकवि उन्हें अपनी कमनीय कल्पनाओं द्वारा आकलित करते हुए उन्हें किस प्रकार की अलंकृति से अभिमण्डित करे। अलंकारौचित्य का उदाहरण निम्नलिखित छंद है जिसमें वत्सराज उदयन की कामदेव के साथ दी गई उपमा शृंगार रस के अनुकूल होने के कारण चारु चमत्कारिणी बन गई है। छन्द प्रयुक्त 'विश्रांतविग्रह कथ:' 'रतिमान्' जनस्य चित्तेवसन्' और 'प्रियवसंतक' पद द्वयर्थक और श्लिष्ट हैं जिनके कारण वत्सराज और कामदेव की तुलना की की गई है—

विश्रांत विग्रहकथो रतिमान् जनस्य
चित्तेवसन् प्रियवसंतक एव साक्षात्।
पर्युत्सुको निजमहोत्सवदर्शनाय,
वत्सेश्वरः कुसुमचापं इवाभ्युयैति।

उपर्युक्त उदाहरण में वत्सराज उदयन अपने द्वारा आयोजित वसंतमहोत्सव का अवलोकन करने के लिए साक्षात् कामदेव के रूप में चित्रित किये गये हैं जिनके लिए प्रयुक्त विशेषण पद कामदेव पक्ष में भी औचित्यपूर्ण विधान से घटित होने के कारण यह छंद अलंकारौचित्य का उदाहरण है। उन पदों के अर्थ अग्रलिखित हैं—

1. विश्रांतविग्रहकथो—(राजा पक्ष में) सर्वविजयी होने से जिसके विग्रह (युद्ध) की कथा समाप्त हो गई है।
(कामदेव पक्ष में) जो अनंग होने के कारण विग्रह (शरीर) की कथा से रहित है।
2. रतिमान्—(राजा पक्ष में) जो आनन्दमय अथवा प्रीतिकर है।
(कामदेव पक्ष में) जो रति नामक पत्नी से युक्त है।
3. जनस्य चित्तेवसन्—(राजा पक्षमें) सुशासक होने के कारण जो—प्रजाजन के चित्त में निवास करता है।
(कामदेव पक्ष में) मनोभव होने के कारण जो सभी प्राणियों के मन में बसता है।
4. प्रियवसंतक—(राजा पक्ष में) जिसके मित्र अथवा विदूषक का नाम वसंतक है।
(कामदेव पक्ष में) जिसे वसंत ऋतु मित्र की भाँति प्रिय है।

काव्यरचना में अलंकारगत अनौचित्य होने पर उसका सौन्दर्य नष्ट हो जाता है। इसका उदाहरण किसी छंद विशेष की 'शिवा तृप्ताहारा स्वपिति रति खिन्नेव वनिता' पंक्ति हो सकती है जिसमें नरमांस भक्षण से तृप्त जम्बुकी की उपमा सुरतकेलिक्लांत-कामिनी के साथ दी गई है। वस्तुतः स्थान और कर्म की दृष्टि से दोनों में बहुत अन्तर है। जम्बुकी (शिवा) भयानक समरांगण में मारे गये वीरों के मांस भक्षण से तृप्त होती है जबकि कामिनी का स्थान रमणीय केलिमंदिर होता है जहाँ उसे सुरतक्रीड़ा का लोकोत्तर आनन्द मिलता है। दोनों की उपमा अप्रासंगिक और रस विरोधी (वीभत्स और शृंगार में सहज विरोध है) है अतः यहाँ अलंकारौचित्य का सर्वथा अभाव होने के कारण यह उक्ति वैरस्यमूलक है।

रसौचित्य—क्षेमेन्द्र के औचित्य विधान में रस तत्त्व का विशेष महत्त्व है अतः उन्होंने उसके औचित्य पर अधिक बल देते हुए अपनी विवेचना प्रस्तुत की है। उन्होंने रसौचित्य की तुलना 'मधुमास इवाशोकं करोत्यंकुरितं मनः[13] से की है जिसका अभि-प्राय यह है कि जिस प्रकार मधुमास (बसंत) अशोक वृक्ष के अंकुरण और पल्लवन का हेतु होता है उसी प्रकार रसौचित्य समस्त सहृदयजनों के मानस में आनन्द का उद्रेक करता है। श्रेष्ठ काव्यग्रन्थों में इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं। क्षेमेन्द्र ने निम्नलिखित उदाहरण में शृंगार रस का औचित्य प्रतिपादित किया है जिसमें राजा उदयन ने वासव-दत्तानिष्ठ ईर्ष्या विप्रलम्भ रूप शृंगार का आरोपण नवमालिका लता की चेष्टाओं में करते हुए विरहिणी की अन्तर्दशाओं का चित्रण अत्यन्त चमत्कारमयी विधि से किया है। इस उदाहरण में प्रयुक्त 'लता' के विशेषण विरहिणी नायिका के पक्ष में भी सम्यक् रीत्या घटित होते हैं जिन्हें देखकर वासवदत्ता अवश्यमेव क्रोधरक्तिम हो उठेगी— ऐसा उदयन का विश्वास है। छंद इस प्रकार है—

उद्दामोत्कलिकां विपाण्डुररुचं प्रारब्धजृम्भां क्षणा—
दायासं श्वसनोद्गमैरविरलैरातन्वतीमात्मनः।

अद्योद्यानलतामिमां समदनां नारीभिवान्यां ध्रुवं
पश्यन्कोपविटलद्युति मुखं देव्याः करिष्याम्यहम् ।।

उपर्युक्त छंद में प्रयुक्त निम्नलिखित पद उद्यानलतिका तथा देवी वासवदत्ता के पक्ष में क्रमशः निम्नलिखित अर्थों का द्योतन करते हुए उनका साम्य निरूपित करते हैं—

1. उद्दामोत्कलिका—प्रादुर्भूत अद्‌भुत कुड्मला, उत्कटउत्कण्ठाशालिनी।
2. विपाण्डुररुचा—विशेषतः धवलपुष्पावृता, विरह-दशा के कारण विशेषतः धवल कांति।
3. प्रारब्धजृम्भां—समारम्भित विकासमयी, जम्हाई लेती हुई।
4. अविरलश्वसनोदगमा—निरंतरपवनसंचालिता, विरहजन्य उच्छ्वासमयी।
5. आयास आन्दोलिता—पवन वेग से हिलती हुई, कामदेव के बाणों से जर्जरित।

शृंगार रसौचित्य का दूसरा उदाहरण कालिदास का निम्नलिखित छंद है जिसमें कवि ने पार्वती के प्रति भगवान् शंकर का अभिलाषपरक शृंगार चित्रण करने के पूर्व वसंत को नायक तथा वनस्थली को नायिका रूप में परिकल्पित करते हुए रक्तपलाश के नूतन मुकुलों में नायककृत नखक्षत की संभावना (उत्प्रेक्षा) की है—

बालेन्दुवक्राण्यविकासभावाद्‌भुः पलाशान्यतिलोहितानि।
सद्यो वसन्तेन समागतानां नखक्षतानीव वनस्थलीनाम् ।।

क्षेमेन्द्र ने शृंगार रस का अनौचित्य उन स्थानों में माना है जहाँ रसोषकरणों के रूप में विभावों और अनुभावों का सम्यक् संयोजन नहीं हो पाता। उन्होंने शृंगारेतर रसों की निबंधना में औचित्य तथा अनौचित्य के उदाहरण प्रस्तुत करते हुए उनकी विवेचना की है। शृंगार और हास्य रस में विरोध अथवा परस्पर उपमर्द्योपमर्दक भाव नहीं होता और अनेक बार अंगभूत शृंगाराभास के मिश्रण से हास्य रस का चमत्कार उसी प्रकार बढ़ जाता है जिस प्रकार आम्ररस के मिश्रण से उत्कृष्ट मद्य की उपादेयता द्विगुणित हो जाती है। यदि कहीं धूर्तशिरोमणि विट के वचनों का औचित्य शृंगाररसाभास से अनुप्राणित हास्यरस का परिपोष करता है तो कहीं वीभत्सरस मिश्रित हास्य की सृष्टि उसके अनौचित्य का कारण बनती है। निम्नलिखित उदाहरण में किसी अधम नायक की उस चेष्टा का वर्णन किया गया है जो किसी वृद्धा का चुम्बन कर रहा था किन्तु उस क्रिया में वृद्धा का दांत टूट कर उसके कण्ठ में फँस गया जिसे उसने खखार कर थूक दिया। इस प्रकार का वीभत्सपूर्ण शृंगार वर्णन निश्चय ही अनौचित्यपूर्ण माना जाता है। छंद इस प्रकार है—

चुम्बनसक्तः सोऽस्या दशनंच्युमात्मनो वदनात्।
जिह्वामूल प्राप्तं खाङिति कृत्वा निरष्ठीवत् ।।

क्षेमेन्द्र ने करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीत्भस, अद्‌भुत और शांत रस के औचित्य तथा अनौचित्यमूलक बहुविध छंद उदाहृत करते हुए उनकी विवेचना की है। उन्होंने

रसौचित्य के प्रसंग में रस संकरौचित्य का भी निरूपण किया है। उनका कथन है कि पाक विधि के विशेष जानकर पाचकों द्वारा जिस प्रकार मधुरकटु रसों के सम्मिश्रण से अपूर्व स्वाद उत्पन्न किया जाता है, उसी प्रकार शृंगार और वीर आदि रसों का संकट अथवा मिश्रण भी अपूर्व आनन्द का उद्रेक कर सकता है।[14] रसों की इस संकरता के समय इस बात का पूरा ध्यान रखना चाहिए कि उनका मिश्रण कहीं अनौचित्यपरक न हो जाय क्योंकि ऐसा होने पर रसों का अंगांगिभाव विनष्ट होकर काव्य चर्वणा में अंतराय उपस्थित कर देता है।[15] रससंकरौचित्य से सम्बद्ध शांत और शृंगार रस के अंगांगिभाव की उत्कृष्टता महर्षि व्यासरचित निम्नलिखित श्लोक से व्यक्त होती है जिसमें उन्होंने शृंगार को शांत का अंग बनाकर जीवन की अनित्यता तथा क्षणभंगुरता चित्रित की है—

सत्यं मनोरमा रामाः सत्यं रम्या विभूतयः।
किन्तु मत्तांगनापांगभंगिलोलं हि जीवितम्॥

रससंकर का यह औचित्य वीभत्स और शृंगार, वीर और करुण, तथा शृंगार शांत, करुण और वीभत्स रसों की संकरता में भी व्यक्त होता है। आवश्यकता केवल इसी बात की है कि उनका संकर करते समय कवियों को उनके अंगांगिभाव की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। क्षेमेन्द्र ने इनके संकरौचित्य के साथ-साथ उनके अनौचित्य-सूचक उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं जिनमें शृंगार और शांत रस की संकरता का अनौचित्य उल्लेखनीय है। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि जहाँ शांत रस अपने विरोधी शृंगार रस का अंग बना दिया जाता है वहाँ वैराग्य द्वारा शृंगार के रति नामक स्थायी भाव को दबा देने से शृंगार में अनौचित्य-सा आ जाता है। शांत रस का आत्यंतिक परिपोष शृंगार के अनुराग (रति भाव) में विरसता ला देता है। इस विषय में आचार्य आनंदवर्धन का कथन है कि विरोध अथवा अविरोधी रस यदि रसांतर में अंग हो जाता है तो उस अंगभूत रस का परिपोष अंत तक नहीं होना चाहिए क्योंकि ऐसा होने पर विरोध की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। शृंगार में उसके अंगभूत विरोधी शांत रस का अंत तक निर्वाह उसके लिए औचित्य विधा तक ही समझा जाना चाहिए। आनंदवर्धन ने यही बात निम्नलिखित कारिका में निरूपित की है—

विरोधी वाऽविरोधी वा रसांगिनि रसान्तरे।
परिपोषं न नेत व्यस्तेन स्यादविरोधिता॥

क्रियौचित्य—काव्यसौन्दर्य के लिए क्रिया का औचित्य भी अपेक्षणीय है। काव्य प्रयुक्त माधुर्य आदि गुण, वसंततिलका आदि छन्द और व्याकरण सम्मत् विशुद्ध शब्द तभी शोभा पाते हैं जब वे समुचित क्रिया व्यापार द्वारा समायोजित किये जाते हैं।[16] इसे स्पष्ट करते हुए कहा जा सकता है कि जैसे सत्पुरुषों का दयादाक्षिण्य व्यवहार-कौशल और शीलशालिन्य इनके क्रियाकलापों से शोभनीय होता है, वैसे ही काव्य प्रयुक्त क्रियाओं का औचित्य भी उसे सुशोभन बनाता है। क्षेमेन्द्र ने इसके उदाहरण के रूप में स्वनिर्मित 'नीतिलता' का वह छंद उद्धृत किया है जिसमें शुक और सारण रावण

के सम्मुख बालि के पराक्रम और अद्भुत शौर्य का वर्णन करते हुए अंत में 'स किं स्मर्यते' क्रिया पद का प्रयोग करते हैं। वहाँ 'स्मर्यते' क्रियापद अत्यन्त समुचित और व्यंजना-गर्भित है क्योंकि उसके माध्यम से कवि ने रावण को उस स्थिति का भी स्मरण दिलाया है जब बालि ने उसे कपड़े की झोली में डालकर छह महीनों तक अपनी बगल में दबा रखा था। क्षेमेन्द्र ने 'स्मर्यते' क्रिया में जिस रूप में क्रियापद का औचित्य सिद्ध किया है, उसे व्यंजनावादी आचार्य अपने ढंग से विवेचित करते हैं। काव्यरचनाओं में क्रियापदों का अनौचित्य होने पर वे अपकृष्ट मानी जाती हैं जिनके उदाहरण काव्य ग्रंथों के आकलन द्वारा अन्वेषित किये जा सकते हैं।

कारकौचित्य—काव्य में कारकों का उचित प्रयोग उनसे अन्वित वाक्य योजना की शोभा बढ़ाता है। क्षेमेन्द्र में उसे 'कुलाभरणगैश्वर्यमौदार्यचरितैरिव' की शब्दावली में निरूपित किया है जिसका यह अभिप्राय है कि जिस प्रकार कुलीन परिवार से विभूषित ऐश्वर्य और औदार्य साधु चरित्रसे शोभित होता है, उसी प्रकार अनुरूप अन्वय से परिलक्षित वाक्य अनुरूप कारकों के प्रयोग से उत्तम गिना जाता है।[17] क्षेमेन्द्र ने कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण कारकों के प्रयोगगत औचित्य तथा अनौचित्य के उदाहरण प्रस्तुत करते हुए बतलाया है कि उनके औचित्य के कारण काव्यरचना में किस प्रकार का सौन्दर्य विधान अथवा अनौचित्य के कारण किस प्रकार का शोभापकर्ष आ सका है। निम्नलिखित उदाहरण कर्तृपदौचित्य का द्योतक है जिसमें राजा शूद्रक को आशीर्वाद देने के लिए शुक द्वारा यह श्लोक पढ़ा गया है। यह श्लोक बाणभट्ट की कादम्बरी से उद्धृत है—

स्तनयुगमश्रुस्नातं समीपतरवर्ति हृदयशोकाग्नेः।
चरति विमुक्ताहारं व्रत मिव भवतो रिपुस्त्रीणाम्॥

अर्थात् हे राजन! आपके शत्रुओं की स्त्रियों के कुचद्वय नेत्रजल से स्नान कर हृदय स्थित शोकाग्नि के पास रहकर तथा मौक्तिकमाला (पक्षान्तर में भोजन) का त्याग कर सद्वृती के समान व्रताचरण कर रहे हैं।

उपर्युक्त छंद में 'शत्रु की स्त्रियाँ व्रत का आचरण कर रही हैं' के स्थान पर 'उनके कुचद्वय व्रत का आचरण कर रहे हैं' कहने से वाक्य रचना में एक प्रकार का अद्भुत चमत्कार आ गया है जिसका कारण 'स्तनयुगं' पद का कर्ताकारक के रूप में प्रयोग है अतः यह कारकौचित्य का उदाहरण है।

लिंगौचित्य—क्षेमेन्द्र का कथन है कि वर्णनीय अर्थ के अनुरूप स्त्रीलिंग और पुंल्लिग आदि का समुचित प्रयोग करने से काव्य उसी प्रकार स्पृहणीय हो जाता है जिस प्रकार साम्राज्य सूचक शुभ लक्षणों से शरीर शोभित होता है।[18] इसका उदाहरण निम्नलिखित छंद है जिसमें रत्नावली के वियोग में व्यथित महाराज उदयन की कामोद्विग्नता का वर्णन किया गया है। इसमें प्रयुक्त निद्रा, धृति, स्थिति, कथा निर्वृति आदि पदों के स्त्रीलिंग बोधक होने के कारण उनमें जिस रूप में स्त्रीत्व का अध्यारोपण किया गया है, वह लिंगौचित्य का उदाहरण है क्योंकि रत्नावली के अभाव में उदयन जनसंपर्क

से दूर रहते हुए किसी अन्य स्त्री का नाम भी सुनना नहीं चाहते।

निद्रां न स्पृशति त्यजत्यपिधृतिंधत्ते स्थितिं न क्वचि।
द्दीर्घां वेत्ति कथां व्यथां न भजते सर्वात्मना निर्वृतिम्।
तेनाराधयता गुणस्तव जपध्यानेन रत्नावलीं,
निःसंगेन परांगना परिगतं नामापि नो सह्यते॥

वचन विशेषणौचित्य—अभिधेयार्थ के अनुरूप एकवचन, द्विवचन अथवा बहुवचन का प्रयोग करने से काव्य उसी प्रकार का सौन्दर्य प्राप्त करता है जिस प्रकार विद्वानों का मुख दैन्य रहित उदार वाणी से अभिमण्डित होता है।[19] वचनौचित्य में इस बात का ध्यान रखा जाता है कि वर्ण्य विषय के नायकोचित्य वैभव अथवा पराक्रम को अतिरंजित करने के लिए उसका उल्लेख अनेक प्रकार के कथनों अथवा बहुवचन प्रणालियों से किया जाय। उदाहरणार्थ रावण के पराक्रम को हतप्रभ करने के लिए जब राम का वर्चस्व वर्णित किया जाता है तो उसके सन्दर्भ में विष्णु के पूर्ववर्ती अवतारों के अद्भुत कर्मों का बहुवचनमूलक उल्लेख किये जाने पर वचनौचित्य की शोभा प्रतिबिम्बित होती है। यही स्थिति विशेषणौचित्य में रहती है। कविकर्म की सफलता के लिए आवश्यक है कि काव्य में प्रयुक्त विशेष्यभूत अर्थ के अनुरूप ऐसे विशेषणों का प्रयोग किया जाय जो विशेष्य के विशदीकरण तथा सजीव रूप चित्रण में उपयोगी हों। क्षेमेन्द्र ने विशेषणौचित्य को 'गुणाधिकैर्गुणोदारः सुहृद्भिखि सज्जनः' से उपमित किया है जिसका यह अभिप्राय है कि अभिधेय अर्थ के अनुरूप विशेषणों के प्रयोग से विशेष्यभूत अर्थ उसी प्रकार चमत्कृत हो उठता है जिस प्रकार गुणी मित्रों का साहचर्य गुणी सज्जनों के लिए उपयुक्त होता है।[20] उदाहरण के लिए यदि कोई जीवन में अभीप्सित यौवन, उपवन, ज्योत्स्ना, मणिजटित प्रासाद और लावण्यमयी रमणियों के संसर्ग से उपलब्ध भौतिक सुखों का वर्णन करे और उसी वर्णन के प्रसंग में विशेष्यभूत 'जीवन' के साथ उसके 'क्षिप्रक्षयी' अर्थात् क्षणभंगुर विशेषण का सुष्ठु समायोजन करे तो उसका 'क्षिप्रक्षयी' विशेषण सभी दृष्टियों से औचित्यपूर्ण माना जायगा क्योंकि वह अपनी पार्यन्तिक स्थिति में असारता बुद्धिजन्य वैराग्य का संवादी (समर्थक) है।

उपसर्गौचित्य—क्षेमेन्द्र ने उपसर्गौचित्य का निरूपण कहते हुए लिखा है कि जिस प्रकार सत्कार्यों में व्यय होने से सम्पत्ति शोभामयी होती है, उसी प्रकार 'प्र' 'परा' आदि उपसर्गों के सम्पर्क से गुणोचित काव्यसूक्ति भी उत्कर्षशालिनी हो जाती है।[21] काव्यरचनाओं में ऐसे स्थल भी आते हैं जहाँ किसी शब्द के पूर्व किया गया उपसर्गों का प्रयोग उसे और अधिक अर्थ व्यंजक और शोभनीय बना देता है। किसी के बहुत अधिक बढ़े-चढ़े अभिमान के लिए 'तुंग' पद का पूर्व प्रयोग पर्याप्त है किन्तु यदि 'तुंग' के पूर्व 'उत्' उपसर्ग जोड़कर उसे 'उत्तुंग' पद से अभिव्यक्त किया जाय तो उसका औचित्य अत्यन्त प्रभावशाली और प्रबल हो उठता है। कहीं-कहीं 'वदंति' के स्थान पर 'सम्प्रवदंति' जैसे प्रयोग व्यर्थ की उपसर्ग योजना के कारण अनुचित मानें जाते हैं।

निपातौचित्य—काव्यरचनाओं में निपात का औचित्य भी सुग्राह्य माना गया

है। क्षेमेन्द्र का कथन है कि जिस प्रकार सुयोग्य मंत्रियों की नियुक्ति से राजकोष अक्षय रहता है उसी प्रकार उचित स्थान पर 'च' वा 'ह' आदि निपातों का प्रयोग अर्थ संगति का उत्कर्ष बढ़ा देते हैं।[22] पुण्यक्षय होने पर स्वर्ग सुख को वेश्या भोग के पश्चात् अंतविरस और क्षणिक बतलाते हुए उसके सम्मुख मोक्षसुख की सत्यता और नित्यता जिस रूप में निरूपित की जाती है, उसका उदाहरण निम्नलिखित छंदांश है जिसमें प्रयुक्त 'सत्यं च नित्यं च यत्' वाक्य का 'च' निपात अपना अर्थगत औचित्य प्रतिपादित करता है—

क्षीणे पुण्यधने स्थितिर्नतु यथा वेश्यागृहे कामिनां।
तस्मान्मोक्षसुखं समाश्रयत भो, सत्यं च नित्यं च यत्॥

कहीं-कहीं 'च' आदि निपातों का निरर्थक प्रयोग अनौचित्यपूर्ण भी होता है जिसका उदाहरण 'देवो जानाति सर्वं यदपि च तदपि' वाक्य है जिसमें प्रयुक्त 'च' निपात व्यर्थ भारस्वरूप है। क्षेमेन्द्र ने इस प्रकार के अनुचित निपातों की तुलना ऐसे धृष्ट पुरुषों से की है जो अनिमंत्रित होने पर भी भोजनपंक्ति में बैठ जाते हैं किन्तु पहिचाने जाने पर लज्जाविनम्र होकर अपना अनौचित्य व्यक्त करते हैं।

कालौचित्य—काव्यबंध में कालकृत औचित्य भी अपेक्षणीय है। उससे अनुप्राणित अर्थों द्वारा कोई भी काव्यकृति उसी प्रकार चारु चमत्कारमयी मानी जाती है जिस प्रकार समयोचित वेषविन्यास के कारण सज्जनों का शरीर और भी अधिक कांतिमान हो उठता है।[23] अनेक स्थलों पर वर्णनीय प्रसंग के चित्रण में भूतकालिक क्रिया का प्रयोग कालौचित्य का द्योतक होता है तो कहीं-कहीं अतीत कालीन घटनाओं के संदर्भ में वर्तमान काल का प्रयोग उनकी सजीवता तथा चित्रोपमता का हेतु माना जाता है। वर्णनीय अर्थ की संपुष्टि में भविष्यत् काल का प्रयोग भी काव्य प्रेमियों के लिए हृदयसंवादी रहा है जिसके अनेक उदाहरण काव्यग्रन्थों में मिलते हैं। एक ही वाक्यार्थ में जहाँ परस्पर विरुद्ध कालबोधक पदद्वय का प्रयोग किया जाता है वहाँ कालगत अनौचित्य होता है। इसका उदाहरण 'नो दौर्जन्याद्विरमति जडो नापि दैन्याद्व्यरंसीत्' पंक्ति है जिसमें चंद्रमा के लिए दुर्जनता और दीनता जैसे दो गुणों का कथन 'विरमति' (वर्तमानकालिक क्रिया) तथा 'व्यरंसीत्' (भूतकालिक क्रिया) जैसी दो काल विरोधी क्रियाओं द्वारा किया गया है जो अनौचित्यपूर्ण है। वस्तुतः 'व्यरंसीत्' के स्थान पर वर्तमानकालिक क्रिया का प्रयोग किया जाता तो वह अधिक औचित्यपूर्ण सिद्ध होता।

देशौचित्य - क्षेमेन्द्र का कथन है कि हृदयसंवादी देशौचित्य से काव्य के अर्थ सज्जनों के पूर्व परिचयसूचक सद्व्यवहार की भाँति अत्यन्त शोभनीय होते हैं।[24] इसका उदाहरण निम्नलिखित छंद है जिसमें भगवान् श्रीराम ने शम्बूक नामक शूद्रमुनि का वध करने के लिए दण्डकारण्य में पहुँचकर वहाँ की पूर्व परिचित स्थिति का परिवर्तित रूप में चित्रण किया है। उन्होंने वनवास के समय दण्डकारण्य का जो रूप अनुभूत किया था वह बारह वर्षों के पश्चात् कैसे-कैसे परिवर्तन ला सका है, उनका उल्लेख देशौचित्य का निदर्शन है। उस छंद में चिरकालिक विपर्यय के कारण परिवर्तित

परिस्थिति का वर्णन स्थान विशेष के स्वभाव का औचित्य व्यंजित करता है। यह छंद भवभूति के 'उत्तर रामचरित' नाटक से उद्धृत है—

पुरा यत्र स्रोतः पुलिनमधुना तत्र सरिताँ,
विपर्यासं यातो धनविरलभावः क्षितिरुहाम्।
बहोर्दृष्टं कालादपरमिव मन्ये वनमिदं,
निवेशः शैलानां तदिदमिति बुद्धिं दृढयति ।।

अर्थात् पहले जहाँ नदियों का प्रभाव था, वह आज तट बन गये हैं। जहाँ पहले सघन वृक्ष थे वहाँ विरलता आ गई है। जहाँ विरलवृक्षता थी; वह सघन वनसमूह हो गये हैं। यदि पर्वतों की स्थिति पूर्ववर्ती न होती तो निश्चय ही यह दूसरा ही वन प्रतीत होता।

कुलौचित्य—काव्य का कुलौचित्य वैशिष्ट्यजनक कुल के आभिजात्य की भाँति सज्जनों की प्रीति का विषय होता है।[25] यदि कोई कवि किसी राजवंश की परम्परा का वर्णन करते समय उसके कुलोचित आदर्शों का ऐसा चित्रण करे जिसमें कोई राजा अपनी वृद्धावस्था में युवक राजकुमार को राज्य देकर अपनी पत्नी के साथ तपोवन में तपस्या हेतु अधिवास करने लगे तो उस वर्णन में कुलौचित्य मर्यादा का परिपालन होने के कारण वहाँ काव्य का कुलौचित्य माना जाता है। वस्तुतः इक्ष्वाकु-कुल का व्रताचरण लोक विश्रुत है अतः उनके कुलानुरूप वर्णन में इस प्रकार का औचित्य होता है। अप्रसिद्ध वंशों में इस प्रकार की अवतारणा अनौचित्यमूलक मानी जाती है।

व्रतौचित्य—कुलौचित्य की भाँति काव्यार्थ का व्रतौचित्य भी उसकी शोभा का हेतु होता है। व्रताचरण की अनुरूपता के कारण काव्य के अर्थ जनमानस में तुष्टि तथा प्रीति उन्पन्न करते हैं।[26] यदि किसी छंद में तपोवन के वृक्षों का वर्णन करते समय उनमें तपस्वीजनों के व्रत के अनुरूप उनके वल्कल, भस्म तथा जपमाला के सूचक चिह्नों का भी चित्रांकन किया जाय तो उनसे उनकी वैराग्यमूलक शांत चित्तवृत्ति का द्योतन होने के कारण वहाँ व्रतौचित्य माना जाता है। निम्नलिखित उदाहरण में तपोवन के वृक्षों की मुनिवृत्ति का चित्रण करते हुए कवि ने व्रतौचित्य का पूर्णतः निर्वाह किया है—

अत्र वल्कलजुषः पलाशिनः पुष्परेणुभरभस्मभूषिताः।
लोलभृंग बलयाक्षमालिका स्तापसा इव विभांतिपादपाः ।।

तत्त्वौचित्य—सत्य ज्ञान के निर्णय से हृदयसंवादी काव्य जहाँ प्रसंगोचित वस्तु के अनुरूप कथन से सुहृद्सम्मित होकर उपादेयता प्राप्त करता है, वहाँ तत्त्वौचित्य माना जाता है।[27] इस प्रकार का औचित्य तत्त्वज्ञान से मर्यादित तथा शाश्वत सत्यों से अनुप्राणित होता है। उदाहरण के लिए पूर्वजन्मकृत कर्मों का विनाश नहीं होता और उनका फल भोगना पड़ता है, यह एक शाश्वत सत्य है जिसके औचित्य का परिपालन अग्रलिखित छंद में होने के कारण वहाँ तत्त्वौचित्य की निबन्धना स्वीकार की गई है—

दिवि भुवि फणिलोके शैशवे यौवनेवा
जरसि निधनकाले गर्भशय्याश्रये वा;
सहगमनसहिष्णोः सर्वथा देहभाजां
नहि भवति विनाशः कर्मणः प्राक्तनस्य ।।

सत्त्वौचित्य—सत्त्व के अनुरूप वर्णन करने से कवि की सूक्ति उसी प्रकार आनंद प्रदान करती है जिस प्रकार सज्जनों का उदात्त चरित्र विचार करने पर उचित प्रतीत होता है ।[28] उदाहरण के लिए यदि कोई कवि किसी महासत्त्व परिपूर्ण धैर्यशाली पुरुष का वर्णन समुद्र के व्याज से करते हुए उसे नदियों के जल से परिपूर्ण तथा वडवा-नल से शोषित समुद्र की प्रकृति तुल्य गम्भीर, अथाह, धैर्यशाली और गम्भीर सात्त्विक वृत्ति युक्त कहे तो इस प्रकार के चित्रण में सत्त्वौचित्य माना जाता है । निम्नलिखित छंद पंक्तियों में महज्जनों की सात्त्विक प्रकृति का चित्रण जलनिधि समुद्र के गम्भीर शालिन्य तथा अदैन्य स्वभाव के सन्दर्भ से किया गया है—

न दर्प न दैन्यं स्पृशति बहुसत्त्वः पतिरपा—
मवस्थानां भेदाद्भवति विकृतिर्नैव महताम् ।।

अभिप्रायौचित्य—क्षेमेन्द्र का कथन है कि सरलता से अभिप्रायबोधक काव्य निश्छल हृदय से प्रदर्शित विनय के समान सज्जनों के चित्त को अपूर्व आह्लाद प्रदान करता है ।[29] उदाहरण के लिए यदि कोई स्वच्छंद विहारिणी रमणी सायंकाल में किसी सुन्दर नवयुवक को अपने यहाँ पथिक रूप में आया हुआ देखकर उसके साथ रमण करने के अभिप्राय से ऐसे तात्पर्यव्यंजक वाक्य अपनी माता से कहे जिनसे प्रभावित होकर वह उस पथिक को अपने रात्रि विश्राम करने की अनुमति प्रदान कर दे तो वहाँ अभिप्रायौचित्य का समायोजन माना जायगा । निम्नलिखित पंक्तियों में माता और पुत्री का संलाप इस प्रकार के औचित्य का व्यंजक है जिनमें पुत्री द्वारा राजलक्षण युक्त युवक का परिचय दिये जाने पर माता उसे आश्रय देने के लिए उसके अभिप्राय से सहमत हो जाती है—

मन्येऽयं द्विजमध्यगो नृपसुतः कोऽप्यम्ब निःशम्बलो ।
पुत्र्येवं यदि कोष्ठमेतु सुकृतैः प्राप्तो विशेषातिथिः ।।

स्वभावौचित्य—काव्यकृतियों में सुन्दर अलंकारस्वरूप स्वाभाविक वर्णन रम-णियों के अनन्य सामान्य अकृत्रिम लावण्य की भाँति अत्यन्त सुशोभन होता है ।[30] क्षेमेंद्र ने इसके उदाहरण के रूप में एक ऐसी सद्यःस्नाता देवांगना का स्वाभाविक सौन्दर्य चित्रण प्रस्तुत किया है जो कर्णोत्तालितकुंतला, हारावृत्तस्तनी, शीतसीत्कारिणी, निर्धौत अंजनशोणकोणनयना तथा प्रस्यंदित कबरीभरा होने पर भी व्यास पुत्र शुकदेव मुनि के मन को कामस्पृहार्द्र नहीं कर सकी । उनका यह चित्रण देवांगना की स्वाभाविक अनु-रूपता के औचित्य से समन्वित होने के साथ-साथ शुकदेव मुनि के संयम समन्वित स्वभावौचित्य का उदाहरण है । छंद अग्रलिखित है—

कर्णोत्तालितकुंतलान्तनिपतत्तोयक्षणासंगिना,
हारेणेव वृतस्तनी पुलकिता शीतेनसीत्कारिणी ॥
नितर्धौ ंजनशोणकोणनयना स्नानावसानेऽङ्गना ।
प्रस्यन्दत्कबरीभरा न कुरुते कस्य स्पृहार्द्रं मनः ॥

सारसंग्रहौचित्य—सारसंग्रहपरक वाक्य से सुनिश्चित फल वाला काव्यार्थ अदीर्घसूत्री व्यक्ति द्वारा सम्पन्न किये गये व्यापार के समान समस्त सहृदयजनों के लिए आह्लादकारी होता है।[31] सारसंग्रह व्यंजक औचित्य का उदाहरण निम्नलिखित छंद है जिसमें सारसंग्रह के रूप में अहंकार को सम्पूर्ण सांसारिक बंधनों का मूल तथा निरंहकारिता को मोक्ष कहा गया है—

विविधगहन गर्भं ग्रन्थ सम्भारभारै-
र्मुनिभिरभि निविष्टैस्तत्त्वमुक्तं न किंचित् ।
कृतरुचिरविचारं सारमेतन्यहर्षे-
रहमिति भवभूमिर्नाहमित्येव मोक्षः ॥

उपर्युक्त उदाहरण में भगवद् गीता के विचार प्रसंग में महर्षि व्यास की मान्यता का जो सारसंग्रह प्रस्तुत किया गया है उसका मूल मंतव्य यही है कि भवभय विनाश का शास्त्रसम्मत संक्षिप्त सार अहंकार और मोहममता का त्याग ही है जिससे ही मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है ।

प्रतिभौचित्य—क्षेमेन्द्र ने प्रतिभौचित्य का महत्त्व निरूपण करते हुए लिखा है कि प्रतिभा (नवनवोन्मेषशालिनीबुद्धि) से अलंकृत कवि का अनुरूप काव्य उसी प्रकार सुशोभित होता है जिस प्रकार गुणवान् मनुष्य का निर्मल कुल ऐश्वर्य से विभूषित होता है।[32] इसका उदाहरण निम्नलिखित छंद है जिनमें कोई नायिका अपने प्रेमी के सम्मुख प्रतिभौचित्य का प्रदर्शन करती हुई शुक द्वारा अपनी अधरक्षति के असत्य का ज्ञापन करती है और सत्य को छुपाना चाहती है जिसमें किसी अन्य नायक द्वारा उसके अधर का दंशन किया गया है । उसकी वह प्रतिभाजन्य कल्पना प्रेमी के सम्मुख अपनी झूठी सफाई पेश करने का प्रमाण है । छंद इस प्रकार है—

अदय दशसि किं त्वंबिम्ब बुद्ध्याधरं मे
भव चपल निराशः पक्वजम्बूफलानाम् ।
इति दयतिमवेत्य द्वारदेशाप्तमन्या
निगदति शुकमुच्चैः व ांतदंतक्षतौष्ठी ॥

अर्थात् हे शुक, तुम बिम्बफल के भ्रम से मेरे अधर को क्यों काट रहे हो ? तुम बड़े नटखट हो । इस अपराध के दण्ड के कारण मैं आज तुम्हें पके हुए जामुन के फल नहीं दूँगी ।

अवस्थौचित्य—अवस्था के अनुरूप वर्णन करने से कवि बुद्धिमानों के कार्य की भाँति संसार में श्लाघनीय होता है।[33] वयः संधि के समय नायिका बाल-चापल्य की

चेष्टाओं को छोड़कर जब यौवनानुरूप क्रियाओं में संलग्न हो जाती है तो उनका अवस्थानुरूप वर्णन करने पर अवस्थौचित्य की स्थिति मानी जाती है। गेंद खेलने और बात-बात में चंचलता प्रकट करने के स्थान पर उसमें प्रियसमागम के भाव अंकुरित होने लगते हैं जो उसके मुग्धारूप के प्रतीक होते हैं। इस प्रकार के वर्णन में अवस्थौचित्य माना जाता है।

विचारौचित्य—क्षेमेन्द्र के विचारौचित्य के कारण कवियों की कृतियों को मनीषियों के उस विद्याज्ञान के तुल्य माना है जो ज्ञेयतत्त्व से संवलित होता है।[34] अश्वस्थामा वध के प्रसंग में महाराज युधिष्ठिर के असत्य कथन को यदि राजलक्ष्मी की प्रतिक्रिया कहकर कवि उसमें विचार का औचित्य सिद्ध करे तो वह सभी दृष्टियों से समीचीन है। क्षेमेन्द्र ने उसे सहृदय संवेद्य कहकर उसकी प्रशंसा की है।

नामौचित्य—नामौचित्य के विषय में क्षेमेन्द्र का कथन है कि जिस प्रकार कार्य के अनुरूप नाम से पुरुषों के गुण-दोषों की अभिव्यक्ति होती है उसी प्रकार कर्म के अनुरूप नाम का प्रयोग करने से काव्य के गुणदोषों का भी यथार्थ ज्ञान हो जाता है।[35] उदाहरण के लिए यदि प्रेमी युगल के मर्मवेधन तथा उनकी संभोगसुख की आकुलता के प्रसंग में कामदेव को 'पंचबाण' नाम से अभिहित किया जाय तो वहाँ नामौचित्य होगा क्योंकि वह पुष्पधन्वा होने के कारण प्रेमियों के हृदय विदीर्ण करने का सामर्थ्य रखता हुआ अपने नाम की सार्थकता सिद्ध करता है।

आशीर्वचनौचित्य—क्षेमेन्द्र ने आशीर्वचनौचित्य का निरूपण करते हुए लिखा है कि जिस प्रकार सर्वस्वदान द्वारा विद्वानों को संतुष्ट करने वाले राजा के प्रति उन विद्वानों के आशीर्वचन कल्याणकारी होते हैं, उसी प्रकार आकांक्षारहित सम्पूर्ण अर्थ ज्ञान द्वारा विद्वानों को प्रसन्न करने वाले काव्य का अनुरूप आशीर्वचन औचित्यपूर्ण माना जाता है।[36] काव्यरचनाओं के मंगलाचरण में इस प्रकार का आशीर्वचनौचित्य प्रायः दृष्टिगोचर होता है।

निष्कर्ष और निर्णय—क्षेमेन्द्र ने अपनी मान्यता के अनुरूप काव्यप्रयोज्य निरूपण सत्ताईस प्रकार के औचित्यों का सोदाहरण करने के साथ-साथ उन स्थितियों का भी विश्लेषण किया है जिनमें उनका औचित्य खण्डित होता है। वस्तुतः औचित्य का निर्वाह ही काव्यरस का हेतु है और जहाँ काव्यकृतियों में किसी भी प्रकार का अनौचित्य होता है, वे रससंवेद्य नहीं मानी जातीं। आचार्य आनंदवर्धन ने भी अनौचित्यमात्र को रसभंग का कारण माना है जिसका उल्लेख उनकी विवेचना के अंतर्गत किया गया है। इन औचित्यों के अतिरिक्त वृत्त (छंद) तथा वर्ण विषयक औचित्य तथा अनौचित्य भी हो सकते हैं जिनका निरूपण करने के पश्चात् क्षेमेन्द्र ने अपने 'औचित्यविचारचर्चा' ग्रंथ की समाप्ति की है। निष्कर्ष यह है कि काव्य में औचित्य विचार एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण तत्त्व है जो सभी आचार्यों के अभिमत में किसी न किसी रूप में स्वीकार्य रहा है। क्षेमेन्द्र ने उसे एक विशेष तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित करते हुए उसका माहात्म्य प्रकट किया है

जिसके कारण वे औचित्य सिद्धांत के प्रतिष्ठायक आचार्य के रूप में सम्मानित किये गये हैं।

'औचित्य' सिद्धांत का परम्परागत महत्व

क्षेमेन्द्र द्वारा प्रतिपादित औचित्य सिद्धांत की विवेचना करने के पश्चात् कहा जा सकता है कि संस्कृत काव्यशास्त्र की विस्तीर्ण परम्परा में औचित्य तत्त्व का माहात्म्य भरत मुनि के 'नाट्यशाखा' से लेकर अद्यावधिपर्यन्त सुमान्य रहा है। नाट्यशास्त्र में नाट्य को 'नानाभावोपसम्पन्नं' 'नानावस्थान्तरात्मक' तथा 'लोकवृत्तानुकरण' कहते हुए उसके जिन नियमों का निरूपण किया गया है; वे अपनी प्रयोगगत लोकधर्मिता और नाट्यधर्मिता में औचित्यमूलक ही माने जा सकते हैं।[37] अभिनय, प्रकृति, पाठ्य, छन्द, अलंकार स्वर और संगीत आदि उपकरणों की परिणति जब रस और भावोन्मीलन के अनुरूप होती है, तभी नाट्य की सफलता समझी जाती है। वयानुरूप वेप, वेषानुरूप गतिप्रचार, गतिप्रचारानुगत पाठ्य तथा पाठ्यानुरूप अभिनय करने से ही नाट्यकला सार्थक होती है।[38] अदेशज वेष उसी प्रकार अशोभनीय है जिस प्रकार हृदय पर मेखला तथा हाथों में नूपुर धारण करना हास्यास्पद समझा जाता है। आचार्य भामह ने सन्निवेश विशेष के कारण दुष्ट उक्ति को उसी रूप में शोभनीय माना है जिस रूप में माला के माध्य में गुम्फित नील पलाश शोभित होता है।[39] असाधु वस्तु आश्रम के सौन्दर्य से कान्ताविलोचनन्यस्त नेत्रांजन की भाँति सौन्दर्यशालिनी और शोभावर्द्धिनी मानी जाती।[40] भय, शोक, असूया, हर्ष तथा विस्मय आदि भावों से चित्त के आक्षिप्त होने पर 'पुनरुक्तिदोष' दोष नहीं रहता। भामह ने उसकी निर्दोषता का कारण अवसरौचित्य को ही माना है।

दण्डी के गुणदोष विवेचन के संदर्भ में भी औचित्य तत्त्व का प्रासंगिक उल्लेख हुआ है। कन्नौजाधिपति यशोवर्मा के रामाभ्युदय' नाटक के अंतर्गत नाट्यगुणों के प्रसंग में 'वचनौचित्य' की प्रशंसा की गई है तो भट्ट लोल्लट ने रस और रसांगों के प्रति समरसता का दृष्टिकोण व्यक्त करते हुए रसौचित्य की महत्ता प्रतिपादित की है। रुद्रट के काव्यालंकार में अलंकारौचित्य तथा रसौचित्य सिद्धांत की प्रासंगिक चर्चा हुई है। आचार्य आनंदवर्धन तो औचित्य तत्त्व को 'रसोपनिषद्' के नाम से अभिहित करते हैं। अभिनवगुप्त, भोजराज, कुंतक, महिम भट्ट आदि आचार्यों ने भी औचित्य सिद्धांत विषयक अपनी मान्यताएं प्रस्तुत की हैं। उन सभी आचार्यों के विचारों का आकलन करने के पश्चात् ही क्षेमेन्द्र ने औचित्य सिद्धांत प्रतिष्ठापन किया है जो उनके परवर्ती आचार्यों को भी किसी न किसी रूप में अनिवार्यतः सुमान्य रहा है।

संदर्भ

1. क्षेमेन्द्र : औचित्यविचारचर्चा, कारिका 1
2. वही, 2/3
3. वही, 4
4. वही, 5/6
5. वही, 6 उदाहरण भाग
6. वही, 7
7. वही, 8-10
8. वही, 11
9. वही, 12
10. वही, 13
11. वही, 14
12. वही, 15
13. वही, 16
14. वही, 17
15. वही, 18
16. वही, 19
17. वही, 20
18. वही, 21
19. वही, 22
20. वही, 23
21. वही, 24
22. वही, 25
23. वही, 26
24. वही, 27
25. वही, 28
26. वही, 29
27. वही, 30
28. वही, 31
29. वही, 32
30. वही, 33
31. वही, 34
32. वही, 35
33. वही, 36

34. वही, 37
35. वही, 38
36. वही, 39
37. भारतमुनि : नाट्यशास्त्र, 1/109
38. वही, 14/68
39. भामह : काव्यालंकार 1/54-55
40. वही, 4/14

जगन्नाथ : 'रसगंगाधर'

काव्य-प्रयोजन और काव्य-लक्षण

रसगंगाधरकार पण्डित जगन्नाथ ने कीर्ति, परम आह्लाद (लोकोत्तर आनंद) तथा गुरु, राजा एवं देवता की प्रसन्नता आदि काव्य के अनेक प्रयोजन निर्दिष्ट किये हैं। वे कवि तथा सहृदय के लिए काव्य की व्युत्पत्ति आवश्यक समझते हैं। उनके मतानुसार रमणीया अर्थ को प्रतिपादित करने वाला शब्द काव्य है। शब्द के अंतर्गत उन्होंने वाचक, लक्षक और व्यंजक संज्ञक तीनों प्रकार के शब्द ध्वनित किये हैं। इन सभी शब्दों की सामान्य विशेषता यह होनी चाहिए कि वे रमणीय अर्थ के प्रतिपादक हों। यदि शब्द में रमणीयता का तत्त्व न हो तो वह काव्य-पद का अधिकारी नहीं हो सकता। 'रमणीयता' का अर्थ 'लोकोत्तर आह्लादजनक ज्ञानगोचरता' है। 'लोकोत्तर' से अभिप्राय सातिशय, निरतिशय इत्यादि आनंदरूपों में रहने वाला एक जाति विशेष है जिसका दूसरा नाम चमत्कार है। उस जाति विशेष की सत्ता में सहृदयों का अनुभव ही प्रमाण है। साहित्यदर्पणकर विश्वनाथ ने भी यही बात 'सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम्' की शब्दावली में कही है। पण्डितराज ने लोकोत्तर आनंद का कारण पुनः-पुनः अनुसंधानरूप शाब्दबोधात्मक अनुभव माना है। वह अनुभव धारावाहिक और भावना विशेष से अनुप्राणित होना चाहिए। काव्य के श्रवणमात्र से प्रथमतः हमें शाब्दबोध की प्रक्रिया से गुजरना पड़ता है जो वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ की ओर बढ़ती है। व्यंजना-वृत्ति के चमत्कारों से अभिभूत होकर सहृदयजन जिन काव्य शब्दों का पुनः-पुनः अनुसंधान रूप अनुभव करते हैं, वे उन्हें लोकोत्तर आनंद की दिशा में उन्मुख कर देते हैं। वस्तुतः वाच्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ की विलक्षण बोधधारा ही काव्य रसिकों को आनन्द-सिंधु में निमग्न करने में सक्षम है। यह जो कुछ भी होता है; उसकी मूलचेतना तो काव्य के 'शब्द-विशेष' में ही होती है, अतः पण्डितराज ने उसके गौरव तथा वर्चस्व की लोकोत्तर गरिमा समझ कर ही **'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्'** के रूप में काव्य का लक्षण निरूपित किया है।

मम्मट प्रतिपादित लक्षण का खण्डन

अन्य आचार्यों की भाँति पण्डितराज जगन्नाथ ने भी अपने द्वारा परिभाषित

काव्यलक्षण को सर्वथा पूर्ण और निर्दोष मानकर दूसरे काव्यशास्त्रियों की मान्यताओं का खण्डन किया है। सर्वप्रथम उन्होंने काव्यप्रकाशकार मम्मट के काव्यलक्षण की समीक्षा की है जिन्होंने 'अदोषौ सगुणौ सालंकारौ शब्दार्थौ काव्यम्' की शब्दावली में काव्यलक्षण का निरूपण किया था। काव्य की परिभाषा में मम्मट ने दोषरहित, गुण अलंकार सहित शब्दार्थयुगल को काव्य माना है किन्तु अलंकार के अंश में उन्होंने इतनी छूट अवश्य कर दी है कि कहीं-कहीं अलंकार न रहने पर भी शब्दार्थ समूह काव्य-पद का अधिकारी हो जाता है।

पण्डितराज को मम्मट का उपर्युक्त काव्यलक्षण स्वीकार नहीं है। उन्होंने शब्दार्थयुगल को काव्य मानने के सिद्धांत पर आपत्ति की है। उनका कहना है कि वस्तुतः शब्द ही काव्य है, क्योंकि यदि ऐसा नहीं होता तो 'काव्यमुच्चैः पठ्यते, काव्यदर्थोऽवगम्यते, काव्यं श्रुतम् अर्थो न ज्ञातः' अर्थात् 'काव्य जोर से पढ़ा जाता है, काव्य से अर्थ समझा जाता है, काव्य सुना किन्तु अर्थ ज्ञात नहीं हुआ' जैसे व्यावहारिक प्रयोग नहीं किये जाते। श्रूयमाणता वर्ण निमित शब्द का श्रुतिधर्म है, अतः काव्यश्रवण अथवा काव्यपाठन आदि क्रियाओं की भूमिका में शब्द को ही काव्य का लक्षण मानना चाहिए न कि शब्दार्थयुगल को, ऐसी पण्डितराज की धारणा है।

शब्दमात्र को काव्य मानने वाले पण्डितराज ने उन व्याख्याकारों की उपपत्ति को भी निरस्त करने का प्रयास किया है जो शब्दमात्र के प्रयोग में लक्षणवृत्ति द्वारा शब्दार्थ युगल का बोध करते हैं। पण्डितराज का कथन है कि काव्यपद का लक्षण अथवा शब्द और अर्थ दोनों हैं, ऐसा कोई प्राप्त प्रमाण दृष्टिगोचर नहीं होता। मम्मट की मान्यता (शब्दार्थौ काव्यम्) श्रुति आदि की भाँति आप्तवचन नहीं मानी जा सकती क्योंकि वे स्वयम् 'वादी' रूप में उपस्थित हैं। शब्दार्थयुगल में जब काव्य सिद्धि का कोई ठोस प्रमाण ही नहीं है तो शब्दमात्र को ही काव्य मानना युक्तिसंगत है।

शब्दार्थयुगल को काव्य मानने वाले मम्मट समर्थक आचार्यों ने रसदृष्टि के आधार पर अपना पक्ष पुष्ट किया है। उनका कहना है कि जिस काव्य द्वारा हमें रसोद्बोध अथवा लोकोत्तर आह्लाद की प्राप्ति होती है, वह शब्दार्थयुगल की स्थिति में ही सम्भव है। पण्डितराज को इस मान्यता पर भी आपत्ति है क्योंकि रसोद्बोध की क्षमता तो रागतत्त्व, नृत्य, वाद्य तथा अभिनय नेपथ्य आदि नाटक सामग्री में भी सन्निहित है अतः उन्हें भी काव्यपद का गौरव मिल जाना चाहिए जबकि वास्तविकता ऐसी नहीं है। राग और नृत्य आदि नाटक के अंगमात्र हैं, अतः उनकी रस व्यंजकतामात्र से उन्हें काव्य नहीं माना जाता। अपने कथन की पुष्टि में पण्डितराज ने ध्वन्यालोककार आनंदवर्धन का अभिमत भी प्रस्तुत किया है, जो रागतत्त्व में भी रसोद्बोधन की क्षमता स्वीकार करते हैं। अभिप्राय यह है कि पण्डितराज के मतानुसार विशिष्ट प्रकार के शब्दमात्र में ही काव्य का लक्षण संघटित करना उचित है, जिसकी प्रधानता के कारण शब्दार्थ-युगल में उनका अधिष्ठान मानना आवश्यक नहीं है।

काव्य-लक्षण से सम्बन्धित शब्दार्थयुगल की धारणा का खण्डन करने के साथ-

साथ पण्डितराज ने मम्मट द्वारा अभिहित 'सगुण सालंकार और सदोष' संज्ञक विशेषणों की उपादेयता भी अस्वीकार की है। अपने कथन की पुष्टि में उन्होंने 'उदितं माडलं विधो', (चन्द्रमण्डल उदित हुआ) 'गतोऽस्तमर्कः' (सूर्य अस्त हो गया) आदि वाक्य उद्धृत किये हैं जिनमें गुण और अलंकारों की सत्ता न होने पर भी वे काव्य कहे जाते हैं। इसका कारण यह है कि इन वाक्यों में जब काव्य के चमत्कार विधायक व्यंग्यार्थ के भाव उनके प्रसंगगत प्रकरणों के कारण उत्पन्न होते और वे अभिसारिका आदि नायिकाओं द्वारा उच्चरित किये जाते हैं तो उनमें काव्य की रमणीयता स्वतः ही स्फुरित हो जाती है। उस स्थिति में इस प्रकार के शब्द या उनसे निर्मित वाक्य अपने व्यंग्यार्थ की अंतर्ध्वनि से उनकी काव्यलक्षणगत संसिद्धि कर देते हैं। ऐसे वाक्य काव्य के जीवातुभूत चमत्कार की विद्यमानता के कारण काव्य-पद के अधिकारी होते हैं। यदि किन्हीं विशेष तर्कों के आधार पर काव्य की गुणवत्ता और अलंकारता सिद्ध भी कर दी जाय तो भी काव्य लक्षण का 'अदोष' विशेषण तो निरर्थक-सा लगता है क्योंकि लोक में 'यह काव्य दुष्ट (दोषसहित) है जैसे प्रयोग भी देखे जाते हैं जिनसे काव्य की निरपेक्ष निरदोषता' सिद्ध नहीं होती। शब्दमय काव्य शरीर में गुण और अलंकार जैसे आत्मस्थानीय विशेषणों का संयोजन पण्डितराज को स्वीकार नहीं है जिनकी प्रतिपत्ति का खण्डन कर उन्होंने काव्यलक्षण के रूप में 'शब्द' पद की प्रधानता के परिप्रेक्ष्य में 'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' को ही काव्य का युक्तिसंगत लक्षण माना है।

रसात्मक वाक्य ही काव्य नहीं होता : विश्वनाथ का खण्डन

पण्डितराज को साहित्य दर्पणकार विश्वनाथ द्वारा प्रतिपादित 'रसात्मकं वाक्यं काव्यम्' लक्षण भी स्वीकार नहीं है। उपर्युक्त लक्षण के अनुसार काव्य कहे जाने वाले वाक्य में 'रसात्मकता' अनिवार्य है जिसके अभाव में कोई भी वाक्य काव्य पद का अधिकारी नहीं होता। पण्डितराज इस मत से भी सहमत नहीं हैं। उनका कथन है कि जिन वाक्यों में केवल वस्तु-वर्णन या अलंकार-वर्णन मुख्य होता है, वे क्या 'काव्य' नहीं कहे जाते ? वस्तुतः लोकोत्तर चमत्कार ही काव्य का प्राण है जो वस्तु अथवा अलंकार-ध्वनि से भी अभिव्यक्त होता है अतः काव्य को रसात्मक वाक्य मात्र कहना उसका सर्वथा सर्वमान्य लक्षण नहीं हो सकता।

पण्डितराज ने मम्मट और विश्वनाथ के जिन काव्यलक्षणों का खण्डन किया है; वे सर्वथैव उपेक्षणीय नहीं कहे जा सकते। चूँकि उन्होंने काव्य-लक्षण में 'शब्द' तत्त्व को ही प्रधानता दी है अतः उसकी सुदृढ स्थिति बनाने के प्रयोजन से ही वे उनके पक्ष में अपने तर्क प्रस्तुत करते हैं। उनकी दृष्टि से उनका काव्यलक्षण पूर्ण और अनवद्य हो सकता है। किन्तु इस प्रसंग में मम्मट और विश्वनाथ के काव्यलक्षण भी सर्वथा निरस्त नहीं किये जा सकते। इस विषय का अधिक स्पष्टीकरण तो उपर्युक्त आचार्यद्वय की काव्यलक्षणविषयक धारणाओं के अंतर्गत किया जा चुका है। यहाँ तो केवल इतना उल्लेख करना ही पर्याप्त है कि पण्डितराज कृत काव्यलक्षण काव्य शास्त्र की विकासमयी

शृंखला में एक महत्वमयी कड़ी के समान है जिसकी महत्ता कम नहीं की जा सकती किन्तु 'शब्द' के स्थान पर 'शब्दार्थयुगल' की स्थापना तथा विशेष पद के लिए गुण, अलंकार और अदोष पदों की विशेषणमूलक-योजना काव्यलक्षण की स्पष्टता, सुबोधता, विशदता तथा व्यावहारिकता की दृष्टि से नितांत वांछनीय है जिसका प्रतिपादन मम्मट और विश्वनाथ आदि आचार्यों ने अनेक प्रमाणों और उदाहरणों की व्याख्या तथा संगति के आधार पर किया है। इन लक्षणों में बाह्य दृष्टि से भले ही विरोध-सा परिलक्षित हो किन्तु एक ऐसी स्थिति भी आती है जहाँ ये समस्त विरोध उपशमित हो जाते हैं। शब्दब्रह्म के साक्षात् प्रतिरूप काव्यपुरुष की विराटता और रमणीयता उसके अंगांगि-भावों की सम्यक योजना द्वारा ही पूर्ण बनाई जा सकती है, इस मान्यता की पृष्ठभूमि में ही इन काव्यलक्षणों की अवधारणा स्वीकार की जानी चाहिए।

काव्यकारण विवेचना

पण्डितराज ने काव्य का कारण निम्नलिखित रूप में विवेचित किया है —

'तस्य च कारणं कविगता केवला प्रतिभा। सा च काव्यघटनानुकूल शब्दार्थोपस्थितिः। तद्गतं च प्रतिभात्वं काव्यकारणताऽवच्छेदकतया सिद्धो जाति विशेष उपाधिरूपं वा खण्डम्।'

पण्डितराज के पूर्ववर्ती मम्मट आदि आचार्यों ने 'शक्ति, निपुणता और अभ्यास, आदि हेतुओं को 'काव्यकारण' रूप में निर्दिष्ट किया था किन्तु पण्डितराज केवल प्रतिभा को ही काव्य का कारण मानते हैं। काव्य निर्माण के लिए अनुकूल और उपयुक्त शब्दों और अर्थों की प्रस्तुति आवश्यक है जिनका स्मरण और उचित प्रयोग करना प्रतिभाशाली कवियों का कार्य है। प्रतिभा को नवनवोन्मेषशालिनी बुद्धि अथवा प्रज्ञा भी कहा जा सकता है। प्रतिभा में रहने वाला 'प्रतिभात्व' एक जाति विशेष है जिसकी सिद्धि अनुगताकार प्रतीति से न की जाकर स्वविषयकज्ञान-समवायित्वसम्बन्ध अथवा अनुमान से की जानी चाहिए। उसकी सिद्धि में अनुगताकार प्रतीति का प्रयोग सुसंगत नहीं है। प्रतिभात्व को जाति विशेष मानना ही उचित है क्योंकि उसे धर्ममात्र मानने से उसके अनंत ध्वंस, अनंतसृष्टि तथा अनंत प्रागभाव भी मानने पड़ेंगे जिनसे उसका अनित्यत्व ही सिद्ध होगा। प्रतिभात्व को नित्य जाति मानने पर इस प्रकार के विकल्पों की गुंजाइश नहीं रहती। यदि प्रतिभात्व को जाति विशेष न मान कर नीलघटत्व आदि सखण्ड उपाधि रूप मान लिया जाय तो भी उसमें किसी प्रकार की क्षति अथवा हानि होने की संभावना नहीं है।

प्रतिभा के कारण : अदृष्ट और व्युत्पत्त्यभ्यास

पण्डितराज ने काव्यकारणीभूत प्रतिभा के कारण पर भी विचार किया है। उनके शब्दों में 'तस्याश्च हेतुः क्वचिद् देवतामहापुरुषप्रसादिजन्यमदृष्ट्म, क्वचिच्च विलक्षणव्युत्पत्ति काव्यकरणाभ्यासौ' के अनुसार प्रतिभा के दो कारण हैं जिन्हें 'किसी

देवता अथवा महापुरुष की कृपा से उत्पन्न अदृष्ट विशेष' तथा 'विलक्षण व्युत्पत्ति और काव्य रचना अभ्यास' कहा जा सकता है। अदृष्ट, व्युत्पत्ति और अभ्यास ये तीनों मिलकर ही प्रतिभा के कारण बनते हैं अथवा इनकी पृथक्-पृथक् सत्ता है, यह एक नितांत विचारणीय विषय है। इस सम्बन्ध में कई प्रकार के तर्क अथवा प्रमाण प्रस्तुत किये जाते हैं। पण्डितराज के अनुसार ये तीनों कारण सम्मिलित होकर ही प्रतिभा उत्पन्न नहीं करते हैं, अपितु कहीं पर तो अदृष्ट स्वतन्त्र रह कर प्रतिभा उत्पन्न करता है और कहीं व्युत्पत्ति और अभ्यास मिलकर प्रतिभा के हेतु बनते हैं। यदि इन तीनों के सम्मिश्रित रूप से ही प्रतिभा की उत्पत्ति मानी जाय तब तो कविकर्णपूर नामक बालक में महापुरुषों की कृपा से उत्पन्न प्रतिभा विषयक किंवदंती झूठी सिद्ध होगी और उसमें कार्यकारणभाव व्यभिचरित हो जायगा। जनश्रुति के अनुसार जिस पंच-वर्षीय मूक बालक कर्णपूर को वाणी का वरदान या बोलने की शक्ति ही प्राप्त न थी, वह मुख में वह श्रीकृष्ण चैतन्य का अंगुल्यग्र प्रवेश पाकर विलक्षण काव्यशक्ति सम्पन्न हो गया; इस प्रकार की मान्यता ही इस बात का प्रमाण है कि प्रतिभा के कारणरूप में पण्डितराज का अभिमत ही स्वीकार्य है।

केवल प्रतिभा को ही काव्य की कारणरूपता प्रदान करने वाले पण्डितराज आचार्य जगन्नाथ ने उन विद्वानों के अभिमत का भी खण्डन किया है जो पूर्वजन्म अथवा जन्मातर में व्युत्पत्ति तथा अभ्यास की सम्भावना निर्दिष्ट करते हुए केवल 'अदृष्ट' को ही प्रतिभा का कारण नहीं मानते। पण्डितराज का मत है कि पूर्वजन्मगम व्युत्पत्ति तथा अभ्याससिद्धि तो केवल अनुमान प्रमाण पर आश्रित है जो प्रत्यक्ष प्रमाण की समता में हल्का लगता है। सच तो यह है कि जब अदृष्टमात्र से प्रतिभा की उत्पत्ति प्रत्यक्ष होती है तो कार्यानुपपत्ति जैसे प्रमाण जुटाने की कोई आवश्यकता ही नहीं है। नास्तिक ग्रंथों में मंगलाचरण आदि न किये जाने पर भी उनकी निर्विघ्न समाप्ति के कारणरूप में जिस जन्मान्तरीय मंगलाचरण को सम्भावना की जाती है, वह वेदादि प्रमाणपुष्ट प्राप्त वचनों की सी कार्यकारण भाव की निश्चयात्मक स्थिति नहीं है। प्रतिभा के विषय में अदृष्टादित्रितय की कारणरूपता वेदादिबोधित होकर स्वकल्पित है अतः उसे 'समुदितकारणताभ्रम' के अनुसार प्रतिभाजन्य कार्य-हेतु के रूप में असमर्थ ही माना जायगा।

पण्डितराज के अनुसार व्युत्पत्ति और अभ्यास के समुदय में भी प्रतिभा की उत्पत्ति सम्भव है किन्तु उससे अदृष्ट का पार्थक्य तो बना ही रहेगा। इसका एक प्रमाण यह है कि बहुत से व्यक्तियों में पर्याप्तकाल पर्यन्त प्रतिभा समुदित नहीं होती किन्तु कालान्तर में वे अपने व्युत्पत्त्यभ्यास के कारण श्रेष्ठ काव्य रचना करने लगते हैं जिसका अभिप्राय यह है कि अदृष्टमात्र ही कवि-प्रतिभा का एकमात्र हेतु नहीं है। यदि ऐसा होता तो व्युत्पत्त्यभ्यास के पूर्व ही व्युत्पन्न तथा आभ्यासिक कवि काव्य रचना की शक्ति (प्रतिभा) उद्बुद्ध कर लेते।

अदृष्ट को ही प्रतिभोद्व का कारण मानने वाले विद्वान् कह सकते हैं कि यदि

कुछ व्यक्तियों में अदृष्ट के स्थान पर व्युत्पत्त्यभ्यास के बल पर ही प्रतिभोदय देखा जाता है तो उसका कारण कोई पापरूप प्रतिबंधक अदृष्ट ही हो सकता है। इस प्रतिबंधक के कारण उपस्थित अंतरायों का निवारण व्युत्पत्त्यभ्यास द्वारा किया जाता है। पण्डितराज इस मत से भी सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि प्रतिभा के हेतुरूप में दो-दो अदृष्ट (प्रेरक और प्रतिबंधक) मानने की अपेक्षा तो यह अधिक उचित है कि हम अदृष्ट और व्युत्पत्त्यभ्यास को पृथक्-पृथक् रूप से प्रतिभा के कारण मानें और त्रितयवाद के सम्मिलन के झगड़े में न पड़ें। वस्तुतः अदृष्ट तथा व्युत्पत्त्यभ्यास को पृथक्-पृथक् रूप से प्रतिभा के कारण मानना ही युक्तिसंगत है।

अदृष्ट तथा व्युत्पत्त्यभ्यास को पृथक्-पृथक् कारण न मानने वाले विद्वानों ने कार्यकारणभाव के आधार पर यह शंका उपस्थित की है कि दो कारणों से एक ही कार्य की उत्पत्ति कैसे सम्भव है क्योंकि ऐसा मानने पर तो उनमें व्यतिरेक व्यभिचार दोष हो जायगा। अदृष्ट तथा व्युत्पत्यभ्यास संज्ञक दो पृथक्-पृथक् कारणों से एक ही कार्य-रूप प्रतिभा की उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती। पण्डितराज कहते हैं कि इस प्रकार की शंका निर्मूल है क्योंकि कार्यकारणवाद की द्वयता के अनुसार जहाँ कारण दो होते हैं, वहाँ कार्य भी दो हो सकते हैं। अस्दृट से उत्पन्न होने वाली प्रतिभा के प्रति 'अदृष्ट' तथा व्युत्पयत्त्यभ्यासजन्य प्रतिभा के प्रति 'व्युत्यत्यभ्यास' संज्ञक द्विविध कारणरूपता की भाँति उनकी दो कार्यरूपता भी सहज संभव है जिसके कारण वहां व्यतिरेक-व्यभिचार की सम्भावना नहीं है।

अदृष्टजन्य प्रतिभा तथा व्युत्पत्त्यभ्यासजन्य प्रतिभा के द्विविध रूपों से जिस कार्यकारण भाव की द्वयता का संकेत किया गया है, उसे सामान्य कार्यकारण भाव में प्रवर्तित करते हुए यदि यह कहा जाय कि 'प्रतिभा ही काव्य का कारण है' तो सब प्रकार की शंकाएँ निर्मूल हो जाती हैं। उस स्थिति में प्रतिभा के विशेषण अथवा प्रकारों के उल्लेख की अनिवार्यता भी समाप्त हो जाती है क्योंकि उनका अंतर्भाव प्रतिभा-तत्त्व में स्वतः समाहित है। अदृष्ट का चमत्कार तो प्रतिभोद्भव का कारण है ही, किन्तु व्युत्पत्ति तथा अभ्यास की साधना से भी यदि प्रतिभा अथवा काव्यशक्ति का प्रस्फुरण नहीं होता तो उसका कारण या तो उनका अवैलक्षण्य है अथवा उनकी साधना में किसी प्रकार के पापविशेष किंवा प्रतिबंधक दोष की सम्भावनामात्र है। प्रतिबंधक के अभाव में ही काव्य का कारणरूप प्रतिभा तत्त्व निखरता है जिसे केवल 'प्रतिभावाद' के प्रतिपादक पंडित-राज तो स्वीकार करते ही हैं किन्तु वे उसे आचार्य मम्मट सम्मत 'शक्त्यादिसमुदित-कारणतावाद' के पक्ष में सुनियोजित करना भी अनुचित नहीं समझते।

पंडितराज जगन्नाथ ने जिस दुरदृष्टरूप पाप प्रतिबंधक को काव्यशक्ति के ह्रास का कारण माना है, वह कैसे-कैसे अवरोध उत्पन्न कर सकता है, इसका उल्लेख 'रसगंगाधर' में हुआ है। पंडितराज की मान्यता है कि उत्तम काव्य-स्रष्टा प्रतिभाशाली कवियों की वाणी जब किसी तांत्रिक प्रतिवादी के मंत्रबल से स्तम्भित कर दी जाती है तो वे उस स्तम्भन के प्रभाववश कुछ समय के लिए काव्य-रचना करने में अक्षम हो

जाते हैं। इसका यह अभिप्राय नहीं कि स्तम्भन-काल में उनमें प्रतिभा नहीं होती। प्रतिभा की विद्यमानता में भी प्रतिवादीकृत मंत्र प्रयोग उसका पापविशेष (प्रतिबंधक) हेतु है जिसके फलस्वरूप कवित्व शक्ति कुंठित हो जाती है। पण्डितराज का यह दृष्टि-कोण आधुनिक मनोविज्ञान तथा विकसित भौतिकवाद की भूमिका में प्रकारान्तर से विवेच्य और विचारणीय है—इस विषय के अनेक अवसर आज भी विद्यमान हैं।

काव्य के भेद

1. उत्तमोत्तम काव्य

पंडितराज जगन्नाथ के मतानुसार काव्य के चार भेद हैं जिन्हें उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यम और अधम संज्ञक श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है। 'उत्तमोत्तम काव्य वह है जिसमें शब्द और अर्थ (वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य) स्वयम् को गौण (अप्रधान) बनाकर किसी चमत्कारजनक प्रधान अर्थ (व्यंग्यार्थ) की अभिव्यक्ति करे।'[1] इस लक्षण के अनुसार उत्तमोत्तम काव्य वही हो सकता है जिसका व्यंग्य अत्यन्त गूढ़ हो तथा जिसमें चमत्कार उत्पन्न करने की अद्‌भुत शक्ति हो। ऐसे काव्य में वाच्य की अपेक्षा व्यंग्य की प्रधानता होती है। गुणीभूत व्यंग्य की स्थिति में कोई भी काव्य 'उत्तमोत्तम' नहीं माना जा सकता। उत्तमोत्तम काव्य का व्यंग्य सदैव चमत्कारी होता है। उसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह अभिधावृत्ति का तो स्पर्श ही नहीं करता। यदि व्यंग्य में किसी प्रकार की वाच्यार्थता प्रस्फुटित होने लगे तो वह सहृदय जनों के लिए हृदयसंवाद का विषय नहीं हो सकता।[2] उत्तमोत्तम काव्य में अभिधावृत्ति का संचार एक ऐसे संक्रामक रोग के समान है जिसके स्पर्श मात्र से उसका स्वस्थ व्यंग्य अस्वस्थ हो जाता है तथा उसकी चमत्कारजनक शक्ति नष्ट हो जाती है। व्यंग्य की निरपेक्षता तथा प्रधानता को ध्यान में रखकर ही पंडितराज ने उत्तमोत्तम काव्य को ध्वनि काव्य माना है। जो ध्वनिवादी आचार्यों द्वारा समर्थित और प्रशंसित है।[3] उस काव्य में व्यंग्य की स्थिति किस प्रकार की होती है, इसका अत्यन्त उपयुक्त उदाहरण निम्नलिखित छंद है जिसमें उसे स्फुटता और निगूढ़ता के अंतराल में 'मरहट्टवधूकुचामः' से उपमित किया गया है—

नान्ध्रीपयोधर इवातितरां प्रकाशो,
नो गुर्जरीस्तन इवातितरां निगूढ़ ।
अर्थो गिरामपिहितः पिहितश्च शश्वत्
सौभाग्यमेति मरहट्टवधूकुचामः ।।

2. उत्तम काव्य

द्वितीय श्रेणी के अंतर्गत आने वाला काव्य 'उत्तम' काव्य है जिसमें व्यंग्य अप्रधान होकर ही चमत्कार का कारण होता है। इसका अभिप्राय यह है कि यद्यपि उत्तम काव्य

में व्यंग्य अप्रधान रहता है किन्तु वह चमत्कार का कारण अवश्य होता है। वाच्यार्थ तथा अन्य व्यंग्यार्थ की अपेक्षा गौण होने पर भी वह अपना चमत्कार बनाये रखता है। यदि काव्य में चमत्कार न हो और उसके वाच्यार्थ अथवा उपमा आदि अलंकारों के चमत्कार में व्यंग्य लीन हो जाय तो वह काव्य 'उत्तम' न कहलाकर 'वाच्यचित्र' मात्र समझा जायगा। गुणीभूत व्यंग्य काव्य की स्थिति उत्तमोत्तम ध्वनि काव्य से अवर श्रेणी की है किन्तु वह अलंकार प्रधान चित्र काव्य से श्रेष्ठ माना जाता है। कुछ आचार्यों के मतानुसार अलंकार प्रधान काव्यों में चित्रत्व तथा गुणीभूत व्यंग्य इन दोनों की सत्ता रहती है। उत्तमोत्तम काव्य की भाँति उत्तम काव्य में भी व्यंग्यगर्भित चमत्कार रहता है किन्तु उसमें व्यंग्य की वैसी प्रधानता नहीं रहती जैसी उत्तमोत्तम काव्य में होती है। उत्तमोत्तम काव्य का व्यंग्य वाच्यसिद्धि का अंग नहीं होता जब कि उत्तम काव्य के संदर्भ में ऐसा नहीं है। सहृदयजनों के लिए इन दोनों का अंतर समझना अत्यन्त सुकर है।

3. मध्यम काव्य

काव्य का तृतीय भेद मध्यम काव्य है। उसका लक्षण निर्धारित करते हुए पण्डितराज कहते है कि जहाँ वाच्य अर्थ का चमत्कार व्यंग्य अर्थ के चमत्कार के अधिकरण में न रहे अर्थात् जिस काव्य में व्यंग्य अर्थ का चमत्कार लघु अंश में रह कर भी वाच्य अर्थ की व्यापकता के चमत्कार में अंतर्मुक्त हो जाने के कारण स्पष्ट तथा अनुभूत न हो, वह मध्यम काव्य कहलाता है। इसमें व्यंग्य का सर्वथा अभाव अभीष्ट नहीं है क्योंकि कोई भी वाच्य अर्थ ऐसा नहीं होता जो व्यंग्यार्थ के साथ सम्बन्ध रखे बिना स्वयं चमत्कार उत्पन्न कर सके। वाच्यार्थ का चमत्कार किसी न किसी रूप में व्यंग्यार्थ पर निर्भर है जिसका अर्थ यह है कि व्यंग्यार्थ के सर्वथा अभाव में मध्यम काव्य का अस्तित्व संभव ही नहीं है।

यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि अलंकार प्रधान काव्यों का अंतर्भाव किस प्रकार के काव्य में स्वीकार किया जाय? उत्तम और मध्यम काव्य के लक्षणों से स्पष्ट है कि यों तो इन दोनों काव्यों में व्यंग्य गुणीभूत रहता है किन्तु उत्तम काव्य में वह विशेष चमत्कारजनक अथवा जागरूक होने के कारण अधिक अनुभवगम्य होता है जबकि मध्यम काव्य में वह विशेष चमत्कारजनक न होने के कारण अनुभव के अयोग्य-सा हो जाता है। उस स्थिति में समासोक्ति प्रभृति अर्थालंकारों से समन्वित अलंकार प्रधान काव्य उत्तम तथा दीपक आदि अर्थालंकार प्रधान काव्य मध्यम श्रेणी में परिगणित किये जाने चाहिए।

4. अधम काव्य

काव्य का चतुर्थ भेद अधम काव्य है जिसका लक्षण निर्धारित करते हुए पंडितराज ने लिखा है कि जिस काव्य में वाच्य अर्थ के चमत्कार से उपस्कृत होकर शब्द का

चमत्कार प्रधान हो, उसे 'अधम' काव्य कहते हैं। यद्यपि इस काव्य में भी कुछ न कुछ व्यंग्य अवश्य रहता है, किन्तु वह अपनी विधमानता में भी अधिक चमत्कारजनक नहीं होता। अतः उसकी प्रधानता अविवक्षित व्यंग्य जैसी ही समझी जानी चाहिए।

काव्य के अन्य भेद

पंडितराज ने काव्य के उपर्युक्त चारों भेदों के अतिरिक्त एक अन्य भेद की भी कल्पना की है जिसे 'अधमाधम' काव्य कहा गया है। इस काव्य में अर्थ का चमत्कार किंचिन्मात्र भी नहीं होता यद्यपि शब्द का चमत्कार अवश्य रहता है। एकाक्षरपद्य, अर्धावृत्तियमक और पद्मबंध आदि की गणना इस प्रकार के काव्य में की जाती है। यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि काव्य के लक्षण के अनुसार जिस काव्य के शब्द द्वारा रमणीय अर्थ का प्रतिपादन न हो, उसे काव्य श्रेणी में क्यों रखा जाय ? इसका उत्तर देते हुए पंडितराज ने लिखा है कि माघ आदि महाकवियों ने प्राचीन परिपाटी के अनुरोध से अपने महाकाव्यों में एकाक्षरपद्य, अर्धावृत्तियमक तथा पद्मबंध जैसी रचनाऐं की हैं, अतः उनकी काव्यमयी स्थिति होने के कारण पंचम भेद की गणना सर्वथा अवांछनीय नहीं है।

मम्मटसम्मत काव्य भेदो पर आपत्ति

आचार्य मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' नामक काव्यशास्त्रीय ग्रंथ में उत्तम, मध्यम तथा अधम नाम से काव्य के तीन भेद माने हैं जिन पर पंडितराज ने टीका-टिप्पणी की है। उनके मतानुसार अर्थचित्र तथा शब्दचित्र को अधम काव्य की समकक्षता में नहीं रखा जाना चाहिए क्योंकि अर्थचित्र एक प्रकार से अर्थालंकारयुक्त अविवक्षित व्यंग्य काव्य है जो मध्यम श्रेणी के काव्य में आता है जबकि शब्दचित्र शब्दालंकारमय अविवक्षित व्यंग्य काव्य है जो अधम काव्य की श्रेणी में परिगणित किया जाना चाहिए। दोनों को समतुल्य मानना पंडितराज को स्वीकार नहीं है क्योंकि दोनों में तारतम्य मूलक न्यूनाधिक भाव स्पष्टतया दृष्टिगोचर होता है। उन्होंने ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य की प्रधानता और अप्रधानता के तारतम्य में बहुत कम अंतर मान कर दोनों को पृथक्-पृथक् काव्य श्रेणी में गिनना दुराग्रह मात्र बतलाया है। इस प्रकार मम्मटकृत काव्यभेदों की विवेचना करते हुए उन्होंने अपने ढंग से गिनाये गये काव्य के चार भेदों को ही सुग्राह्य माना है। उनका उत्तमोत्तम काव्य ध्वनि काव्य का ही पर्याय है, इसका संकेत तो किया ही जा चुका है।

ध्वनि-काव्य ही उत्तमोत्तम काव्य है

ध्वनि काव्य के दो भेद हैं—1. अभिधामूलक ध्वनि काव्य और 2. लक्षणामूलक ध्वनिकाव्य। अभिधामूलक ध्वनि काव्य तीन प्रकार का होता है—रसध्वनि मूलक, वस्तुध्वनि मूलक और अलंकारध्वनि मूलक। रसध्वनि पद असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि का

बोधक है जिसके अंतर्गत रस के अतिरिक्त रसाभास, भाव,भावाभास, भावशांति, भावोदय, भावसंधि तथा भावशबलता आदि भावध्वनियों को भी ग्रहण करना चाहिए। व्यंजक व्यंग्यबोध के बीच रहने वाले पूर्वापर भावसूचक क्रम लक्षित न होने के कारण रसध्वनि असंक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि कहलाती है। लक्षणामूलक ध्वनि के दो भेद हैं—1. अर्थान्तर-संक्रमित वाच्य, 2. अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य। अभिधामूलक ध्वनि को 'विवक्षितान्य-परवाच्य' तथा लक्षणामूलक ध्वनि को 'अविवक्षित वाच्य' ध्वनि भी कहते हैं। सब मिला कर ध्वनि काव्य के सामान्यतया पाँच भेद हो जाते हैं जिनमें रसध्वनि संज्ञक भेद सर्वाधिक रमणीय और लोकोत्तरचमत्कारविधायक है अतः उसे ही क.व्य की आत्मा कहा गया है।

रसध्वनिगर्भित काव्य ही उत्तमोत्तम काव्य है जिसकी लोकोत्तर गरिमा तथा ब्रह्मानंदसविध आनंदमयता का महत्त्व समझते हुए पंडितराज ने उसे सर्वोत्कृष्ट सिद्ध किया है। इस काव्य का आत्मतत्त्व 'रस' है जिसकी व्याख्या भारतीय दर्शन तथा काव्य शास्त्र के निष्णात विद्वानों ने विभिन्न विचारधाराओं और मतमतांतरों के परिप्रेक्ष्य में की है। इस विषय में पंडितराज का अभिमत कई दृष्टियों से मौलिक और अभिनंदनीय है। उन्होंने अभिनव गुप्त और मम्मट आदि आचार्यों की मान्यताओं के प्रति सम्मान प्रदर्शित करते हुए उनकी तर्कसंगत विवेचना की है। उस विवेचन में उनकी नीरक्षीर विवेकी प्रज्ञा का समुचित संयोजन विद्यमान है। रस की निष्पत्ति, उसका स्वरूप और आस्वाद तथा उसकी अलौकिकता के ऐसे अनेक पक्ष हैं जिस पर बहुत अधिक लिखा जा चुका है, अतः इस प्रसंग में केवल उन्हीं तत्त्वों का विश्लेषण किया जाना समीचीन है जो पंडितराज की विचारगत प्रासंगिकता से जुड़े हुए हैं। 'विभानुभाव व्यभिचारि संयोगाद्रस-निष्पत्ति' सूत्र में जिन पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग हुआ है, उनकी व्याख्या करने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती क्योंकि उनके अर्थों से सभी काव्यमर्मज्ञ परिचित हैं। वह सूत्र रसबोध की प्रक्रिया को समझने के लिए मूलमंत्र है जिसकी पार्श्वभूमि में रस विमर्श का उपक्रम सभी दृष्टियों से वांछनीय है।

रस का स्वरूप

भाव-संवेदनाएँ और रस

रस का स्वरूप तथा उसकी निष्पत्ति समझने के पूर्व हमारे लिए मानव-जीवन की भाव संवेदनाओं की सामान्य जानकारी आवश्यक है। हम अपने व्यावहारिक जीवन में प्रेम, घृणा, क्रोध, करुणा, भय, उत्साह, हास्य, विस्मय और निर्वेद आदि अनेक भावों की अनुभूतियाँ करते हैं जो प्रसंग विशेषों से जुड़ कर हमारे मन में अनेक प्रकार की संवेदनाएँ उत्पन्न करती हैं। मानव जीवन के ये सभी भाव हमारे हृदय में वासना रूप से रहते हैं जिन्हें काव्यशास्त्र में हृदय की स्थायी वृत्तियों (स्थायी भाव) की संज्ञा दी गई है। 'सत्यं विज्ञानमानंदं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतिवाक्यों के अनुसार जब वे भाव सत्य और

विज्ञान रूप होने के कारण स्वत: प्रकाशमान आत्मानंद के साथ अनुभूत होते हैं तो उनका नाम 'रस' हो जाता है। उस समय उनकी प्रतीति 'रसोऽहं' की भाँति होने लगती है। वह प्रतीति तभी संभव है जब आनंदस्वरूप आत्मा पर छाया हुआ अज्ञान का आवरण नष्ट हो जाय। उस आवरण को हटाने के लिए जिस अलौकिक व्यापार की कल्पना की गई है, उसे 'भावकत्व' कहते हैं। भावकत्व के कारण ही हमारी अल्पज्ञता तथा स्वपर-भावना आदि वृत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं जिनके नष्ट हो जाने से हमारे जीवधर्म लुप्त होकर हमें परमात्म धर्म (सर्वज्ञत्व आदि) की ओर उन्मुख कर देते हैं। भावकत्व की सृष्टि में विभाव, अनुभाव और संचारी भावों का बड़ा महत्व है क्योंकि वे सभी उसी के कारण परस्पर मिलकर रत्यादि स्थायी भावों को रसरूपता प्रदान करते हैं। भावों के इस अलौकिकीकरण में 'साधारणीकरण' की प्रक्रिया का बहुत बड़ा हाथ है जिसके द्वारा हमारे स्थायी भाव ('भग्नावरणचित्' स्थिति में) विभावादि की अलौकिकता से भोज-कत्व, रसना अथवा व्यंजना-वृत्ति के रूप में आस्वाद्य बनते हैं। स्थायी भावों की यह आस्वाद्य मानता ही रस है। आचार्य मम्मट ने उसे 'व्यक्त: स तैर्विभावाद्यै: स्थायिभावो रस: स्मृत:' पदावली में व्यक्त किया है जिसका आशय यह है कि जब हमारे रत्यादि स्थायी भाव विभाव आदि अवयवों से व्यक्त होते हैं तो वे रस कहलाते हैं।

चित्‌शक्ति का व्यक्तीकरण ही रस है

मम्मट ने अपनी रसविषयक कारिका में जिस 'व्यक्त' पद का प्रयोग किया है उसका अर्थ 'चित् शक्ति का व्यक्त होना है।' 'व्यक्त' पद व्यक्ति विषयिकृत है जिससे उसकी रसनाजन्य आस्वाद की अभिन्न स्थिति तथा उसका चैतन्य गोचरीकृत रूप प्रकट होता है। व्यक्ति पद का अर्थ 'भग्नावरण चित्' भी है।[4] उसे व्यंजनावृत्ति का भी नाम दिया गया है। इस विषय में पण्डितराज जगन्नाथ का अभिमत है कि व्यक्ति पद से उस विशुद्ध आस्वादन रूप चैतन्य का अर्थ ग्रहण किया जाना चाहिए। जिसका अज्ञान रूप आवरण नष्ट हो गया है। अपनी इस अर्थव्यक्ति का स्पष्टीकरण करते हुए उन्होंने लिखा है कि जिस प्रकार किसी शराब (मृत्पात्र विशेष) से आच्छा-दित दीपक न तो सन्निहित वस्तुओं को ही प्रकाशित करता है और न स्वयं ही प्रकाशित हो पाता है, उसी प्रकार हमारा आत्म चैतन्य भी जब तक अज्ञानांधकार से आवृत्त रहता है वह न तो स्वप्रकाशयुक्त होता है और न दूसरों को ही प्रकाशित कर सकता है।[5] अज्ञान आवरण के हटते ही वह 'अन्त:करण के वृत्ति रूप में सन्निहित' तथा 'विभाव आदि से मिश्रित' रति आदि स्थायी भावों को प्रकाशित करने लगता है तथा स्वयम् भी प्रका-शित होकर आस्वाद का विषय बन जाता है। रति आदि से अभिन्न होकर आस्वाद का विषय बनने की वह स्थिति ही 'रसो वै स:' की स्थिति के तुल्य है।

आत्मचैतन्य स्थायी भावों का प्रकाशक है

आत्मचैतन्य ही रति आदि स्थायी भावों को प्रकाशित करता है। इसका अभि-

प्राय यह है कि यों तो अद्वैत दर्शन के अनुसार संसार के सभी पदार्थ मिथ्या हैं और केवल आत्मा (ब्रह्म) ही सत् है जिसके वृत्ति रूप में छट-पट आदि पदार्थों की सत्ता है, किन्तु वे ही पदार्थ हमारे अन्तःकरण की वृत्ति द्वारा आत्मा के प्रकाश के रूप में भासित होते हैं। सुख-दुख आदि अन्तःकरण की वृत्तियाँ भी आत्मा के प्रकाश से ही प्रकाशित होती हैं। बाह्य पदार्थों को प्रकाशित करने में तो आत्मा को अन्तःकरण की सहायता भी लेनी पड़ती है किन्तु सुख-दुख आदि अंतःकरण की वृत्तियों को प्रकाशित करने में वह सहायता अपेक्षित नहीं होती। उन्हें आत्मा स्वयम् प्रकाशित करती है जिसके कारण अंतःकरण की वृत्तियाँ 'साक्षिभास्य' अथवा 'आत्मभास्य कहलाती हैं। रति आदि स्थायीभाव भी अंतःकरण की ही वृत्तियाँ हैं अतः वे साक्षिभास्य हैं क्योंकि वे भी आत्मा से प्रकाशित होने वाले अंतःकरण के ही धर्म हैं।[6]

भावों और विभावों की साक्षिभास्यता

यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि अंतःकरण के धर्म होने के कारण रति आदि स्थायी भाव तो साक्षिभास्य हो सकते हैं किन्तु विभाव आदि बाह्य पदार्थों को किस प्रकार साक्षिभास्य माना जाय? उनकी स्थिति तो छट-पट जैसे बाह्य पदार्थों के समान है जिन्हें प्रकाशित करने में आत्मा को अंतःकरण की सहायता लेनी ही पड़ेगी। इस शंका का उत्तर देते हुए पण्डितराज जगन्नाथ लिखते हैं कि जिस प्रकार अश्व, रजत और रंग आदि सभी पदार्थ बाह्य पदार्थ हैं जो साक्षिभास्य कहलाने के योग्य नहीं हैं, किन्तु जब हमें स्वप्न के अश्व का भान होता है अथवा दूरत्व एवं चाकचिक्य आदि दोषों के कारण जागृत अवस्था में भी रांगे में भी रजत का भ्रम हो जाता है तो वे पदार्थ अश्व और रजत आदि भी साक्षिभास्य ही माने जाते हैं।[7] हमें उस स्थिति में केवल आत्मा द्वारा ही उन वस्तुओं का भान होता है क्योंकि उस समय वे वस्तुएं वास्तविक न होकर काल्पनिक मात्र रहती हैं। यही स्थिति विभाव आदि की है। जिन्हें साक्षिभास्य मानने में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं होनी चाहिये। हम जानते हैं कि शकुंतला आदि विभाव भी भावनारूढ़ होने पर वास्तविक न होकर काल्पनिक ही हैं। अतः रसना व्यापार की स्थिति में हमें उनका जो भान होता है वह बाह्य इन्द्रियों से न होकर आत्मचैतन्य मात्र से ही होता है जिससे उन्हें भी साक्षिभास्य माना जा सकता है।

रस नित्य और आत्मचैतन्य स्वरूप है

रस को आत्मचैतन्य स्वरूप मानने पर 'रस उत्पन्न हुआ, रस विनष्ट हुआ' जैसे व्यवहार असंगत हो जाते हैं क्योंकि जब आत्मचैतन्य नित्य है तो उसका स्वरूप रस भी नित्य माना जाना चाहिये। इस शंका का उत्तर देते हुए पण्डितराज लिखते हैं कि जिस प्रकार व्याकरण शास्त्र में वर्णों को नित्य मानने पर भी उनके व्यंजक कण्ठ और तालु आदि स्थानों के व्यापारों में होने वाले उत्पत्ति और विनाश आदि के आरोप उन वर्णों में 'गकार उत्पन्न हुआ, गकार नष्ट हुआ' जैसे व्यवहार कराते हैं, उसी प्रकार रस के नित्य

होने पर भी उसके व्यंजक विभाव आदि की चर्वणा अथवा आवरण-भंग में होने वाले उत्पत्ति और विनाश रस में भी आरोपित होते हैं जिनके कारण 'रस उत्पन्न हुआ, रस विनष्ट हुआ' जैसे व्यवहार किये जाते हैं।[8]

भग्नावरणचित् और रस-प्रतीति

यहाँ एक अन्य शंका यह भी उपस्थित होती है कि जब रति आदि स्थायी भाव हमारे अंतःकरण में सदैव वर्तमान रहते हैं तो उनका रस रूप में सर्वदा भान क्यों नहीं होता ? इसका उत्तर यह है कि जब तक हमारी आत्मा के ऊपर रहने वाला अज्ञानावरण हटा रहता है हमारी आत्मा रति आदि स्थायी भावों को रस रूप में भासित करती रहती है किन्तु ज्यों ही वह उसे पुनः आच्छादित कर देता है । वह रति रतिमात्र ही रह जाती है । विभाव आदि की चर्वणा में ही रस-स्थिति सम्भव है जो केवल 'भग्नावरण चित्' का ही आनंदमय परिणाम है । रस का यह रहस्य इन शब्दों में भी व्यक्त किया जा सकता है कि जिस प्रकार किसी मृत्पात्र विशेष द्वारा दीपक के ढक जाने पर उसकी समीपवर्ती वस्तुएं भी प्रकाशित नहीं होतीं, उसी प्रकार हमारे अंतःकरण में वासना रूप स्थित रति आदि स्थायी वृत्तियाँ भी हमारे अज्ञानावरण के कारण अपना रस रूप प्रकाशित नहीं कर पातीं ।

'भावकत्व' काव्यार्थ विषयक भावना का ही रूप है

पण्डितराज ने आत्मा के अज्ञानावरण के विनाश के लिए 'भावकत्व' नामक किसी अलौकिक व्यापार की कल्पना को गौरव अथवा महत्व न देकर 'काव्यार्थ विषयक भावना' को ही रस-निष्पत्ति के क्षेत्र में पर्याप्त माना है । उनकी मान्यता है कि सहृदयों की आत्मा पर छाये हुए अज्ञान का आवरण उनकी सहृदयता के कारण परिपक्व बनी हुई काव्यार्थ विषयक भावना द्वारा ही हटाया जा सकता है जो विभाव आदि का साधारणीकरण कराने में भी सक्षम है । वस्तुतः भावकत्व भी तो एक प्रकार से भावना का ही रूप है । पण्डितराज द्वारा प्रतिपादित यह भावना वृत्ति जब सहृदय जनों को साधारणीकृत विभाव आदि का आस्वादन कराती हैं तो उनके हृदय में रति आदि स्थायी भावों से युक्त तथा अज्ञानावरण से मुक्त आत्मचैतन्य स्वरूप आनन्दाकार वृत्ति उत्पन्न हो जाती है जिसके रस में लीन होकर वे योगियों की सविकल्प समाधि जैसी चित्तवृत्ति की सी अनुभूति करने लगते हैं ।[9] इस काव्य में काव्यवर्ती व्यंजना वृत्ति की आवश्यकता नितांत वांछनीय है । वस्तुतः वही रस-दशा है जिसका प्रमाता ब्रह्मानन्दसविध काव्यानन्द में उसी प्रकार तन्मय हो जाता है जिस प्रकार योगिजन अपने सविकल्पक समाधिकाल में ब्रह्मानन्द लीन हो जाते हैं ।

चित्त वृत्ति विषयक विशेश आनन्द भी रस है

पण्डितराज ने काव्य-रस को चित्तप्रवृत्तिविषयक विशेषात्मक आनन्द कह कर

उसकी अलौकिकता के प्रति अधिक आग्रह नहीं किया है, किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि वे उसे सर्वथा लौकिक ही मानते हैं। यदि काव्योद्भूत सुख लौकिक सुख विशेष भी मान लिया जाय तो भी उसे स्रक्, चंदन और वनिता आदि के उपभोगजन्य सुख तुल्य नहीं कहा जा सकता। वह लौकिक होते हुए भी विलक्षण है क्योंकि अन्य लौकिक सुख तो अन्तःकरण की वृत्तियों से युक्त चैतन्यस्वरूप होते हैं जबकि रस रूप आनन्द विशुद्ध चैतन्य स्वरूप है जिसका अनुभव करते समय हमारी चित्तवृत्ति आनन्दरूप में ही परिणत हो जाती है। निष्कर्ष यह है कि अज्ञानरूप आवरण से मुक्त तथा विशुद्ध आत्मचैतन्य का विषय बना हुआ रति आदि स्थायी भाव ही रस है।

रस की स्वप्रकाशता

पण्डितराज जगन्नाथ ने अभिनवगुप्त और मम्मट आदि आचार्यों की मान्यताओं के अनुरूप 'भग्नावरणचिद्विशिष्टो रत्यादिः स्थायी भावो रस इति स्थितम्' की व्याख्या के उपरान्त रस विषयक ऐसे और भी पक्ष विवेचित किये हैं जिनसे उनकी चिंतन-प्रणाली और मौलिकता का बोध होता है। उन्होंने बतलाया है कि चाहे 'रसो वै सः' इत्यादि श्रुतिवाक्यों के अनुरूप रत्यादि विषयक आवरणमुक्त शुद्ध चैतन्य को रस कहा जाय अथवा चैतन्यविषयीभूत रत्यादि स्थायी भावों को, दोनों ही मतों में रस की नित्यता तथा स्वप्रकाशता स्वतः सिद्ध होती है। बात यह है कि रस के स्वरूप में रति आदि स्थायी भाव तथा आत्मचैतन्य, ये दोनों तत्त्व आंशिक रूप में रहते हैं। प्रथम में चैतन्य विशेष्य और रत्यादि विशेषण बनकर आते हैं तो द्वितीय में चैतन्य विशेषण और रति आदि विशेष्य हैं। इन दोदों विकल्पों में विशेषण विशेष्यभूत कोई भी अन्यतर चैतन्यांश विद्यमान होने के कारण रस नित्य और स्वप्रकाश है। यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि जिस प्रकार चैतन्यांश के कारण रस नित्य और स्वप्रकाश है, उसी प्रकार रत्यादि अंश को लेकर वह अनित्य और परप्रकाश भी है।

रस चर्व्यमाण है

'रस चर्व्यमाण है' इस प्रकार के परम्परागत काव्यशास्त्रीय प्रयोग की व्याख्या करते हुए पण्डितराज ने लिखा है कि चैतन्यगत आवरणभंग का नाम ही रसचर्वणा है जिसे अंतःकरण की आनन्दाकार आस्वाद्य वृत्ति भी कहा जा सकता है। वस्तुतः रस-चर्वणा ही रसास्वाद है जिसका वैलक्षण्य निरूपित करते हुए पण्डितराज लिखते हैं कि सविकल्पक समाधिकाल में जो ब्रह्मानन्दास्वाद प्राप्त होता है उससे काव्यरसास्वाद निचश्य ही विलक्षण होता है। इस विलक्षणता का कारण यह है कि सविकल्पक समाधि-काल के ब्रह्मानन्द का आलम्बन विषयविहीन शुद्ध आत्मानन्द है जो श्रवण, मनन और निदिध्यासन आदि अष्टांग योग द्वारा प्राप्त होता है जबकि काव्यानन्द अथवा रसास्वाद का आलम्बन विभावादि विषयों तथा सांसारिक पदार्थों से मिश्रित आत्मानन्द है जिसकी चर्वणा काव्य के व्यंजना-व्यापार द्वारा होती है। इन उभयविधि आनन्दों में सुखांश का भान

जिस प्रकार होता है इसका उत्तर कोई समाधिलीन योगी अथवा रसलीन सहृदय व्यक्ति ही दे सकता है। गीता के एक श्लोकांश द्वारा यदि समाधि सुख 'सुखमात्यन्तिकं यत् तद् बुद्धि ग्राह्यमतीन्द्रियम्' कहा जा सकता है तो श्रुतिवाक्यों द्वारा प्रमाणित रसास्वाद "रसो वै सः' 'रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दीभवति' जैसे आप्त वचनों से समर्थित है। इस विषय में सहृदयजनों के हृदय की संवेदनाओं से बढ़कर अन्य कोई प्रत्यक्ष प्रमाण उल्लिखित नहीं किया जा सकता।

'रस चर्वणा शाब्दज्ञानरूपा होकर भी अपरोक्षात्मिका है'। वह शब्द के व्यंजना व्यापार से उत्पन्न होती है अतः शाब्दबोधक रूप है। प्रत्यक्ष सुख उसका आवलम्बन है अतः वह प्रत्यक्षात्मक है। नैयायिक शाब्दबोध और प्रत्यक्षज्ञान से अंतर मानते हैं किन्तु वेदान्तियों के मतानुसार 'तत्त्वमसि' जैसे दार्शनिक वाक्य ब्रह्म तथा जीव की अद्वैतता के सूचक हैं जिसका अभिप्राय यह है कि उन दोनों की ऐक्य बुद्धि शब्दजन्य होने के कारण "शाब्द' तथा ब्रह्मविषयक होने से 'प्रत्यक्ष रूप' है। काव्यशास्त्रियों ने रसचर्वणा को शाब्द और प्रत्यक्ष इन दोनों रूपों में स्वीकार किया है।

रस-विषयक मतमतांतर : अभिनवगुप्त और भट्टनायक की धारणा

रस-प्रतीति के विषय में अनेक प्रकार के मतमतांतर प्रचलित हैं जिनका व्यापक विश्लेषण और विशदीकरण रसविषयक स्वतन्त्र ग्रंथ की अपेक्षा रखता है। अभिनवगुप्त तथा भट्टनायक की मान्यताएं इस दिशा में अधिक उल्लेखनीय हैं। अभिनवगुप्त ने प्रत्यभिज्ञा शैव दर्शन के संदर्भ में एतद्विषयक विवेचना की है तो भट्टनायक ने सांख्य शास्त्रीय दृष्टिकोण अपनाया है। पण्डितराज ने इन दोनों आचार्यों को क्रमशः प्रथम और द्वितीय श्रेणी में रखा है। भट्टनायक के अनुसार ताटस्थ्य भाव में रसप्रतीति नहीं मानी जा सकती क्योंकि ऐसा मानने पर उसमें आस्वाद्यता का चमत्कार नहीं आ सकेगा।[10] जिस चमत्कार को आचार्यों ने 'रसे सारश्चमत्कारः' की पदावली में व्यक्त किया है, उसके अभाव में रस की स्थिति और प्रतीति कैसे स्वीकार की जा सकती है? रसप्रतीति के स्वरूप ज्ञान के संदर्भ में पण्डितराज ने तद्विषयक प्रश्नों की झड़ी-सी लगा दी है। उन्होंने सहृदयजनसंवेद्य रस प्रतीति के अनेक विकल्प कल्पित किये हैं। उनके मतानुसार रसप्रतीति प्रत्यक्ष, अनुमित, सादृश्य-ज्ञानमूलक, उपमित्यात्मक और शाब्दबोधक नहीं मानी जा सकती क्योंकि ऐसा मानने पर उसमें चमत्कार-विधायी तत्त्व नहीं रहेगा। उस स्थिति में तो सभी स्त्री-पुरुषों के दैनिक व्यवहार तथा वृत्ति चित्रण काव्य प्रयोज्य शब्दों की गरिमा से पृथक् रहकर भी रसरूपता धारण कर लेंगे।

तो फिर रसप्रतीति को क्या मानसी कहा जाय? यह धारणा भी उचित नहीं है। मानसी प्रतीति में इस बात की क्षमता नहीं कि वह काव्य शब्दजन्य रसप्रतीति तुल्य विलक्षणता उत्पन्न कर सके। उसे स्मृतिरूपा भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि पूर्वानुभूत विषय ही स्मृति के आधार बनते हैं जबकि काव्य वर्णित शकुंतला आदि विभाव हमारे पूर्वानुभूत विषय कैसे हो सकते हैं।[11] इन सब बातों का विचार कर आचार्य भट्टनायक ने

रसप्रतीति विषयक अपना जो अभिमत व्यक्त किया था। उसका निष्कर्ष पंडितराज के शब्दों में निम्नलिखित है—

"तस्मादभिधया निवेदिताः पदार्था भावकत्व व्यापारेणागम्य त्वादि रस विरोधि-ज्ञानप्रतिबन्ध द्वारा कान्तात्वादिरसानुकूलधर्मं पुरस्कारेणावस्थाप्यन्ते। एवं साधारणी-कृतेषु दुष्यंतशकुंतला-देशकालवयोऽवस्थाऽऽदिषु, पंगै पूर्व व्यापार महिम्नि, तृतीयस्य भोग कृत्त्व व्यापारस्यमहिम्ना, निगीर्णयोरजस्तमसो रुद्रिक्तसत्त्वजनितेन निज चित्स्वभाव निर्वृति विश्रांति लक्षणेन साक्षात्कारेण, विषयीकृतो भावनोपनीतः साधा-रण्यात्मा रत्यादिः स्थायी रसः।

उपर्युक्त उद्धरण का मूल आशय यह है कि भट्टनायक ने रस-निष्पत्ति अथवा रसप्रतीति की प्रक्रिया में अभिधा, भावना या भावकत्व और भोगीकृति या भोगकृत्व अथवा भोजकत्व नामक तीन तत्त्व आवश्यक माने हैं जिनका अंतर्भाष्य करते हुए वे इस सिद्धांत की स्थापना कर सके हैं कि अभिधा शक्ति द्वारा श्रव्य तथा दृश्य काव्यों का अर्थ बोध करने के पश्चात् हम भावकत्व व्यापार द्वारा शकुंतला आदि विभावों का साधारणी-करण करते हैं जिसके पश्चात् भोजकत्व वृत्ति द्वारा रति आदि स्थायी भाव रस रूप में योग्य अथवा आस्वाद्य हो जाते हैं।

विवेचन के इस प्रसंग में यह बात उल्लेखनीय है कि अभिनवगुप्त ने किस पदार्थ को 'भग्नावरणचित्' कहा है, उसी वस्तु को भट्टनायक 'भोग' मानते हैं। संज्ञापद की भिन्नता के अतिरिक्त इन दोनों पदार्थों में कोई अंतर विशेष नहीं है। भट्टनायक का भोजकत्व या भोगकृत्व अभिनव गुप्त के व्यंजना-व्यापार का ही नामान्तर है। दोनों का कार्य सत्त्वोद्रेक द्वारा अज्ञानावरण को हटाकर रस रूप आत्मानंद की अनुभूति कराना है। यदि दोनों में कुछ विभेद है तो वह केवल इतना ही है कि भट्टनायक ने साधारणी-करण के लिए भावकत्व नामक एक विलक्षण भावना-व्यापार माना है जो अभिधावृत्ति द्वारा शाब्दबोध किये जाने के पश्चात् रसप्रतीति में केन्द्रवर्ती बनता है जब कि अभिनव गुप्त यह मान कर चलते हैं कि सहृदयतासहकृत काव्यार्थों का साधारणीकरण केवल पुनः-पुनः अनुसंधान रूप भावना अथवा व्यंजना वृत्ति से ही सम्भव है जिसके लिए काव्य शब्दों में किसी अन्य व्यापार की स्वीकृति आवश्यक नहीं है।

रसविषयक नव्यमत : भावना-दोष की परिकल्पना

रसप्रतीति अथवा उसके स्वरूप-बोध के विषय में अनेक प्रकार के मत-मतांतर पंडितराज जगन्नाथ के समय तक प्रचलित हो चुके थे जिनका उल्लेख और विवेचन रस गंगाधर के रसविमर्श के अंतर्गत किया गया है। अभिनव गुप्त और भट्ट-नायक के मतों का सामान्य उल्लेख किया जा चुका है। इसी क्रम में पंडितराज ने तीसरे मत को नव्य मत कह कर उसका परिचय जिस रूप में दिया है उसके मुख्य बिन्दु निम्न-लिखित हैं—

(अ) श्रव्य काव्य में कवि तथा दृश्य काव्य में नट शब्दों तथा अभिनयों द्वारा

जिन विभावों, अनुभावों और संचारी भावों को व्यक्त करता है, उनके पठन-पाठन तथा प्रेक्षण-अवलोकन से सहृदय सामाजिक उनका अर्थबोध करते हैं।

(आ) तदुपरांत वे सामाजिक काव्य की व्यंजनावृत्ति द्वारा इस बात का ज्ञान करते हैं कि दुष्यंत शकुंतला का प्रेमी था।

(इ) तीसरी स्थिति में हमारी सहृदयता हमारे भीतर एक ऐसी विशेष भावना उत्पन्न कर देती है जिसके कारण हम दुष्यंत आदि में पुनः-पुनः अनुसंधान करने लगते हैं।

(ई) यह पुनः-पुनः अनुसंधान एक प्रकार का भावना-दोष है जिनके कारण हमारी अंतरात्मा कल्पित दुष्यंतत्व से आच्छादित हो जाती है अर्थात् हम स्वयम् को दुष्यंत समझने लगते हैं।

(उ) जब हम स्वयम् को दुष्यन्त समझ लेते है तो हमें अपने आपको शकुंतला का प्रेमी समझने में कोई बाधा नहीं रहती अर्थात् भावनादोष के कारण कल्पित दुष्यन्तत्व से आच्छन्न आत्मा में कल्पित शकुन्तला विषयक रति भी भासित होने लगती है।

(ऊ) वह स्थिति चाकचिक्य अथवा दूरत्व आदि दोषों के कारण सीपी में चाँदी के भ्रम जैसी होती है।

(ए) कल्पित होने के कारण उसे सत् भी नहीं कह सकते तथा प्रत्यक्ष होने के कारण वह असत् भी नहीं मानी जा सकती। सत् और असत् शब्दों से नहीं कहे जाने के योग्य होने के कारण इसे अनिर्वचनीय कहा जाता है।

(ऐ) यही स्थिति सहृदय सामाजिक के मन की हो जाती है जो भावना-दोष के कारण अपने को दुष्यन्त समझने लगता है। भ्रम अथवा भावना-दोष में पड़े हुए सामाजिकों में उत्पन्न होने वाली, साक्षिभास्य तथा अनिर्वचनीय शकुन्तला विषयक रति आदि स्थायी भाव ही रस हैं।

उपर्युक्त मत के अनुसार रस भावना-दोष या कार्य का परिणाम है और उस दोष के नाश में ही रस का भी नाश छुपा हुआ।[12] इस प्रकार यह मत रस को नित्य न मानकर अनित्य मानता है। उसकी उत्पत्ति ही विनाशमयी मान ली गई है क्योंकि भावना-दोष ही उसका उत्पादक है और उसके नष्ट हो जाने पर रस भी नष्ट हो जाता है। बाध-निश्चय होने पर ज्यों ही भ्रम या भावना-दोष दूर हो जाता है हम शकुन्तला आदि विभावों की रति (जो रस का पूर्ववर्ती रूप है) अपने में नहीं करते। उस समय हम शुक्तिरजत की भ्रांति से हटकर यह समझ लेते हैं कि जिसे हम रजत (चाँदी) समझ रहे थे, वह चाँदी न होकर शुक्ति (सीपी) के टुकड़े हैं।

इस मत के अनुसार यद्यपि रस वास्तव में सुख रूप नहीं है तथापि शकुन्तलादि विभावगत रति की प्रतीति के पश्चात् जो लोकोत्तर आह्लाद मिलता है उसमें और रति

रूप रस में रहने वाला भेद ज्ञात नहीं होता जिसके कारण हम दोनों को अभिन्न समझ कर 'रस सुखरूप है' ऐसा व्यवहार करने लगते हैं।[13]

वस्तुतः रस न तो व्यंग्य है और न वर्णनीय, फिर भी हम रस-निष्पत्ति के पूर्व व्यंजनावृत्ति द्वारा शकुन्तला के प्रति दुष्यन्त की रति तथा भावना-दोष के कारण समुद्-भूत अपनी रति को एक समझ लेते हैं जिसके कारण रस व्यंग्य और वर्णनीय-सा लगने लगता है। व्यंग्य और वर्णनीय रति से कल्पित रति को अभिन्न मान लेने के कारण हम ऐसा कहने लगते हैं कि रस व्यंजनावृत्ति से प्रकाशित हुआ है और कवि ने उसका वर्णन किया है।[14]

जिस प्रकार सहृदय सामाजिकों में शकुन्तला आदि विभावों की रति कल्पना प्रसूतमात्र होने के कारण अनिर्वचनीय है उसी प्रकार सहृदयों की आत्मा को आच्छादित करने वाला दुष्यन्तत्व भी काल्पनिक होने के कारण अनिर्वचनीय ही कहा जा सकता है। दुष्यन्तत्व ही विशेषता का अवच्छेदक होकर आत्मा को अवच्छादित कर देता है—इस मान्यता के अनुरूप ही इस मत का अभिप्राय समझना चाहिए। पंडितराज ने इस मत में भट्टनायक द्वारा उपस्थापित अनेक शंकाओं का समाधान इसकी विवेचना के अंतर्गत कर दिया है जिसका मुख्य आधार भ्रम या भावना-दोष कहा जा सकता है।

भावना दोषजन्य मानस ज्ञान ही रस है

रस विषयक चतुर्थ मत यह मान कर चलता है कि रस को व्यंजना व्यापार की अनिर्वचनीय ख्याति मानना किसी भी रूप में युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि रस न तो व्यंग्य होता है और न अनिर्वचनीय। वस्तुतः तृतीय मतवर्णित भावना-दोष के प्रभाव से सहृदयों को एक प्रकार का मानस ज्ञान होता है जो रस कहलाता है। वह मानस ज्ञान मन के सन्निकर्ष से उत्पन्न होता है जिसमें बाह्य इन्द्रियों के सम्बन्ध की कुछ भी अपेक्षा नहीं रहती। यह ज्ञान काव्यार्थों के पुनः-पुनः अनुसंधान से होता है जिसका विषय लोकोत्तर विलक्षण रति है। इस मत के अनुसार एक प्रकार का भ्रम ही रस कहलाता है। यहाँ एक बात उल्लेखनीय है कि इस मत में जिस मानस-ज्ञान का उल्लेख किया गया है, वह तो स्वप्न आदि में भी हो सकता है अतः वहाँ पर भी रस-प्रतीति मानी जानी चाहिए। पंडित-राज ने इस शंका का समाधान करते हुए लिखा है कि स्वप्न में जो मानस-ज्ञान होता है वह काव्यार्थों के पुनः पुनः अनुसंधान से नहीं होता अतः वह रस नहीं कहला सकता क्योंकि उसमें आनंद उत्पन्न करने की क्षमता नहीं है।[15]

इस मत के संदर्भ में एक शंका यह भी की जाती है कि जब हमारे भीतर रति आदि अविद्यमान है तो उसकी काल्पनिकता में हम उसका अनुभव कैसे कर सकते हैं जब कि अनुभव के प्रति विषय की सत्ता को कारण माना गया है।[16] इसका उत्तर यह है कि लौकिक प्रत्यक्ष के प्रति विषय सत्ता कारण होती है किन्तु भ्रम के लिए इस प्रकार का कोई नियम नहीं है। भ्रम विषय-सत्ता के अभाव में भी हो सकता है जैसे रस्सी में सर्प का भ्रम जो विषय (सर्प) के न रहने पर भी होता है। वस्तुतः भावनारूप दोषप्रयुक्त

रति आदि का ज्ञान भी एक प्रकार का भ्रम ही है। अतः रति आदि विषयों की अविद्य-मानता में भी उनका ज्ञान होने में किसी प्रकार की बाधा नहीं हो सकती।[17] यदि उसमें किसी प्रकार की बाधा मान भी ली जाय तो उसका निराकरण 'अनुमान' द्वारा किया जा सकता है।

भट्टलोल्लट का आरोपवाद

पण्डितराज ने रस विषयक पंचम मत भट्टलोल्लट आदि आचार्यों द्वारा प्रतिपादित माना है। इस मत के अनुसार वस्तुतः साक्षात् सम्बन्ध के कारण दुष्यन्त आदि अनुकार्यों में रहने वाले रति आदि स्थायी भाव ही रस हैं जिन्हें नाटक के नट-नटी (अभिनेता) विभाव के अभिनय प्रदर्शन की निपुणता से प्रदर्शित करते हैं और जो नाटक में अभि-नेताओं पर तथा काव्य में पाठकों पर आरोपित होकर हमें रसानुभूति कराता है।

शंकुक का अनुमितिवाद

रस विषयक छठा मत आचार्य शंकुक की व्याख्या से सम्बन्धित है। इस मत के अनुसार निम्नलिखित निष्कर्ष निकलते हैं—

(अ) 'अभिज्ञान शाकुंतलम्' आदि नाटकों के प्रेक्षण-काल में हमें नट में दुष्यन्त आदि अनुकार्यों का जो ज्ञान होता है, वह चित्रतुरग न्याय से बोधगम्य किया जाता है। वह ज्ञान सम्यक्, मिथ्या तथा सादृश्य ज्ञानों से विलक्षण होता है। वस्तुतः वह ज्ञान दुष्यन्त से भिन्न होने के कारण असम्यक् (अप्र-मात्मक) उत्तर काल में बाधा न होने से अमिथ्या (अभ्रमात्मक) तथा सादृश्य अंश की प्रतीति न होने से असादृश्यमूलक होता है। उस विलक्षण ज्ञान के कारण हम दुष्यन्त आदि के रूप में समझे गये नट आदि के पक्ष में शकुन्तला आदि विषयक रति की अनुमिति कर लेते हैं जिसके विषयि-भूत रति आदि स्थायी भाव ही रस हैं।

(आ) सहृदयजनों की वह अनुमिति अन्य अनुमितियों से भिन्न होने के कारण चमत्कारप्राण होती है अर्थात् इस अनुमिति में अनुमेय वस्तुओं के सौन्दर्य से चमत्कार उत्पन्न हो जाता है जिसके कारण हमें रस-चवर्णा होती है।

अवशिष्ट पाँच मतों का परिचय

पण्डितराज द्वारा उल्लिखित अवशिष्ट पाँच मत अधिक विचारणीय नहीं हैं अतः उनका सामान्य परिचय मात्र देना पर्याप्त है। उनका निष्कर्ष इस प्रकार है :—

1. विभाव, अनुभाव और संचारी भावों का परस्पर सम्मिलित स्वरूप ही रस है। इसके प्रमाण में अग्रलिखित कथन प्रस्तुत किया जा सकता है :—

प्रतीयमानः प्रथमं प्रत्येकं हेतुरुच्यते।
ततः सम्मिलितः सर्वो विभावादि सचेतसाम् ॥
प्रप्राणकरसन्या याच्चवर्य्यमाणो रसो भवेत्।

2. विभाव अनुभाव और संचारी भावों में जो अधिक चमत्कारप्राण तत्त्व हो, वही रस है। यदि उसमें चमत्कार न हो तो तीनों मिलकर भी 'रस' नहीं कहला सकते क्योंकि लोकोत्तर चमत्कार ही काव्य का प्राण माना जाता है।
3. भाव्यमान विभाव ही रस है जिसका अभिप्राय यह है कि पुनः-पुनः अनुसंधान किया गया विभाव ही रस कहलाता है। अनुभावों और संचारी भाव रस नहीं माने जा सकते।
4. पुनः-पुनः चिंतन किया गया अनुभाव ही रस है। विभाव और संचारी भाव रस-पदवी के अधिकारी नहीं हैं।
5. व्यभिचारी भाव ही पुनः-पुनः चिंतन का विषय बनकर रस रूप में परिणत हो जाता है।

विवेचित मतों का तात्त्विक निष्कर्ष

पण्डितराज ने रसविषयक उपर्युक्त एकादश मतों का उल्लेख करने के पश्चात् निष्कर्ष यह निकाला है कि भरत मुनि के रससूत्र 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रस-निष्पत्ति' की सम्यक् व्याख्या करने के उपरांत ही इस तथ्य की उपलब्धि की जा सकती है कि इन मतों में कौन-कौन-से मत प्रामाणिक अथवा अप्रामाणिक माने जा सकते हैं। उन्होंने रस-सूत्र से सम्बन्धित इन समस्त मतों का सारांश निम्नलिखित रूप में प्रकट किया है—

1. अभिनवगुप्त का मत—विभावानुभावव्यभिचारिभिः संयोगात् व्यंजनात् रसस्य चिदानंदविशिष्टस्वाय्यात्मनः स्थाय्युपहित चिदानंदात्मनो वा निष्पत्तिः स्वरूपेण प्रकाशनम्।

अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों द्वारा संयोग अर्थात् ध्वनिगत होने से आत्मानंदसहित स्थायी भाव रूप अथवा स्थायी भावात्मक उपाधि से युक्त आत्मानंद रूप रस की निष्पत्ति होती है अर्थात् वह अपने वास्तविक रूप में प्रकाशित होता है।

2. भट्टनायक का मत—विभावानुभाव व्यभिचारिणां सम्यक् साधारणात्मतया योगाद् भावकत्व-व्यापाररूपेण भावनाद्, रसस्य स्थाय्युपहित-सत्त्वोद्रेक प्रकाशित स्वात्मानंदरूपस्य निष्पत्तिर्भोगाख्येन साक्षात्कारेण विषयिकृतिः।

अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग अर्थात् सम्यक् रूप से साधारण रूप से योग अर्थात् भावकत्व व्यापार द्वारा भावना करने से स्थायी भाव रूप उपाधि सहित, सत्व गुण की अभिवृद्धि से प्रकाशित स्वकीय आत्मानंदरूप रस की निष्पत्ति होती है अर्थात् वह भोग नामक साक्षात्कार विषय बनाया जाता है।

3. नव्यमत—विभावानुभाव व्यभिचारिणां संयोगाद् भावनाविशेषरूपाद् दोषाद् रसस्या निर्वचनीय दुष्यंतरत्याद्यात्मनो निष्पत्तिरुत्पत्तिः ।

अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग अर्थात् सहृदयतामूलक काव्यार्थभावनारूप दोष से दुष्यंत आदि के अनिर्वचनीय रति आदि रूप रस की निष्पत्ति अर्थात् उत्पत्ति करते हैं ।

4. परकीयमत—विभावादीनां संयोगाद् ज्ञानद् रसस्य ज्ञान विशेषात्मनो निष्पत्तिरुत्पत्तिः अर्थात् विभाव आदि के संयोग अर्थात् ज्ञान से ज्ञान विशेष रूप रस की निष्पत्ति अर्थात् उत्पत्ति होती है ।

5. भट्टलोल्लट का मत—'विभावादीनां सम्बन्धाद् रसस्य रत्यादेर्निष्पत्तिरारोपः' अर्थात् विभाव आदि के संयोग अर्थात् सम्बन्ध से रति आदि रूप रस की निष्पत्ति अर्थात् नट आदि पर आरोप करते हैं ।

6. शंकुक का मत—विभावादिभिः कृत्रिमैरप्यकृत्रिमतया गृहीतैः संयोगादनुमानाद् रसस्य रत्यादेर्निष्पत्तिरनुमितिः नटादौ पक्ष इति शेषः अर्थात् कृत्रिम होने पर भी स्वाभाविक रूप में समझे गये विभावादि हेतुओं के साथ संयोग अर्थात् व्याप्ति सम्बन्ध से रति आदि रूप रस की निष्पत्ति अर्थात् नट रूप पक्ष में अनुमिति कराते हैं ।

7. अन्य मत - विभावादीनां त्रयाणां संयोगाद् समुदयाद् निष्पत्तिः रसपद व्यवहारः अर्थात् विभाव आदि तीनों के संयोग अर्थात् समुदय (सम्मिलन) से रस की निष्पत्ति अर्थात् उस समूह में रस पद का व्यवहार किया जाता है ।

8. बहुमत—विभावादिषु सम्यक् योगाच्चमत्कारात् अर्थात् विभाव आदि में सम्यक् योग अर्थात् चमत्कार से रस होता है ।

9-11. अवशिष्ट तीन मतों में सूत्र—संगति नहीं होती, अतः ये मत सूत्रानुसारी न होकर स्वतंत्र मात्र है ।

रस-सूत्र की प्रयोजनीयता

भरत मुनि के रस-सूत्र में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग के कारण रस-निष्पत्ति होने का जो अभिमत प्रकट किया गया है उसका अभिप्राय यह है कि अकेला विभाव, अनुभाव अथवा व्यभिचारी भाव न तो किसी रस की निष्पत्ति कर सकता है और न वह किसी नियत रस का व्यंजक ही हो सकता है । उदाहरणार्थ व्याघ्र आदि हिंसक और भयानक जंतु जिस प्रकार भयानक रूप के विभाव हो सकते हैं, उसी प्रकार वे वीर, रौद्र और अद्भुत रस के भी विभाव कहे जा सकते हैं । अश्रुपात आदि अनुभावों का अनुभावन शृंगार, करुण और भयानक रसों के लिए अभिप्रेत है तो चिंता आदि संचारी भाव शृंगार, करुण, वीर और भयानक रसों में भी प्रयुक्त किये जा सकते हैं । इन सब बातों का विचार करने के उपरांत ही भरत मुनि ने अपने रससूत्र में तीनों के संयोग का निर्देश किया है । वस्तुतः विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों का सम्मिलित रूप ही किसी नियत रस की निष्पत्ति करता है । अतः यदि कहीं इन तीनों में

से किसी एक उपकरण का विशेष रूप से अभिव्यंजन हो तो अन्य दो का आक्षेप उचित रूप से कर लेना चाहिए। मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' नामक ग्रंथ में जहां कहीं केवल विभावों, अनुभावों और व्यभिचारी भावों का वर्णन किया है वे अपनी असाधारण स्थिति के कारण केवल श्रृंगार रस में ही लीन होने वाले हैं अत: उनमें अनेक रसों के व्यंग्य होने का संदेह नहीं किया जा सकता। इस प्रकार का काव्यशास्त्रमर्मज्ञों ने अपनी-अपनी मान्यताओं तथा व्युत्पत्ति के अनुसार विविध पक्षों के माध्यम से रसप्रतीति का स्वरूप विवेचित किया है जिससे यह तो निर्णय निर्विवादपूर्वक किया जा सकता है कि रस अलौकिक आनन्द का व्याप्य पदार्थ तथा सौन्दर्य विधायक तत्त्व है।

रस की सुख-दु:खरूपता

आचार्यों ने रस की सुख-दु:खरूपता को लेकर भी उसकी निष्पत्ति अथवा प्रतीति का विवेचन किया है। जिनके उपचयवादी दृष्टिकोण के अनुसार रस विशुद्ध आनन्दमय और अलौकिक नहीं होता। इस दिशा में नाट्य-दर्पणकार रामचंद्रगुणचंद्र की मान्यताएं विशिष्टकोटि की मानी गई हैं। करुण रस की विवेचना इस प्रकार के विश्लेषण का मुख्य आधार रही है। रस विमर्श का दूसरा पक्ष उनकी संख्या निर्धारित करने के संदर्भ से जुड़ा हुआ है। भरत मुनि के नाट्यशास्त्र की परम्परा से उसका उद्भव और विकास हुआ है। इस विवेचना का मुख्य आधार शांत रस की नाट्यगत स्थिति तथा काव्यगत गुरुता रही है। जो विद्वान् शांत रस को अनभिनेय मानते हैं वे नाट्य में अष्ट रस का सिद्धांत प्रतिपादित करते हैं जबकि उन्हें उसका प्रबंध काव्यगत अस्तित्व भी मान्य है। इस विषय में पंडितराज का दृष्टिकोण अधिक व्यावहारिक और उदार है जिसका परीक्षण तथा मूल्यांकन करना आवश्यक है।

करुण रस की अस्वाद्यता

रस की सुख-दु:खरूपता से जुड़ा हुआ एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न करुण रस की आस्वाद्यता से सम्बन्धित है। जिन आचार्यों ने रस को स्वत: सुखरूप न मानकर उसके द्वारा अनिर्वचनीय स्थायिभावात्मक रसप्रतीति के उपरान्त विलक्षण सुख की उत्पत्ति स्वीकार की है, वह सभी दृष्टियों से सुग्राह्य नहीं है क्योंकि शकुंतला विषयक दुष्यन्त की वास्तविक रति कल्पित दुष्यंत स्वरूप सहृदयों में भी जब सुख ही उत्पन्न कर सकती है तो शोक, भय, क्रोध और जुगुप्सा आदि वास्तविक दु:खजनक भाव कल्पित होकर सहृदयों के हृदयों में दु:ख के स्थान पर सुख की उत्पत्ति कैसे कर सकेंगे ? यदि यह कहा जाये कि वास्तविक शोक आदि से जो दु:ख उत्पन्न होता है; वह कल्पित शोक के अनुभवकर्ता सहृदयों को सुख ही देता है तो भी ठीक नहीं है क्योंकि रस्सी में भ्रमवश कल्पित सर्प से भी हम कांपते और डरते हैं। सच तो यह है कि जब हम कल्पित शोक आदि से दु:ख की उत्पत्ति नहीं मानते तो कल्पित रति-सुख से भी सुख की उत्पत्ति नहीं माननी चाहिए जैसा कि श्रृंगाररस आदि के प्रसंग से सिद्ध होता है।

पण्डितराज ने उपर्युक्त शंका का समाधान करते हुए लिखा है कि जिस प्रकार शृंगाररस प्रधान काव्यों से सुख उत्पन्न होता है, उसी प्रकार करुणरस प्रधान काव्यों से भी केवल सुख ही उत्पन्न हो सकता है; यह बात सहृदयों के हृदय से प्रमाणित है। आचार्यों ने लोकोत्तर दोष भावना की कल्पना करते हुए उसे जिस रूप में आनंदजनक माना है, उसी रूप में उसे दुःख प्रतिबंधक भी मान लेना चाहिए। व्यावहारिक दृष्टि से इस मान्यता के विषय में कुछ अपवाद हैं। जो विद्वान् करुण रस प्रधान काव्यों में सुख और दुःख इन दोनों स्थितियों को स्वीकार करते हुए उन्हें सहृदय हृदय प्रमाणित मानते हैं, वे उपर्युक्त रोषभावना में दुःख प्रतिबंधकता की कल्पना नहीं करते क्योंकि ऐसा मानने पर तो वह दुःख भावना (भावनादोष) दुःखोत्पत्ति को रोकने वाली मानी जाएगी।

तो फिर करुणरस प्रधान काव्य किस भाव वृत्ति में स्वीकार किया जाये ? इसका उत्तर भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से दिया जाता है। कुछ विद्वान् कार्यकारणवाद के अनुसार उनमें सुख और दुःख इन दोनों की स्थिति स्वीकार करते हैं तो अन्य विचारकों के मत से करुणरस प्रधान काव्यों में कवियों और सहृदयों की अभिरुचि देखते हुए उन्हें किसी भी रूप में दुःखजनक नहीं माना जा सकता। यदि वे दुःख अथवा अनिष्ट के साधन मात्र होते तो लोग उनकी रचना तथा उनके पठन-पाठन में कदापि प्रवृत्त नहीं होते।

करुणकाव्योद्भूत रस-चर्वणा के विषय में कुछ विद्वानों ने मध्यम मार्ग अपनाया है। उनके मतानुसार करुणादि रसों में दुःख की मात्रा न्यून तथा सुख की मात्रा अधिक अंश में होती है, अतः उनके अनुपात का ध्यान रखकर ही कवि और सहृदय उनकी रचना और आस्वादन-क्रिया में प्रवृत्त होते हैं। जिस प्रकार चंदन की घर्षण-क्रिया में अंशतः दुःख रहने पर भी हम उसके सौरभ तथा शीतल लेप आदि अनुभवों में सुख का आधिक्य ही प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार करुणरस प्रधान काव्यों में भी हम दुःख-सुख का मात्रा-ज्ञान कर उनका परिसेवन करते हैं। जो लोग दोष भावना को दुःख प्रतिबंधक मान कर करुण रस प्रधान काव्यों से भी केवल सुख की प्रतीति मानते हैं, उनकी धारणा के विषय में किसी प्रकार की प्रतिपत्ति अथवा तर्क-वितर्क के लिए अवकाश ही नहीं है। आनंदवादी अथवा केवल आह्लादी विचारकों का अभिमत निम्नलिखित उद्धरण से परिपुष्ट होता है—

हेतुत्वं शोकहर्षादिर्गतेभ्यो लोकसंश्रयात्।
शोकहर्षादयो लोके जायंतां नाम लौकिकाः॥
अलौकिक विभावत्वं प्राप्तेभ्यं काव्यसंश्रयात्।
सुखं संजायते तेभ्यःसर्वेभ्योऽपीति का क्षतिः॥

करुण रस प्रधान काव्यों से यदि केवल आनंद ही मिलता है तो उनकी आस्वादन वेला में अश्रुपादि क्यों होते हैं ? इसका सीधा और स्पष्ट उत्तर यही है कि अश्रुपातादि केवल दुःख अथवा शोक के ही अनुभाव न होकर आनंदानुभूति से भी संबंधित हैं। आनंदातिरेक में भी अश्रुपात आदि होते हैं जैसा कि भगवत् कथा श्रवणकाल में भक्तों की आँखों से अविरल अश्रुधारा का प्रवाह देखा जाता है। वस्तुतः उनकी वह अश्रुधारा

करुणरसोद्भूत आनंदातिरेक का ही अनुभाव है। करुणरसजन्य आनंदानुभूति वस्तुतः व्यंजना अथवा लोकोत्तर काव्य व्यापार की महिमा की ही चरम परिणति है जिसके कारण शोक आदि अरमणीय पदार्थ भी अलौकिक आनंद उत्पन्न करते हैं। काव्य व्यापार की वह प्रवृत्ति सदैव लोकोत्तर और विचक्षण मानी गई है जिसका विचार कर पण्डितराज ने लिखा है –

अयं हि लोकोत्तरस्य काव्यव्यापररस्य महिमा यत्प्रयोज्या अरमणीया अपि शोकादयः पदार्था आह्लादमलौकिकं जनयंति। विलक्षणो हि कमनीय काव्यव्यापारस्य आस्वादः प्रमाणान्तरजादनुभवात्।

शांत रस की नाट्यकाव्यगत स्थिति

सामान्यतः काव्यों में श्रृंगार, करुण, शांत, रौद्र, वीर, अद्भुत, हास्य, भयानक और वीभत्स संज्ञक नौ रस प्रसिद्ध हैं जो हमारे हृदय में वासनारूप में स्थित रति, करुण, शम, क्रोध, उत्साह, विस्मय, हास, भय और जुगुप्सा नामक स्थायी भावों से निष्पन्न होकर लोकोत्तर आनंदोद्रेक के रूप में अभिव्यक्त होते हैं। रसों की इस संख्या के विषय में भरत मुनि के वचन ही प्रमाण हैं जिन्होंने अपने नाट्यशास्त्र में उनकी संख्या निर्धारित की है। काव्य में उपर्युक्त सभी रस सुमान्य रहे हैं किन्तु अभिनय प्रधान नाटक में शांत रस की स्थिति पर तर्क-वितर्क की पर्याप्त सम्भावनाएं विद्यमान हैं। शांत रस का स्थायी भाव 'शम' माना जाता है जो वैराग्य-वृत्ति मूलक है अतः अपनी निश्चेष्टा में वह अभिनेय नहीं है। उसके अभिनेय न होने का एक तर्क यह दिया जाता है कि नट में शम भाव के प्रदर्शन की क्षमता अथवा योग्यता न होने के कारण वह उसे अभिनेय नहीं बना सकता। इस तर्क का खंडन करते हुए पण्डितराज ने लिखा है कि जब हम नट में रस की अभिव्यक्ति ही नहीं मानते तो फिर उसके द्वारा शम भाव की अभिनेयता का प्रश्न ही नहीं उठता। वस्तुतः रस-चर्वणा के अधिकारी तो सामाजिक (सहृदय) हैं जो अपने शम प्रधान सत्त्वोद्रेक पूर्ण भग्नावरणचित् द्वारा रसानुभूति करते हैं। इस स्थिति में शांत रस नाटक के क्षेत्र से बहिर्गत नहीं किया जा सकता।

पण्डितराज ने शांत रस की अनभिनेयता के विरुद्ध एक अन्य पक्ष प्रस्तुत किया है। उनका कहना है कि यदि शांति विहीन अभिनेता (नट) शमभाव का अभिनय नहीं कर सकते तो फिर वे रौद्र, भयानक तथा वीभत्स रस का अभिनय कैसे कर सकते हैं क्योंकि उसमें शम आदि स्थायी भावों की भाँति रौद्र, भयानक तथा वीभत्स रस के मूलभूत क्रोध, भय तथा जुगुप्सा की वास्तविक भावनाएँ भी अविद्यमान रहती हैं। उस स्थिति में तो नटगत अनभिनेयता की दृष्टि से शांतेतर रसों को भी नाटक से बहिष्कृत करना होगा जो युक्तिसंगत नहीं है। यह कहा जाये कि शिक्षा, अभ्यास तथा अभिनय-कौशल द्वारा कोई भी अभिनेता क्रोध, जुगुप्सा तथा भय स्वगत आदि कृत्रिम भावों का सफल नाट्य-प्रदर्शन कर सकता है तो फिर शमभाव प्रधान अभिनय में किसी प्रकार का प्रतिबंध लगाना कहाँ तक उचित है? वस्तुतः अभिनय की दृष्टि से सभी भावों की स्थिति तुल्य

है, अत: तदनुकूल शमभाव को भी शांत रस की स्थायी वृत्ति मानकर रसों की संख्या में कमी नहीं की जानी चाहिए।

शांत रस की नाटकीय अनभिनेयता के विषय में यह भी कहा जाता है कि नाटक में गीत, वाद्य और नृत्य आदि की अनिवार्यता तथा उनका शांत रस के विनियोजन में किया गया प्रयोग परस्पर विरोधमूलक है जिनका संतुलन और सामंजस्य सम्भव नहीं है। गीत वाद्य आदि मनोद्विपेक्षकृत हैं जबकि शांत रस का स्थायी भाव वैराग्यमूलक है अत: वे नट तथा सामाजिक की मन:स्थिति में एक साथ समायोजित नहीं किये जा सकते। इस शंका का समाधान यह है कि गति और वाद्य केवल शांतेतर रसों के ही नाट्य उपकरण नहीं हैं, अपितु उनका प्रयोग शांत रस की अभिनेयता में भी सम्भव है। 'वस्तुत: फल के अनुसार ही कारण की कल्पना की जानी चाहिए' इस सिद्धांत के अनुसार कहा जा सकता है कि भगवद्भक्ति तथा वैराग्यमूलक रति भावना के आलम्बन और उद्दीपन विभाव की सामग्री के रूप में गीत और वाद्य आदि का उपयोग अविच्छिन्न गति से होता आया है। भगवद् कथाओं का पठन-पाठन और श्रवण, तीर्थाटनों के क्रियाकलाप सत्संगों और रासमण्डलियों का समायोजन भगवद्भजन और कीर्तन सभाओं के उपक्रम तथा भक्तिमय संगीत और वाद्य क्या शांत रस की विभाव-सामग्री नहीं बनते ? इस स्थिति में शांत रसपरक नाटक आदि में भी उनका तदनुकूल प्रयोग और अभिनय किया जाए तो वे उस रस के अभिव्यंजक बन कर ही उपस्थित होंगे। अत: उनमें तथा शांत रस में अंतर्विरोध अथवा प्रातिकूल्य की किंचिन्मात्र भी सम्भावना करना उचित नहीं है। 'संगीत रत्नाकर' के अन्तिम अध्याय में 'अष्टावेव रसा नाट्ये' के उल्लेख द्वारा शांत रस के नाट्यगत अनस्तित्व की जो धारणा व्यक्त की गई है अथवा कतिपय काव्यशास्त्रियों ने उसके नाटकीय पक्ष का विरोध किया है; वह असमीचीन है। इस पक्ष को ध्यान में रखकर ही पंडितराज जगन्नाथ ने लिखा है—

अष्टावेव रसा नाट्येष्विति केचिदचूचुदन्।
तदचारु, यत: कंचिन्न रसं स्वदते नट:।[12]

अभिप्राय यह है कि शांत रस की नाट्यगत स्थिति अग्राह्य नहीं है और दृश्य काव्य में केवल आठ रस न माने जाकर शांतरससमन्वित नवरस ही माने जाने चाहिए। उपर्युक्त श्लोक में भी यही आशय व्यक्त किया गया है जिसके अनुसार नाट्य में केवल आठ रस मानना अशोभनीय (अचारु) विचार है क्योंकि उसका अभिनेता नट उसका आस्वादयिता नहीं होता।

शांत रस के विरोधी उसे नाट्य क्षेत्र से निष्कासित करने के लिए चाहे कितने ही तर्क प्रस्तुत करें किन्तु उसकी स्थिति और सत्ता का सर्वथा निषेध नहीं किया जा सकता। नाट्य-निष्कासन की हठवादिता से प्रेरित होकर भी उसके विरोधी विचारक उसे श्रव्यकाव्य के परिसर से तो बहिर्गत कर ही नहीं सकते। काव्य में तो उसका स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण और वैशिष्ट्यपरक स्वीकार किया गया है। महाभारत

प्रभृति प्रबंध काव्यों में शांत रस का प्राधान्य विद्वज्जनसम्मत और अनुभवसिद्ध है। काव्यप्रकाशकार मम्मट ने भी 'अष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः' कहकर अंत में 'शान्तोऽपि नवमो रसः' का अभिमत व्यक्त किया है जिससे उसकी सुदृढ़ स्थिति समर्थित होती है। इस विषय में आचार्य अभिनवगुप्त तो शांत रस के सर्वाधिक प्रबल समर्थक माने जाते हैं। पण्डितराज ने इस सब बातों का विचार कर शांतरस की काव्यगत स्थिति तथा प्रतिष्ठा का निरूपण निम्नलिखित रूप में किया है—

'यैरपि नाट्ये शांतो रसो नास्तीत्यम्युपगम्यते, तैरपि वाधकाभावान्महाभारतादि प्रबंधानां शांतरसप्रधानताया अखिल लोकानुभवसिद्धत्वाच्च काव्ये सोऽवश्यं स्वीकार्यः।"

रस और स्थायी भावों में अन्तर

विवेचन के इस प्रसंग में रस और स्थायी भावों का अंतर स्पष्ट करना अत्यन्त वांछनीय है। अभिनवगुप्त और भट्टनायक ने उन दोनों का अंतर घट और उसके अंतर्गत व्याप्त आकाश के उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया है जिसके अनुसार जिस प्रकार व्यापक आकाश घट रूप उपाधि से घिर कर छोटा हो जाता है, उसी प्रकार हमारा आत्मचैतन्य रति आदि स्थाविभावरूपा उपाधियों से ग्रस्त होकर उन्हीं में केन्द्रित-सा हो जाता है। नव्य मत में रस और स्थायीभाव का विभेद क्रमशः सत्य रजत (वास्तविक चांदी) और अनिर्वचनीय रजत (काल्पनिक चांदी) के उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया गया है। परकीय मत के अनुसार उनका अंतरज्ञान और उसके विषय द्वारा समझा जा सकता है अर्थात् रस यदि ज्ञानरूप है तो स्थायी भाव उसका विषयरूप है। प्रबंधकाव्यों में स्थायी भावों की स्थिति स्थिर और सर्वत्र व्यापक रहती है। वे व्यभिचारी भावों की भाँति पल-पल में परिवर्तनशील नहीं होते। कहने के लिए वे भी चित्तवृत्तियों के ही रूप हैं जिनकी प्रकृति क्षणभंगुर अथवा शीघ्र विनाशशील मानी जानी चाहिये किन्तु वे हमारे हृदय में वासनारूप में नित्य विद्यमान रहते हैं अतः उन्हें व्यभिचारी चित्तवृत्तियों के तुल्य नहीं माना गया है। यों तो प्रबंध काव्यों की समग्रता में वे बार-बार आते-जाते से प्रतीत होते हैं फिर भी उनकी पुनः-पुनः अभिव्यक्ति एक प्रकार के स्थैर्य की ही व्यंजक है। व्यभिचारी भाव विद्युत्कांतिवत् क्षणभंगुर और जलतंरगवत् अस्थिर हैं जबकि स्थायी भाव लवणाकर अथवा क्षारसमुद्र तुल्य है जिसमें विरुद्ध और अविरुद्ध भावों का मिश्रण होते हुए भी वह अपनी मूल प्रकृति नहीं छोड़ता। वह सजातीय और विजातीय भावों से तिस्कृत नहीं होता तथा उसका अस्तित्व रसास्वादन पर्यन्त बना रहता है। उपर्युक्त विचारपक्ष निम्नलिखित कारिकाओं में इस प्रकार व्यक्त हुआ है—

(1)

विरुद्धैरबिरुद्धैर्वा भावैर्विच्छिद्यते न यः।
आत्मभावं नयत्याशु, स स्थायी लवणाकरः॥
चिरं चित्तेऽवतिष्ठन्ते, सम्बध्यन्तेऽनुबंधिभिः।
रसत्वं ये प्रपद्यन्ते, प्रसिद्धाः स्थायिनोऽत्र ते॥

(2)

सजातीयवि जातीयैरतिरस्कृत मूर्तिमान् ।
यावद्रसं वर्तमान: स्थायिभाव उदाहृत : ।।

स्थायी भाव का एक अन्य लक्षण यह किया जाता है कि रति आदि वासना रूप में स्थित रहने वाले रति आदि नौ भावों में जो कोई भी भाव अन्यतम स्थिति में होता है, वही स्थायी भाव कहलाता है। यह मत भी ग्राह्य नहीं है क्योंकि अपनी अप्ररूढ़ स्थिति में रति आदि भाव भी जब किसी अन्य प्ररूढ (प्रधान या समृद्ध) भाव के अंग बन कर व्यभिचारी भाव बन जाते हैं तो उनकी स्थिति अन्यतम कैसे मानी जा सकती है। उदाहरणार्थ रौद्र रस का स्थायी भाव क्रोध वीर रस में संचारी बन जाता है तो वीर रस का स्थायी भाव उत्साह रौद्र में अप्ररूढ हो जाता है। यही स्थिति 'हास' नामक स्थायी भाव की है जो हास्य रस का स्थायी भाव होने पर भी शृंगार रस में संचारी भाव बन कर ही उपस्थित होता है। इन भावों की स्थायी तथा संचारीरूपिणी स्थिति स्वाभाविक और आवश्यक है क्योंकि क्रोध के बिना वीर, उत्साह के बिना रौद्र और हास के बिना शृंगार रस पूर्णरूपेण निष्पन्न हो ही नहीं सकता। उपर्युक्त रसों में क्रोध, उत्साह और हास आदि भाव उनके संपोषक तत्त्व बन कर ही शोभित होते हैं। जब प्रधान रस को पुष्ट करने के लिए क्रोध आदि संचारीभाव बहुविभावजन्य बन जाते हैं तो उनकी स्थिति रसवत् अलंकार तुल्य हो जाती है। पण्डितराज जगन्नाथ ने इस मान्यता का प्रतिपादन निम्नलिखित शब्दों में किया है—

एवं च वीररसे प्रधाने क्रोध:, रौद्रे चोत्साह:, शृंगारे हास:
व्यभिचारी भवति नान्तरीयकश्च: । यदा तु प्रधान परिपोषार्थम्
सोऽपि बहुविभाविज: क्रियते, तदातु रसालंकार इत्यादिबोध्यन्

रसगंगाधर में रसविमर्श से सम्बन्धित ऐसे अनेक परम्परागत पक्ष भी विवेचित हुए हैं जिनमें उल्लेखनीय विशेषताएँ न होने के कारण उन सब का निरूपण करना आवश्यक नहीं है। रसों के नाम और उनकी संख्या, रस-निष्पति से सम्बद्ध भाव, विभाव अनुभाव और संचारी (व्यभिचारी) भावों का सामान्य परिचय प्राय: सर्वविदित है, अत: उनका निरूपण पिष्टपेषणमात्र है। ऐसी स्थिति में हमें केवल उन्हीं बिन्दुओं अथवा विचार-कणों का संक्षिप्त विश्लेषण पर्याप्त लगता है जो काव्यशास्त्र में बहुचर्चित और विवादास्पद रहे हैं। उनके विषय में पण्डितराज का अभिमत व्यक्त करना ही हमारा एक विशेष प्रयोजन है।

पण्डितराज ने शृंगार, करुण, शांत, रौद्र, वीर, अद्‌भुत, हास्य, भयानक और वीभत्स संज्ञक नवरसों के स्थायी भावों के रूप में रति, शोक, निर्वेद, क्रोध, उत्साह, विस्मय, हास, भय और जुगुप्सा के लक्षण निर्धारित कर उनका स्वरूप बोध कराने में अपना निजी दृष्टिकोण प्रधान रखा है। उन्होंने स्त्री-पुरुष के अन्योन्याश्रित आलम्बन स्वरूप प्रेमसंज्ञक चित्तवृत्तिविशेष को रति नामक स्थायी भाव कह उसे गुरु, देवता और संतति पक्ष में संचारी भाव मात्र माना है। उनके शब्दों में वैक्लव्यसंज्ञक चित्तवृत्ति

विशेष का नाम शोक है जो पुत्र आदि प्रियजनों के वियोग तथा मृत्यु के कारण उत्पन्न होता है। 'इष्टनाशादनिष्ठाप्तेः करुणाख्यो रसो भवेत्' के अनुसार इष्ट के विनाश तथा अनिष्टजन्य व्याकुलता को इस भाव का कारण माना है। यह 'शोक' करुण रस का स्थायी भाव तभी हो सकता है जब किसी प्रेमी अथवा प्रेयसी के निधन का निश्चय हो जाय अन्यथा वह संचारी भाव मात्र ही हो सकेगा। प्रेमी के जीवित होने की सम्भावना में वह विप्रलम्भ श्रृंगार से सम्बद्ध माना जायगा। प्रेमी की मृत्यु का ज्ञान होने पर भी यदि किसी देवता आदि की कृपा से उसके पुनः जीवित होने की सम्भावना हो तो वह 'करुण' विप्रलम्भ श्रृंगार का समीपवर्ती होगा। नित्य (ब्रह्म) और अनित्य (जगत्) वस्तुओं के विचार से उत्पन्न होने वाला विषय विरागाख्य भाव 'निर्वेद' कहलाता है जो गृहकलह आदि से उत्पन्न स्थिति में व्यभिचारी भाव मात्र हो जाता है। रौद्र रस का स्थायी भाव 'क्रोध' अपने 'अमर्ष' रूप में संचारी भाव ही होता है। उत्साह, विस्मय और हास संज्ञक स्थायी भावों की स्थिति स्पष्ट है जो विभावादि के संयोग से क्रमशः वीर, अद्भुत और हास्य रस निष्पन्न करते हैं। व्याघ्रादिदर्शनजन्य अनर्थविषयक वैकल्प का नाम 'भय' है जो 'त्रास' रूप में व्यभिचारी भाव कहलाता है तो जुगुप्सा कदर्यवस्तु-विलोकन से उत्पन्न विचिकित्साख्य चित्तवृत्ति है। ये सभी चित्तवृत्तियाँ तद्-तद् विषयक रसों के स्थायी भाव हैं जो आलम्बन और उद्दीपन विभावों से व्यंजित होकर उन्हें आस्वाद्य बनाते हैं। स्थायी भावों के पश्चात् उत्पन्न होने वाले भाव अनुभाव कहलाते हैं जो विभावों द्वारा आस्वाद्य बने हुए स्थायी भावों का अनुभावन कराते हैं। व्याभिचारी भाव वे हैं जो स्थायी भावों के साथ फेनबुदबुद न्याय से संचरित होते हैं तथा जिनकी स्थिति अस्थिर और क्षणभंगुर रहती है। अनुभावों और व्यभिचारी भावों के लक्षण निम्नलिखित कारिकाओं द्वारा बोधगम्य किये जा सकते हैं—

अनुभाव :

उद्बुद्धं कारणैः स्वैः स्वैः बहिर्भावं प्रकाशयन्।
लोके यः कार्यरूपः सोऽनुभाव. काव्यनाट्ययोः॥
उक्ताः स्त्रीणामलंकारा अंगजाश्च स्वभावजाः।
तद्रूपा सात्त्विका भावास्तथा चेष्टा परा अपि॥

व्याभिचारी भाव :

विशेषादामि मुख्येन चरणाद् व्यभिचारिणः।
स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नास्त्रय स्त्रिशच्च तद्भिदाः॥
ये तूपकर्तुमायान्ति स्थायिनं रसमुत्तमम्।
उपकृत्य च गच्छन्ति, ते मता व्यभिचारिणः॥

स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव और संचारी भावों की सामान्य जानकारी के पश्चात् आवश्यक है कि उनका समायोजन किसी एक रस विशेष में कर लिया जाय ताकि उनका प्रायोगिक पक्ष स्पष्ट हो सके। इस दिशा में श्रृंगार रस की निष्पत्ति में उनकी संगति निर्दिष्ट करना पर्याप्त है। जिसके आधार पर अन्य रसों में भी उनका संघटन किया जा सकता है। श्रृंगार रस में उनका स्वरूप निम्नलिखित है—

शृंगार रस : **स्थायी भाव**—रति

आलम्बन विभाव—नायक-नायिका

उद्दीपन विभाव—ज्योत्स्ना, वसंत ऋतु, उपवन, एकांत स्थान तथा नायक-नायिका की चेष्टाएँ आदि।

अनुभाव—मुखदर्शन, गुणश्रवण, कीर्तन तथा स्तम्भ स्वेद, रोमांच, स्वरभंग कम्प, वैवर्ण्य, अश्रुपात तथा प्रलय आदि सात्त्विक अनुभाव।

व्यभिचारी भाव—स्मरण, चिंता, आदि।

शृंगार रस के भेदोपभेद, वर्ण, देवता, विरोधी रस आदि अनेक पक्ष उसकी विवेचना के अंतर्गत आते हैं जिन्हें विवेचित करना अधिक आवश्यक प्रतीत नहीं होता क्योंकि उनसे सभी परिचित हैं। यह स्थिति अन्य रसों की भी है अतः उन्हें प्रस्तुत प्रसंग से अधिक जोड़ना उचित न समझ कर हम इस प्रकरण को यहीं समाप्त करते हैं।

रसध्वनि और रसालंकार

पण्डितराज ने रसध्वनि और रसवत् अलंकार के लक्षणों का विषय-विभाग करते हुए लिखा है कि जहाँ रस प्रधानतया व्यंग्य होते हैं, वहाँ 'रसध्वनि' तथा जहाँ वे अंगरूप से व्यंजित होते हैं वहाँ 'रसालंकार' होता है। 'रसध्वनि' पद रस तथा ध्वनन-व्यापार की प्रधानता के कारण साभिप्राय है किन्तु 'रसालंकार' पद आपत्तिजनक है क्योंकि रस जब अपना अलंकार्य रूप छोड़ देते हैं तो अलंकार मात्र बन जाते हैं और उनमें रस-ध्वनन की योग्यता नहीं रहती। उस स्थिति में उनके लिए 'अलंकार' शब्द का प्रयोग पर्याप्त मात्र है। यदि किन्हीं विचारकों को उनके लिए पृथक् पद प्रयुक्त करना अभीष्ट हो तो वे उसे 'अलंकार ध्वनि' कह सकते हैं जिनका अनुमोदन 'ब्राह्मणश्रमण' न्याय से सम्भव है। यदि रसालंकार अथवा रसवत् अलंकार का यह अर्थ निकाला जाय कि जो पहले रस था, वह अब अलंकार है तो भी अधिक अनुचित नहीं है। वस्तुतः रस तो असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य है जो संलक्ष्यक्रम होने पर वस्तुध्वनि के रूप में व्यवहृत होता है। रस की असंलक्ष्यक्रम व्यंग्यता सूची से शतपत्रवेधन के क्रम से स्पष्ट की गई है जिसके अनुसार सुई द्वारा एक साथ बिंधे जाने वाले शतपत्रों की वेधन क्रिया की शीघ्रता के कारण जिस प्रकार उनका क्रम लक्षित नहीं होता उसी प्रकार रसप्रतीति भी एक प्रकार का 'झटिति प्रत्यय' है जिसकी असंलक्ष्यक्रम व्यंग्यता स्वतःसिद्ध है।

भक्तिरस की संस्थिति

पण्डितराज के रस विवेचन का एक प्रमुख पक्ष भक्ति रस का विवेचन भी है जिसका अनेक गण्यमान आचार्यों ने यथामति विश्लेषण किया है। भक्ति-दर्शन में उसे सर्वोपरि स्थान दिया गया है। भगवद् विषयक रति ही भक्ति-रस का स्थायी भाव है जो साक्षात् भगवान् को अपना आलम्बन, भागवत-श्रवण आदि को उद्दीपन, रोमांच और अश्रुपात आदि को अनुभाव तथा हर्ष आदि को संचारी भाव बना कर सहृदय भक्तों

के हृदय रूपी आश्रय में अभिव्यक्त होती है। रूप गोस्वामी आदि भक्त आचार्यों ने उसे रस शिरोमणि माना है जबकि विश्वनाथ आदि काव्यशास्त्रियों की दृष्टि में वह भाव मात्र है। यह एक ऐसा प्रसंग है जिसकी विस्तृत विवेचना किये बिना भक्तिरस के विविध पक्ष प्रस्फुटित नहीं किये जा सकते। यहाँ तो हमें केवल इतना संकेत करना ही अभीष्ट है कि पण्डितराज ने विश्वनाथ आचार्यों की भाँति उसका स्वतंत्र अस्तित्व स्वीकार नहीं किया है जिसका कारण भरतमुनि की परम्परा का पालन मात्र है। जिन आचार्यों ने रस की स्वतंत्र सत्ता मानी है, उनके अनुसार वह शांत रस से भिन्न है, जिसका अंतर्भाव शांत रस में नहीं किया जा सकता। शांत रस का स्थायी भाव तो निर्वेद (वैराग्य) है जबकि भक्ति रस का स्थायी भाव 'अनुराग' है, अतः इन दोनों में पारस्परिक विरोध होने के कारण उन्हें एक नहीं कहा जा सकता। इसके विपरीत भक्ति रस की स्वतंत्र स्थिति स्वीकार न करने वाले आचार्यों के अपने निजी तर्क हैं जिन्हें निम्नलिखित सूत्र-वाक्यों में निरूपित किया गया है —

(अ) भक्तेर्देवादिविषय रतित्वेन भांवान्तर्गततया रसत्वानुपपत्तेः।

(आ) भक्तिर्देवादिविषया, व्यभिचारी तथांजितः।

(इ) भावः प्रोक्तस्तदाभासा ह्यनौचित्य प्रवर्तिता।

उपर्युक्त उद्धरणों के अनुसार भक्ति देवादिविषयक रति होने के कारण भावमात्र है जिसकी रस-रूप में निष्पत्ति सम्भव नहीं है। उसे अधिक से अधिक 'रसाभास' अथवा 'भावाभास' की श्रेणी प्रदान की जा सकती है। पण्डितराज को भी यही मत अभीष्ट है जिसके लिए उन्होंने 'रसानां नवत्वगणना च मुनिवचन नियंत्रिता भज्येत इति यथा शास्त्रमेव ज्यायः' की शब्दावली प्रयुक्त की है। उनका यह निर्णय मुनि वचन तथा शास्त्रानुसरण के प्रति आस्था का ही निदर्शन है।

रसों में विरोधाविरोध

रसों के पारस्परिक विरोध तथा अविरोध का उल्लेख भी रसगंगाधर में हुआ है जिसके अनुसार वीर और श्रृंगार, श्रृंगार और हास्य, वीर और अद्‌भुत, वीर और रौद्र तथा श्रृंगार और अद्‌भुत अविरोधी रस है जबकि श्रृंगार और वीभत्स, श्रृंगार और करुण, वीर और भयानक, शांत और रौद्र तथा शांत और श्रृंगार रसों में विरोध माना गया है। विरोधी रसों की सहकृत निबंधना दोनों रसों का सौन्दर्य नष्ट कर देती है जिसे पण्डितराज जगन्नाथ ने महाभारत के सुंदोपसुंद आख्यान के न्याय से विवेचित किया है। यदि किसी को उपर्युक्त विरोधी रसों का एकत्र समावेश करना अभीष्ट हो तो वह उनके विरोध का परिहार करके ही कर सकता है। स्थिति-विरोध तथा ज्ञान-विरोध के निराकरण में यह स्थिति सम्भव है। स्थिति-विरोध के निराकरण का उदाहरण नायक में वीर रस का चित्रण करने के साथ-साथ प्रतिनायक में भयानक रस का अभिव्यंजन करना हो सकता है तो ज्ञान-विरोध का परिहार किन्हीं दो विरोधी रसों के बीच किसी अन्य रस की योजना करके या उनकी मध्यस्थता द्वारा किया जा सकता है जैसाकि शांत और

शृंगार के विरोध में उनके अविरोधी अद्भुत रस की प्रतिष्ठा द्वारा सम्भव है। रस-गगाधर में रस-विरोध तथा विरोध-परिहार के अनेक उदाहरण दिये गये हैं जिनका आकलन करते हुये यह विषय और भी अधिक स्पष्ट किया जा सकता है।

पण्डितराज ने विरुद्ध रसों के इसी प्रसंग में परस्पर समावेश रस के बाध्यत्व तथा रस-विरोध की निवृत्ति आदि विषयों पर भी अपने विचार व्यक्त किए हैं जिनसे पता चलता है कि काव्य-कृतियों में विरोधी रसों के समायोजन की कौन-कौन-सी प्रक्रियाएँ हैं जिनके कारण रस-प्रतीति के मार्ग में बाधाएँ आती हैं तथा उनका निराकरण किस प्रकार किया जा सकता है। उनका कहना है कि जहाँ समान विशेषणों द्वारा दो विरुद्ध रस अभिव्यक्त होते हैं, वहाँ उनका विरोध निवृत्त हो जाता है। करुण और शृंगार का एक साथ समायोजन इस प्रकार की विरोध-निवृत्ति का एक उदाहरण है। यदि कहीं विरोधी रस की अभिव्यक्ति द्वारा प्रकृत रस की अभिव्यक्ति बाधित हो जाती है तो उसके निराकरण के लिए रस-निष्णात कवि अपने प्रतिभा-कौशल द्वारा अनुकूल उपाय ढूँढ़ ही लेते हैं। काव्यशास्त्रीय लक्षण ग्रंथों में तो इन सबका विवेचन और विश्लेषण हुआ ही है किन्तु उनका मूल उत्स तो हमारा रचनात्मक साहित्य ही है जिसके निर्माता कवि प्रबंधगत प्रसंगों की उपादेयता तथा उनकी रस-निबंधना की दृष्टि से वस्तु, अलंकार और रस ध्वनि के सफल अभिव्यंजन में अपनी संवेदनाओं और कल्पनाओं का समाहार करते चलते हैं। वस्तुतः रस-जगत् अत्यन्त विस्तीर्ण और व्यापक है जिसके अंतराल में असंख्य भाव-रत्न सन्निहित हैं। उन सबका भास्वर स्वरूप उद्घाटित करना कवि प्रतिभा का कार्य है जिसकी सफलता अपूर्व निर्माण क्षमता तथा काव्यघटनानुकूल शब्दार्थों की स्थिति पर निर्भर है, इस तथ्य को ध्यान में रख कर ही हमें रस चर्चा के विविध पक्षों की व्याख्या एवम् समीक्षा करनी चाहिए।

रस-दोष

रस-दोषों का सामान्य स्वरूप

रस व्यंग्य है जिसका आस्वादन व्यंजनावृत्ति द्वारा ही संभव है। 'रस' अथवा "शृंगार' शब्दों से अभिहित पद रसबोधक नहीं हो सकता क्योंकि अभिधावृति में इतनी क्षमता नहीं है जो रसों को आस्वाद्य तथा चमत्कारप्राण बना सके। रस की स्वशब्द वाच्यता रस दोष है जिसे पण्डितराज ने 'वमन दोष' कहा है। यह दोष व्यंग्य के वाच्यी-करण में होता है। स्थायी और संचारी भावों का शब्दवाच्यत्व भी रस दोष है क्योंकि उनका अभिधावृत्तिमूलक कथन चमत्कारपूर्ण नहीं होता। विभावों और अनुभावों की असम्यक् तथा विलम्बगत प्रतीति भी रसदोष का उदाहरण है। प्रकृत रस की वर्णनीयता में जब विरोधी रसों के अंगों का वर्णन समतुल्य अथवा प्रबल स्थिति में किया जाता है तो वह वर्णन प्रकृत रस को दबा देता है जिसके कारण मूल रस के परिपाक में बाधा उत्पन्न हो जाती है जो एक प्रकार से रस-दोष का ही रूप है। किसी प्रबंध काव्य में उसके प्रकृत

रस का प्रसंगान्तर द्वारा विच्छेद होने पर जब उसे पुन: दीपित करने के लिए किसी कथा की अवतारणा की जाती है तो उसके अंतराल में 'विच्छिन्नदीपन दोष' होता है क्योंकि कथाबंध के बीच प्रसंगगत विच्छिन्नता सहृदयजनों की रसप्रतीति में बाधक होती है। इस विषय में कतिपय आचार्यों का मत है कि 'अंगीरस का पुन:-पुन: दीपन' दोष नहीं कहा जा सकता क्योंकि उसके कारण आस्वाद में कमी न आकर उसकी पुष्टि ही होती है। महाभारत में शांत रस तथा रामायण में करुण रस का पुन:-पुन: दीपन इस कथन का प्रमाण है।

जहाँ किसी रस विशेष की प्रस्तावना और संगति का विचार किए बिना जब किसी अप्रासंगिक रस की अनौचित्यपूर्ण प्रस्तावना की जाती है तथा अविच्छेद्य स्थिति में रस विच्छिन्न कर दिया जाता है तो वहाँ पर भी रस-दोष होता है। जैसे सन्ध्यावंदन, देवयंजन तथा धर्मवर्णन के प्रसंग में किसी कामिनी के साथ किसी कामुक का अनुराग वर्णन करना जो एक प्रकार से अनवसर में शृंगार का प्रस्ताव मात्र है। इसी प्रकार नायक के चरित्र तथा ऐश्वर्य की प्रधानता को कम करने के लिए जब प्रतिनायक का चरित्र तथा वैभव उससे अधिक बढ़ा-चढ़ाकर वर्णित किया जाता है तो उस वर्णन में भी रस-दोष होता है। यदि प्रतिनायक का उत्कर्ष-वर्णन नायक के उत्कर्ष का पोषक और उपकारक हो तो उस स्थिति में रस-दोष नहीं रहता। रस के आलम्बन और आश्रय का अनुसंधान यदि काव्य के बीच-बीच के अंतराल में न होता चले तो रस-दोष की स्थिति आ सकती है क्योंकि उस अनुसंधान के बिना रस-प्रवाह छिन्न-भिन्न हो सकता है। प्रकृत रस के अपकर्षकारी प्रसंगों का वर्णन भी रसदोष है। अनौचित्य तो रस भंग का मूल कारण है ही, अत: उसकी प्रासंगिकता में ही समस्त रस-दोषों का स्वरूप-बोध किया जाना चाहिए।

रसभंग अथवा रसगत अनौचित्य

रसभंग पद का सामान्य अर्थ है रसास्वाद में व्याघात अथवा बाधा उत्पन्न होना। जिस प्रकार पानकरस (शर्बत आदि) आदि पेय पदार्थों में बालुका अथवा सिकता-कण गिर जाने से उनकी पेयगत स्वादिष्टता बाधित होती है उसी प्रकार अनौचित्यगत अरुन्तुदता रसभंग का हेतु बन जाती है। आचार्यों ने अनौचित्य का अर्थ जाति, देश, काल, वर्ण, आश्रम, वय, अवस्था, प्रकृति और व्यवहार आदि सांसारिक कार्यप्रपंचों में लोकसिद्ध तथा शास्त्र सम्मत रूपों तथा व्यवहारों से द्रव्य, गुण तथा क्रियाकलापगत भिन्नता माना है। उनकी सामान्य जानकारी निम्नलिखित रूप में की जा सकती है—

जाति विरुद्ध अनौचित्य—गाय और बैल आदि पशुओं की प्रकृति में बल और पराक्रम का चित्रण तथा सिंह और व्याघ्र में सरलता और साधुभाव का वर्णन।

देश विरुद्ध अनौचित्य — स्वर्ग में वृद्धावस्था तथा रोग आदि का वर्णन तथा भूतल पर अमृतपान आदि का चित्रण।

काल विरुद्ध अनौचित्य—शीतकाल में जल विहार तथा ग्रीष्म में अग्नि-सेवन।

वर्ण विरुद्ध अनौचित्य—ब्राह्मणों का मदिरापान, क्षत्रियों का दान ग्रहण तथा शूद्रों का वेदाध्ययन।

आश्रम विरुद्ध अनौचित्य—ब्रह्मचारियों का ताम्बूलचर्वण और संन्यासियों का कामिनी-संभोग।

अवस्था विरुद्ध अनौचित्य—वृद्धों की विषयलिप्सा तथा युवकों का वैराग्य।

उपर्युक्त अनौचित्य देशकाल की सीमाओं में आबद्ध और परम्परागत कार्य-प्रणालियों से सम्बन्धित हैं जिन्हें सार्वदेशिक और सार्वकालिक मान्यता प्रदान नहीं की जा सकती। आज की वैज्ञानिक उन्नति, भौतिक दृष्टि तथा अंतर्राष्ट्रीय विचारधारा के कारण हमारे जीवन-मूल्य बदल गए हैं अतः काव्यगत औचित्य विधान के प्रतिमान में भी अंतर होना स्वाभाविक है। सही दृष्टिकोण तो यह है कि सापेक्षवाद के अनुसार ही सभी सिद्धांत ग्राह्य समझे जाने चाहिए अन्यथा प्रकरणगत भिन्नता के कारण उन्हें सही रूप में मूल्यांकित करने में कठिनाई ही होगी। देशकाल और परिस्थिति की भिन्नतावश अब न तो शूद्रों के वेदाध्ययन पर प्रतिबंध लगाया जा सकता है और न जातिवर्णगत भेदभाव ही उचित कहे जा सकते हैं। अब वह समय नहीं रहा जब भेड़चाल और सड़ी गली रूढ़ियों को ही जीवन के आदर्श मानदण्ड समझा जाय अतः उचित और अनुचित के निर्णय में हमें स्वस्थ परम्परा और प्रगतिशील चिंतन प्रणाली से काम लेना चाहिए।

प्रकृतिगत अनौचित्य की विवेचना नायक-नायिका भेद की व्याख्या से भी सम्बद्ध रही है। आचार्यों ने दिव्य, अदिव्य तथा दिव्यादिव्य की त्रिविध श्रेणियों में नायकादि की प्रकृतियों का विभाजन करने के साथ-साथ उन्हें धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीर प्रशांत तथा धीरललित रूपों में भी वर्गीकृत किया है। इन सबका उत्तम, मध्यम और अधम श्रेणियों में भी विभाजन हुआ है जिनके अनुसार प्रकृतिकृत भेदों की संख्या और भी अधिक बढ़ जाती है। इन प्रकृतियों की अनुरूपता में जब काव्य विषयों का अभिव्यंजन किया जाता है तो उनमें रसभंग अथवा रसदोष की संभावना नहीं रहती। पंडितराज जगन्नाथ आदि आचार्यों ने ऐसे अनेक प्रसंगों को उदाहृत किया है जिनकी उचित संगति न होने पर उनमें 'अनौचित्य' हो जाता है। उनके मतानुसार अनौचित्य के कुछ रूप निम्नलिखित हैं—

(अ) **रत्यनौचित्य**—यद्यपि सभी प्रकृतियों के नायकों में रति आदि स्थायी भाव समान रूप में रहते हैं किन्तु सम्भोगरूपा रति से सम्बद्ध आलिंगन और चुम्बन आदि क्रियाओं का मानवीय प्रकृति तथा कामचेष्टाओं के अनुसार दिव्य चरित्रों (देवताओं) में वर्णन करना अनौचित्यपूर्ण है।

(आ) **क्रोधानौचित्य**—दिव्य चरित्रों के क्रोध में विश्व को भस्म करने तथा दिन को रात में बदल देने की आश्चर्यमयी और अलौकिक शक्तियों का समावेश होता है जिसे अदिव्य चरित्रों में घटित करना क्रोधगत अनौचित्य का उदाहरण है।

उपर्युक्त द्विविध अनौचित्य का हेतु यह है कि जिन दिव्य चरित्रों अथवा

आलम्बनों के प्रति हमारी पूज्य भावना बनी हुई है उनके रति-विषयक अनुभावों का चित्रण यदि साधारण नायकों के अनुभावों के अनुसार किया जायगा तो उनसे सहृदय सामाजिकों को रस प्रतीति के स्थान पर संकोच (लज्जा) ही होगा। इसी प्रकार यदि अदिव्य नायकों के क्रोध का वर्णन दिव्य नायकों की लोकोत्तर शक्ति के अनुरूप किया जायगा तो उसमें मिथ्यात्व प्रतीति के कारण रसचर्वणा नहीं आ सकेगी।

यदि भट्टनायक द्वारा प्रतिपादित भावकत्व व्यापार (साधारणीकरण) तथा नव्यमत के अनुसार 'दोष-भावना' के आधार पर उपर्युक्त उदाहरणों में पूज्य बुद्धि तथा साधारणीकृत शक्ति का समावेश सहृदयजनों में मान लिया जाय तो भी हमारी अनौचित्य समस्या हल नहीं हो सकती। इसका कारण यह है कि जहाँ सहृदयजनों का रसोद्बोध प्रमाणसिद्ध है, वहीं साधारणीकरण की कल्पना की जाती है।[19] यदि सर्वत्र साधारणीकरण की कल्पना उचित और सम्भव हो तब तो उसके बल पर अपनी माता के विषय में अपने पिता का रति-वर्णन भी उचित और रसोद्बोधक माना जा सकेगा।[20] गीतगोविन्दकार जयदेव ने जिस रूप में दिव्य चरित्रों का सम्भोग वर्णन किया है। वह अदिव्य प्रकृति के मानवों के अनुभावों के अनुरूप है जिसके प्रति पण्डितराज ने कड़ा आक्रोश व्यक्त किया है।[21]

व्यवहारविरुद्ध अनौचित्य के अनेक उदाहरण हम अपने दैनिक क्रियाकलापों तथा व्यावहारिक सम्बन्धों में देखते रहते हैं। व्यवहारगत अशिष्टता और अनुशासनहीनता उसका प्रमाण है। यदि विद्या, वय, वर्ण, आश्रम और तपस्या आदि के कारण उत्कृष्ट समझे जाने वाले व्यक्तियों के प्रति अपकृष्ट और अभद्र व्यवहार किया जाय तथा उन्हें उचित सम्बोधनों और सर्वनामों से समाहत न किया जाय तो वह दुर्व्यवहार अनौचित्य का ही व्यंजक होगा। सभी देशों की आचारण संहिता तथा नैतिकता में ऐसे अनेक नियम बने हुए हैं जिनका परिपालन करने से व्यवहारगत औचित्य का आदर्श समझा जा सकता है। काव्य रचना में भी यह औचित्य वाँछनीय हैं अन्यथा रसभंग की स्थिति उत्पन्न हो सकती है जिसके कारण हमें रसास्वाद का लोकोत्तर आह्लाद मिल ही नहीं सकता। इन सब बातों का विचार करके ही आचार्य आनंदवर्धन ने ध्वन्यालोक के तृतीय उद्योत में अनौचित्य के अतिरिक्त किसी अन्य को रसभंग का कारण नहीं माना है और प्रसिद्ध औचित्यबंध को ही रस का उपनिषद् कहा है। ध्वन्यालोक की तत्सम्बद्ध कारिका निम्नलिखित है—

अनौचित्याहृते नान्यद्, रस भंगस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबंधस्तु, रसस्योपनिषत्परा॥

रस और गुण

रसों और गुणों में अविच्छेद्य सम्बन्ध है

रसों और गुणों में अविच्छेद्य संबंध है। उनकी संख्या तथा स्थिति के विषय में

आचार्यों के भिन्न-भिन्न अभिमत हैं। सामान्यतया माधुर्य, ओज तथा प्रसाद संज्ञक त्रिविध गुण माने जाते हैं जिनकी रसगत मात्रा तथा अतिशयता के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के मतमतान्तर प्रचलित हैं। प्रथम मत से अनुसार चित्तद्रुति के आतिशय्य की दृष्टि से संयोग शृंगार करुण रस, विप्रलम्भ शृंगार और शांत रस में माधुर्य गुण की मात्रा क्रमशः बढ़ती जाती है। दूसरा मत संयोग शृंगार, करुण रस, शांत रस तथा विप्रलम्भ शृंगार के क्रम से उसका मात्राधिक्य निर्धारित करता है। तीसरा मत इन तीनों का मात्रा-क्रम संयोग शृंगार, करुण, विप्रलम्भ शृंगार तथा शांत रस की उत्तरोत्तर अतिशयता में देखता है। इस क्रम में किसी प्रकार का तारतम्य निश्चित नहीं है क्योंकि सभी रस मूलतः माधुर्यपरक ही माने गये हैं। इन मतों में 'करुण विप्रलम्भ' के प्रति आचार्यों का अधिक आग्रह लक्षित होता है जिसकी तात्त्विकता का निर्णय सहृदय काव्य-रसिकों की सहजानुभूति तथा आस्वादनक्षमता के अनुसार ही किया जाता है।

ओज गुण का सम्बन्ध हमारी चित्त वृत्तिगत 'दीप्ति' से है जो वीर रस में साधारण, वीभत्स रस में उससे अधिक तथा रौद्र रस में सर्वाधिक मात्रा में रहती है। कुछ विद्वानों के मत से अद्भुत, हास्य और भयानक रसों में ओज और माधुर्य गुणों का सम्मिश्रण होता है जब कि एक अन्य मत उपर्युक्त रसों में केवल प्रसाद गुण का ही संचार पाता है। अधिकांश आचार्यों की मान्यता है कि 'प्रसादस्तु सर्वेषु रसेषु सर्वासु रचनासुच साधारणः' के अनुसार प्रसाद गुण की स्थिति सभी रसों और रचनाओं में सामान्य है जब कि अन्य दो गुणों की सत्ता किन्हीं विशिष्ट रसों में ही नियत रहती है। इन गुणों से द्रुति, दीप्ति तथा विकास संज्ञक त्रिविध चित्तवृत्तियाँ व्यंजित होती हैं जिसका अभिप्राय यह है कि माधुर्य गुणजन्य रसास्वाद के कारण हमारा चित्त पिघल जाता है, ओज गुण से वह एक प्रकार के जोश में आ जाता है तथा प्रसाद गुण से विकसित होता है। गुणों की रस-धर्मता को ध्यान में रखकर 'यह रचना मधुर है,' 'यह बंध ओजस्वी है', तथा 'इसका आकार शूर है' आदि काव्य व्यवहार किये जाते हैं जिन्हें वाच्यार्थ अर्थात् अभिधावृत्ति से ग्रहण न कर लाक्षणिक प्रयोग के रूप में ही अर्थ बोधित करना चाहिए।

गुणों की रस स्थिति

गुणों की रसगत स्थिति तथा काव्यगत सत्ता के विषय में पण्डितराज जगन्नाथ परम्परागत पद्धति से कुछ भिन्न दृष्टिकोण लेकर चले हैं। उनका कथन है कि प्राचीन आचार्यों ने गुणों को जिस रूप में रसधर्म मात्र कहकर उनकी सत्ता केवल रस में मानी है वह प्रमाण पुष्ट नहीं है। क्योंकि काव्य रचना में भी उनका अस्तित्व प्रदर्शित होता है। इस विषय में प्रमाण जुटाने की आवश्यकता ही क्या है क्योंकि रसास्वादन के क्षणों में हमारी चित्तवृत्तियों में द्रुति, दीप्ति तथा विकास की जो अवस्थाएं लक्षित होती हैं, वे स्वतः ही प्रत्यक्ष प्रमाण के निदर्शन हैं तो भी यह धारणा उचित नहीं कही जा सकती। पण्डितराज इस मत से सहमति व्यक्त करते हुए लिखते हैं कि जिस प्रकार अग्नि का कार्य 'दाह' तथा उसका गुण 'उष्ण स्पर्श' है जिनका अनुभव हम पृथक्-पृथक् रूप में करते

हैं, उसी प्रकार रस कार्यों से द्रुति आदि चित्तवृत्तियों के धर्म भिन्न-भिन्न अनुभवों के रूप में ही समझे जाने चाहिए। यदि गुण विशिष्ट रसों से ही द्रुति आदि की सम्भावना परिकल्पित कर ली जाय तो उनमें तथा रसों में कार्य कारणभाव कल्पित करना होगा जिसके अनुसार प्रत्येक रस का कार्यकारणभाव पृथक्-पृथक् रूप से निरूपित करना पड़ेगा। उस स्थिति में द्रुति के प्रति श्रृंगार रस कारण है तो दीप्ति के प्रति रौद्र रस कारण है, ऐसी सम्भावनाएँ उपस्थित हो जाएंगी। इसका परिणाम यह होगा कि कार्य-कारण भाव की यह श्रृंखला बढ़ती चलेगी जिसकी भिन्न-भिन्न कड़ियों के रूप में द्रुति आदि चित्तवृतियाँ तथा श्रृंगार आदि रस प्रतिष्ठित करने पड़ेंगे। अभिप्राय यह है कि पण्डितराज के मतानुसार गुणों की सिद्धि अथवा रसधर्मता न तो प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा तर्कसंगत है और न अनुमान प्रमाण द्वारा ही उत्पन्न की जा सकती है जिसके कारण मम्मट आदि आचार्यों का 'गुणद्वारक सामान्य कार्यकारणभाव' अमान्य सिद्ध होता है। उन्होंने बतलाया है कि अग्नि का कार्य जलाना है तथा उसका गुण उष्ण स्पर्श है जिनका अनुभव हमें अलग-अलग होता है अर्थात् जब हम आग से नहीं जलते तो भी हमें उसकी उष्णता का तो अनुभव होता ही है; उसी प्रकार द्रुति आदि चित्तवृत्तियों (जिन्हें रसों के कार्य कहा जाता है, से पृथक् माने जाने वाले रसों में भी हमें गुणों के अनुभव का स्वरूप समझ लेना चाहिए।

गुण रसधर्ममात्र नहीं होते

पण्डितराज के मतानुसार गुण रसधर्म नहीं हो सकते क्योंकि रस आत्म स्वरूप है और आत्मा निर्गुण है जिसमें गुण नहीं रहता, ऐसा वेदांत-दर्शन का अभिमत है। यदि गुणों की रसधर्मता का यह तात्पर्य निकाला जाय कि गुण रस के उपाधिभूत रति आदि स्थायी भावों के धर्म हैं तो भी युक्ति संगत नहीं है क्योंकि न तो इस प्रकार की मान्यता का कोई प्रमाण पुष्ट आधार है और न मम्मट आदि आचार्य भी इससे सहमत हैं। अपनी सुखरूपता में जब रति आदि स्थायी भाव स्वयं गुण है तो उनमें अन्य गुणों की सम्भावना कैसे की जा सकती है क्योंकि गुण में गुण नहीं रहते—ऐसा दार्शनिकों का सिद्धांत है। ऐसी स्थिति में 'श्रृंगार रस मधुर होता है' आदि व्यवहारों को किन्हीं विशेष अर्थों अथवा संदर्भों में ही स्वीकार्य समझा जाना चाहिए। इस विषय में पण्डितराज जगन्नाथ का निम्नलिखित कथन[22] अत्यंत विचारणीय है जिसमें उन्होंने बतलाया है कि द्रुति आदि चित्त वृत्तियों का प्रयोजकत्व ही माधुर्य आदि गुण है अर्थात् प्रयोजकता सम्बन्ध से ही द्रुति आदि चित्तवृत्तियाँ गुण कहलाती हैं और जब वे रस आदि के साथ प्रयोजकता का सम्बन्ध रखती हैं तो उन्हें माधुर्य आदि गुणों की अभिधा स्वतः प्राप्त हो जाती है। जिस प्रकार प्रयोजकता सम्बन्ध से ही 'असगंध' को उष्णता का आश्रय मान कर 'असगंध उष्ण है' जैसे व्यवहार किये जाते हैं, उसी प्रकार 'श्रृंगार रस मधुर है' आदि व्यवहार भी समझ लिये जाने चाहिए। रस में रहने वाली द्रुति आदि की प्रयोजकता असाधारण होती है जब कि अदृष्ट आदि में रहने वाली प्रयोजकता साधारण; अतः अदृष्ट आदि से व्यावृत

(उनमें न रहने वाली) तथा शब्द, अर्थ और रचना में रहने वाली प्रयोजकता साधारण सम्बन्ध से ही ग्राह्य समझी जानी चाहिए। इस प्रकार पण्डितराज 'शब्दार्थयोरपि माधुर्यादेरीदृशस्य सत्त्वादुपचारो नैवकल्प्य:' की मान्यता के अनुसार यही सिद्ध करना चाहते हैं कि माधुर्य आदि गुण शब्द अर्थ और रचना आदि में भी रह सकते हैं अथवा रहते ही हैं यह एक निर्विवाद सत्य है। उनके मतानुसार 'गुण रस के धर्म हैं' का सिद्धांत स्वीकार नहीं किया जा सकता जैसा कि काव्यप्रकाशकार मम्मट आदि आचार्य मानते हैं।

गुणों की संख्या और लक्षण

गुणों की संख्या के विषय में आचार्यों के भिन्न-भिन्न अभिमत हैं। वामन आदि प्राचीन आचार्यों ने श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थ व्यक्ति, उदारता, ओज, कांति तथा समाधि संज्ञक दस गुण माने हैं जो शब्द तथा अर्थ कृत द्विविध भेदों के कारण बीस हो जाते हैं। शब्द और अर्थ की अभिधा से इन गुणों के नामों में कोई अंतर नहीं होता किन्तु उनके लक्षणों में भिन्नता अवश्य मानी गई है। उदाहरणार्थ 'अपरुषवर्णघटितत्वं' अर्थात् कोमल वर्णों से युक्त रचना 'सुकुमारता' नामक शब्द गुण है तो 'प्रक्रमाभंगेनार्थ-घटनात्मकमवैषम्यं' अर्थात् प्रक्रम को भंग किये बिना अर्थयोजना में किसी प्रकार की विषमता न आने देना सुकुमारता नामक अर्थ गुण का लक्षण कहा जा सकता है। यह गुण शब्दगत और अर्थगत रूपों में दो प्रकार का माना गया है जिसे शब्द सुकुमारता और अर्थसुकुमारता के नामों से अभिहित किया जाता है। यही स्थिति अन्य गुणों की है जो शब्द तथा अर्थ पद के साथ संयोजित होकर भिन्न-भिन्न लक्षणों द्वारा व्याख्यायित होते हैं।

यद्यपि काव्यशास्त्रियों ने अपनी-अपनी मान्यताओं के अनुसार गुणों के नाम तथा लक्षण निर्धारित किये हैं किन्तु उनके रूपों में अधिक उल्लेखनीय अंतर नहीं है। किसी एक आचार्य विशेष का गुण भेदकृत लक्षण अन्य लक्षणों के रूप में समीकृत किया जा सकता है। गुण लक्षणों का सम्यक् बोध तभी संभव है जब उन्हें काव्य-रचनाओं द्वारा उदाहृत किया जाय। प्राय: सभी काव्यशास्त्रीय ग्रंथों में इस प्रकार के सत्प्रयास किये गये हैं। गुणों का विस्तार तथा उनका सोदाहरण विवेचन हमारा अंगी विषय नहीं है अत: यहाँ इतना संकेत मात्र पर्याप्त है कि काव्य के स्वरूप-बोध तथा लक्षण-निर्धारण में गुणों की गरिमा असंदिग्ध है जिनका परिज्ञान किये बिना काव्य-रचना तथा रस मीमांसा का रहस्य सम्यक् रूप में नहीं समझा जा सकता।

आचार्य वामन ने शब्दार्थ भेद से जिन बीस गुणों का विवेचन किया है वे परवर्ती आचार्यों को स्वीकार नहीं हैं। मम्मट आदि आचार्यों ने उनमें से कुछ गुण माधुर्य, ओज तथा प्रसाद संज्ञक त्रिविध भेदों में गतार्थ कर दिये हैं तो कुछ गुणों को दोषों के अभावरूप तथा अन्य को अलंकारस्वरूप कह कर उन्हें अस्तित्व हीन बना दिया है। कुछ गुण वैचित्र्य मात्र माने गये हैं तो अवशिष्ट गुण दोष मात्र बनकर ही रह गये हैं। अंततोगत्वा माधुर्य, ओज और प्रसाद नामक तीन गुण ही सुमान्य समझे गये हैं। इस विषय में निम्नलिखित

कारिका ध्यातव्य है जिसमें दस गुणों के खण्डन के तर्क प्रस्तुत किये हैं—

केचिदन्तर्भवन्त्येषु दोषत्यागात् परे श्रिताः।
अन्ये भजन्ति दोषत्वं कुत्रचिन्न ततो दशः।।

आचार्यों ने श्लेष, उदारता, प्रसाद और समाधि संज्ञक चतुर्विध गुणों का अंतर्भाव ओजव्यंजक रचनाओं में कर दिया है। इसका आधार यह है कि श्लेष और उदारता पूर्णतया गाढबंधात्मक होते हैं जिनका अंतर्भाव ओजगुण में सहज सम्भव है। प्रसाद और समाधि गुणमयी रचनाएँ गाढत्व और शैथिल्य समन्वित रहती हैं जिनकी गाढता के अंश का अंतर्भाव भले ही ओज गुण में कर लिया जाय किन्तु उसके शैथिल्य अंश का अंतर्भाव उसमें कैसे हो सकेगा यह भी एक विचारणीय विषय है। इस विषय में पंडितराज का कथन है कि "माधुर्याभिव्यंजके प्रसादाभि व्यंजके वेति सुवचत्वात्" के अनुसार उनका शैथिल्य कहीं माधुर्यगुण व्यंजक रचनाओं में अंतर्मुक्त हो सकता है तो कहीं उसे प्रसादगुणव्यंजक रचनाओं में समाविष्ट किया जा सकता है। वामन द्वारा निरूपित उपर्युक्त चारों गुण माधुर्यव्यंजक रचनाओं में समाहित रहते हैं, ऐसा आचार्य मम्मट का अभिमत है जिसे लाक्षणिक प्रयोग मानकर उन्हें ओज व्यंजक रचनाओं में भी समाविष्ट किया जा सकता है। पंडितराज ने 'समता नु सर्वत्रानुचितैव' की मान्यता द्वारा 'समता' गुण का निरस्तीकरण किया है क्योंकि सर्वत्र समता का प्रयोग अनुचित तथा अनिष्टकारी है। कांति और सुकुमारता गुणों का अंतर्भाव ग्राम्यत्व और कष्टत्व संज्ञक दोषों के अभाव में किया जा सकता है अर्थात् कांति गुण यदि ग्राम्यत्व दोष का अभाव रूप है तो सुकुमारता में श्रुति-कटुत्व तथा कष्टत्व आदि दोषों का अभाव रहता है। वस्तुतः कष्टत्व का अभाव रूप ही सुकुमारता है जैसा कि उसके लक्षण 'अपरूषवर्णघटित्व' से सिद्ध है क्योंकि आचार्य मम्मट ने कष्टत्व का लक्षण परुषवर्णघटित्व किया है। 'अर्थ व्यक्ति' गुण का अंतर्भाव प्रसाद गुण में हो जाता है क्योंकि दोनों में स्पष्ट प्रतीति वांछनीय है। इस प्रकार प्राचीन आचार्यों द्वारा अभिहित दस शब्दगुण ओज, माधुर्य तथा प्रसाद में अंतर्मुक्त होकर अपना पृथक् अस्तित्व समाप्त कर देते हैं।

वामन के परवर्ती आचार्यों ने दस प्रकार के अर्थगुणों को भी निरस्त करने का सफल उपक्रम किया है। उनके अनुसार श्लेष और ओज गुण के चारों भेद वैचित्र्यमात्र हैं जिन्हें गुणों के अंतर्गत मानना समुचित नहीं है। यदि विचित्रता मात्र को ही गुण मान लिया जाय तब तो गुणों की संख्या का नियोजन किया ही नहीं जा सकेगा क्योंकि छन्दो-बद्ध काव्य की प्रत्येक पंक्ति में अर्थवैचित्र्य के कुछ न कुछ अंश तो विद्यमान रहते ही हैं जिनके वैलक्षण्य की दृष्टि से गुणों की गणना भी असम्भव हो जायगी।

वामन ने प्रसाद, माधुर्य, सुकुमारता, उदारता, समता नामक गुणों के जो लक्षण निर्धारित किये हैं उनमें क्रमशः अनधिकपदत्व, उक्तिवैचित्र्य, अपारुष्य, अग्राम्यत्व, वैषम्याभाव आदि विशेषताओं का उल्लेख होने के कारण वे क्रमशः अधिक पदत्व अनवी-कृतत्व, अमंगलरूप, अश्लीलत्व, ग्राम्यत्व तथा भग्नप्रक्रमत्व आदि दोषों के अभावमात्र कहे जा सकते हैं। पदों का साभिप्रायत्व (ओज गुण के पंचम भेद का लक्षण) अपुष्टार्थ-

रूप के दोष के अभाव का ही नाम है। अर्थ व्यक्ति गुण स्वभावोक्ति अलंकार में गतार्थ हो जाता है। कांति गुण रसविषयक प्रतीयमानता रस की प्रधानता रहने पर रस-ध्वनि में अन्यथा रसवत् अलंकार में अंतर्लीन हो जाती है। 'समाधि' वस्तुतः गुण न होकर काव्य का कारण है क्योंकि उसका स्वरूप आलोचन अर्थात् एक विशेष प्रकार के ज्ञान में सन्निहित रहता है। वह कविगत आत्मचैतन्य से सम्बन्धित है जिसे काव्यगत अर्थ से जोड़ना उचित नहीं है। यदि समाधि को काव्य रचना का अर्थ गुण मान लिया जाय तब तो 'प्रतिभा' को भी काव्य गुण मानना पड़ेगा। क्योंकि आलोचन और प्रतिभा दोनों एक ही प्रकार के ज्ञान हैं जो मूलतः कविनिष्ठ हैं। उन्हें विषयता सम्बन्ध से भले ही अर्थगत मान लिया जाय किन्तु जब प्रतिभा को काव्य का कारण माना जाता है तो समाधि अथवा आलोचन तत्त्व (ज्ञान) को भी गुण न मानकर काव्य का कारण ही माना जाना चाहिए। इस प्रकार सिद्ध है कि काव्य में ओज, माधुर्य तथा प्रसाद संज्ञक त्रिविध गुण ही अभिप्रेत हैं जिन्हें शब्दार्थमयता के दृष्टिकोण से बीस की संख्या तक पहुँचाना तर्कसंगत नहीं है।

काव्य रचना और गुणों में सम्बन्ध

पंडितराज ने काव्य-रचना तथा गुणों में अविच्छिन्न सम्बन्ध स्वीकार किया है। उन्होंने सर्वप्रथम माधुर्य गुणव्यंजक रचना का निरूपण करते हुए लिखा है कि उस रचना में टवर्गवर्जित वर्गों के प्रथम—तृतीय, अंतस्थ वर्ण, अनुस्वार, असंयुक्त तथा अल्प सामासिक पदों का प्रयोग होता है जिनसे इसकी मधुरिमा संबद्धित होती है। कुछ विद्वानों के मतानुसार टवर्गवर्जित सभी वर्ण माधुर्य व्यंजक रचना में प्रयुक्त किये जा सकते हैं। ओज गुण प्रधान रचना की स्थिति उससे भिन्न है क्योंकि उसमें टवर्ग के वर्ण, अन्य वर्गों के द्वितीय—चतुर्थ अक्षर, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, विसर्ग, झप प्रत्याहार तथा दीर्घ समास-गुम्फ प्रधान होते हैं। प्रसाद गुण व्यंजक रचना की प्रमुख विशेषता यह है कि वह श्रवण मात्र से काव्य का अर्थबोध करा देती है जिसे पंडितराज ने 'श्रुतमात्रा वाक्यार्थम् करतलबदरमिव निवेदयन्ती घटना प्रसादस्य' की शब्दावली में व्यक्त किया है। प्रसाद गुण सभी रचनाओं में रहने वाला सर्वसाधारण गुण है जिसमें झटिति प्रतीति की विशेषता स्वतः समाहित है। वर्णों की प्रयोजनीयता तथा शब्दों की व्यंजकता में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। जिसका रहस्य समझ कर ही गुणानुरूप रचनाएँ करनी चाहिए ताकि उनमें लोकोत्तर चमत्कार तथा रसचर्वणा का वैशिष्ट्य आ सके।

गुणव्यंजक वर्णों के रचनागत प्रयोग के सम्बन्ध में एक उल्लेखनीय बात यह है कि वे केवल शब्दगत चमत्कार से ही अनुप्राणित नहीं होते अपितु उनमें अर्थ व्यंजना के तत्त्व भी समाहित रहते हैं। उनकी गुणवत्ता और सत्ता छात्रिन्याय से प्रमाणित की जाती है। माधुर्य गुण व्यंजक रचनाएँ पूर्णतः माधुर्य व्यंजक ही होंगी, यह आवश्यक नहीं है। उनमें माधुर्येतर गुण व्यंजकता भी संभावित है किन्तु माधुर्य भाव की प्रधानता के कारण उन्हें माधुर्य व्यंजक ही कहा जाता है क्योंकि वही उसका अंगी होता है। गुण व्यंजक

वर्णों की स्थिति शरीर स्थानीय है जिसका चयन और रमणीय प्रयोग करना प्रतिभाशाली कवियों का काम है। काव्यशास्त्र में उनके प्रयोग तथा संघटन के नियम काव्यानुसारी तथा काव्यनुशासन मात्र हैं, इस बात का ध्यान रखकर ही उनकी विवेचना करनी चाहिए। काव्य-शास्त्रीय ग्रंथों में उनका अत्यंत विशद और प्रमाणसम्मत विश्लेषण किया गया है जिसका तत्त्व विमर्श करना हमारा लक्ष्य नहीं है। हमें तो यहाँ केवल इतना संकेत करना ही अभीष्ट है कि काव्य गुणों का सापेक्ष सम्बन्ध उसकी रचना प्रक्रिया तथा रसधर्मता से स्वतः जुड़ा हुआ है जिसकी व्यापकता और गरिमा का ध्यान रख कर ही उनकी विवेचना की जानी चाहिए।

काव्यदोष

काव्य के वर्जनीय और काव्यदोष

पंडितराज ने काव्य-गुणों की विवेचना के उपरांत ऐसे अनेक वर्जनीयों का भी सोदाहरण निरूपण किया है जिनके कारण काव्य में अकाव्यता नामक दोष आता है। उनका यह निरूपण संस्कृत भाषा तथा काव्य साहित्य की प्रकृति पर आधारित है। उन्होंने बतलाया है कि कुछ वर्जनीय तो सभी रसों में त्याज्य है जब कि कुछ वर्जनीय किन्हीं विशेष रसों में ही त्याज्य समझे जाते हैं। पंडितराज का वह विवेचन उनकी मान्यताओं तथा गुणविषयक धारणाओं की पृष्ठभूमि पर अवलम्बित है। उनके शब्दों में 'इयं चाश्रव्यत्वं काव्यस्य पंगुत्वमिव प्रतीयते' के अनुसार काव्य में अश्रव्यता दोष उसके के लिए पंगुता तुल्य है जिसके कारण काव्य के रस-संचार में व्यवधान उपस्थित होता है। वर्णगत अश्रव्यता से सम्बन्धित एक अन्य दोष संधिगत अश्रव्यता भी है जिसके कारण भी काव्यरस का अपकर्ष होता है। अश्रव्यों के सभी रूप सभी काव्यों में वर्जनीय है जिनका परिहार किये बिना काव्य-रस में चमत्कार आ ही नहीं सकता।

यहाँ एक बात उल्लेखनीय है कि 'श्रुतिकटुत्व' और अश्रव्यत्व' नामक दोष एक न होकर पृथक्-पृथक् हैं क्योंकि श्रुतिकटुत्व अनित्य दोष है जो माधुर्यपरक काव्य विशेष में त्याज्य है जब कि वह रौद्र रस प्रधान काव्यों में गुण रूप में प्रकट होता है। जहाँ श्रुतिकटुत्व दोष की कठोरवर्णयुक्त रचना कान में उद्वेग उत्पन्न करती है वहाँ वह दोष है अन्यथा ओज पूर्ण रचनाओं में तो वह गुण बन जाता है। अश्रव्यत्व दोष की स्थिति उससे भिन्न है क्योंकि वह नित्य दोष है। उसका सामान्य लक्षण भी यही है कि वह कठोर तथा कोमल वर्णों से अनुबंधित न होने के कारण सभी दशाओं में दोष ही रहता है, अतः सभी प्रकार के काव्यों में त्याज्य है। पंडितराज ने अश्रव्यता जैसे दोषों तथा वर्जनीयों का विश्लेषण करते हुए उन परिस्थितियों का भी उल्लेख किया है जिनमें वे त्याज्य और ग्राह्य समझे जाते हैं। उनकी अनुकूलता और प्रतिकूलता रस विशेषों के साथ जुड़ी हुई है। मधुर रसों के वर्जनीय ओज परक रसों में विधेय हो जाते हैं जब कि मधुर रसों में तो उनका निषेध ही शोभानीय है। अनेक बार ऐसा भी देखा जा सकता है कि

जब विप्रलम्भ शृंगार रस प्रधान काव्यों में अनुप्रास और यमक आदि अलंकारों का प्रयोग बहुलता से किया जाता है तो उनकी प्रधानता के कारण भी रसचर्वणा में बाधा उपस्थित हो जाती है जिसके कारण सहृदय जनों के हृदय रसपराङ्मुख होने लगते हैं। अलंकार प्रयोग का यह बाहुल्य एक प्रकार से रस प्रधान काव्य के लिए वर्जनीय तुल्य ही है जिसे ध्यान में रखकर पंडितराज ने लिखा है कि विप्रलम्भ शृंगार प्रधान काव्यों में अनुप्रास आदि अलंकारों के समावेश का प्रयास नहीं करना चाहिए। उन्होंने विप्रलम्भ शृंगार को सभी रसों की तुलना में सर्वोपरि मधुर रस कहकर उसे 'विलक्षण पानक रस' की उपमा दी है जिसमें यदि किंचिन्मात्र भी कोई प्रतिकूल वस्तु सम्मिश्रित कर दी जाय तो उससे काव्य का सम्पूर्ण रसास्वाद बिगड़ सकता है। इन विषय में उनके निम्नलिखित निर्देश और उदाहरण उल्लेखनीय हैं जिनमें उपरिलिखित विचार प्रतिध्वनित हुए हैं—

(अ) एवं व्यंग्यचर्वणातिरिक्तयोजना विशेषापेक्षा नापाततोऽधिक चमत्कारिणोऽनुप्रास प्रबंधान् यमकादींश्च संभवतोऽपि कविर्न निबध्नीयात्।

(आ) यतो हि ते रसचर्वणायामनंतर्भवन्तः सहृदय हृदयंस्वाभिमुखं विदधाना रसपराङ्मुखं विदधीरन्।

(इ) यतो मधुरतमत्वेनास्य निर्मलसिता निर्मित पानकरसस्येव, तनीयानपि स्वातंत्र्यमावहन् पदार्थः सहृदयहृदयारुंतुदतया न सर्वथैव सामानाधिकरण्यमर्हति।

विप्रलम्भ शृंगार में यमक तथा अनुप्रास आदि अलंकारों का प्रयोग ध्वनिकार आनंदवर्धन को भी स्वीकार नहीं है। क्योंकि उनके कारण ध्वन्यात्मभूत शृंगार रस में व्यवधान हो आता है।[23] ऐसे प्रयोग कवि की असावधानी अथवा उसकी काव्य शक्ति के प्रमादमात्र हैं। इसका यह अभिप्राय नहीं कि यमक और अनुप्रास आदि अलंकारों के प्रयोग अन्य सभी काव्यों में भी वर्जित हैं। सच तो यह है कि अनेक काव्यों में ऐसे स्थल भी आते हैं जहाँ यमकादि अलंकारों के प्रयोग उन्हें अधिक रस प्रवण बना देते हैं जिनकी गरिमा का ध्यान रख कर ही उन्हें प्रयोज्य अथवा अप्रयोज्य समझना चाहिए।

भावध्वनि विषयक दृष्टिकोण

भावध्वनि का विषय रसध्वनि के साथ स्वभावतः जुड़ा हुआ है। उन दोनों का अंतर स्पष्ट करने को दिशा में 'भाव' शब्द की अर्थव्यंजना का सम्यक् बोध आवश्यक है। 'भाव' के लक्षण अथवा उसकी परिभाषा के सम्बन्ध में अनेक मतमतांतर है। किसी ने विभावों और अनुभावों के अतिरिक्त अन्य सभी रस व्यंजक तत्त्वों को भाव कहा है तो अन्य विचारक इस मान्यता में अतिव्याप्ति दोष की गंध पाते हैं। वस्तुतः भाव ध्वनि मूलतः भावों से जुड़ी हुई है जिसका ध्वनन-व्यापार भले ही अंत में रस रूप में पर्यवस्ति हो, किन्तु उसकी पूर्वस्थिति तो स्वीकार करनी ही पड़ेगी। यदि सर्वत्र रस-व्यंजना का प्राधान्य ही सुमान्य समझा जाय तब तो काव्य-जगत् से भावध्वनि का विलोप ही हो जायगा। उचित तो यह है कि हम भावध्वनि और रसध्वनि को दो पृथक्-पृथक् क्षेत्रों

में परिभाषित करें ताकि वे एक-दूसरे पर हावी न हो सकें। 'भाव चमत्कार प्रकर्षाद् भावध्वनित्वम्' के सिद्धांत के अनुसार उन स्थलों में भावध्वनि का प्रभुत्व स्वीकार कर लेना युक्तिसंगत है जहाँ भावों में चमत्कार प्राकर्ष्य होता है। उसे रसध्वनि की समकक्षता में रखकर विवेचित करने से अनेक प्रकार के वाद-विवाद और तर्क-वितर्क उत्पन्न हो जाते हैं जिनके कारण न तो भावध्वनि का स्वरूप ही स्पष्ट हो पाता है और न रसध्वनि का विशुद्ध क्षेत्र ही स्वतंत्र रह सकता है।

यह तो एक निर्विवाद सत्य है कि रस अपनी पूर्वस्थिति में भावरूप ही होता है जो विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों के संयोग से चर्व्यमाण बनता है। उसकी ध्वंयात्मकता के सम्मुख भाव का ध्वनित रूप हीनतर है फिर भी उसे 'राजानुगतविवाहप्रवृत्तभृत्यवत्' प्रासंगिक प्रमुखता तो मिलनी ही चाहिए। उसकी सत्ता का एक प्रमाण तो यही है कि सभी काव्य उत्तमोत्तम तथा रसध्वनिगर्भित नहीं होते अतः जहाँ उनकी स्थिति मध्यम कोटि की होती है, वहाँ वे गुणीभूत व्यंग्य बनकर भावध्वनि के निकट प्रतिष्ठित किये जा सकते हैं।

पंडितराज जगन्नाथ ने अपने वैदुष्यपूर्ण तर्क-वितर्कों द्वारा भावध्वनि का विषय समस्यामूलक बना दिया है जिसके वाग्जाल में उलझने से कोई निश्चित उपलब्धि नहीं होती। उन्होंने आनंदवर्धन तथा नागेश भट्ट आदि आचार्यों के एतत्विषयक विचारों की पृष्ठभूमि में अपना मत स्थापित करने का कृच्छ्र प्रयास किया है। भावध्वनन के त्रिविध मतों का उल्लेख करते हुए उन्होंने जो निष्कर्ष निकाले हैं वे इस तथ्य के स्पष्ट संकेत हैं कि भावध्वनि क्षेत्र में प्रधान भाव से भिन्न उसी भाव की ध्वनि व्यंजित होती है जो नान्तरीयक रहता है। उनके कथन का तात्पर्य यह है कि भावध्वनि के क्षेत्र में प्रधान भाव से भिन्न उस भाव की ध्वनि नहीं होती जिनके साथ प्रधान भाव का ध्वनित होना निश्चित नहीं है। उन्होंने यह विषय गुणीभूतव्यंग्य के साथ-साथ 'रसाभास' की विवेचना से संयुक्त कर दिया है जिसके अंतर्गत हर्ष, स्मृति, व्रीड़, मोह, धृति, चिन्ता, ग्लानि आदि तेंतीस व्यभिचारी भावों की विवेचना की जाती है। ये सभी व्यभिचारी भाव अन्ततः भावरूप बन कर भावध्वनि के साथ स्वतः जुड़ जाते हैं। उन्होंने गुरु, देवता, राजा तथा पुत्रविषयक रति को चौंतीसवां संचारी भाव माना है। उनके मतानुसार वात्सल्य (पुत्रविषयक रति) भाव मात्र है जिसे रसकोटि तक पहुँचाना भरत मुनि के वचनों का उल्लंघन अथवा अपना उच्छृंखल-प्रदर्शन मात्र है।

रसाभास की विवेचना

रस की व्यापकता तथा रहस्यमयता के अंतर्गत 'रसाभास' का विवेचन करना आवश्यक है। उसका सामान्य लक्षण 'अनुचितविभावालम्बनत्वं रसाभासत्वम्' है जिसका अर्थ है रस के आवलम्बन विभाव का अनुचित होना। विभाव आदि का अनौचित्य लोक व्यवहार से विज्ञेय है क्योंकि जिस किसी भी विषय में जब लोगों की बुद्धि 'यह अनुचित

हैं' इस प्रकार की भावनाओं से उपबृंहित होती है, वहीं विभाव आदि का अनौचित्य मानना चाहिये।

रसाभास का उपर्युक्त लक्षण सभी विद्वानों को स्वीकार नहीं है। उनमें से एक वर्ग का कथन है कि मुनि-पत्नी अथवा गुरु-पत्नी आदि पूजनीय जनों के प्रति जिस रति का संग्रह होता है। वह अनुचित है किन्तु किसी नायिका की अनेक नायकों के विषय में होने वाली रति अथवा नायक-नायिका में से केवल किसी एक में होने वाली रति का संग्रह नहीं होता अतः वहाँ विभावगत अनौचित्य नहीं है। ऐसी स्थिति में रसाभास के लक्षण में 'अनुचित' विशेषण विभाव आदि में यह जोड़कर स्थायी भावों में लगाना चाहिये। जिसके अनुसार रसाभास का लक्षण होगा—जहाँ रति आदि स्थायी भाव अनुचित रूप से प्रवृत्त होते हैं वहाँ रसाभास होता है। रसाभास के इस लक्षण में उन सभी रतियों का संग्रह हो जाता है जो मुनिपत्नी अथवा अनेक नायकों के विषय में किंवा एक निष्ठ भाव में होती है। इन तीनों विषयों में रति की प्रवृत्ति अनुचित है अतः अनौचित्य का संबंध विभावादि से न जोड़ कर अनुचितप्रवृत्ति रति से जोड़ना अधिक युक्तिसंगत है।

यहाँ एक यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या रसाभास और भावाभास रस या भाव ही है अथवा उनसे भिन्न कोई अन्य पदार्थ हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि रसाभास और रस अथवा भावाभास और भाव एक ही स्थान पर रहने वाले समानाधिकरण धर्म नहीं हैं क्योंकि रस और भाव तो केवल वे ही कहे जा सकते हैं जिनमें किसी प्रकार का अनौचित्य अथवा दूषण न हो। ज्यों ही उनकी निर्मलता खण्डित हो जाती है, वे रसाभास या भावाभास मात्र रह जाते हैं। इसे नैयायिकों के 'हेत्वाभास' द्वारा उदाहृत किया जा सकता है। जिस प्रकार हेत्वाभास हेतु समानाधिकरण नहीं है; उसी प्रकार रसाभास या रस अथवा भावाभास और भाव एक नहीं हो सकते। इस विषय में कुछ अन्य विद्वानों का कहना है कि रति आदि भावों अथवा शृंगार आदि रसों में दोष अथवा अनौचित्य आ जाने से उनका स्वरूप-नाश नहीं होता। अतः जिस प्रकार निर्दुष्ट स्थायी भाव रस होते हैं, उसी प्रकार सदोष स्थायी भाव रसाभास हो जाते हैं। उनमें दोषों की सूचना मात्र देने के लिये ही उन्हें रसाभास अथवा भावाभास कहा जाता है। यह कथन ऐसा ही है जैसे किसी दोषयुक्त अश्व को अश्वाभास कहना; यद्यपि होता तो वह अश्व ही है।

रसाभास के लक्षण से सामान्यतया तीन प्रकार के रसाभास माने जाते हैं—

1. विभाव के अनौचित्य से रति में अनौचित्य आ जाना।
2. अनेक नायकों के विषय में होने के कारण रति का अनुचित हो जाना।
3 एकनिष्ठ होने के कारण रति का अनुचित हो जाना।

उपर्युक्त तीनों भेद प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रतिपादित और समर्थित हैं।[24] यदि नायिका की रति उपनायक अथवा जार में हो, नायक की रति मुनि अथवा गुरु पत्नी में हो, एक नायिका की रति अनेक नायकों के विषय में हो, अथवा नायक-नायिका की रति एकनिष्ठ अर्थात् एक तरफ से हो तो वह रति रसाभास ही करा सकेगी। रसाभास में विशेष उल्लेखनीय बात यही है कि लोक और शास्त्र से निंदित होने पर ही रति का अनौ-

चित्य सिद्ध होता है। यह विषय मूलत: सांस्कृतिक मान्यताओं और देश कालगत नैतिक मूल्यों से जुड़ा हुआ है क्योंकि औचित्य और अनौचित्य का निर्णय करने में उनकी भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण होती है।

श्रृंगाररस की भांति श्रृंगाररसाभास भी दो प्रकार का होता है-—

संयोग श्रृंगार रसाभास और विप्रलम्भ श्रंगार रसाभास। संस्कृत तथा हिन्दी के ..व्य ग्रंथ इनके उदाहरणों से भरे पड़े हैं। जिस प्रकार श्रृंगार रस का स्थायी भाव (रति) अपने अनौचित्य के कारण श्रृंगाररसाभास में निष्पन्न हो जाता है उसी प्रकार अन्य रसों के स्थायी भाव भी जब अनौचित्यपूर्ण होते हैं तो वे तद्‌तद् विषतक रसों के आभास हेतु बन जाते हैं। उदाहरणार्थ कलहशील कुपुत्र आदि के विषय में अथवा विरक्त पुरुष आदि आश्रय में वर्णित शोक आदि करुणरसाभास का उदाहरण है तो शांत रस का स्थायी भाव (निर्वेद) ब्रह्मविद्याध्ययन के अधिकार से वंचित चाण्डाल आदि आश्रय में वर्णित होकर शांत रसाभास की निष्पत्ति कराता है। उपर्युक्त मान्यताएं परम्परागत शास्त्रों से अनुमोदित हैं अत: उन्हें यदि आधुनिक जीवन दृष्टि और नैतिक चिन्तन स्वीकार न करे तो उन्हें पुरातन काव्य शास्त्रीय मर्यादाएं अपने पक्ष-समर्थन के लिये वाध्य नहीं कर सकतीं।

भावाभास

रसाभास की भाँति भावाभास का विषय भी अत्यन्त विस्तृत है। यदि हर्ष आदि व्यभिचारी भाव किसी अनुचित आलंबन अथवा अनुचित आश्रय के विषय में वर्णित हों तो वे भावाभास कहलाते हैं। उदाहरणार्थ यदि किसी गुरुकुल का कोई अंतेवासी (ब्रह्मचारी) अपने विद्याभ्यास के समय अपनी गुरु-पुत्री के यौवन और लावण्य पर मुग्ध होकर कामुक चेष्टाएं करने लगे और वे चेष्टाएं काव्यवर्णित हों तो वह वर्णन भावाभास का ही सूचक होगा क्योंकि उसमें अनौचित्य समाविष्ट है।

भावशांति, भावोदय, भावसंधि और भावशबलता

विवेचन के इसी प्रसंग में भावशांति, भावोदय, भावसंधि तथा भावशबलता का सामान्य परिचय देना आवश्यक है। भावध्वनि से सम्बन्धित हर्ष आदि भावों में से यदि किसी भाव का नाश हो जाय तो उसे भावशान्ति कहते हैं, यह भावनाश उत्पत्त्यवच्छिन्न होना चाहिये। अर्थात् भाव के उत्पन्न होते ही उसके नाश का वर्णन किया जाना चाहिये क्योंकि उत्पत्ति कालीन भावनाश ही सहृदयों को चमत्कृत करता है।

हर्ष आदि भावों में से किसी भी भावोदय की उत्पत्ति 'भावोदय' है। यदि कोई कवि किसी नायिका को अपने प्रेमी के कंधों पर भूलती हुई वर्णित करे जिसकी दृष्टि अचानक प्रेमी के वक्ष स्थल पर अंकित सपत्नी के हारचिह्न पर जा पड़े तो नायिका की रति रोषभाव में परिवर्तित हो जायगी और यह भाव-परिवर्तन ही भावोदय की स्थिति होगी। भावोदय और भावशान्ति अनेक स्थलों पर अन्योन्याश्रित होते हैं। किसी प्रकार

के भावोदय के पूर्व अन्य भावशान्ति की स्थिति अवश्य रहती है। वस्तुत: भावों का उदय और नाश चमत्कारपूर्ण विधि से वर्णित होकर ही भावध्वनि की सामग्री बनता है।

पण्डितराज ने भावसंधि का लक्षण 'अन्योन्यानभिभूतयोरन्योन्याभिभवन योग्ययोः सामानाधिकरण्यम्' किया है जिसका अर्थ यह है कि 'जो भाव एक-दूसरे से दबे हुए न हों पर एक-दूसरे को दबाने की योग्यता रखते हों। ऐसे दो भावों के समानाधिकरण अर्थात् एक स्थान पर रहने को भावसंधि कहते हैं।' इसका तात्पर्य यह है कि जिन दो भावों में से कोई एक भाव दूसरे की प्रतीति और चमत्कार को बाधित करने की क्षमता रखता है किन्तु वह उसे बाधित नहीं करता, ऐसे अविरुद्ध और तुल्यबल दो भावों की सह स्थिति 'भावसंधि' कहलाती है। यदि भावसंधि में किसी प्रकार का चमत्कार नहीं होता तो वह 'भावध्वनि' का अभिव्यंजन नहीं करा सकती।

भावशबलता का लक्षण 'भावानां बाध्यबाधकभावमापन्नामुदासीनानां वा व्यामिश्रणम्' है जिसके अनुसार ऐसे अनेक भावों के मिश्रण को भावशबलता कहते हैं जो परस्पर विरोधी होने के कारण एक-दूसरे के बाधक हों अथवा जो उदासीन रह कर न तो परस्पर बाधक बनते हों और न परस्पर सहायक होते हों। भावशबलता में प्रयुक्त 'शबलता' पद का अर्थ 'एक—चमत्कृतिजनकज्ञान गोचरत्व' है जिसका अभिप्राय यह है कि यद्यपि भिन्न-भिन्न वाक्यों से भिन्न-भिन्न भाव अभिव्यक्त होते हैं किन्तु उन सब वाक्यों को मिलाकर जो एक सम्पूर्ण पद्यरूप महावाक्य बनता है उसके द्वारा व्यंजना वृत्ति के माध्यम से जो चमत्कारजनक ज्ञान होता है उसमें उन सब भावों का भासित होना ही 'भावशबलता' का लक्षण है। भावशबलता का अभिज्ञान और वैशिष्ट्य निम्नलिखित श्लोक में उदाहृत है—

नारिकेल जलक्षीरसिताकदलमिश्रणे ।
विलक्षणो यथाऽऽस्वादो भावनां संहतौ तथा ।।

अर्थात् जिस प्रकार नारियल के जल, दूध, शर्करा और केलों के मिश्रण से विलक्षण स्वाद उत्पन्न होता है उसी प्रकार भावों के मिश्रण में भी होता है।

भावशांति, भावोदय, भावसंधि और भावशबलता आदि के लक्षणों से स्पष्ट है कि वे सभी विषय भाव-ध्वनियों के ही भिन्न-भिन्न रूप हैं। उनमें भावों की अवस्थाएँ तथा आस्वादन-प्रक्रिया विद्यमान रहती हैं जिनमें भावों की प्रधानता के कारण ही वे भावध्वनियाँ कहलाती हैं। वस्तुतः विनाश, उत्पत्ति, संधि और शबलता आदि में अवस्थाओं का प्राधान्य न होकर भावों का ही प्राधान्य होता है जिसके कारण उनमें भावचर्वणा अथवा चमत्कार विश्रांति आती है। भाव और उनकी अवस्थाएँ समान रूप से आस्वाद (चर्वणा) के विषय हैं अत: इन दोनों में कौन प्रधान और कौन अप्रधान, इस विषय में भिन्न-भिन्न अभिमत हैं। यदि यह कहा जाय कि भावशांति में भाव प्रधान नहीं होता अपितु शांति आदि अवस्थाएँ प्रधान रहती हैं जिनके विशेषण रूप में भाव रहते हैं तो भी उनमें भावध्वनि की संगति नहीं हो पाती। वस्तुतः भावोदय आदि में भाव ही प्रधान तत्त्व है न कि उदय आदि अवस्थाएँ, अतः अप्रधान 'उदय' के वाच्य हो

जाने पर भी प्रधान भाव के व्यंग्य होने के कारण वहाँ भावोदयध्वनि ही मानी जायगी। यही स्थिति भावशांति आदि की है जिनमें भावों की प्रधानता तथा शांति आदि अवस्थाओं की गौणता को ध्यान में रख कर ही उन्हें भावध्वनियाँ माना गया है। जो लोग भावोदय आदि को भावध्वनियाँ ही नहीं मानते उन्हें किस अर्थ में सहृदय कहा जाय, यह एक ज्वलंत प्रश्न है।

पण्डितराज ने भावशांति आदि ध्वनियों में भावों की प्रधानता तथा चमत्कृति स्वीकार की है। उनमें शांति आदि अवस्थाएँ तो उपर्सजित अर्थात् गौण रहती हैं। शांति आदि के वाच्य होने पर भी उनमें प्रधानतया भाव ही व्यंग्य रहते हैं जिनके कारण उन्हें भावशान्त्यादि ध्वनियाँ कहा जाता है। कहने के लिए तो भावध्वनियाँ तथा भाव-शान्त्यादि ध्वनियाँ प्रायः एक-सी प्रतीत होती हैं किंतु उन दोनों में वैलक्षण्यपरक अंतर भी विद्यमान है। पण्डितराज के मतानुसार भावध्वनियों की अपेक्षा भावशांत्यादिध्वनियों के चमत्कार (आह्लाद) में अधिक विलक्षणता है, जिसका कारण यह है कि भावध्वनियों में भावों की चर्वणा किसी एक अवस्था-विशेष के रूप में रहती है जब कि भावशांत्यादि-ध्वनियों में स्थलभेद से शाँति, उदय आदि अनेक अवस्थाविशिष्ट भावों की चर्वणा होती है। कहा जा सकता है कि जिस प्रकार वस्तु के एक होने पर भी कच्चे और पक्के आमों के आस्वाद में अंतर होता है उसी प्रकार शुद्ध भावास्वादजन्य तथा शांत्याद्यवस्था सहित भावास्वादजन्य चमत्कार तथा आनंद में भी अन्तर होता है।[25]

प्रश्न होता है कि जब भावाश्रित ध्वनियाँ भावशांति, भावोदय, भावसंधि तथा भावशबलता आदि भेदों में विभक्त की जाती हैं तो रस क्षेत्र में भी 'उदय', संधि, शांति तथा शबलता आदि अवस्थाओं की कल्पना करते हुए उन्हें 'रसोदय' आदि नामों से विवेचित क्यों नहीं किया जाता? इसका सीधा और स्पष्ट उत्तर यही है कि इस क्षेत्र में उनकी संभावना नहीं क्योंकि उदय शांति, संधि और शबलता आदि रसों की अवस्थाएँ नहीं होतीं। रसों का मूल तो स्थायी भाव ही होता है जिसकी यदि उदय और संधि आदि अवस्थाएँ होने लगेंगी तो उसका स्थायित्व ही नष्ट हो जायगा। वस्तुतः रसनिष्पत्ति की प्रक्रिया में आदि से अंत तक रति आदि स्थायी भावों का स्थायित्व बना रहता है जिसे 'स्रकसूत्रन्याय' से स्पष्ट किया जा सकता है। यदि यह कहा जाय कि स्थायी भावों में स्थिरता रहने पर भी उनकी अभिव्यक्ति तो अस्थिर ही होती है जिनमें उदय और विनाश आदि स्थितियाँ सम्भव हैं अतः उन उत्पत्ति-विनाशों को रस में आरोपित कर रसशान्त्यादि ध्वनियाँ का व्यवहार क्यों नहीं किया जा सकता? इसका सरल उत्तर यही है कि आरोप कभी चमत्कारी नहीं होता और उसकी चमत्कारहीनता के कारण ही 'रसशांति' आदि ध्वनियों की कल्पना करना समुचित नहीं है।

रसादि का संलक्ष्यासंलक्ष्यक्रम

विवेचन के इसी क्रम से जुड़ा हुआ एक प्रश्न रस की संलक्ष्यक्रमता और असंलक्ष्यक्रमता के निर्णय से सम्बन्धित है। साधारणतया रस असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि

का पर्याय कहा जाता है किन्तु उसकी संलक्ष्यक्रमता का भी सर्वथा निषेध नहीं किया जा सकता। रस और भाव वाच्य न होकर व्यंग्य होते हैं जिन्हें निर्णय-पक्ष के रूप में असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि कहा जाता है किन्तु उनके अंतराल में किसी प्रकार का संलक्ष्यक्रम रहता ही नहीं है, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। तात्विक दृष्टि से वह असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य है किंतु व्यावहारिक दृष्टि से उसकी प्रक्रिया समझने के लिए उसकी संलक्ष्यक्रमता भी स्वीकार करनी पड़ती है। इस विषय में प्राचीन और नवीन आचार्यों ने अनेक दृष्टियों से विचार किया है। प्रकरण की स्पष्टता, विभाव, अनुभाव तथा संचारी भावों की शीघ्र प्रतीति तथा पूर्वापरक्रम की अलक्ष्यता के कारण रस अनेक व्यंग्यों का एकीभूत समुदाय बनकर असंलक्ष्यक्रम होता है जबकि प्रकरणों का विचार-वेद्यता तथा चमत्कार का माधुर्य उसे संलक्ष्यक्रम कोटि के निकट उपस्थित कर देता है। रस प्रतीति विषयक यह निर्णय सहृदयजनों की सत्त्वोद्रेकमयी चित्तवृत्ति पर अधिकांशतः निर्भर है जो अपनी क्षमता और योग्यता के अनुसार काव्यरस का आस्वाद करते हैं। 'संलक्ष्यक्रम से ध्वनित होने वाला स्थायी भाव रस न होकर वस्तुमात्र होता है' इस मान्यता के निर्णय के भी अनेक पक्ष हैं जिन्हें अभिनवगुप्त, नागेश भट्ट तथा पंडितराज जगन्नाथ के ऊहापोहों का चिंतन और मंथन करने के पश्चात् ही स्वीकार किया जाना चाहिये।

भारतीय काव्यशास्त्र की विकासमयी परम्परा में रस सिद्धांत और ध्वनिमत सर्वाधिक अग्रणी और केन्द्रवर्ती विषय रहे हैं। वे काव्यशास्त्र के विशाल परिसर में अपना सार्वभौम चक्रवर्तित्व स्थापित करने में किस प्रकार सफल हुए, इसका अपना एक सुदीर्घ वैचारिक इतिहास है। आचार्य भामह से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक विकसित होने वाली काव्यशास्त्रीय परम्परा के अंतर्गत समाविष्ट अलंकार, वक्रोक्ति, रीति और औचित्य सिद्धान्तों में रस सिद्धान्त का प्रभाव किसी न किसी रूप में विद्यमान है। तत्त्वदृष्टि से प्रायः सभी आचार्य उसे काव्य का महत्वपूर्ण पक्ष मानते हैं। वह कवि और सहृदय अर्थात् काव्य-स्रष्टा और काव्यास्वादिता के आत्मसंवित् के साथ सहज भाव से जुड़ा हुआ पक्ष है जिसका विवेचन अनेक आचार्यों ने अपनी-अपनी मान्यताओं के अनुसार अंगांगिभाव से किया है। उनके विचारों में व्यावहारिक अंतर्भेद अवश्य है फिर भी वे अततोगत्वा उसे लोकोत्तर आनंद का शब्दार्थमय प्रतिरूप ही मानते हैं। प्रस्तुत प्रसंग में पण्डितराज जगन्नाथ की रस विषयक अवधारणाओं का जो कुछ विवेचन किया गया है, वह उनके व्यक्तिगत विचारों की भूमिका में रसमीमांसा के अनेक उलझे हुए प्रश्न सुलझाने के उद्देश्य से ही अनुप्रेरित है।

संदर्भ

1. रसगंगाधर, 1/2
2. वही, 1/2 व्याख्या भाग
3. वही, व्याख्या भाग

4. व्यक्तो व्यक्तिविषयीकृतः। व्यक्तिश्च भग्नावरणा चित्।
5. यथाहि शरावादिना पिहितो दीपस्तन्नवृत्तौ सन्निहितान् पदार्थान् प्रकाशयति, स्वयं च प्रकाशते, एवमात्मचैतन्यं विभावादिसंवलित्तान् रत्यादीन्।
6. अंतःकरणधर्माणां साक्षिभास्य त्वाभ्युपगतेः।
7. विभावादिनामपि स्वप्नतुरगादीनामिव, रंगरजता दीनामिव, साक्षिभास्यत्वमपि-रुद्धय।
8. व्यंजक विभावादिचर्वणाया आवरणभंगस्य वोत्पत्ति विनाशाभ्यामुत्पत्तिविनाशौ रस उपचर्येते, वर्णनित्यतायामिव, व्यंजकताल्वादिव्यापारस्य गकारादौ।
9. विभावादि चर्वणामहिम्ना सहृदयस्य निजसहृदयतावशोन्मिषितेन तत्तत्स्थाय्युपहित स्वस्वरूपानंदाकारा समाधाविव योगिनश्चिन्तवृत्तिरूपजायते, तन्मयीभवनमिति यावत्।
10. ताटस्थ्येन रस प्रतीतावनास्त्राद्यत्त्वात्। आत्मगतत्वेनतु प्रत्ययो दुर्घटः; शकुंत... दीनां सामाजिकान् प्रत्यविभावस्वात्।
11. नापि मानसी, चिंतोपनीतानां तेषामेव पदार्थानां मानस्याः प्रतीतेरस्या वैलक्षण्यो-पलम्भात्। न च स्मृतिः तथा प्रागननुभवात्।
12. अयं च कार्यो दोष विशेषस्य, नाश्यश्च तन्नाशस्य।
13. स्वोत्तर भाविना लोकोत्तराह्लादेन भेदाग्रहात् सुखव्यवदेश्यो भवति।
14. स्वपूर्वोपास्थितेन रत्यादिना तदग्रहात् तद्रतित्वेनैक त्वाध्यवसानाद्वा व्यंग्यो वर्णनीय श्चोच्यते।
15. स्वप्नादिस्तु तादृशबोधो न काव्यार्थचिंतनजन्मेति न रसः। तेन न तत्र सादृशाह्लादा-पत्तिः।
16. एवमपि स्वस्मिन्नविद्यमानस्य रत्यादेरनुभवः कथं नाम स्यात्।
17. मैवं, नह्ययं लौकिक साक्षात्कारो रत्यादेः येनावश्यं विषयसद्भावो ऽपेक्षणीयः स्यात्, अपितु भ्रमः।
18. रस गंगाधर : चौखम्बा विद्याभवन प्रकाशन, वाराणसी, पृष्ठ 135।
19. यत्र सहृदयानां रसोद्बोधः प्रमाणसिद्धः तत्रैव साधारणीकरणस्य कल्पनात्।
20. अन्यथा स्वमातृविषयक स्वपितृवर्णनेऽपि सहृदयस्य रसोद्बोधापत्तेः।
21. जयदेवादिभिस्तु गीतगोविंदादि प्रबन्धेषु सकल सहृदयसम्मतोऽयं समयो मदोन्मत्त मतंगैरिव भिन्न इति न तन्निदर्शनेनेदानीन्तनेन तथा वर्णयितं साम्प्रतम्।
22. अथ 'श्रृंगारो मधुरः इत्यादि व्यवहारः कथमिति चेत् एवं तर्हिद्रुत्यादि चित्तवृत्ति प्रयोजकत्वम्, प्रयोजकतासम्बन्धेन द्रुत्यादिकमेव वा माधुर्यदिकमस्तु। व्यवहारस्तु 'वाजिगंधोष्णा' इति व्यवहारवदक्षतः।
23. ध्वन्यात्मभूते श्रृंगारे यमकादिनिवेशनम्।
शक्तावपि प्रमादित्वं, विप्रलम्भे विशेषतः॥
24. उपनायकसंस्थायां, मुनिगुरुपत्नीगतायां च।
बहुनायकविषयायां, रतौ तथानुभर्या [illegible]गाम्॥
25. रसगंगाधर : चौखम्बा विद्याभवन प्रक[illegible], वाराणसी, पृष्ठ 393